CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत का इतिहास

[महाजनपद-युग से गुप्तकाल के पहले तक]

6792
प्रो० वी० एन० पुरी
संग्रह

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी
एवं
डा० विमलचन्द्र पाण्डेय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत का इतिहास

[महाजनपद-युग से गुप्तकाल के पहले तक]

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी
एवं
डा० विमलचन्द्र पाण्डेय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Complimentary by

State Museum Library Lucknow

6792

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत का इतिहास

[महाजनपद-युग से गुप्त-काल के पहले तक]

State Museum Library Lucknow 6792

लेखक :
प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०, पी० ई० एस०
रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

तथा

डा० विमलचन्द्र पाण्डेय, एम० ए०, डी० फिल०
अध्यक्ष,
इतिहास-विभाग,
एन० ए० एस० कालेज, मेरठ

प्रो० बी० एन० पुरी संग्रह लखनऊ

आदर्श प्रकाशन
मुद्रक, प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता
रावतपाड़ा, आगरा
कलकत्ता :: दिल्ली :: कानपुर :: लखनऊ :: मेरठ :: वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक
आदर्श प्रकाशन
रावतपाड़ा, आगरा

★

प्रथम संस्करण १९६३

★

मूल्य : ८ रुपये ५० नये पैसे

★

मुद्रक
सूरजभान अग्रवाल, बी० कॉम०
अग्रवाल प्रेस,
रावतपाड़ा, आगरा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

हमारे विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में कई विषयों का अध्ययन-अध्यापन भारतीय भाषाओं के माध्यम से होने लगा है। विद्यार्थियों की रुचि अब इस दिशा में विशेष रूप से देखी जा सकती है। उनका एक बड़ा वर्ग अपनी मातृभाषा के द्वारा शिक्षा ग्रहण करना चाहता है।

हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के कई विश्वविद्यालयों में अब राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसका उचित स्थान दिया जाने लगा है, यह एक शुभ लक्षण है। परन्तु ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अभी कई विषयों में हिन्दी में उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का अभाव है। इस कमी की पूर्ति जितनी जल्दी हो सके, की जानी चाहिये। विश्वविद्यालयों एवं अन्य महाविद्यालयों के अध्यापकों के ऊपर निस्संदेह इसकी प्रमुख जिम्मेदारी है।

भारतीय इतिहास के विविध अंगों पर हिन्दी में इधर कई अच्छे प्रकाशन हुए हैं और हो रहे हैं। बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए भारतीय इतिहास के मूल स्रोतों की सम्यक् जानकारी आवश्यक है, इस ओर हमारे विद्वानों का ध्यान गया है। इन स्रोतों को जानने-समझने के लिए किन उपायों का अवलंबन किया जाए, इसकी भी चर्चा होने लगी है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन-काल का महाजनपद-युग से गुप्त-काल के पूर्व तक इतिहास दिया गया है। राजनीतिक विवरणों के साथ विभिन्न युगों की सांस्कृतिक दशा का भी परिचय यथास्थान दे दिया गया है।

कई शताब्दियों के इस लम्बे इतिहास में अब भी अनेक विवादास्पद विषय हैं। उन सबका यथासम्भव विवेचन करने का प्रयत्न इन पृष्ठों में किया गया है। परन्तु कुछ समस्याएं अब भी बनी हैं। उनको तभी सुलझाया जा सकेगा जब उनके सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सके।

गत कई वर्षों में भारतीय केन्द्रीय पुरातत्व विभाग, प्रादेशिक विभागों, विश्व-विद्यालयों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा की गई खोजों के फलस्वरूप भारतीय इतिहास के अनेक अंगों पर नया प्रकाश पड़ा है। देश के कई भागों में किए गये उत्खननों तथा सर्वेक्षणों द्वारा जो नई सामग्री सामने आई है उसको इस पुस्तक में देने का प्रयास किया गया है। इससे कई विषयों पर नये ढंग से विचार करने में सहायता मिली है। हाल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ ऐसे महत्वपूर्ण अभिलेखों, मुद्राओं आदि की उपलब्धि हुई है जिनसे प्राचीन भारत के कई नए शासकों का पता चला है तथा कतिपय युगों एवं घटनाओं के सम्बन्ध में बिलकुल नई जानकारी प्राप्त हो सकी है।

हम उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनकी रचनाओं तथा अन्वेषणों से प्रस्तुत पुस्तक में सहायता ली गई है। हम अपने उत्साही प्रकाशकों के अनुगृहीत हैं जो अल्प समय में ही पुस्तक मुद्रित करा सके। इसके अगले संस्करण में आशा है, कुछ मानचित्र एवं प्राचीन कला-कृतियों, स्मारकों आदि के चित्र भी दिए जा सकेंगे, जिससे यह अधिक उपयोगी हो सके।

—कृष्णदत्त वाजपेयी
—विमल चन्द्र पाण्डेय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

प्रथम खण्ड (महाजनपद-काल से मौर्य-वंश के उदय तक)

अध्याय		पृष्ठ
१—महाजनपद-काल	....	१
२—महात्मा बुद्ध के समय की राजनीतिक अवस्था	....	५
३—महात्मा बुद्ध के समय की सामाजिक और आर्थिक अवस्था	....	१३
४—महात्मा बुद्ध के समय की धार्मिक अवस्था	....	२६
५—जैन धर्म	....	३३
६—बौद्ध धर्म	....	४४
७—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध	....	६६
८—मगध का उत्कर्ष	....	७१
९—पारसीक आक्रमण	....	८३
१०—यूनानी सिकन्दर का आक्रमण	....	९०

द्वितीय खण्ड (मौर्य-वंश से गुप्त-वंश के उदय तक)

१—मौर्य वंश	....	१११
२—अशोक महान्	....	१४७
३—मौर्यों का पतन	....	१८७
४—मौर्य-काल की संस्कृति-सभ्यता	....	१९४
५—शुंग-वंश	....	२१४
६—हिन्द-यूनानी	....	२४६
७—भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था	....	२७१
८—सातवाहन-वंश	....	२७५
९—शक और पल्लव वंश	....	३०५
१०—कुषाण-वंश	....	३३५
११—शक-कुषाणकालीन संस्कृति-सभ्यता	....	३५४
१२—कुषाण साम्राज्य का अंत तथा भारतीय राज्य	....	३८१
परिशिष्ट १—उत्तर भारत के स्वतंत्र भारतीय जनपद	....	३९०
सहायक ग्रन्थ-सूची	....	३९५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १

महाजनपद-काल

जनपद (१००० ई० पू०-७०० ई० पू०) -- 'जनपद' शब्द 'जन' और 'पद', इन दो शब्दों के समास से बना है। आर्य लोग अनेक शाखाओं में विभक्त थे। प्रत्येक शाखा को 'जन' कहा जाता था। 'पद' का आशय है अधिकार। आर्यों के जन जिन प्रदेशों में आकर स्थायी रूप से बस गये वे ही उनके जनपद या राज्य बन गये।

प्रारम्भ में एक जनपद में जनविशेष के सदस्य ही रहते थे। धीरे-धीरे उसमें अन्य 'जनों' के सदस्य भी आकर बसने लगे। फिर भी प्रत्येक जनपद अपने मूल संस्थापक 'जन' के नाम से ही सम्बोधित होता रहा, जैसे 'लिच्छवि-जनपद', 'शूरसेन-जनपद', आदि। प्रत्येक जनपद में बहुत दिनों तक राजनीतिक सत्ता मूल जन के परिवारों के ही हाथ में केन्द्रित रही। उदाहरण के लिये 'लिच्छवि जनपद' में यह सत्ता मूल जन के ७,७०७ परिवारों में ही सीमित थी। इन्हीं परिवारों के प्रतिनिधि शासन का संचालन करते थे।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में इन जनपदों का उल्लेख करते हुए बताया है कि लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से पाँच सौ ईस्वी पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास में जनपद या महाजनपद-युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों की शृङ्खला फैल गई थी। एक प्रकार से जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे।

महाजनपद (७०० ई० पू०-५५० ई० पू०)—उत्तर—वैदिक-काल के समाप्त होते-होते हम देखते हैं कि अपनी साम्राज्यवादी एवं विस्तारकारिणी नीति का अनुसरण करते हुए बड़े-बड़े जनपद अपने पड़ोसी छोटे जनपदों को आत्मसात् करने की प्रबल चेष्टा करने लगे। इस चेष्टा के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे छोटे जनपदों का विलोप हो गया और उनके स्थान पर सोलह महाजनपदों का उदय हुआ। बौद्ध ग्रन्थ, 'अंगुत्तर निकाय' और जैन ग्रन्थ 'भगवती सूत्र' इन १६ महाजनपदों के नाम देते हैं, यद्यपि दोनों की नाम-सूचियों में भिन्नता है। इनमें एक महाजनपद काशी का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। लगभग ५५० ई० पू० कोशल ने काशी राज्य पर अधिकार कर लिया था। इससे महाजनपद-काल को ५५० ई० पू० के पहले ही रखा जा सकता है।

इन महाजनपदों में अधिकांश राजतन्त्रात्मक थे। वज्जि और मल्ल जैसे कुछ ही जनपद गणतन्त्रात्मक थे।

अंगुत्तर निकाय की सूची—'अंगुत्तर निकाय' के अनुसार १६ महाजनपदों के नाम इस प्रकार थे—

(१) अंग, (२) मगध, (३) काशी, (४) कोशल, (५) वज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वत्स, (९) कुरु, (१०) पांचाल, (११) मत्स्य, (१२) शूरसेन, (१३) अश्मक, (१४) अवन्ति, (१५) गान्धार और (१६) कम्बोज।

भगवती सूत्र की सूची—'भगवती सूत्र' में महाजनपदों की संख्या तो १६ ही हैं, परन्तु उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) अंग, (२) वंग, (३) मगह, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वच्छ (८) कोच्छ, (९) पाढ, (१०) लाढ, (११) वज्जि, (१२) मोलि, (१३) कासी, (१४) कोसल, (१५) अवाह और (१६) सम्भुत्तर।

दोनों सूचियों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग, मगध (मगह), वत्स (वच्छ), वज्जि, काशी और कोशल—ये छह नाम दोनों में एक-से हैं।

अंगुत्तर निकाय के अवन्ति और मल्ल, भगवती सूत्र के क्रमशः मालव और मोलि हैं। शेष महाजनपदों के नामों में भिन्नता है। भगवतीसूत्र की सूची में मलय, कच्छ आदि दूरस्थ प्रदेशों का भी उल्लेख किया गया है। यह सूची बाद की प्रतीत होती है।

इन नामों को देखने से प्रतीत होता है कि महाजनपद-काल तक पश्चिमी भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत का विशेष राजनीतिक महत्व हो गया था।

इन सोलह महाजनपदों में साम्राज्य-स्थापना की भावना काम कर रही थी। इसी से बहुधा इनमें आपस में युद्ध होते रहते थे। काशी और कोशल में दीर्घकालीन शत्रुता थी। अंग और मगध के सम्बन्ध भी अच्छे न थे। उधर अवन्ति और अश्मक एक-दूसरे के विनाश की चेष्टा में लगे हुए थे।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को समझने के लिये इन १६ महाजनपदों का अलग-अलग विवरण देना आवश्यक है—

(१) अंग—इसके अन्तर्गत बिहार के भागलपुर और उसके समीप के कुछ अन्य भाग थे। इसकी राजधानी चम्पा थी। यह नगर एक व्यापारिक केन्द्र था। उस समय चम्पा भारतवर्ष के छह प्रमुख नगरों में एक समझा जाता था। किसी समय अंग ने मगध के कुछ भाग को भी जीत लिया था। परन्तु ई० पू० छठी शताब्दी में मगध के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार ने अंग के राजा ब्रह्मदत्त को मार कर उसके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) मगध—इसमें दक्षिणी बिहार के गया और पटना जिले सम्मिलित थे। प्रारम्भ में इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। ई० पू० छठी शताब्दी में यह राज्य बड़ा शक्तिशाली हो गया। इसने साम्राज्यवाद का अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे अनेक पड़ोसी राज्यों पर अधिकार कर लिया और अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

(३) काशी—इसके अन्तर्गत आधुनिक वाराणसी के आस-पास का प्रदेश सम्मिलित था। जातकों से प्रकट है कि किसी समय यह राज्य बड़ा शक्तिशाली था। जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन काशी-राज्य के राजा कहे गए हैं। काशी और कोशल राज्यों में बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा। अन्त में ५५० ई० पू० के लगभग कोशल-नरेश ने काशी को अपने राज्य में मिला लिया।

(४) कोशल—इसे आधुनिक अवध-प्रदेश समझना चाहिए। यह विस्तृत और शक्तिशाली राज्य था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। दीर्घकालीन शत्रुता के पश्चात् कोशल-नरेश ने काशी पर अधिकार कर लिया।

(५) वज्जि—इसके अन्तर्गत उत्तरी बिहार के कुछ जिले थे। यह राज्य आठ छोटे-छोटे राज्यों का एक संघ था। इस संघ-राज्य की राजधानी वैशाली थी। पाणिनि और कौटिल्य दोनों ने इस राज्य को 'वृजि' के नाम से पुकारा है। कालान्तर में मगध के राजा अजातशत्रु ने इस राज्य को अपने राज्य में मिला लिया।

(६) मल्ल—इसमें आधुनिक उत्तरप्रदेश का देवरिया जिला आता है। यह भी एक संघ-राज्य था। इसके दो वर्ग थे—कुशीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल। प्रारम्भ में यह राज्य राजतन्त्रात्मक था, परन्तु बाद में गणतन्त्रात्मक हो गया।

(७) चेदि—आधुनिक बुंदेलखंड का नाम चेदि था। इसकी राजधानी शुक्तिमती थी। महाभारत आदि में इस राज्य के राजा शिशुपाल का वर्णन मिलता है।

(८) वत्स—इसमें उत्तरप्रदेश का इलाहाबाद जिला और मिर्जापुर तथा बाँदा के कुछ भाग शामिल थे। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। गंगा की बाढ़ से जब हस्तिनापुर नष्ट हो गया था, उस समय जनमेजय के प्रपौत्र निचक्षु ने कौशाम्बी में अपनी राजधानी स्थापित की थी। यहाँ के राजा उदयन का अनेक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। इस राजा का एक विवाह अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता से हुआ।

(९) कुरु—इसके अन्तर्गत आधुनिक मेरठ और दिल्ली का भू-भाग था। इसके मुख्य नगर इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर थे।

(१०) पांचाल—इसमें रुहेलखंड और समीपवर्ती भाग शामिल थे। किसी समय यह दो राज्यों में विभक्त था—उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और दक्षिण पांचाल की काम्पिल्य थी। प्रारम्भ में पांचाल राजतन्त्रात्मक राज्य था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(११) मत्स्य—इसमें जयपुर-अलवर का भाग आता है। इसकी राजधानी विराटनगर थी। कालान्तर में मगध ने इस पर अधिकार कर लिया।

(१२) शूरसेन—इसमें मथुरा और उसके आस-पास का प्रदेश सम्मिलित था। पाणिनि, कौटिल्य और मेगस्थनीज ने इसका उल्लेख किया है। पहले यह गणतन्त्रात्मक था, परन्तु बाद में यहाँ राजतन्त्र रूढ़ हो गया।

(१३) अश्मक—इसके अन्य नाम अश्मक अथवा अश्वक भी मिलते हैं। यह राज्य गोदावरी-घाटी में स्थित था। इसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। इसकी अवन्ति-राज्य से शत्रुता थी। कालान्तर में अवन्ति ने इसे अपने अधीन कर लिया।

(१४) अवन्ति—इसके अन्तर्गत पश्चिमी और मध्य-मालवा आते हैं। किसी समय यह राज्य दो भागों में विभक्त था—उत्तरी अवन्ति और दक्षिणी अवन्ति। पहले की राजधानी उज्जैन और दूसरे की माहिष्मती (वर्तमान महेश्वर) थी। महात्मा बुद्ध के समय अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत बड़ा शक्तिशाली समझा जाता था। उसकी वत्सनरेश उदयन से शत्रुता थी।

(१५) गन्धार—इसमें पेशावर और रावलपिण्डी के जिले आते हैं। इसकी राजधानी तक्षशिला प्राचीन भारत की एक प्रमुख नगरी थी। यहाँ के एक राजा पुक्कुसाति ने मगध-नरेश बिम्बिसार की सभा में अपना एक राजदूत भेजा था। पुक्कुसाति ने एक युद्ध में अवन्ति-नरेश प्रद्योत को पराजित किया था। ई० पू० छठी शताब्दी के अन्त में फारस ने गान्धार पर अधिकार कर लिया था।

(१६) कम्बोज—यह गन्धार के पड़ोस में था। इस राज्य की राजधानी का नाम राजपुर तथा दूसरे मुख्य नगर का नाम द्वारका मिलता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय २

महात्मा बुद्ध के समय की राजनीतिक अवस्था

बौद्ध एवं जैन साहित्य से ई० पू० छठी शताब्दी में उत्तरी भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसके अध्ययन से प्रकट होता है कि इस काल में महाजनपद-काल के कुछ जनपद निर्बल, महत्वहीन अथवा विलुप्त हो गये थे और उनके स्थान पर कुछ नवीन एवं प्राचीन राज्य अधिक शक्तिशाली हो गये थे। महात्मा बुद्धकालीन भारत में दोनों शासन-प्रणालियाँ—गणतन्त्र और राजतन्त्र—प्रचलित थीं। परन्तु राजतन्त्रात्मक राज्यों की बढ़ती हुई साम्राज्यवादिता को देखते हुए यह भासित हो रहा था कि छोटे-छोटे गणराज्य अधिक समय तक अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम न रख सकेंगे।

गंगा की घाटी के गणराज्य—बौद्ध एवं जैन साहित्य से प्रकट होता है कि महात्मा बुद्ध के समय में गंगा की घाटी में अनेक गणतन्त्रात्मक राज्य थे। इनमें से निम्नलिखित विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) **कपिलवस्तु के शाक्य**—इनका राज्य नेपाल की तराई में था।

(२) **सुंसुमार पर्वत के भग्ग**—सम्भवतः सुंसुमार पर्वत मिर्जापुर जिले में स्थित चुनार पर्वत था।

(३) **अल्लकप्प के बुलि**—अल्लकप्प की स्थिति निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। संभवतः वे बिहार के आरा और मुजफ्फरपुर जिलों में थे।

(४) **केसपुत्त के कालाम**—केसपुत्त की स्थिति भी अनिश्चित है।

(५) **रामग्राम के कोलिय**—यह राज्य कपिलवस्तु-राज्य के पूर्व में था। दोनों राज्यों के बीच रोहिणी नदी बहती थी।

(६) **कुसीनारा के मल्ल**—कुसीनारा उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में स्थित वर्तमान कसिया था।

(७) **पावा के मल्ल**—पावा सम्भवतः कसिया के समीप ही था।

(८) **पिप्पलीवन के मोरिय**—यह राज्य वर्तमान गोरखपुर जिले में स्थित था।

(९) **वैशाली के वज्जि**—वैशाली की पहचान वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़ गाँव से की गई है। वस्तुतः वैशाली का राज्य एक संघ-राज्य था। इसमें ८ राज्य सम्मिलित थे—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१. वज्जि, २. लिच्छवि, ३. विदेह, ४. ज्ञात्रिक, ५. उग्र, ६. भोग, ७. कौरव और ८. ऐक्ष्वक ।

गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली—इन राज्यों को गणराज्य अथवा संघराज्य के नाम से पुकारा गया है । 'मज्झिम निकाय' में ये दोनों शब्द मिलते हैं और इन्हें पर्यायवाची बताया गया है । 'अवदान-शतक' में एक विवरण मिलता है कि उत्तर भारत से कुछ व्यापारी दक्षिण भारत गये । वहाँ उनसे पूछा गया कि उनके प्रदेश में किस प्रकार की शासन-प्रणाली है । इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि 'कुछ प्रदेश राजाधीन हैं और कुछ गणाधीन ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राजतन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं ।

समस्त साक्ष्यों को देखने से पता चलता है कि ये गणराज्य आधुनिक अर्थ में जनतन्त्रवादी (Democratic) न थे । उन्हें कुलीनतन्त्रवादी (Aristocratic या Oligarchy) ही समझना चाहिये । इन राज्यों में राजनीतिक सत्ता सभी नागरिकों के हाथ में न थी । वह कुछ परिवारों में ही सीमित थी । उदाहरणार्थ, वैशाली-राज्य में इस प्रकार के कुलीन परिवारों की संख्या ७,७०७ थी । इन्हीं प्रतिनिधियों के द्वारा शासन-संचालन होता था ।

राज्य की कार्यकारिणी का अध्यक्ष 'राजा' कहलाता था । यह आधुनिक 'राष्ट्रपति' (President) के रूप में कार्य करता था । इसका निर्वाचन होता था । परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह निर्वाचन किस प्रकार होता था । राजा की कार्यविधि का भी हमें कुछ निश्चित ज्ञान नहीं है ।

राजा के अधीन बहुसंख्यक पदाधिकारी होते थे । इनमें कुछ प्रमुख थे, जैसे उपराजा (उपराष्ट्रपति), सेनापति, भाण्डागारिक, विनिश्चय महामात्र (पुलिस अधिकारी), व्यावहारिक (न्यायाधीश) आदि ।

प्रत्येक गणराज्य में एक केन्द्रीय सभा (Central Assembly) होती थी । इसमें कुलीन परिवारों के प्रतिनिधि रहते थे । उदाहरणार्थ वैशाली की केन्द्रीय सभा में ७,७०७ प्रतिनिधि थे । प्रत्येक प्रतिनिधि को भी 'राजा' कहा जाता था । इसका आशय यही था कि राज्य के राष्ट्रपति और सभा के प्रतिनिधियों का राजनीतिक स्तर समान था । तत्कालीन राष्ट्रपति को आधुनिक भाषा में 'समान व्यक्तियों में प्रथम' (First among the equals) कहा जा सकता है । कौटिल्य ने भी लिच्छवि-राज्य को 'राजशब्दोपजीवी संघ' के नाम से पुकारा है । 'ललित विस्तर' नामक ग्रन्थ के अनुसार 'राजशब्दोपजीवी संघ' वह होता है जहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अपने को राज्य का राजा समझता है । वहाँ न कोई किसी से छोटा होता है और न बड़ा, वरन् सब समान होते हैं ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संसद के ७,७०७ प्रतिनिधियों का निर्वाचन कैसे होता था, यह ज्ञात नहीं है। बड़े से बड़े देश की संसद में भी इतने सदस्य नहीं होते। फिर वैशाली-जैसे छोटे-से राज्य की केन्द्रीय सभा के लिये तो ७,७०७ सदस्यों की संख्या और भी अधिक अव्यावहारिक प्रतीत होती है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि यद्यपि इन समस्त व्यक्तियों को सभा की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार था, परन्तु इनमें से बहुत कम लोग उपस्थित होते थे। सभा में उपस्थित व्यक्तियों की संख्या कभी भी ६०० अथवा ७०० सदस्यों से अधिक न होती होगी।

'एकपह्ल जातक' का कथन है कि वैशाली में जितने राजा होते थे उतने ही उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक भी। इस कथन के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि वैशाली का राज्य बहुसंख्यक इकाइयों में विभक्त था। प्रत्येक इकाई का एक राजा होता था और उसके अधीन अलग-अलग उपराज, सेनापति और भाण्डागारिक होते थे। परन्तु वैशाली-जैसे छोटे से राज्य में इतनी इकाइयों की कल्पना करना बड़ा अस्वाभाविक है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'एकपह्ल जातक', का उक्त अंश प्रक्षिप्त है। सम्भवतः यह उस समय जोड़ा गया होगा जब लोग यह भूल गये होंगे कि गणतन्त्र के अन्तर्गत राजा का अर्थ एकमात्र केन्द्रीय सभा का प्रतिनिधि होता है। उन्होंने राजा का तात्पर्य राजतन्त्रात्मक राज्यों के नरेश से समझा और इसीलिये प्रत्येक राजा के अधीन उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक की कल्पना की गई।

'भद्दसाल जातक', वैशाली के एक राजकीय तड़ाग का उल्लेख करता है। इसके जल से कुलीन राजाओं का अभिषेक होता था। सम्भवतः सभा के नवीन निर्वाचित सदस्यों (राजाओं) को वर्तमान शपथ-ग्रहण-समारोह की भाँति किसी समारोह में भाग लेना पड़ता था। उस अवसर पर उनका अभिषेक किया जाता होगा।

केन्द्रीय सभा का अधिवेशन 'संथागार' नामक एक बड़े कक्ष में सम्पन्न होता था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सभा की कार्यवाही किस प्रकार होती थी। डा० जायसवाल, डा० भण्डारकर आदि विद्वानों का मत है कि बौद्ध संघ का विकास इन राजनीतिक गण-राज्यों के आधार पर ही हुआ था। महात्मा बुद्ध ने कपिलवस्तु के अपने गण-राज्य की कार्य-प्रणाली को देखा था। उसी के आधार पर उन्होंने बौद्ध-संघ की कार्य-प्रणाली को निर्धारित किया। बौद्ध साहित्य में बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली का सविस्तार विवरण मिलता है। अतः अधिकांश विद्वानों का मत है कि यही कार्य-प्रणाली तत्कालीन गणराज्यों में भी प्रचलित थी। यद्यपि यह सम्भव है कि बौद्ध-संघ और तत्कालीन गणराज्यों की कार्य-प्रणाली के अनेक विवरण भिन्न-भिन्न रहे हों, तो भी यह अनुमान स्वाभाविक है कि उनके आधार-भूत सिद्धान्त एक-से ही हों।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस आधार पर कहा जा सकता है कि राज्य का प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय विचार-हेतु सभा में प्रस्तुत किया जाता था। संसद का कोई भी अधिवेशन तब तक वैध नहीं माना जाता था जब तक उसमें सदस्यों की एक निश्चित संख्या (कोरम) उपस्थित न हो। संथागार में सदस्यों के बैठने की व्यवस्था करने के लिये एक पदाधिकारी होता था। उसे 'आसनपन्नापक' कहते थे। प्रस्ताव को 'ज्ञप्ति' कहते थे और उसके पाठ (Reading) को 'अनुसावन'। प्रत्येक सदस्य को प्रस्ताव पर अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त करने का अधिकार था। कभी-कभी विवादग्रस्त प्रश्न सभा की विशिष्ट समिति (Select Committee) के पास विचारार्थ भेजा जाता था। यदि उस समिति में भी मतभेद दूर न होता तो वह प्रश्न पुनः सभा में भेज दिया जाता था। वहाँ वह मत-विभाजन (Voting) द्वारा तय किया जाता था। मत-विभाजन शलाकाओं द्वारा होता था। भिन्न-भिन्न मतों को प्रदर्शित करने के लिये भिन्न-भिन्न रंगों की शलाकाओं का प्रयोग किया जाता था। शलाकाओं को एकत्र करने के लिये एक पदाधिकारी होता था। उसे 'शलाकाग्राहक' (Polling Officer) कहते थे। अनुपस्थित सदस्यों को दूसरे व्यक्तियों के द्वारा अपना मत व्यक्त कराने (Voting by Proxy) का अधिकार था। सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही को लेखबद्ध करने के लिए लिपिक (Clerk) होते थे।

केन्द्रीय सभा राज्य के समस्त विषयों पर विचार करती और व्यवस्था बनाती थी। उसमें विभिन्न दलों (Parties) के प्रतिनिधि होते थे। यही कारण है कि ये सभायें अपने मतभेदों और वाद-विवादों के लिये प्रसिद्ध थीं। 'चुल्ल कलिंग जातक' का कथन है कि लिच्छवि-गणराज्य के राजा (केन्द्रीय सभा के प्रतिनिधि) सदैव वाद-विवाद और तर्क-वितर्क किया करते थे। जिस समय कोशल-नरेश विरुद्धक ने कपिलवस्तु पर आक्रमण किया उस समय शाक्यों की केन्द्रीय सभा में इस प्रश्न पर बड़ा वाद-विवाद हुआ कि राजधानी के दुर्ग-द्वार खोले जायँ अथवा नहीं।

गणराज्यों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बड़ा महत्व दिया जाता था। यही कारण है कि उनमें न्याय-व्यवस्था बहुत विकसित थी। राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय केन्द्रीय सभा ही था। उसके नीचे अन्य न्यायालय भी होते थे, जो अपने नीचे के न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनते थे। बुद्धघोष के अनुसार वज्जिसंघ में क्रमशः ८ न्यायालय इस प्रकार थे जो अपने-अपने न्यायाधीशों के अधीन कार्य करते थे—

(१) सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश स्वयं राजा था। उसके नीचे क्रमशः (२) उपराजा, (३) सेनापति, (४) भाण्डागारिक, (५) अग्रकुलक, (६) सूत्रधार, (७) व्यावहारिक तथा (८) विनिश्चय महामात्र के न्यायालय थे।

राजतन्त्रात्मक राज्य—महात्मा बुद्ध के समय गणतन्त्रात्मक राज्यों के अतिरिक्त राजतन्त्रात्मक राज्य भी थे। इनमें चार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) कोशल—इसके अन्तर्गत वर्तमान अवध-प्रदेश आता है। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। इस राज्य का विशेष उत्कर्ष कंस के समय में हुआ था। 'घट-जातक' के अनुसार इसी ने काशी-राज्य पर आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लिया था। काशी-विजय से कोशल-राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों बढ़ गई थीं।

सम्भवत: कंस के पश्चात् महाकोशल नामक दूसरा राजा कोशल के सिंहासन पर बैठा। इसने अपनी पुत्री कोशलदेवी का विवाह मगध-नरेश बिम्बिसार के साथ कर दिया और इस अवसर पर अपनी पुत्री को काशी का कुछ भाग दे दिया।

महाकोशल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र प्रसेनजित् राजा हुआ। यह महात्मा बुद्ध का समकालीन था। यह राजा बड़ा पराक्रमी था। इसने अनेक पड़ोसी राज्यों—कपिलवस्तु के शाक्यों, पावा और कुशीनारा के मल्लों तथा केसपुत्त के कलामों—को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लिया था।

इसी समय बिम्बिसार के आधीन मगध भी अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था। अत: स्वाभाविक ही था कि इन दोनों साम्राज्यवादी राज्यों का संघर्ष होता। शीघ्र ही दोनों में कलह का कारण भी उत्पन्न हो गया। लगभग ४९० ई० पू० आजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार की हत्या करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अपने पति की मृत्यु के शोक में कुछ समय बाद कोशलदेवी का भी देहान्त हो गया। कोशलदेवी कोशल-नरेश प्रसेनजित् की बहिन थी। उसके पराभव और देहावसान से प्रसेनजित् बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसने अपनी बहिन के विवाह के समय दिये गये काशी-प्रदेश को मगध से छीन लिया। इसी विषय को लेकर प्रसेनजित् और आजातशत्रु में युद्ध हुआ। दीर्घकालीन युद्ध के पश्चात् प्रसेनजित् की विजय हुई और उसने आजातशत्रु को बन्दी बना लिया। थोड़े दिनों में दोनों के सम्बन्ध पुन: अच्छे हो गये और प्रसेनजित् ने आजातशत्रु के साथ अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह कर दिया और काशी-प्रदेश उसे पुन: वापस कर दिया।

प्रसेनजित् ने शाक्यों के साथ भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना चाहा। परन्तु अपने जात्याभिमान के कारण शाक्य अपनी कन्या का विवाह उसके साथ नहीं करना चाहते थे। परन्तु प्रसेनजित् के क्रोधित होने के भय से वे उसके प्रस्ताव को अस्वीकार भी नहीं कर सकते थे। इसलिये उन्होंने एक चाल चली और वासवखत्तीया नामक अपनी एक दासी को राजकुमारी बना कर उसका विवाह प्रसेनजित् के साथ कर दिया। कालान्तर में इस विवाह से प्रसेनजित् के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम विरुद्धक (विडूडभ) रखा गया।

विडूडभ दुष्कर्मा सिद्ध हुआ। उसने राज्य के मन्त्रियों को अपनी ओर मिलाकर अपने पिता प्रसेनजित् से सिंहासन छीन लिया। वृद्ध प्रसेनजित् अपने दामाद मगध-नरेश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अजातशत्रु से सहायता लेने के लिये मगध की ओर चल पड़ा । परन्तु राजगृह की सीमा पर पहुँच कर उसकी मृत्यु हो गई ।

विरुद्धक को यह विदित हो गया था कि उसकी माता राजकुमारी नहीं वरन् दासी थी । अतः वह शाक्यों के उस कपटपूर्ण कार्य से बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उन्हें दण्डित करने के लिये उनके राज्य पर आक्रमण कर दिया । परन्तु जब युद्ध में उसे सफलता न मिली तो उसके मंत्री अम्बरीश ने कपट से काम लिया । उसने शाक्यों को अपनी मित्रता का विश्वास दिलाकर दुर्ग-द्वार खुलवा दिये और फिर अकस्मात् आक्रमण कर दिया । शाक्यों की पराजय हुई और उनके ७७ हजार व्यक्ति मारे गये । उनका राज्य कोशल-राज्य के अधीन हो गया ।

कुछ समय पश्चात् विरुद्धक की मृत्यु हो गई । 'रत्नावली' से प्रकट होता है कि वत्स-राज्य के राजा उदयन ने कोशलराज पर आक्रमण करके उसे मार डाला था । कुछ विद्वानों के मतानुसार यह कोशलराज विरुद्धक ही था ।

विरुद्धक के पश्चात् कुछ अन्य राजाओं ने भी कोशल में राज्य किया । परन्तु उनमें इतनी योग्यता न थी कि वे अपने राज्य को सुरक्षित रख सकते । परिणामतः कोशल उत्तरोत्तर निर्बल होता गया और अन्त में उस पर मगध-राज्य ने अधिकार कर लिया ।

कोशल की शासन-व्यवस्था में मंत्रियों का बड़ा महत्व था । अनेक विवरणों से प्रकट होता है कि प्रसेनजित् की मन्त्रि-परिषद् में ५०० मन्त्री थे । उसके मन्त्रियों में मृगधर और श्रीवृद्ध विशेष उल्लेखनीय हैं । मंत्रियों के ऊपर एक प्रधानमंत्री भी होता था । प्रसेनजित् के प्रधानमंत्री का नाम दीर्घचारायण मिलता है । इसी प्रकार विरुद्धक के एक मंत्री अम्बरीश का उल्लेख किया जा चुका है, जिसने अपनी कूटनीति से शाक्यों को पराजित किया था ।

अपनी साम्राज्यवादी नीति के विस्तार के लिये कोशल-राज्य ने राजनीतिक विवाहों से भी सहायता ली । महाकोशल ने बिम्बिसार के साथ अपनी पुत्री कोशलदेवी का विवाह करके मगध-राज्य के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये थे । इसी प्रकार प्रसेनजित् ने अजातशत्रु के साथ अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह करके कोशल और मगध के बीच शत्रुता का अन्त कर दिया था । प्रसेनजित् ने शाक्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की जो चेष्टा की थी उसका उद्देश्य भी राजनीतिक ही रहा होगा ।

(२) वत्स—इस राज्य में उत्तरप्रदेश के इलाहाबाद और बाँदा तथा मिर्जापुर जिले के कुछ भाग सम्मिलित थे । इसकी राजधानी कौशाम्बी थी, जो आज भी कोसम के रूप में इलाहाबाद से ३३ मील की दूरी पर विद्यमान है । जब गंगा की बाढ़ से हस्तिनापुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नष्ट हो गया तब वहाँ के भारतवंशीय नरेश निचक्षु (जनमेजय के प्रपौत्र) ने कौशाम्बी को अपनी नवीन राजधानी बनाया। कौशाम्बी के इसी वंश में ५५० ई० पू० के लगभग शतानीक परन्तप राजा राज्य करता था। उसने अंग राज्य से युद्ध किया तथा अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिये विदेह की राजकुमारी से विवाह कर लिया।

परन्तप की मृत्यु के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र उदयन सिंहासन पर बैठा। यह महात्मा बुद्ध का समकालीन था। साहित्य में इस राजा के अनेकानेक उल्लेख मिलते हैं। भास ने इसे वैदेही पुत्र (विदेह की राजकुमारी का पुत्र) कहा है।

'कथासरित्सागर', 'बृहत्कथामंजरी', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'महावग्ग' आदि ग्रंथों में उदयन और अवन्ति-नरेश प्रद्योत के युद्ध का वर्णन है। दोनों ही नरेश शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी थे। अत: दोनों का संघर्ष स्वाभाविक था। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध में उदयन पराजित हुआ और प्रद्योत ने उसे बन्दी बना लिया। बन्दीगृह में उदयन और प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का प्रेम हो गया। अवसर पाकर उदयन उसके साथ भाग निकला। तदनन्तर दोनों में विवाह हो गया। इस विवाह-सम्बन्ध से दोनों राज्यों में मित्रता हो गई।

उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने अपने स्वामी का विवाह मगध-नरेश दर्शक की बहन पद्मावती के साथ भी करा दिया। उसका एक अन्य राजनीतिक विवाह अंग-नरेश दृढवर्मा की पुत्री से भी हुआ था। इन विवाह-सम्बन्धों से उदयन की स्थिति बहुत दृढ़ हो गई।

अनेक साक्ष्यों के अनुसार काशी-नरेश ने भी उदयन की अधीनता स्वीकार कर ली थी। कुछ के अनुसार इस काशी-नरेश का नाम ब्रह्मदत्त था और कुछ के अनुसार आरुणि अथवा आरनेमि।

सुंसुमारगिरि के भग्ग भी उसके अधीन थे।

'प्रियदर्शिका' और 'कथासरित्सागर' उदयन के दिग्विजय का भी वर्णन करते हैं। उनके अनुसार उसने दक्षिण में चोलों और कोलों को, पश्चिम में म्लेच्छों, तुरुष्कों, पारसीकों और हूणों को, पूर्व में वंग और कलिङ्ग को पराजित किया था। परन्तु ये कथन मात्र काव्यात्मक और प्रशंसात्मक हैं।

फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उदयन अपने समय का एक वीर और कूटनीतिज्ञ शासक था। उसने अनेकानेक युद्धों में विजयी होकर राज्य का विस्तार किया तथा अवन्ती, मगध और अंग राज्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके स्थिति और भी अधिक सुरक्षित कर ली।

उदयन के उत्तराधिकारी निर्बल सिद्ध हुए और उनके समय में वत्स-राज्य की अवनति होने लगी। अन्त में वह भी मगध-साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) अवन्ति—इसके अन्तर्गत पश्चिमी और मध्य मालवा सम्मिलित थे और इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इसका शासक प्रद्योत, महात्मा बुद्ध का समकालीन था। 'महावग्ग' में इसे चण्ड कहा गया है। भास इसे महासेन के नाम से पुकारता है। पुराणों में इसे 'प्रणतसामन्त' की संज्ञा दी गई है।

प्रद्योत वीर होने के साथ-साथ क्रूर और कठोर प्रतीत होता है।

इसके जीवन का सबसे प्रमुख युद्ध वत्सराज उदयन के साथ हुआ। कहा जाता है कि इसने कपट से उदयन को बन्दी बना लिया। परन्तु कारागार में उदयन और प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का प्रेम हो गया और उदयन वासवदत्ता के साथ कारागार से भागकर अपने राज्य वापस आ गया। कालान्तर में उन दोनों का विवाह हो गया। इस विवाह-सम्बन्ध से वत्स और अवन्ति राज्यों में मित्रता स्थापित हो गई।

'मज्झिमनिकाय' के वर्णन से प्रकट होता है कि प्रद्योत मगध के ऊपर भी काक्रमण करने की योजना बना रहा था। इस आक्रमण की आशंका से मगध-नरेश अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह की किलेबन्दी की थी।

बौद्ध साहित्य का कथन है कि इसने गन्धार पर भी आक्रमण किया था। परन्तु गन्धार-नरेश पुक्कुसाति ने इसे पराजित कर दिया था।

प्रद्योत के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में अवन्ति राज्य निर्बल होता रहा। अन्त में यह राज्य भी मगध-राज्य के अधीन हो गया।

(४) मगध—महात्मा बुद्ध के समय के चारों नृपतन्त्रात्मक राज्यों में मगध का राज्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे इसने अपने सभी पड़ोसी राज्यों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार मगध के विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई। इसका विस्तृत ब्यौरा 'मगध का उत्कर्ष' नामक अध्याय में दिया जाएगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ३

महात्मा बुद्ध के समय की सामाजिक और आर्थिक अवस्था

सामाजिक अवस्था

वर्ण-व्यवस्था —यद्यपि जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था फिर भी उनके ग्रन्थों से प्रकट होता है कि यह वर्ण-व्यवस्था ही तत्कालीन समाज की आधार-पीठिका थी। इन ग्रन्थों में 'वर्ण', 'जाति' और 'कुल' तीनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। तीनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि तीनों ही अपने विभागों के रूप में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र का उल्लेख करते हैं।

उस युग का सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय यह था कि मनुष्य की श्रेष्ठता का निर्णायक जाति है या कर्म। महात्मा बुद्ध ने कर्म का पक्ष लिया था। 'अस्सलायन सुत्त' में महात्मा बुद्ध का कथन है कि भिन्न-भिन्न जाति के मनुष्यों द्वारा भिन्न-भिन्न लकड़ियों से एक ही अग्नि उत्पन्न होती है। उसी प्रकार सब वर्णों के मनुष्य समान हैं। उनमें किसी प्रकार की भी उच्चता अथवा निम्नता नहीं होती। कर्म से ही वे उच्च अथवा निम्न होते हैं। यही मत जैन धर्मावलम्बियों का था।

कुछ जैन और बौद्ध ग्रन्थों का दृष्टिकोण ब्राह्मण-विरोधी मिलता है। वे ब्राह्मणों को पथभ्रष्ट और धिक्जाति कहते हैं। उन्हें बहुधन्धी, पेटू, मिथ्याचारी, धनलोलुप, हिंसावादी आदि बताया गया है। यदि हम इन कथनों पर विश्वास कर लें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ब्राह्मण समाज के सबसे अधिक पतित और निकृष्ट सदस्य थे। परन्तु वास्तव में यह बात न थी। ये कथन अतिरंजित और एकपक्षीय हैं। स्वयं 'अंगुत्तर निकाय', के वर्णन से प्रकट होता है कि सब ब्राह्मण एक-से न थे। उनमें अच्छे व्यक्ति भी थे और बुरे भी। यह ग्रन्थ ब्राह्मणों को ५ वर्गों में बाँटता है—

(१) ब्रह्मसमा—इनके माता-पिता दोनों के पक्षों का रक्त सात पीढ़ियों से शुद्ध होता था। ये वेद-शास्त्रों में पारंगत होते थे। इनका जीवन बड़ा साधनामय और विशुद्ध होता था। ये अविवाहित रहकर अध्ययन-अध्यापन करते थे।

(२) देवसमा—इनमें भी रक्तशुद्धता, विद्वत्ता और साधना की विशेषतायें थीं। परन्तु ये आजीवन अविवाहित न रहते थे। ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर ये गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) मर्यादा—इन्हें अपनी कुल-मर्यादा का बड़ा ध्यान था। ये गृहस्थ होते थे और कभी भी संन्यास न लेते थे।

(४) सम्भिन्न-मर्यादा—इन्हें अपने कुल की मर्यादा का अधिक ध्यान न था। इनका जीवन वासनामय था। ये किसी भी जाति में विवाह कर लेते थे।

(५) ब्राह्मण चाण्डाल—इनके सभी कार्य वर्ण-विरुद्ध होते थे। ये वर्ण-विरुद्ध व्यवसायों का अनुसरण करते थे।

'दस ब्राह्मण-जातक' भी विभिन्न व्यवसायों के आधार पर ब्राह्मणों की कोटियाँ बताता है। समस्त जैन एवं बौद्ध साहित्य को देखने से प्रकट होता है कि ब्राह्मण अनेकानेक व्यवसायों का अनुसरण कर रहे थे। अनेक ब्राह्मण तीनों वेदों और अठारहों शिल्पों के ज्ञाता बताये गये हैं। वे धार्मिक, आचार्य, राजपुरोहित आदि थे। इसके विरुद्ध बहुसंख्यक ब्राह्मण कृषकों, पशुपालकों, शिल्पियों, चिकित्सकों, गायकों, सैनिकों आदि का जीवन भी व्यतीत कर रहे थे।

जैन और बौद्ध ग्रन्थ क्षत्रियों को सर्वोपरि वर्ण बताने की चेष्टा करते हैं। इन ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी वर्णों का उल्लेख हुआ है वहाँ ब्राह्मणों के पूर्व क्षत्रियों का नाम लिया गया है। एक जातक में महात्मा बुद्ध के मुँह से कहलाया गया है कि इस समय क्षत्रिय वर्ण ब्राह्मण वर्ण की अपेक्षा अधिक उच्च है। अतः मैं क्षत्रिय वर्ण में ही जन्म लूँगा। महावीर स्वामी का ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से क्षत्रिया त्रिशला के गर्भ में हस्तान्तरण भी जैनों एवं बौद्धों की इसी प्रवृत्ति को सूचित करता है।

ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों को भी अपनी रक्त-शुद्धता का बड़ा ध्यान था। अध्ययन-अध्यापन की ओर भी उनका झुकाव था। तक्षशिला के विद्यालय में क्षत्रिय विद्यार्थियों की संख्या बहुत थी। आलार-कालम और रुद्रक-रामपुत्र उस काल के दो प्रमुख योगशास्त्री थे।

क्षत्रियों का प्रमुख व्यवसाय सैन्य-कर्म था। परन्तु इस काल में वे भी अन्यान्य व्यवसायों का अनुसरण करते हुए देखे जाते हैं। अनेक क्षत्रिय वणिक्, वेणुकार, कुम्भकार, रसोइया आदि के व्यवसायों द्वारा अपनी जीविका चलाते थे।

वैश्य वर्ण के लिये जैन और बौद्ध साहित्य में वेस्स, इब्भ, सेट्ठि, कुटुम्बिक और गहवइ आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। गहवइ (गृहपति) और कुटुम्बिक का अर्थ गृहस्थ है। परन्तु जैन और बौद्धों ने इन शब्दों का प्रयोग वैश्य के अर्थ में किया है। इब्भ का सामान्य अर्थ धनवान् है। वैश्य के लिये इस शब्द का प्रयोग उसकी धनाढ्यता सिद्ध करता है।

वैश्यों का प्रमुख उद्यम कृषि, पशु-पालन और व्यवसाय-व्यापार था। जैन एवं बौद्ध-साहित्य में इनके धनार्जन की बहुसंख्यक रोचक कहानियाँ मिलती हैं। बहुधा वे श्रेणियों में संगठित थे। सामान्यतया वैश्य अध्ययन-अध्यापन की ओर से विमुख थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फिर भी कुछ उदाहरणों से प्रकट होता है कि वैश्यों का धनी-मानी वर्ग अपने पुत्रों की शिक्षा की उचित व्यवस्था करता था। 'न्यग्रोध जातक' का कथन है कि दो सेट्ठि-कुमार तक्षशिला में पढ़ते थे और अपने अध्यापक को २,००० पण पारिश्रमिक देते थे।

जैन एवं बौद्ध साहित्य में कुछ ऐसे वर्ग भी दिखाई देते हैं जो एकमात्र व्यावसायिक थे। अभी तक जाति के रूप में उनका विकास न हुआ था। इनमें कर्मार, (लोहार), दन्तकार, वर्धकि (बढ़ई), मालाकार (माली), इत्यादि थे। कालान्तर में ये व्यावसायिक वर्ग जातियों के रूप में विकसित हुए।

इस समय अधिकांश मनुष्य ऐसे भी थे जिनका न कोई निश्चित निवास था, न व्यवसाय। वे सदैव अनेक प्रकार के छोटे-मोटे कार्य करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमा करते थे। इनमें नट, भेरीवादक, मायाकार, तृणहारक, काष्ठहारक, गोपालक, दास आदि थे। ये जातिहीन वर्ग थे। निम्नकर्मा होने के कारण ये वैश्य जाति में न आते थे। परन्तु इनके व्यवसाय शूद्रों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र और उपयोगी थे। अत: ये शूद्रों से अधिक ऊँचे समझे जाते थे।

समाज में दास-प्रथा भी विद्यमान थी। परन्तु दास-दासियों के साथ सामान्यत: सद्व्यवहार किया जाता था। वे जिस स्वामि-परिवार में रहते थे उसी के अङ्ग बन जाते थे। कभी-कभी दास-पुत्रों को स्वामि-पुत्रों के साथ-साथ शिक्षा भी दी जाती थी। 'आवश्यकचूर्णि' का कथन है कि अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् एक दास-पुत्र उसकी सम्पत्ति का अधिकारी हो गया। दास-समुदाय में भिन्न-भिन्न जातियों के व्यक्ति होते थे। उनकी अपनी कोई अलग जाति नहीं होती थी। असंगठित होने के कारण वे जातिहीन वर्ग में ही आते हैं।

समाज का चौथा वर्ण शूद्रों का था। 'अम्बट्ठसुत्त' में शूद्रों को 'कन्ह', (कृष्ण) और 'बन्धुपादापच्च' (ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न) कहा गया है। इनका एकमात्र कर्म सेवा था। इसी शूद्र वर्ण को जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्य हीन जाति के नाम से भी पुकारते हैं। इनमें चण्डाल, चर्मकार, वेण, निषाद, रथकार, पुक्कुस आदि के नाम लिये गये हैं।

स्त्री-समाज—जैनों एवं बौद्धों की दृष्टि में पुत्री अप्रिय न थी। ब्राह्मण-व्यवस्था के अन्तर्गत यज्ञ-कर्मों अथवा पितृ-कर्मों के करने के लिये पुत्र की आवश्यकता होती थी। परन्तु बौद्ध यज्ञ, तर्पण आदि के विरोधी थे। अत: उनके लिये पुत्र और पुत्री में कोई विशेष अन्तर न था। 'संयुक्तनिकाय' में महात्मा बुद्ध का तो यहाँ तक कथन है कि बहुधा पुत्री, पुत्र की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर होती है। जैन-व्यवस्था के अन्तर्गत पुत्र की भाँति पुत्री को भी अपनी पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार था।[1]

१—भद्रबाहु संहिता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातकों में बाल-विवाह के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। 'संयुक्तनिकाय' बाल-विवाह को ५ महादुःखों में एक बताता है। उस समय कन्या का विवाह लगभग १६ वर्ष की वयस्क अवस्था में होता था। अनेक स्थलों पर स्वयंवर और गन्धर्व-विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं।

कन्याओं को शिक्षा देने की प्रथा थी। एक जातक एक रानी उदुम्बरा को 'शिक्षिता' कहता है।[1] जातकों में भेरी, सुगाता, सिगालमाता आदि अनेक विदुषी परिव्राजिकाओं का उल्लेख मिलता है। विदुषी बौद्ध भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी, खेमा, किसा, गौतमी, वाजिरा, सुखा आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। थेरी गाथा में ७७ विदुषी भिक्षुणियों के गीत हैं।

कन्याओं को नृत्य-संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी। बहुधा उन्हें 'नृत्य-संगीत में कुशल' (कुसला नच्चगीतेसु) बताया गया है। 'धम्मपद टीका' से विदित होता है कि स्त्रियाँ खेती, कताई, बुनाई आदि के भी कार्य करती थीं।

जैन साहित्य भी स्त्री-समाज की सन्तोषजनक अवस्था के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता है। कौशाम्बी-नरेश सहस्रानीति की पुत्री जयन्ती अपने समय की उच्चकोटि की विदुषी थी। इसने महावीर स्वामी से वाद-विवाद किया था। चम्पा-नरेश दधिवाहन की पुत्री चन्दना की विद्वत्ता और साधना से प्रभावित होकर महावीर स्वामी ने उसे अपने स्त्री-संघ की अध्यक्षा नियुक्त किया था।

जैन एवं बौद्ध व्यवस्था में, ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल, विवाह मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक न था। यही नहीं, वे वैवाहिक जीवन को मनुष्य के लिये निश्चित रूप से बाधक बताते हैं। यही कारण है कि उन्होंने बहुसंख्यक ब्रह्मचारिणी नारियों को भी अपने संघ में ले लिया था। परन्तु इन धर्मों का विवाह-विरोधी प्रचार अधिक सफल न हुआ। साधारण जनता प्रायः विवाह को एक आवश्यक सामाजिक कार्य समझती थी।

विवाह के समय कुल और मर्यादा का ध्यान रखा जाता था। बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी बहुधा 'सादीसी भरीया', और 'समानजातिककुला' शब्द मिलते हैं। इनसे प्रकट होता है कि विवाह सामान्यतया सजातीय ही होते थे। यद्यपि अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण भी मिलते हैं, परन्तु वे अधिक लोकप्रिय न थे। ब्राह्मण-व्यवस्था ने आठ प्रकार के विवाहों का प्रतिपादन किया था। इनके कुछ उदाहरण बौद्ध और जैन साहित्य में भी मिलते हैं। परन्तु सामान्यतया माता-पिता द्वारा रचित ब्राह्म विवाह ही अधिक वांछनीय समझा जाता था।

१—जातक ६ पृ० २५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधारणतया पुरुष एक स्त्री से ही विवाह करते थे। परन्तु राजवंशों में बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित थी। उदाहरण के लिये बिम्बिसार और प्रसेनजित् के अनेक रानियाँ थीं। कभी-कभी सामान्य मनुष्यों में भी बहुपत्नी-प्रथा के उदाहरण मिलते हैं। जातक सपत्नी और सपत्नी-कलह के उल्लेख करते हैं।

इस समय पुनर्विवाह और विधवा विवाह भी होते थे। 'नन्द जातक', में एक पति को सबसे बड़ी चिन्ता यही है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी स्त्री पुनर्विवाह कर लेगी। 'थेरीगाथा' में इसिदासी के अनेक विवाहों का उल्लेख हुआ है। परन्तु निवृत्ति-मार्गी और यज्ञविरोधी बौद्धों ने पुत्र-प्राप्ति को आवश्यक न बताया था। अतः उन्होंने सन्तान-प्राप्ति अथवा सांसारिक जीवन के लिये पुनर्विवाह पर इतना जोर कभी नहीं दिया जितना यज्ञप्रधान-काल में ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने।

तत्कालीन समाज में पर्दा-प्रथा न थी। जातकों में बहुसंख्यक नारियों को समारोहों, उत्सवों एवं सार्वजनिक कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने का उल्लेख है। परन्तु राजवंशों में अपनी अभिजातता के कारण अपनी नारियों को पृथक् रखने की प्रवृत्ति का आभास मिलता है। पृथक् अवरोधनों में रहने वाली ये स्त्रियाँ 'ओरोधा' कहलाती थीं।

व्यावहारिक रूप में बौद्ध स्त्रियों में अविश्वास करते थे और पुरुष को उनके सम्पर्क से अलग रहने का उपदेश देते थे। इस विषय में 'महावग्ग सुत्त' में महात्मा बुद्ध और आनन्द का वार्तालाप महत्वपूर्ण है—

आनन्द—'भगवन्, हम लोग स्त्रियों के प्रति कैसा व्यवहार करें ?'
महात्मा बुद्ध—'आनन्द, उन्हें मत देखो।'
आनन्द—'देखने पर क्या करें ?'
महात्मा बुद्ध—'आनन्द, उनसे बातचीत मत करो।'
आनन्द —'परन्तु यदि वे हमारे साथ बातचीत करें, तो भगवन्।'
महात्मा बुद्ध—'आनन्द, भलीभाँति सावधान रहो।'

बौद्ध और जैन दोनों साहित्यों में स्त्री-विरोधी अनेकानेक कथन मिलते हैं। परन्तु ये प्रायः स्त्री के रमणी रूप की ही निन्दा करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों धर्मों ने स्त्री को पुरुष के समान ही समझा है और उसे समान रूप से प्रवृज्या तथा मोक्ष की अधिकारिणी माना है। दोनों धर्मों के संघों में प्रविष्ट हुई बहुसंख्यक भिक्षुणियों ने अपनी गौरव-गरिमा की भलीभाँति रक्षा की थी।

जैन और बौद्ध-साहित्य में बहुसंख्यक गणिकाओं के नाम मिलते हैं। इनमें से अनेक अत्यन्त सुसंस्कृत और शिक्षित थीं और समाज में उनका बड़ा सम्मान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। 'महावग्ग' आम्रपाली नामक सुप्रसिद्ध गणिका का उल्लेख करता है। इसने महात्मा बुद्ध को अपने घर में आमन्त्रित किया था और उन्हें प्रभूत दान दिया था। 'नयधम्मकहा' में चम्पा की एक गणिका का उल्लेख है। यह चौंसठ कलाओं में दक्ष थी।

साधारणतया सम्मिलित परिवार की प्रथा थी। पिता अपने पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध करता था। उसकी पत्नी उसकी सहधर्मिणी समझी जाती थी। सामान्यतया पति-पत्नी के सम्बन्ध सन्तोषजनक होते थे।

भोजन में गेहूँ, जौ, चावल, दालों, फलों, दूध, दही, मट्ठा, घी, तेल आदि का विशेष प्रयोग होता था। अधिकांश मनुष्य मांसाहारी भी थे, यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मों के अहिंसावादी प्रचार ने देश में निरामिष भोजन को ही महत्व दिया था। साधारणतया सुरा-पान बुरा समझा जाता था।

तत्कालीन ग्रन्थों में सूती, रेशमी और ऊनी-सभी प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। धनी व्यक्तियों के वस्त्रों पर सोने-चाँदी का काम भी किया जाता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। जूते और पादुकायें पहनने का भो प्रचलन था।

लोगों को जीवन में उत्साह था। वे समय-समय पर उत्सव, समाज और समारोह करते थे। अपने मनोरंजन के लिये वे जादूगरों और नटों के तमाशे देखते तथा मल्लयुद्धों, घुड़दौड़ों, रथ-दौड़ों आदि का आयोजन करते थे।

साधारणतया समाज में रहन-सहन का स्तर अच्छा था। तत्कालीन साहित्य घरों की विविध सामग्री--चारपाइयों, मेज-कुर्सियों, गद्दियों, पर्दों, चटाइयों, बर्तनों, आभूषणों आदि--का उल्लेख करता है।

बौद्ध-शिक्षा-प्रणाली--बौद्ध शिक्षा-प्रणाली विहारों में केन्द्रित थी। वह मठगत (monastic) थी। विद्यार्थी का प्रवेश-संस्कार (Initiation) प्रव्रज्या कहलाता था। यह ब्राह्मणों के उपनयन-संस्कार के समान था। किसी भी वर्ण का व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता था। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यावहारिक रूप में संघ में अधिकांशतः ब्राह्मण और क्षत्रिय ही थे; यद्यपि मातङ्ग और उपालि-जैसे कुछ शूद्र भी विद्यमान थे। प्रव्रज्या ग्रहण करने की आयु ८ वर्ष की थी। उसके पश्चात् १२ वर्ष तक विद्यार्थी-जीवन रहता था। अपने विद्यार्थी-जीवन के प्रारम्भ में कुछ समय तक नवागत भिक्षु, परीक्षण (Probation) पर रहता था। इस काल में सन्तोषजनक प्रगति करने के पश्चात् वह पूर्ण रूप से भिक्षु स्वीकार कर लिया जाता था। तब उसका दूसरा संस्कार होता था। इसे उपसम्पदा कहते थे। प्रव्रज्या और उपसम्पदा में एक विशेष अन्तर था। प्रव्रज्या एक भिक्षु के सम्मुख होती थी और उपसम्पदा संघ के समस्त सदस्यों के सम्मुख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपसम्पदा के पश्चात् विद्यार्थी दो अनुभवी और योग्य भिक्षुओं के संरक्षण में रख दिया जाता था। इनमें एक उपाध्याय होता था और दूसरा आचार्य। उपाध्याय का पद बड़ा होता था। वह धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा देता था। इसके विरुद्ध आचार्य एकमात्र 'आचार' की शिक्षा देता था। उपाध्याय के लिये १० वर्ष का भिक्षुत्व और आचार्य के लिए ६ वर्ष का भिक्षुत्व आवश्यक था।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान होते थे। शिष्य गुरु की सेवा करता था। २४ घण्टे अपने गुरु के साथ रहने के कारण शिष्य पर अपने गुरु के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रभाव पड़ता था।

विहार में कक्षाओं की अनेक कोटियाँ होती थीं। छोटी कक्षाओं में विद्यार्थी को सुत्तान्त रटाये जाते थे। उनकी ऊपर की कक्षाओं में विनय के सम्बन्ध में वाद-विवाद होता था और सबसे ऊपर की कक्षाओं में धम्म की विशेष शिक्षा दी जाती थी। पाठ्यक्रम में संस्कृत, ज्योतिष, यज्ञशास्त्र, यन्त्र-मन्त्र के लिये कोई स्थान न था। शिक्षा पूर्णरूप से मौखिक थी। वह लोक-भाषा में ही दी जाती थी।

तक्षशिला –जातकों से प्रकट होता है कि इस समय तक्षशिला भारतवर्ष का प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। यहाँ देश के प्रत्येक भाग से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आते थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त करने के लिये विद्यार्थी को कम से कम १६ वर्ष का होना चाहिए था। विद्यार्थी से फीस ली जाती थी। फीस दो प्रकार की होती थी—(१) धन अथवा (२) श्रम। धन के रूप में जो फीस ली जाती थी वह प्राय: १,००० स्वर्ण मुद्रायें थी। यह धन-राशि प्रवेश के समय ले ली जाती थी। धन के रूप में फीस देने वाले विद्यार्थी 'भागदायक' कहलाते थे। इन्हें अध्यापक दिन को शिक्षा देता था। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी आते थे जो अपनी निर्धनता के कारण धन के रूप में फीस नहीं दे सकते थे, इनसे श्रम के रूप में फीस ली जाती थी। ये दिन को अपने आचार्य की सेवा करते थे और इस सेवा के बदले में वे रात को पढ़ते थे। ऐसे विद्यार्थियों को 'धम्मन्तेवासिक' कहते थे।

विद्यार्थी दो प्रकार के होते थे—कुछ विश्वविद्यालय के छात्रावासों में रहते थे और कुछ बाहर नगर अथवा गाँवों में रहते थे।

प्रधान अध्यापक के अतिरिक्त अनेक सहायक अध्यापक (पिट्ठि आचार्य) भी होते थे। कभी-कभी पुराने और योग्य विद्यार्थियों को भी पढ़ाने का कुछ कार्य दे दिया जाता था। इन्हें जेट्ठन्तेवासिक कहते थे।

विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में ३ वेदों और १८ शिल्पों की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। ये १८ शिल्प कौन-कौन से थ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, ज्योतिष आदि सम्मिलित थे। सम्भवतः प्रत्येक विषय में विशेषीकरण का प्रबन्ध था। हम जानते हैं कि मगध-नरेश बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला विश्वविद्यालय में ७ वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था।

तक्षशिला विश्वविद्यालय का अनुशासन कठोर था। वहाँ विद्यार्थियों की पूरी दिनचर्या निश्चित थी। कोई भी विद्यार्थी अपने पास धन नहीं रख सकता था। उसके खाने-पीने, पहनने, बिछाने, दवा आदि का सारा प्रबन्ध विश्वविद्यालय करता था।

चाण्डालों और स्त्रियों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति इस विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर सकता था। परन्तु वहाँ विद्यार्थियों में अधिकांशतः ब्राह्मण और क्षत्रिय ही थे।

आर्थिक अवस्था

नगर—महात्मा बुद्ध के समय तक भारतवर्ष में अनेक बड़े नगरों का उदय हो गया था। 'दीघनिकाय' तत्कालीन ६ प्रमुख नगरों का उल्लेख करता है—(१) चम्पा, (२) राजगृह, (३) श्रावस्ती, (४) साकेत, (५) कौशाम्बी और (६) वाराणसी। इनके अतिरिक्त अन्य बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भारत के अन्य बड़े नगरों के भी नाम मिलते हैं, यथा वैशाली, पाटलिपुत्र, मिथिला, साकल, उज्जैन, प्रतिष्ठान, माहिष्मती इत्यादि। इन समस्त नगरों का जीवन बड़ा वैभवशाली था। इनमें राजपुरुषों, उच्च पदाधिकारियों, धनिकों, श्रेष्ठियों, व्यापारियों एवं व्यवसायियों के विशाल प्रासाद होते थे। साहित्य में सतभूमक (सात मंजिलों वाले) प्रासादों का भी उल्लेख हुआ है। ये प्रासाद पक्की ईंटों के बने होते थे और इनमें शयनकक्ष, भोजनकक्ष, पाकशाला, अतिथिशाला, स्नानागार, शौचालय आदि की समुचित व्यवस्था होती थी। प्रासादों एवं भवनों के अतिरिक्त नगर का बाजार भी विशेष रूप से आकर्षित करता था। उसमें व्यवसायियों की सुसज्जित दूकानें होती थीं। प्रत्येक नगर में सड़कों, कुओं और उद्यानों की भी व्यवस्था रहती थी।

ग्राम—परन्तु देश में नगरों की अपेक्षा ग्रामों की संख्या कहीं अधिक थी। कभी-कभी एक ग्राम में केवल एक ही व्यवसाय के लोग रहते हुए पाये जाते थे। बौद्ध एवं जैन दोनों साहित्य में वर्धकी-ग्राम, कुम्भकार-ग्राम, चाण्डाल-ग्राम आदि के उल्लेख मिलते हैं।

ग्रामों के मकान प्रायः कच्ची ईंटों से और मिट्टी से बनते थे। ग्रामों में जो खेत होते थे वे भिन्न-भिन्न मनुष्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझे जाते थे। परन्तु ग्राम-पंचायतों की अनुमति के बिना उनका क्रय-विक्रय न हो सकता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्राम के बाहर चरागाह होते थे। वे सभी की सम्मिलित सम्पत्ति समझे जाते थे। उनमें सभी के पशु चरते थे।

ग्रामों में स्वायत्त शासन था। वहाँ की पंचायतें अपने बड़ों-बूढ़ों और मुखिया की सहायता से अपनी व्यवस्था करती थीं। उन्हें गाँव के मुकदमों का निर्णय करने का भी अधिकार था। परन्तु तत्कालीन ग्रामों में झगड़े-फसाद और मुकदमे कम होते थे। उनके निवासियों का जीवन सरल, सन्तोषमय और शान्तिपूर्ण था।

कृषि—देश का प्रमुख उद्यम कृषि था। कृषि हल-बैल से होती थी। जातकों में गेहूँ, जौ, बाजरा, चना, मटर, उड़द, तिल, ईख, राई, मिर्च, जीरा, लहसुन, अदरख आदि की उपज के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार फलों में आम, जामुन, खजूर, नारियल, केला, अंगूर और अंजीर के नाम बार-बार आते हैं। शाकों के भी अनेक नाम मिलते हैं।[1] जातकों से प्रकट होता है कि राज्य उपज का $\frac{1}{6}$ भाग से लेकर $\frac{1}{12}$ भाग तक लेता था। जैन साहित्य उपज को तीन कोटियों में रखता है—क्षैत्रिक (खेत की), आरामिक (बागों की) और आटविक (वनों की)।

कृषि के साथ-साथ पशु-पालन भी होता था। पशुओं की देख-रेख के लिये गोपालक होते थे वे गाँव के बाहर चरागाहों में पशुओं को चराने ले जाते थे।

व्यवसाय—बौद्ध-साहित्य में प्रमुख व्यवसाय १८ बताये गये हैं, परन्तु छोटे-बड़े सभी व्यवसायों की संख्या इससे कहीं अधिक थी। तत्कालीन साहित्य में निम्नलिखित व्यवसायियों के नाम विशेष रूप से मिलते हैं—

वर्धकी—यह बढ़ई था और काष्ठ का काम करता था। यह गाड़ियाँ, दरवाजों एवं खिड़कियों के चौखट, रथ इत्यादि बनाता था। बौद्ध साहित्य वड्ढकिगामों का उल्लेख करता है।

कुम्भकार—यह कुम्हार था और चाक की सहायता से अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाता था। धूप में सूख जाने पर वर्तन आग में पकाये जाते थे। जैन एवं बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि अधिकांशतः कुम्हार नगर अथवा गाँव के बाहर रहते थे।

कम्मार—यह लोहार था और लोहे के हथौड़े, कुल्हाड़ियाँ, आरे, चाकू, तलवारें आदि बनाता था। इनके पृथक् ग्राम भी थे। साहित्य में 'कम्मार ग्राम' का उल्लेख हुआ है।

चर्मार—'अस्सलायन सुत्त', 'सुत्त विभंग' आदि ग्रन्थों में चर्मार का काम निम्न और हीन बताया गया है। यह जूते, थैले आदि बनाता था।

१—साकं एवं अलाबु कुभाण्डी एलालुकादीनि तिपुसा—जातक १,३१२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वर्णकार—यह एक महत्वपूर्ण व्यवसायी था और सोने-चाँदी, हीरा, मोती आदि से अनेक प्रकार के आभूषण बनाता था। साहित्य में हार, कुण्डल, मेखला, केयूर, मुद्रिका, चूड़ामणि आदि के नाम आते हैं।

तन्तुवाय—बौद्ध-ग्रन्थों से प्रकट होता है कि सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं। सूत से कपड़े बुनने का कार्य जुलाहे (तन्तुवाय) करते थे।

'विनय पिटक' से प्रकट होता है कि इस समय शिवि-देश का सूती वस्त्र प्रसिद्ध था। बौद्ध ग्रन्थों में रेशमी वस्त्र को कोसेय्य कहा गया है। वाराणसी इसके लिये विशेष प्रसिद्ध था। गन्धार में ऊनी वस्त्र बड़े सुन्दर बनते थे।

दन्तकार—देश में हाथीदाँत का काम बड़ा सुन्दर होता था। इस काम के लिये विदिशा और वाराणसी प्रसिद्ध थे। जातकों में दन्तकार-वीथियों का उल्लेख मिलता है।

मालाकार—ये उद्यानों की देख-रेख करते थे तथा सुन्दर और सुगन्धित पुष्पों से अनेक प्रकार की मालायें तैयार करते थे।

गन्धिक—ये अनेक प्रकार के पुष्पों तथा अन्य द्रव्यों की सहायता से इत्र-तेल तैयार करते थे।

इन व्यवसायियों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन साहित्य नलकारों (बाँस की वस्तुएँ बनाने वाले), चित्रकारों, नापितों, रंगरेजों, सुराकारों, मांसपण्यों और हलवाइयों का भी उल्लेख करता है।

श्रेणी—भारतवर्ष में व्यावसायिक संघों की संस्था बड़ी पुरानी है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह ऋग्वैदिक काल में भी विद्यमान थी। महात्मा बुद्ध के काल तक आते-आते इस संस्था का पूर्ण विकास हो गया था। देश के प्रायः प्रत्येक व्यवसाय का संगठन संघ के रूप में हो चुका था। बौद्ध साहित्य में इन व्यावसायिक संघों को 'श्रेणी' कहा गया है। इसी साहित्य में 'पूग' शब्द भी मिलता है। कात्यायन के अनुसार पूग व्यापारियों के समुदाय को कहते थे।

ये व्यावसायिक संगठन इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि बुद्ध-काल में हम प्रायः प्रत्येक नगर में इनका अस्तित्व देखते हैं।

श्रेणी के अन्तर्गत एक ही शिल्प का अनुसरण करने वाले सभी सदस्य संगठित होते थे। श्रेणी प्रत्येक शिल्पी का कार्य और वेतन निश्चित करती थी। वस्तुएँ कितने समय में तैयार हों, किस स्तर की हों, उनका मूल्य क्या हो, उनके विक्रय की व्यवस्था कैसी हो, इस प्रकार के सभी नियम श्रेणियाँ ही बनाती थीं। ये नियम राज्य को भी मान्य होते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने सदस्यों के ऊपर श्रेणी को पूरा अधिकार रहता था। यदि कोई सदस्य श्रेणी के नियमों का उल्लंघन करता था तो वह उसे दण्डित कर सकती थी। गम्भीर अपराध में श्रेणी अपने सदस्य से पैतृक व्यवसाय के अनुसरण का अधिकार तक छीन सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर श्रेणी अपने सदस्य की बीमारी अथवा किसी अन्य दैवी आपदा के समय आर्थिक सहायता करती थी। कभी-कभी वह अपने किसी सदस्य की मृत्यु के पश्चात् उसके आश्रयहीन परिवार की जीविका की भी व्यवस्था करती थी।

ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों से सदस्यता-शुल्क लेती थीं और अपराधियों से अर्थ-दण्ड भी लेती थीं। इनके पास प्रचुर धन होता था। ये बैंक के रूप में भी कार्य करती थीं। इनके पास लोग अपना धन जमा करते थे। ये दूसरों को ब्याज पर धन उधार भी देतीं थीं। इनकी धनाढ्यता बराबर बढ़ती गई। कालान्तर में हम देखते हैं कि श्रेणियों ने ब्राह्मणों, भिक्षुओं आदि को बड़े-बड़े दान दिये और उनकी गुफाओं, मन्दिरों आदि का निर्माण कराया।

बौद्ध साहित्य में बहुधा १८ श्रेणियों का उल्लेख हुआ है। डा० रमेशचन्द मजूमदार आदि विद्वानों का मत है कि उनकी संख्या और भी अधिक थी।

श्रेणी का नेता ज्येष्ठक कहलाता था। श्रेणी के समस्त सदस्य इसका निर्वाचन करते थे। एक जातक में ५०० वर्धकी परिवारों के एक ज्येष्ठक का उल्लेख है। दूसरे जातक में १०० कम्मार-परिवारों के ज्येष्ठक का नाम आता है।

श्रेणियाँ अपने योग्य और अनुभवी सदस्यों द्वारा नवागतों के व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करती थीं। ऐसे प्रशिक्षार्थियों का 'अन्तेवासिक' कहते थे।

व्यवसायियों की भाँति व्यापारियों के भी संघ थे। सम्भवतः इनका नेता 'श्रेष्ठी', होता था। श्रावस्ती का प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक इसी प्रकार का एक श्रेष्ठी था। बड़े श्रेष्ठियों को 'महाश्रेष्ठी' और छोटे श्रेष्ठियों को 'अनुश्रेष्ठी' कहते थे। व्यापारियों का भी व्यापार परम्परागत होता था।

ज्येष्ठक और श्रेष्ठी अपने वर्ग के व्यवसायियों और व्यापारियों के प्रतिनिधि के रूप में राजसभा में रहते थे। 'सूचि जातक' में ऐसे ही एक ज्येष्ठक का उल्लेख है। अन्य जातकों से प्रकट होता है कि व्यापारिक विषयों में राज्य श्रेष्ठी से परामर्श लेता था।[1]

साझा—बहुधा अनेक व्यापारी साझे (Partnership) में व्यापार करते थे। वे बाद को अपनी लागत के अनुपात में लाभ विभक्त कर लेते थे। एक जातक में ५०० व्यापारियों के साझे का उल्लेख हुआ है।

१—जातक ३,४७५ ; २,६४ ; ५,३८५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम्परागत व्यवसाय—तत्कालीन भारत में व्यवसाय प्राय: पैतृक होता था। बाल्यकाल से ही पुत्र अपने पिता के निरीक्षण में अपने परम्परागत व्यवसाय को सीखने लगता था। इस प्रणाली से व्यावसायिक दक्षता की रक्षा की गई थी। साहित्य में 'वनिजकुलों' और 'पण्णिककुलों का उल्लेख हुआ है।

व्यावसायिक स्थानीयकरण—इस काल की एक अन्य विशेषता व्यावसायिक स्थानीयकरण की थी। इसके अन्तर्गत एक ही व्यवसाय के सदस्य प्राय: एक ही स्थान पर रहते थे। बौद्ध एवं जैन साहित्य में वर्धकीग्राम, कुम्भकारग्राम, रजकवीथी, दन्तकारवीथी के उल्लेख यही सिद्ध करते हैं।

क्रय-विक्रय—बहुधा वस्तुओं के विक्रय के लिये मनुष्यों को निश्चित वीथियों में जाना पड़ता था। नगर के बाजार (आपण) में अलग-अलग वस्तुओं की अलग-अलग वीथियाँ थीं।

अधिकांशत: ग्रामों और छोटे नगरों में उत्पन्न हुई अथवा बनी हुई वस्तुएँ बड़े नगरों (नेगम गाम) में भेजी जाती थीं। वहीं से व्यापारी उन्हें खरीद ले जाते थे। सामान ढोने के लिये गाड़ियों अथवा गधों का प्रयोग किया जाता था।

मोहल्लों में फेरी वाले भी आते थे। जातकों में इधर-उधर घूमनेवाले फेरी वालों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है।

बहुधा वस्तुओं के मूल्य निश्चित न रहते थे। इसलिये क्रय-विक्रय के समय खूब मोल-भाव होता था।

स्थलीय मार्ग—महात्मा बुद्ध के समय तक उत्तरी भारत में अनेक व्यापारिक मार्गों का विकास हो गया था। एक मार्ग ताम्रलिप्ति से चम्पा, पाटलिपुत्र और वाराणसी होते हुए कौशाम्बी जाता था। दूसरा मार्ग कौशाम्बी से विदिशा और उज्जयिनी होता हुआ भृगुकच्छ जाता था। तीसरा कौशाम्बी और मथुरा के बीच था। चौथा मार्ग मथुरा से राजस्थान होता हुआ पाटल को जाता था। पाँचवाँ मार्ग मथुरा से साकल होता हुआ तक्षशिला पहुँचता था। वहाँ से वह काबुल नदी की घाटी से गुजरता हुआ मध्य एशिया पहुँचता था। जातकों में इन सभी मार्गों का उल्लेख हुआ है। देश के सभी बड़े नगर मार्गों द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए थे।

सार्थवाह—प्राचीन मार्ग बहुधा खतरनाक होते थे। व्यापारियों को वन्य पशुओं का भय रहता था। कभी-कभी मार्ग में डाकुओं के गाँव पड़ते थे। सत्तिगुम्ब जातक में इसी प्रकार के एक 'चोर गामक' का उल्लेख है। इसमें ५०० डाकू रहते थे। इसलिये व्यापारी बहुधा झुण्डों (कारवाँ) में चलते थे। कभी-कभी ये झुण्ड पाँच-पाँच सौ व्यापारियों के होते थे। वे अपने साथ पथप्रदर्शक रखते थे। बौद्ध साहित्य में इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पथप्रदर्शकों को 'थलनिय्यामक' और 'सत्थवाह' (सार्थवाह) कहा गया है। इनका कार्य भी पैतृक प्रतीत होता है। इन पथप्रदर्शकों को बड़ी आमदनी होती थी। 'वण्णुपथ जातक' का कथन है कि सार्थवाह को दुगुना-चौगुना लाभ होता था। एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवेश करने पर व्यापारियों को अपने माल पर चुंगी देनी पड़ती थी।

जल-मार्ग—व्यापारी अपने गमनागमन के लिये नदियों और समुद्री मार्गों का भी प्रयोग करते थे। भाग्यवश उत्तरी भारत में सभी बड़ी नदियाँ नौकाओं के लिये सुविधा-जनक हैं। बौद्ध साहित्य में नौकाओं और जलपोतों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। जातकों में भारतीय व्यापारियों द्वारा ताम्रपर्णि, सुवर्णभूमि, बेबिलोन और मिस्र आदि की सामुद्रिक यात्राओं का वर्णन है। 'पण्डर जातक', का कथन है कि ५०० यात्री एक समुद्र-यात्रा कर रहे थे। १७ दिन के पश्चात् समुद्र में दुर्घटना हो गई और वे सब यात्री डूब गये। 'महाजनक जातक' में सुवर्ण-भूमि की यात्रा का वर्णन है। 'बाबेरु जातक' बेबिलोन की यात्रा का उल्लेख करता है।

अर्थनीति—ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल सम्पत्ति-नियमन के प्रारम्भ का काल है। व्यापारी, आदेश (Bill of Exchange) और अन्वधि (Bailment of Delivery) आदि का प्रयोग करने लगे थे। ब्याज पर रुपये का लेन-देन होता था। ऋण न चुका सकने के कारण कभी-कभी मनुष्य को दास-वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती थी। साझा और लाभ-वितरण का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस समय वर्तमान काल की भाँति बैंक न थे। परन्तु लोग अपना धन विश्वसनीय मित्रों तथा श्रेणियों के पास जमा करते थे। गाँवों में अब भी वस्तु-विनिमय (Bartar) चलता था। परन्तु बड़े व्यापार के लिये मुद्राओं का प्रयोग होता था। इस काल की प्रमुख मुद्रा 'कार्षापण', थी। बौद्ध और जैन साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ४

महात्मा बुद्ध के समय की धार्मिक अवस्था

धार्मिक क्रान्ति - ईसा पूर्व छठी शताब्दी संसार के इतिहास में महत्वपूर्ण है। इस शताब्दी में संसार के अनेक देशों में धार्मिक अथवा बौद्धिक क्रान्तियाँ हुईं। उदाहरणार्थ, इसी काल में भारतवर्ष में महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध ने, फारस में जरथस्ट्र ने, जूडिया में जेरेमिआ ने, यूनान में पाइथागोरस ने और चीन में कन्फ्यूशिअस ने पुराने रूढ़िवादी विचारों का खण्डन करते हुए अपने नये मतों का प्रतिपादन किया। एक ही साथ इतने देशों में बौद्धिक क्रान्ति का होना इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है। अनेक विद्वानों ने इसका कोई एक कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी तक उनके प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली है। उदाहरण के लिये इलियट स्मिथ ने यह मत प्रतिपादित किया था कि यह विश्व-व्यापी क्रान्ति मिस्र के नवीन विचारों के प्रचार के परिणामस्वरूप हुई और इन मिस्री विचारों को दूर-दूर तक फैलाने वाले फोनेशिआ-निवासी थे। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस मत को अस्वीकार कर दिया है।

उपनिषद्-काल की पृष्ठ-भूमि—भारतवर्ष में रूढ़िवादी विचारों का खण्डन और नवीन विचारों का प्रतिपादन थोड़ी-बहुत मात्रा में वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद में ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि समाज का एक वर्ग बाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा शील और सदाचार को अधिक महत्व देता था। परन्तु उस समय इस वर्ग की संख्या और प्रभाव बहुत कम था। जैसे-जैसे वैदिक धर्म की जटिलता, यज्ञवादिता एवं बहुदेववादिता बढ़ती गई वैसे ही वैसे उसका विरोध भी बढ़ता गया। ब्राह्मण-ग्रंथों के अनेक स्थलों में व्यक्तिगत चिन्तन-मनन और शील के ऊपर जोर दिया गया है। आरण्यकों में यह सुधारवादी विचार-धारा अधिक बलवती हो गई थी। उनके बाद उपनिषदों में तो यज्ञवाद, कर्मकाण्ड और बहुदेववाद के विरुद्ध खुला विद्रोह दिखाई देता है। उपनिषद्-काल के मनीषियों ने ब्रह्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, आवागमन, मोक्ष आदि के विषयों को अधिक महत्व देकर बाह्य कर्मकाण्ड को गौण बताया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के विचारकों ने इसी औपनिषदिक विचार-धारा को और आगे बढ़ाया, जिसके परिणाम-स्वरूप रूढ़िवादी ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध एक प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई।

धार्मिक क्रान्ति के कारण – ईसा पूर्व छठी शताब्दी की यह क्रान्ति न एक दिन में उत्पन्न हुई और न इसका कोई एक कारण था। इसके आविर्भाव के अनेक छोटे-बड़े कारण थे जो शताब्दियों से कार्य कर रहे थे। इन कारणों पर निम्नलिखित रूप में अलग-अलग विचार कर सकते हैं—

(१) ब्राह्मण धर्म का विरोध—ब्राह्मण-धर्मावलम्बी वेद को ईश्वरीय, अनादि पूर्ण और चिर सत्य मानते थे। वेद की ऋचायें पवित्र समझी जाती थीं और उनका पाठ धार्मिक कर्म समझा जाता था।

परन्तु नवीन विचारक ब्राह्मणों के इस दावे को मानने के लिये तैयार न थे। उनके मत में किसी भी ग्रन्थ को ईश्वरीय, अनादि, पूर्ण और सत्य मानना रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वास को जन्म देना था। पुनः एकमात्र पुस्तकीय ज्ञान से आत्म-ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी विचार-धारा को प्रकट करते हुए स्वयं 'छान्दोग्य उपनिषद्' में नारद से कहलाया गया है कि 'भगवन्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद का ज्ञाता हूँ। भगवन्, मैंने इतिहास-पुराण नामक पंचम वेद, वेदों के वेद व्याकरण को...... भी पढ़ा है। ...... परन्तु भगवन्, यह सब ज्ञान रखते हुए भी मैं केवल मन्त्रों का ज्ञाता हूँ, आत्मा का ज्ञाता नहीं।'

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में चिन्तकों ने इसी विचार-धारा को और आगे बढ़ाया।

ब्राह्मण-धर्म का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अङ्ग यज्ञ था। ऋग्वैदिक-काल के पश्चात् यज्ञों की संख्या और जटिलता उत्तरोत्तर बढ़ती गई थी। ब्राह्मणों ने भिन्न-भिन्न कालों और अवसरों पर भिन्न-भिन्न यज्ञों की कल्पना कर रखी थी। इन्हें करने-कराने के लिये अत्यन्त जटिल ब्यौरे की पूरी जानकारी आवश्यक थी। अतः इनके लिये विशेषज्ञ पुरोहितों की आवश्यकता थी। पुरोहितवाद के उदय के कारण यज्ञ व्यक्तिगत भी न रह गये थे। कोई-कोई यज्ञ वर्षों चलता था। अनेक यज्ञ हिंसात्मक होते थे। उनमें पशु-बलि दी जाती थी।

उत्तर वैदिक-काल में समाज के एक विचारशील वर्ग ने ऋग्वैदिक धर्म के इस परिवर्तित रूप का भी विरोध किया। उन्होंने यज्ञों, विशेषतया हिंसात्मक यज्ञों, को निरर्थक बताया। छान्दोग्य, मुण्डक, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में इस प्रकार के बाह्य एवं साडम्बर यज्ञों की अनेक स्थलों पर निन्दा की गई है। इसी विरोध को आगे बढ़ाते हुए ई० पू० छठी शताब्दी के आन्दोलनकारियों ने ब्राह्मणों के यज्ञवाद पर प्रबल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आक्रमण किया। महात्मा बुद्ध का यह कथन कि 'ब्राह्मण, मैं लकड़ी जलाने के स्थान पर भीतर ही ज्योति जलाता हूँ' इस नवीन विचार-धारा का ही पोषक है।

सम्पूर्ण वैदिक काल में ब्राह्मण-धर्म के देवी-देवताओं की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। जल, स्थल, आकाश आदि सभी स्थानों पर अनेकानेक देवी-देवताओं की कल्पना ने ऋषियों के एकेश्वर, ब्रह्म आदि के सिद्धान्तों को दबा दिया। बहुदेववाद के चक्कर में पड़कर साधारण जनता आत्मा-परमात्मा के विशुद्ध रूप को भूल गई। ई० पू० छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति ने इस बहुदेववाद पर भी आक्रमण किया।

ब्राह्मण धर्म की अवनति का एक अन्य कारण उसके व्यवस्थाकारों—ब्राह्मणों—के एक वर्ग की कुख्याति थी। इस समय तक अनेक ब्राह्मण विद्वत्ता, साधुता, सरलता और त्याग के उदात्त सिद्धान्तों को भूल कर प्राकृत जन की भाँति सांसारिक जीवन व्यतीत करने लगे थे। उनमें से अनेक अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन को छोड़कर नाना प्रकार के व्यवसायों में लगे थे। इसमें कोई असाधारण बात नहीं थी। समाज की अन्य जातियों की भी यही अवस्था थी। परन्तु समाज के व्यवस्थाकार और पथ-प्रदर्शक होने के कारण ब्राह्मणों का यह परिवर्तन समाज को सबसे अधिक खटकता था। ऐसे ब्राह्मणों के लिये बौद्ध और जैन साहित्य में 'धिक् जाति' और 'अपेता' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(२) सामाजिक व्यवस्था का विरोध—ऋग्वैदिक काल की भाँति वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित हो गई थी। ब्राह्मण चाहे निम्नकर्मा ही क्यों न हो, अपनी उच्च जातीयता के कारण उच्च और आदरणीय समझे जाने लगे। इसके विरुद्ध सत्कर्मा और सदाचारी शूद्र एकमात्र अपनी निम्न-जातीयता के कारण आजीवन घृणा, अभाव और अधिकारहीनता का शिकार हो गये।

समाज में चार वर्णों के स्थान पर अनेकानेक जातियों और उपजातियों का उदय हुआ। प्रत्येक जाति का अपना कर्म निश्चित था। अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान पर प्रतिबन्ध थे। यह चिर परिवर्तनहीनता, नवयुग के साथ कदम न रखने की प्रवृत्ति नवीन विचारकों के लिये असह्य हो उठी।

सामाजिक असन्तोष का एक अन्य प्रबल कारण स्त्री-समुदाय की दुरवस्था थी। ऋग्वैदिक काल में स्त्री को यज्ञोपवीत, अध्ययन, स्वयंवर आदि का अधिकार था। उसका जीवन स्वच्छन्दता, सहकारिता और अधिकारशीलता के ऊपर आधारित था। परन्तु ई० पू० छठी शताब्दी तक आते-आते हम देखते हैं कि उसके हाथ से अनेक अधिकार जा रहे थे। समाज की परिवर्तित प्रवृत्ति के अनुसार उसका क्षेत्र एकमात्र घर माना जाने लगा था। उसकी शिक्षा की उपेक्षा हो रही थी। कम आयु में विवाह कर देने की प्रणाली चल पड़ी थी। उसके ऊपर पिता, पति या पुत्र का नियन्त्रण आवश्यक समझा जाने लगा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवीन विचारकों ने स्त्री-समाज की गरिमा, स्वतन्त्रता और समानाधिकार की स्थापना की आवाज उठाई।

(३) आर्थिक असन्तोष—समाज की बढ़ती हुई जटिलता के परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था पर आधारित ब्राह्मणों की आर्थिक व्यवस्था अव्यावहारिक हो गई थी। अब यह सम्भव न था कि प्रत्येक वर्ण अथवा जाति एक मात्र अपने वर्णविहित अथवा जातिविहित व्यवसाय का ही अनुसरण करे। अतः रूढ़िवादी ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों ने जब अपनी पुरातन आर्थिक व्यवस्था को ही कायम रखने के लिये अनेक प्रकार के अव्यावहारिक विधि-निषेध बनाने प्रारम्भ किये तो उनके विरुद्ध समाज में बड़ा असन्तोष फैला।

ब्राह्मण धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिये यज्ञ अनिवार्य था। परन्तु अनेकानेक यज्ञ इतने जटिल, दीर्घकालीन और व्ययसाध्य थे कि निर्धन व्यक्ति उन्हें कभी कर ही न सकता था। अतः एकमात्र अपनी निर्धनता के कारण ही वह उन यज्ञों के 'लाभ' से वंचित रहता था। इस आर्थिक अभाव से भी समाज में भारी असन्तोष फैला।

राज्य की ओर से किये जाने वाले दीर्घकालीन एवं व्ययकारी यज्ञों में जो प्रभूत धन-धान्य खर्च होता था उसका भार भी अन्ततोगत्वा निर्धन जनता पर ही पड़ता था। यज्ञ-विरोधी वर्ग इस स्थिति को भी अन्यायपूर्ण समझता था।

(४) ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रतिद्वन्द्विता—ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के उच्च वर्ग थे। साधारणतया ब्राह्मण, क्षत्रियों से भी अधिक उच्च और आदरणीय समझे जाते थे। परन्तु साहित्यिक अवलोकन से प्रकट होता है कि क्षत्रियों का एक वर्ग अपने को ब्राह्मणों से हीन मानने के लिये कभी भी तैयार न था। शासन और सुरक्षा के कार्यों में लगे होने के अतिरिक्त बहुसंख्यक क्षत्रिय अध्ययन-अध्यापन में भी लगे थे। उपनिषद्-काल के अनेक क्षत्रिय राजा अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। वे ब्रह्म-विद्या के प्रवर्तक थे। बहुसंख्यक ब्राह्मण भी उनके पास ब्रह्म-विद्या सीखने आते थे। ऐसी परिस्थिति में क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों की अपेक्षा हीन क्यों समझते?

ब्राह्मण धर्म—विरोधी बौद्ध और जैन ग्रन्थों में क्षत्रियों को ब्राह्मणों के ऊपर रखने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इन ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी चारो वर्णों के नाम आये हैं वहाँ पहले क्षत्रिय का उल्लेख है और फिर ब्राह्मण का।

बौद्धों और जैनियों का यह कथन है कि उनके बुद्ध और तीर्थङ्कर सदैव क्षत्रिय वर्ण में ही जन्म लेते हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय-प्रतिद्वन्द्विता की ओर ही संकेत करता है।

जैन साहित्य में एक मनोरंजक कथा मिलती है। इसके अनुसार महावीर स्वामी पहले एक ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न होने वाले थे। परन्तु तभी देवताओं ने उन्हें ब्राह्मणी के गर्भ से हटाकर त्रिशला नाम की एक क्षत्राणी के गर्भ में भेज दिया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस कथा से कम से कम यह अवश्य प्रकट होता है कि समाज का एक वर्ग ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को अधिक सम्मान्य समझता था।

सम्भव है कि जिस समय ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध आन्दोलन चला तो उसमें सबसे अधिक सहयोग इस ब्राह्मण-विरोधी क्षत्रिय-वर्ग ने ही दिया हो। यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के नेता—महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध—क्षत्रिय थे।

(५) आर्य और अनार्य सभ्यताओं का संघर्ष—आर्य सभ्यता और अनार्य सभ्यता में मौलिक भेद था। आर्य सभ्यता मूलतः प्रवृत्तिमार्गी थी और अनार्य सभ्यता मूलतः निवृत्तिमार्गी। आर्यों और अनार्यों के एक ही साथ अथवा पास-पास रहने के कारण दोनों संस्कृतियों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। इस सांस्कृतिक संघर्ष और आदान-प्रदान ने अनेक प्रकार के विचारों को जन्म दिया। नवीन धर्मों का जन्म भी सम्भवतः इन्हीं विचारों के परिणामस्वरूप हुआ। जैन एवं बौद्ध धर्मों के सिद्धान्त आर्य और अनार्य दोनों विचार-धाराओं से प्रभावित हैं।

इस विषय में एक अन्य बात भी महत्वपूर्ण है। ई० पू० छठी शताब्दी तक पंजाब से लेकर वर्तमान उत्तर प्रदेश तक का सम्पूर्ण उत्तरी भारत ब्राह्मण-संस्कृति के प्रभाव में आ चुका था। परन्तु पूर्वी भारत अब भी ब्राह्मण-संस्कृति के प्रभाव से बहुत-कुछ बाहर था। वहाँ सम्भवतः अनार्य संस्कृति अब भी दृढ़ थी। ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध जो क्रान्ति हुई वह इसी अनार्य संस्कृति के गढ़ पूर्वी भारत में हुई। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि इस क्रान्ति को जन्म देने में अनार्य विचारधारा ने काफी योग दिया होगा।

विभिन्न सम्प्रदाय—इस धार्मिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप देश में अनेकानेक मत-मतान्तरों की स्थापना हुई। जैन और बौद्ध साहित्य इस संक्रांति-युग की जो झाँकी प्रस्तुत करता है उससे प्रकट होता है कि इस समय देश के विभिन्न प्रदेशों में परिव्राजक, श्रमण, भिक्षु, आचार्य, तार्किक, मीमांसक आदि बड़े उत्साह के साथ धार्मिक वाद-विवाद और तर्क-वितर्क करते हुए घूम रहे थे। स्थान-स्थान पर आये दिन धार्मिक गोष्ठियाँ एवं शास्त्रार्थ हो रहे थे। सारा वातावरण बौद्धिक जागरण से प्रभावित था।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म तो इस युग के सर्व प्रमुख दो धर्म थे। इनके अतिरिक्त जैन साहित्य अन्य ४ प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख करता है—

(१) क्रियावाद—इसके अनुसार सब कुछ मनुष्य के कर्मों के परिणाम-स्वरूप होता है।

(२) अक्रियावाद—इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु नाशवान् है। कर्म-फल नाम की कोई वस्तु नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) अज्ञानवाद—संसार में कोई भी ज्ञान सत्य और पूर्ण नहीं है। अतः ज्ञान मोक्षदायक नहीं हो सकता।

(४) विनयवाद - विनय के द्वारा ही मनुष्य आत्मिक उत्कर्ष कर सकता है।

इसी प्रकार बौद्ध साहित्य उस काल में प्रचलित ६२ मतों का उल्लेख करता है और उन्हें 'मिथ्या दृष्टि' के नाम से पुकारता है। 'महाबेधि जातक' आदि कुछ बौद्ध ग्रन्थों में ५ प्रमुख मतों का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है—

(१) उच्छेदवाद—इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु नाशवान् है और मृत्यु के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता। आत्मा, पुनर्लोक, पुनर्जन्म आदि कुछ भी नहीं होता

(२) अहेतुवाद इस 'वाद' के अनुयायियों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति आकस्मिक होती है। उसकी उत्पत्ति का कोई हेतु अथवा कारण नहीं होता।

(३) पुब्बेकतावाद—इस मत के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु की वर्तमान स्थिति उसके पूर्व कर्मों का फल है।

(४) ईश्वरकारणवाद—इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कारण ईश्वर है।

(५) खग विद्यावाद—प्रत्येक व्यक्ति नितान्त स्वार्थी है। स्वार्थसिद्धि के लिये मनुष्य हत्या, झूठ, पाप आदि सभी कुछ कर सकता है।

तर्कशील प्रवृति—ये तथा ऐसे ही अनेक सम्प्रदाय तत्कालीन समाज की अन्वेषण-कारिणी एवं तर्कशील प्रवृत्ति के परिणाम थे। इसके कारण बौद्धिक क्रान्ति के नेता कोई भी रूढ़िगत सिद्धान्त को तब तक स्वीकार करने के लिये तैयार न थे जब तक वह तर्कसम्मत सिद्ध न हो जाय। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ई० पू० छठी शताब्दी में अनेकानेक पुरातन मान्यताओं को सहसा ढहा दिया गया।

क्रान्ति के नेता—इस धार्मिक क्रान्ति के नेताओं में महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध के नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनकी ख्याति ने क्रान्ति के अनेकानेक अन्य नेताओं के नामों को प्रायः विस्मृत करा दिया है। परन्तु बौद्ध साहित्य महात्मा बुद्ध के समकालीन छह अन्य आचार्यों (छह तेत्थिया या छह तैर्थिक) का उल्लेख करता है—

(१) पूर्ण काश्यप—ये ब्राह्मण थे। इन्होंने अक्रियावाद का प्रतिपादन किया था। ये कर्मफल को स्वीकार नहीं करते थे। इनके अनुसार न पाप का कोई फल होता है और न पुण्य का।

(२) मस्करीपुत्र गोशाल—प्रारम्भ में ये जैन थे। परन्तु महावीर स्वामी से मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने अपने एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय की स्थापना की। यह आजीवक सम्प्रदाय कहलाता है। बौद्ध साहित्य में ये भाग्यवादी, अहेतुवादी और अकर्मण्यतावादी कहे गये हैं। इनके अनुसार सभी प्राणी पूर्णरूप से भाग्य के अधीन

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। भाग्य में जो है वही होगा। मनुष्य का कर्म उसे परिवर्तित अथवा प्रभावित नहीं कर सकता।

(३) अजित केशकम्बलि—ये भौतिकवादी थे। इनके अनुसार प्राणी चार भूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—से बना है। जब ये चारों भूत अलग-अलग हो जाते हैं तो मृत्यु के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है।

(४) प्रक्रुद्ध कात्यायन—ये अकृततावादी थे। इनके अनुसार संसार में कुछ भी नहीं होता। न कोई मरता है, न कोई मारता है, न कोई सुनता है और न कोई कहता है। जो कुछ दृश्य है वह सब भ्रम है। अतः पाप-पुण्य, सत्कर्म-दुष्कर्म आदि भी नहीं हैं।

(५) संजय वेलट्ठिपुत्र—ये सन्देहवादी थे। इनके अनुसार जन्म, मरण, इहलोक, परलोक, आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य आदि किसी के विषय में भी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

(६) निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र—ये महावीर स्वामी थे। इनके सिद्धान्तों का उल्लेख आगे किया जाएगा।

लौकिक धर्म—परन्तु यह न समझना चाहिए कि ई० पू० छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति ने समाज की सम्पूर्ण रूप-रेखा बदल दी थी और प्रत्येक स्थान पर प्राचीन मान्यताओं का नाश कर नवीन मान्यताओं की स्थापना की थी। स्वयं जैन साहित्य और बौद्ध साहित्य से ही प्रकट होता है कि इस क्रान्ति ने विशेषतया समाज के शिक्षित और विचारशील समुदाय को ही प्रभावित किया था। सामान्य जनसमूह पूर्ववत् ही अपने देवी-देवताओं की उपासना करता रहा। उसके कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, पवित्र स्नान, पर्व, महोत्सव तथा दान-दक्षिणा आदि पूर्ववत् ही चलते रहे। जैन एवं बौद्ध दोनों साहित्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, कृष्ण, बलदेव, स्कन्द आदि देवताओं तथा दुर्गा, लक्ष्मी, गंगा, श्रद्धा, आशा आदि देवियों की पूजा के प्रचलन का उल्लेख करते हैं। यही नहीं, जनता नागों, पशु-पक्षियों, वृक्षों, भूत-प्रेतों, यक्षों, विद्याधरों आदि की भी पूजा करती थी। समय-समय पर वह तीर्थों में जाती थी। पवित्र नदियों में स्नान करना विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता था। ब्राह्मणों, विद्वानों एवं दीन-दुःखियों को दान देना पुण्य-कर्म समझा जाता था। उसमें शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के अन्धविश्वास प्रतिष्ठित थे। वह अपने रोगों, संकटों और अनिष्टों आदि के निवारण के लिये तथा सुख-समृद्धि एवं इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के जप-तप, पूजा-पाठ आदि करती थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ५

जैन धर्म

पूर्व इतिहास—जैन धर्म ई० पू० छठी शताब्दी से कहीं अधिक प्राचीन है। सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत योगी की जो मुहर मिली है उसे कुछ विद्वान् जैन तपस्वी की मूर्ति बताते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में उल्लिखित तपस्वी भी जैन तपस्वी हैं। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में कुछ जैन तीर्थङ्करों के नाम भी मिलते हैं। परन्तु ये समस्त कथन सन्देहपूर्ण हैं। जैन धर्म निवृत्तिमार्गी अवश्य है, परन्तु निवृत्तिमार्ग की उत्पत्ति जैन धर्म से ही हुई हो, ऐसा नहीं है। निवृत्ति मार्ग जैन धर्म के उदय के पूर्व ही विद्यमान था। अतः सिन्धु-सभ्यता और वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत यदि श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं तो उनसे सदैव जैन भिक्षुओं का ही अर्थ नहीं लगाना चाहिये।

जो भी हो, इतना निश्चित है कि जैन धर्म की स्थापना महावीर स्वामी ने नहीं की थी। जैन साहित्य से प्रकट होता है कि उनके पूर्व जैन धर्म के २३ तीर्थङ्कर और हो चुके थे। 'तीर्थङ्कर' का अर्थ है ऐसे उपाय का बताने वाला जो मनुष्य को संसार-सागर से पार कर दे। समय-समय पर जैन धर्म में ऐसे महात्माओं और आचार्यों का जन्म हुआ जिन्होंने संसार को मोक्ष का मार्ग दिखाया। इसी से उन्हें 'तीर्थङ्कर' का नाम दिया गया।

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन धर्म के निम्नलिखित २४ तीर्थङ्कर हुये हैं—

(१) ऋषभदेव (२) अजीत (३) सम्भव (४) अभिनन्दन (५) सुमति (६) पद्मप्रभ (७) सुपार्श्व (८) चन्द्रप्रभ (९) सुविधि (१०) शीतल (११) श्रेयाँस (१२) वासुपूज्य (१३) विमल (१४) अनन्त (१५) धर्म (१६) शान्ति (१७) कुन्थ (१८) अर (१९) मतिल (२०) मुनिसुव्रत (२१) नेमि (२२) अरिष्टनेमि (२३) पार्श्वनाथ (२४) महावीर स्वामी।

पार्श्वनाथ—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पार्श्वनाथ के पूर्व जो तीर्थङ्कर बताये जाते हैं उनमें कौन-कौन से ऐतिहासिक हैं। परन्तु जहाँ तक पार्श्वनाथ का सम्बन्ध है, उनकी ऐतिहासिकता में किसी को भी संदेह नहीं है। ये राजवंशी थे। महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व काशी के राजा अश्वसेन के घर में इनका जन्म हुआ था। इनकी माता का नाम वामा था। बड़े होने पर इनका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ किया गया। परन्तु सांसारिक जीवन में इनका मन

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न लगा और ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने घर-वार छोड़कर सन्यास ले लिया। तत्पश्चात् उन्होंने घोर तपस्या की और ज्ञान प्राप्त किया। ज्ञानी होने के उपरान्त इन्होंने घूम-घूम कर लगभग ७० वर्ष तक अपना धर्म-प्रचार किया। इनके बहुसंख्यक अनुयायी बन गये थे जो निर्ग्रन्थ (जिन्होंने सांसारिक ग्रंथियों—बन्धनों को तोड़ दिया था) कहलाये। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों का संघ स्थापित किया था जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों शामिल थे। उनके जैन संघ में चार गण (भाग) थे। प्रत्येक गण अपने एक नेता (गणधर) की अधीनता में कार्य करता था। पार्श्वनाथ ने अपने संघ के अनुयायियों को चार व्रतों के पालन का आदेश दिया था—

(१) हिंसा न करना (२) झूठ न बोलना (३) चोरी न करना और (४) सम्पत्ति न रखना।

इन चतुर्व्रतों के प्रतिपादन के अतिरिक्त पार्श्वनाथ ने ब्राह्मण धर्म के वेदवाद, बहुदेववाद, यज्ञवाद, वर्ण-व्यवस्था आदि का भी विरोध किया। सामाजिक दृष्टि से उनका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य शूद्रों और स्त्रियों को भी मोक्ष का अधिकारी बताना था। उन्होंने स्वयं तपस्या के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया था। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये वे तपस्या और शरीर-क्लेश को आवश्यक मानते थे।

महावीर स्वामी—पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म का प्रचार बड़ा सीमित था। इस धर्म को अधिक लोकप्रिय बनाने का कार्य चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर स्वामी ने किया।

जैन आगम में महावीर स्वामी के जीवन-वृत्त में धीरे-धीरे इतनी अधिक कल्पित बातों का समावेश कर दिया गया कि आज उनके ऐतिहासिक जीवन की वास्तविक घटनाओं का पता लगाना बड़ा कठिन हो गया है। फिर भी उनके जीवन की निम्नलिखित घटनाओं को यथार्थ माना जा सकता है—

प्राचीनकाल में कुण्डग्राम में ज्ञातृक क्षत्रियों का एक छोटा-सा राज्य था। यह राज्य वैशाली के वज्जि-संघ का एक सदस्य था। इसी कुण्डग्राम के सरदार सिद्धार्थ के घर में महावीर स्वामी का जन्म हुआ था। इनका बचपन का नाम वर्धमान था। इनकी माता त्रिशला वैशाली के लिच्छवि-राजा चेटक की बहन थी। युवा होने पर वर्धमान का विवाह यशोदा नाम की एक राजकुमारी से किया गया। इस विवाह से उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका विवाह कालान्तर में जामालि के साथ हुआ था। परन्तु अधिक समय तक वर्धमान का मन सांसारिक जीवन में न लग सका। वे सदैव से विचारशील थे और जीवन-मरण आदि के प्रश्नों पर विचार किया करते थे। जब वे ३० वर्ष के थे तो उनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई। अब वर्धमान के बड़े भाई नन्दिवर्धन कुण्डग्राम के राजा हुये। इस समय तक वर्धमान का मन संसार से विरक्त हो गया था। अतः उन्होंने अपने भाई की आज्ञा लेकर घर-वार छोड़ दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अनेक प्रकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की कठोर तपस्या की। पहले वे एक वस्त्र धारण करते थे, परन्तु बाद को उन्होंने उसे भी छोड़ दिया और नंगे रहकर ही तपस्या करने लगे। १२ वर्ष की कठोर तपश्चर्या के पश्चात लगभग ५०० ई० पू० उन्हें ऋजुपालिक सरिता के तट पर कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ। तभी से वे केवलिन् कहलाये। उन्होंने सांसारिक ग्रंथियों को तोड़ दिया था। इसलिये उन्हें निर्ग्रन्थ भी कहा जाने लगा। उन्होंने आध्यात्मिक वीरता का परिचय दिया था। अतः वे महावीर हुये। उनका नाम जिन् (इन्द्रियों का जीतने वाला) भी है। कालान्तर में उन्होंने जिस धर्म का प्रचार किया वह जैन धर्म के नाम से प्रख्यात है।

नवीन सम्प्रदाय की स्थापना—जैन धर्म पहले से ही विद्यमान था। पार्श्वनाथ ने उसके निश्चित व्रतों और नियमों को स्थिर कर दिया था। उन्होंने जैन संघ को भी संगठित किया था। परन्तु महावीर स्वामी पार्श्वनाथ की स्थापित व्यवस्था से पूर्णरूप से सहमत न थे। अतः उन्होंने अपने एक नवीन जैन संघ की स्थापना की। पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी की शिक्षाओं में दो विशेष अन्तर दिखाई देते हैं—

(१) पार्श्वनाथ ने चतुर्व्रतों का आदेश दिया था। परन्तु महावीर स्वामी ने उनके चार व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत को जोड़कर पंच व्रतों का आदेश दिया।

(२) पार्श्वनाथ वस्त्र धारण करने में कोई दोष नहीं देखते थे। परन्तु महावीर स्वामी ने पूर्णरूप से नग्न रहने का आदेश दिया था।

मस्करीपुत्र गोशाल—प्रारम्भ में मस्करीपुत्र गोशाल और महावीर स्वामी साथ-साथ रहे थे। परन्तु कुछ समय पश्चात् दोनों में मतभेद उत्पन्न हो गया। परिणाम-स्वरूप मस्करीपुत्र महावीर स्वामी से पृथक् हो गये और उन्होंने अपने स्वतन्त्र सम्प्रदाय की स्थापना की। यह सम्प्रदाय इतिहास में आजीवक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ और प्राचीन भारत के प्रमुख सम्प्रदायों में गिना जाता है।

जैन धर्म के सिद्धान्त

अनेक विद्वानों के अनुसार यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जैन आगेम में महावीर स्वामी की मूल शिक्षायें कौन-सी हैं। परन्तु जैन धर्मावलम्बियों की रूढ़िवादिता और परिवर्तन-विमुखता को देखते हुये यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने अपने आगम में महावीर स्वामी की मूल शिक्षाओं को बहुत-कुछ सुरक्षित रक्खा है। परिवर्तन और संवर्धन प्रमुखतया ब्यौरे में हुआ है।

वेद-प्रामाण्य का विरोध—महावीर स्वामी ने यह स्वीकार नहीं किया कि वेद ईश्वरीय, अनादि और पूर्ण हैं। उनका मत था कि ज्ञान भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है। अतः ब्राह्मणों का यह कथन कि वैदिक ज्ञान ही पूर्ण और सत्य है, असंगत है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यज्ञों का विरोध—महावीर स्वामी ने अपने धर्म में अहिंसा को बड़ा महत्व दिया। अतः वे हिंसात्मक यज्ञों के स्वतः विरोधी हो गये। जहाँ तक अहिंसात्मक यज्ञों का प्रश्न था, महावीर स्वामी ने उन्हें भी व्यर्थ माना, क्योंकि वे कर्मकाण्डमूलक, आडम्बरयुक्त और बाह्य थे। उनसे मनुष्य की अन्तः शुद्धि नहीं हो सकती।

जातिभेद और लिङ्ग-भेद का विरोध—महावीर स्वामी का मत था कि पुरुषार्थ से सभी व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। उसमें जाति-भेद और लिङ्ग-भेद का कोई महत्व नहीं है। उनके अनुसार शूद्र और स्त्री दोनों ही मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। अतः उन्होंने जाति-व्यवस्था के विरोध में और स्त्री-स्वतन्त्रता के पक्ष में भारी आन्दोलन चलाया। उनके संघ में स्त्रियाँ भी प्रवेश कर सकती थीं।

आचरण पर जोर—महावीर स्वामी ने बाह्य कर्मकाण्ड को निरर्थक बताया और मनुष्य की आन्तरिक शुद्धि पर जोर दिया। उनके अनुसार 'जो सदाचार के गुणों से युक्त है, जो श्रेष्ठ संयम का पालन करता है, जिसने समस्त आश्रवों को रोक दिया है, जिसने कर्म का नाश कर दिया है, वह विपुल, उत्तम और ध्रुवगामी मोक्ष को प्राप्त करता है।'

अहिंसा पर जोर—जैन धर्म अनेकात्मवादी है। वह जड़-चेतन सभी में आत्मा बताता है। अतः इस धर्म ने सभी वस्तुओं के प्रति अहिंसापूर्ण आचार का उपदेश दिया। अहिंसा के सिद्धान्त के ऊपर जितना जोर जैन धर्म ने दिया है उतना सम्भवतः किसी भी अन्य धर्म में नहीं। हिंसा के भय से अनेक जैन अनुयायी नाक-मुँह पर पट्टी बाँधने लगे और झाड़ू लगा-लगाकर चलने लगे। इसी बात को लेकर हाप्किन्स नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि जैन धर्म कीट-कीटाणुओं का पालन करता है।[1] अहिंसा की व्यवस्था को और अधिक व्यापक करते हुये जैन-धर्म ने मन, वचन और कर्म, तीनों से असंयत व्यापार को रोक दिया।

शरीर-क्लेश—महावीर स्वामी का मत था कि शरीर के भौतिक अंश का जितना अधिक दमन किया जायगा, मनुष्य की आत्मा का उतना ही अधिक उत्कर्ष होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर ही महावीर स्वामी ने कठोर तपों, नग्नता, व्रतों, अनशन, आमरण अनशन, केश-लुंचन आदि का पालन आवश्यक बताया।

श्रमण-धर्म—जैन धर्म प्रमुखतया श्रमण-धर्म था। इसके अन्तर्गत सांसारिक जीवन को मोक्ष-प्राप्ति में बाधक बताया गया। महावीर स्वामी ने गृहस्थ जीवन को छोड़कर सन्यस्त जीवन बिताने का उपदेश दिया।

---

1. 'A religion in which the chief points insisted upon are that one should deny God, worship man and nourish vermin.'
—Hopkins, The Religions of India.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनीश्वरवाद—जैन धर्म ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता, क्योंकि ऐसा मानने से वह मनुष्य के दुष्कर्मों का भी कर्ता समझा जावेगा। इस दृष्टिकोण से जैन धर्म अनीश्वरवादी धर्म कहा गया है।

सृष्टि—जैन धर्म के अनुसार संसार ६ द्रव्यों से बना है। ये द्रव्य (१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल हैं। ये नित्य हैं। इनका कभी नाश नहीं होता, केवल रूप-परिवर्तन होता रहता है। इन्हीं द्रव्यों से संसार बना है। अतः वह भी नित्य है। उसमें रहने वाली प्रत्येक वस्तु नित्य है, उसका कभी नाश नहीं होगा। जिसे हम नाश अथवा मृत्यु कहते हैं वह केवल वस्तु अथवा जीव का रूप-परिवर्तन है। जब ६ द्रव्य संगठित हो जाते हैं तो उससे वस्तु का जो रूप बनता है उसे प्राकृत जन 'जन्म' कहते हैं और जब वे द्रव्य विघटित हो जाते हैं तो उसे लोग 'मृत्यु' कहते हैं।

अनेकात्मवाद—जैन धर्म समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा को नहीं मानता। वह कहता है कि 'यदि समस्त जीवों में केवल एक ही आत्मा होती तो वे एक-दूसरे से पृथक् रूप में न पहचाने जा सकते और न उनकी भिन्न-भिन्न गति-विधि होती।' जैन धर्म एकात्मवाद के स्थान पर अनेकात्मवाद का प्रतिपादन करता है। वह प्राणियों में ही नहीं वरन् संसार की जड़-वस्तुओं में भी आत्मा मानता है। प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक वस्तु की आत्मा भिन्न-भिन्न है और उसमें चेतना भी भिन्न-भिन्न मात्रा में है। जैन धर्म एक ओर तो अनेकात्मवाद में विश्वास करता है और दूसरी ओर कहता है कि मनुष्य को संसार में अनेकता उसके अज्ञान के कारण दिखाई देती है। ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं।

स्याद्वाद—जैन धर्म के अनुसार ज्ञान दुर्बोध है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, वह भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। उदाहरणार्थ जब यह कहा जाता है कि वृक्ष हिलता है तो यह कथन ठीक भी है और गलत भी, क्योंकि वृक्ष की पत्तियाँ और डालियाँ अवश्य हिलती हैं, परन्तु इसके साथ ही साथ वृक्ष नहीं हिलता, क्योंकि वह एक ही स्थान पर खड़ा है।

इस आधार पर ज़ैन धर्म कहता है कि प्रत्येक ज्ञान भिन्न दृष्टिकोणों के कारण ७ प्रकार का दिखाई दे सकता है—

(१) है (२) नहीं है (३) है और नहीं है (४) कहा नहीं जा सकता (५) है, परन्तु कहा नहीं जा सकता (६) नहीं है और कहा नहीं जा सकता (७) है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता।

अपनी इस अनिश्चितता के कारण जैन धर्म का यह सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है। इसे सप्तभंगी सिद्धान्त भी कहते हैं। कालान्तर में शंकराचार्य ने इसका घोर विरोध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। उन्होंने कहा कि जो वस्तु है, वह कभी न रहे, ऐसा हो नहीं सकता । प्रत्येक वस्तु का या तो भाव रहता है या तो अभाव। दोनों अवस्थायें नहीं हो सकतीं।

दो अंश—प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक वस्तु में दो अंश हैं—भौतिक अंश और आत्मिक अंश। ये दोनों परस्पर-विरोधी हैं। भौतिक अंश अशुद्ध, अन्धकार-युक्त, नाशवान् और ससीम है। इसके विरुद्ध आत्मिक अंश विशुद्ध, प्रकाशवान्, अनश्वर और असीम है। परन्तु भौतिक अंश से घिरे होने, दबे रहने, के कारण आत्मा का वास्तविक रूप उसी प्रकार दिखाई नहीं देता जिस प्रकार बादलों से घिरे होने के कारण सूर्य। यदि इस भौतिक अंश का नाश कर दिया जाय तो आत्मा का प्रकाश दिखाई देने लगेगा। इस प्रकाश का दर्शन ही निर्वाण है। यह भौतिक अंश के विनाश के पश्चात् पूर्ण विशुद्धि, प्रकाश, अनश्वरता, अनन्तता और असीमता की आनन्दपूर्ण स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करके मनुष्य को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। वह आवागमन के बन्धन से छूट जाता है।

कर्म—काम, क्रोध आदि प्रवृत्तियों से घिरा हुआ आत्मिक अंश भौतिक अंश से घिरा रहता है। यह भौतिक अंश 'कर्म' है। सांसारिकता में फँसे हुये जीव की ओर कर्म का 'संवर' (समावेश) होता रहता है और जीव उसके 'बन्ध' में फँसता रहता है। अतः मोक्ष की कामना करने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह आत्मिक अंश (Soul) और कर्म (Matter) का सम्पर्क-संसर्ग न होने दे। यह दो प्रकार से हो सकता है—(१) यदि कर्म का संवर (आत्मिक अंश में कर्म का समावेश) न हो और साथ ही साथ (२) यदि पूर्व जन्म में एकत्र हुये कर्म का निर्जर (विनाश) हो जाय। दूसरे शब्दों में जीव नये भौतिक अंश का समावेश न होने दे और पुराने भौतिक अंश का विनाश कर दे।

त्रिरत्न—कर्म से बचने के लिये महावीर स्वामी ने तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो इतिहास में त्रिरत्न के नाम से प्रख्यात हैं। ये त्रिरत्न निम्नलिखित हैं—

(१) सम्यक् श्रद्धा

(२) सम्यक् ज्ञान

(३) सम्यक् आचरण

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु का आत्मिक अंश सत् है और भौतिक अंश असत् है। सत् में विश्वास करना ही सम्यक् श्रद्धा है। आत्मिक अंश और भौतिक अंश अर्थात् सत् और असत् को वास्तविक रूप में समझ लेना ही सम्यक् ज्ञान है।

मनुष्य की पाँच इन्द्रियाँ हैं और प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय है। मनुष्य इन्हीं विषयों में आसक्त रहता है। उदाहरण के लिये आँख इन्द्रिय और दृश्य उसका विषय। मनुष्य सदैव सुन्दर दृश्यों के देखने की कामना करता रहता है। यही उसकी विषय में आसक्ति है। जो मनुष्य सुन्दर-असुन्दर आदि का भेद भुलाकर समदृष्टि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो जाता है वह अनासक्त हो जाता है। उसके अनासक्त व्यवहार को ही सम्यक् आचरण कहते हैं।

पंच महाव्रत—भौतिक अंश के दमन और आत्मिक अंश के अभ्युदय के लिये जैन धर्म निम्नलिखित ५ व्रतों का प्रतिपादन करता है—(१) अहिंसा (२) असत्य-त्याग (३) अस्तेय (चोरी न करना) (४) अपरिग्रह (संचय न करना). (५) ब्रह्मचर्य

तीन कोटियाँ—समाज में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—

(१) सर्वव्रती—ये पाँचों महाव्रतों का बड़ी कठोरता के साथ पालन करते हैं। ये संसार-त्यागी भिक्षु होते हैं।

(२) अणुव्रती—ये पाँचों व्रतों का सीमित रूप में पालन करते हैं। ये धर्मशील गृहस्थ होते हैं।

(३) अव्रती—ये किसी भी व्रत का पालन नहीं करते और हिंसक, दुष्कर्मा, दुराचारी होते हैं।

जैन संघ—महावीर स्वामी ने जैन संघ का पुनः संगठन किया था। उनके संघ के ४ प्रकार के अनुयायी थे—(१) भिक्षु (२) भिक्षुणी (३) श्रावक (४) श्राविका। प्रथम दो कोटियों में क्रमशः संसार-त्यागी पुरुष और स्त्री अनुयायी थे। द्वितीय कोटि के अन्तर्गत क्रमशः गृहस्थ पुरुष और स्त्री अनुयायी थे।

महावीर स्वामी ने संघ-संचालन के लिये उसे ११ समूहों में बाँटा था। प्रत्येक समूह गण कहलाता था और एक-एक गणधर के निरीक्षण में कार्य करता था। स्वयं महावीर स्वामी जैन संघ के सर्वोच्च पदाधिकारी थे।

जैन संघ की एकता—पहले कहा जा चुका है कि पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म को महावीर स्वामी पूर्णरूप से स्वीकार न कर सके थे। मतभेद के कारण उन्होंने अपने स्वतन्त्र धर्म की स्थापना की थी। परन्तु कुछ समय पश्चात् महावीर स्वामी ने मगध में अपने तथा पार्श्वनाथ के अनुयायियों की एक सम्मिलित सभा की और दोनों के बीच एकता स्थापित कर दी। इस प्रकार महावीर स्वामी के नेतृत्व में पुनः जैन संघ एक हो गया।

प्रथम संघ-भेद—सबसे पहले जैन संघ की एकता जमालि के कारण भंग हुई। जमालि को महावीर स्वामी की पुत्री प्रियदर्शना ब्याही थी। इस प्रकार वह महावीर स्वामी का दामाद था। साथ ही साथ वह महावीर स्वामी का भांजा भी था, क्योंकि उसकी माँ सुदर्शना महावीर स्वामी की बहन थी।

महावीर स्वामी के कैवल्य प्राप्त करने के कुछ समय पश्चात् जमालि उनका अनुयायी बन गया था। परन्तु थोड़े दिनों में दोनों में मतभेद उत्पन्न हो गया और जमालि अपने साथियों के साथ जैन संघ से अलग हो गया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि अधिकांश लोगों ने जमालि का साथ न दिया। अतः इस संघ-भेद से जैन संघ को विशेष हानि न पहुँची।

महावीर स्वामी का प्रचार—ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् महावीर स्वामी का सर्वप्रथम प्रवचन सोमिलाचार्य नामक ब्राह्मण के यज्ञ के अवसर पर हुआ। इसमें महावीर स्वामी ने ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित यज्ञादि का विरोध करते हुये अपने धर्म की रूप-रेखा बताई। इस प्रवचन से प्रभावित होकर ११ ब्राह्मण महावीर स्वामी के अनुयायी हो गये। महावीर स्वामी ने इन्हीं को अपने संघ का गणधर बनाया।

इसके पश्चात् आजीवन महावीर स्वामी घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। उनका प्रचार-कार्य वर्षा-काल को छोड़कर वर्ष के ६ मास चलता रहता था। इस प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में वे राजगृह, वैशाली, मिथिला, श्रावस्ती, चम्पा, वाराणसी, कौशाम्बी आदि नगरों में गये। जनश्रुति के अनुसार मगध के राजा बिम्बिसार, उसकी दस रानियाँ तथा अजातशत्रु महावीर स्वामी के अनुयायी हो गये थे। वैशाली का लिच्छवि राजा चेटक भी उनका भक्त था। अवन्ती का राजा प्रद्योत भी महावीर स्वामी का भक्त बताया जाता है। चम्पा का राजा दधिवाहन महावीर स्वामी के प्रभाव में था। उसकी पुत्री चन्दना ने तो भिक्षुणी-धर्म स्वीकार कर लिया था। कौशाम्बी के राजा की पत्नी मृगावती भी जैन हो गई थी। इसके अतिरिक्त पावा आदि के गणतन्त्रवादी राज्य भी महावीर का बड़ा सत्कार करते थे। यही नहीं, जैन ग्रन्थों का कथन है कि महावीर स्वामी अहिच्छत्र, हस्तिनापुर तथा सौवीर (सिन्ध) भी गये थे और वहाँ उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये कथन कहाँ तक सत्य हैं। हाँ, इन कथनों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महावीर के जीवन-काल में ही जैन धर्म का काफी प्रचार हो गया था।

महावीर स्वामी की मृत्यु—लगभग ३० वर्ष के दीर्घकालीन धर्म-प्रचार के पश्चात् महावीर स्वामी ने ४६८ ई० पू० के लगभग पावा में निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाण प्राप्त करने के समय उनकी आयु ७२ वर्ष की थी।

जैन धर्म का प्रचार—महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् भी अपने योग्य अनुयायियों के निरीक्षण में जैन संघ अपने धर्म का प्रचार करता रहा। उसे कभी-कभी राजाओं का आश्रय भी प्राप्त हुआ। नन्दराज सम्भवतः जैन था। अपने जीवन के अन्तिम चरण में चन्द्रगुप्त मौर्य भी जैन हो गया था। मौर्य-नरेश सम्प्रति का जैन धर्म-प्रचार में वही महत्व है जो बौद्ध धर्म-प्रचार में अशोक का। हाथी गुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिङ्ग का राजा खारवेल जैन था। नवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट-नरेशों के शासन-काल में इस धर्म को बड़ा प्रोत्साहन मिला। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में यह धर्म गुजरात और राजपूताना में भी बड़ा लोकप्रिय हुआ। उत्तरी भारत में मथुरा दीर्घकाल तक जैन धर्म के प्रभाव में रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन संगीतियाँ—जैन अनुयायियों ने भी अपने धर्म को संगठित करने के लिये समय-समय पर अनेक संगीतियाँ कीं। उनकी पहली संगीति महावीर स्वामी की मृत्यु के १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में हुई थी। इस संगीति में जैन धर्म की शिक्षाओं को संगठित किया गया।

महावीर स्वामी की मृत्यु के ८२७ वर्ष (अथवा ८४० वर्ष) पश्चात् उत्तरी भारत में बड़ा भारी अकाल पड़ा। इस अकाल काल में लोग धर्म-कर्म भूलने लगे। जैन धर्म-ग्रन्थ खोने लगे। अतः अपने धर्म को संगठित करने के लिये जैन धर्मावलम्बियों ने अपनी दूसरी संगीति की। यह संगीति दो स्थानों—मथुरा और वलभी में हुई। मथुरा की संगीति के अध्यक्ष आर्य स्कन्दिल और वलभी की संगीति के अध्यक्ष नागार्जुन सूरि बताते जाते हैं।

इस समय जैन धर्म में अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये थे। अतः उन्हें दूर करने के लिये देवर्धि के सभापतित्व में वलभी में तीसरी संगीति हुई। इसका काल महावीर स्वामी की मृत्यु के ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् बताया जाता है।

इन संगीतियों के परिणामस्वरूप जैन आगम (धर्मग्रन्थ) संकलित, सम्वर्धित और संशोधित होता रहा।

जैन धर्म की सीमित सफलता—जैन धर्म को बौद्ध धर्म की भाँति अधिक सफलता न मिली। वह देश के थोड़े से प्रदेशों में ही फैला। विदेशों में भी उसका प्रचार न हुआ। उसके सीमित प्रचार के कुछ प्रमुख कारण थे—

(१) जैन धर्म के कुछ सिद्धान्त बड़े कठोर थे, जैसे तपश्चर्या, आमरण अनशन, आत्यान्तिक अहिंसा, केश-लुंचन, नग्नता इत्यादि। सर्वसाधारण के लिये इनका पालन करना बड़ा कठिन था।

(२) सिद्धान्त के रूप में जैन धर्मावलम्बियों ने जाति-प्रथा का विरोध किया; परन्तु जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, वे कभी भी पूर्णरूप से जाति-प्रथा को न छोड़ सके। उनके संघ में शूद्र-समुदाय को स्थान न मिल सका। जैन धर्म द्विजातियों का ही धर्म बना रहा।

(३) जैन संघ जनतन्त्रवादी न था। उसकी सम्पूर्ण सत्ता थोड़े से गणधरों के हाथ में केन्द्रित थी। ऐसा संगठन अधिक क्रियाशील न हो सका।

(४) जैन धर्म में कोई अशोक, कनिष्क अथवा हर्ष उत्पन्न न हुआ जो अपने राज्य के सारे साधनों को जैन धर्म के प्रसार में लगा देता।

(५) जैन धर्म को अश्वघोष, नागार्जुन, दिङ्नाग, बुद्धघोष जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् और प्रचारक भी न मिले जो दूसरे धर्मों के विद्वानों से टक्कर लेते हुये अपने धर्म के सिद्धान्तों की महत्ता को स्थापित करते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) जैन धर्मावलम्बियों ने विदेशों में अपने धर्म-प्रचार का प्रयत्न नहीं किया।

(७) कालान्तर में जैन लेखकों ने संस्कृत भाषा में अपनी ग्रन्थ-रचना करनी प्रारम्भ की। यह भाषा साधारण जनता की भाषा न थी। अतः जैन धर्म का जनसाधारण से सम्पर्क छूट गया।

जैन धर्म की देन—अपने सीमित प्रचार के होते हुये भी जैन धर्म भारतवर्ष का एक प्रमुख धर्म बन गया और उसने भारतीय जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया—

(१) जैन धर्म ने बाह्य कर्मकाण्ड का विरोध करते हुये अन्तः शुद्धि के ऊपर अधिक जोर दिया। इससे देश में नैतिकता और सदाचारिता को बल मिला।

(२) जाति-व्यवस्था के विरोध में आन्दोलन चलाकर जैन धर्म ने भी इस सामाजिक कुप्रथा के उन्मूलन में योग दिया।

(३) जैन धर्म भी स्त्री-स्वातन्त्र्य का पक्षपाती है। उसने स्त्रियों को मोक्षाधिकारिणी मानकर तथा उनके लिये अपने संघ के द्वार खोलकर उनकी सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने की चेष्टा की।

(४) ब्राह्मण-धर्मावलम्बियों के वेद-प्रामाण्य के सिद्धान्त का विरोध करते हुये जैन धर्म ने विचार-स्वतन्त्रता, जिज्ञासा और गवेषणा की प्रवृत्ति को सबल बनाया।

(५) अहिंसा के सिद्धान्त का प्रचार जितना अधिक जैन धर्म ने किया उतना सम्भवतः किसी भी अन्य धर्म ने नहीं। इस प्रचार ने सम्पूर्ण भारतवर्ष की विचार-धारा को प्रभावित किया। यह सिद्धान्त अनेक धर्मों ने ग्रहण किया। इसके प्रचार ने जीवहिंसा को कम कराया, प्राणिमात्र की रक्षा, सुविधा और चिकित्सा के लिये अनेक दानशालायें, धर्मशालायें, चिकित्सालयों आदि की स्थापना कराई।

(६) निवृत्ति-मार्ग, श्रमण-जीवन, काया-क्लेश आदि सिद्धान्त अनार्यों की देन थे। इन्हें जैन धर्म ने ग्रहण किया और अपने प्रचार के द्वारा इन्हें आर्य-संस्कृति में घुलाने-मिलाने में महत्वपूर्ण योग दिया।

(७) बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म ने भी विहारों की स्थापना की। इसने ब्राह्मण-धर्म को भी प्रभावित किया। ब्राह्मण-धर्म ने भी अपने सन्यासियों के लिये मठों की स्थापना करना प्रारम्भ किया।

(८) दर्शन के क्षेत्र में जैन धर्म ने सृष्टि, आत्मा, जीव, अजीव, कर्म, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये। इन्होंने एक ओर भारतीय दर्शन को समृद्ध किया और दूसरी ओर दार्शनिक खण्डन-मण्डन को प्रोत्साहित किया।

दार्शनिक क्षेत्र में जैन धर्म की महत्वपूर्ण देन स्याद्वाद का सिद्धान्त है। कालान्तर में शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने अपने तर्कों के द्वारा इस सिद्धान्त का खण्डन किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(९) जैन धर्म में अनेकानेक विद्वान्, दार्शनिक और लेखक हुये। प्रारम्भ में इन्होंने अपने लेख प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में लिखे। इनसे ये भाषायें समृद्ध हुईं। इस प्रकार के जैन लेखकों में हेमचन्द्र का नाम प्रमुख है। कालान्तर में अपभ्रंश से ही हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषओं का विकास हुआ।

दक्षिण में जैन लेखकों ने तामिल भाषा को अपनाया और उसमें साहित्यिक रचना की। जीवक चिन्तामणि आदि अनेक तामिल ग्रन्थों की रचना जैन धर्मावलम्बियों ने ही की थी।

(१०) जैन धर्म ने कला के क्षेत्र में भी बड़ा योग दिया। उसके प्रभाव में उदयगिरि, एलोरा आदि स्थानों पर अनेक सुन्दर गुफायें बनाई गईं। आबू पर्वत, खजुराहो आदि में उनके भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर अपनी वास्तुकला के साथ-साथ स्थापत्य के लिये भी बड़े प्रसिद्ध हैं। इनकी सतह अनेकानेक सुन्दर मूर्तियों और अलंकरण-उपकरणों से ढकी हुई हैं। जैन धर्म के प्रभाव में स्वतन्त्ररूप से भी बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण हुआ। उत्तरी भारत में मथुरा में ये मूर्तियाँ अधिक संख्या में पाई गई हैं।

जैन धर्म की अनेक पाण्डुलिपियों पर सुन्दर चित्र भी मिलते हैं। ये जैन-कला के उदाहरण हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ६

बौद्ध धर्म

महात्मा बुद्ध की जीवनी—अभाग्यवश महात्मा बुद्ध की ऐतिहासिक जीवनी का कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता। महावस्तु, ललित विस्तार और बुद्धचरित आदि में महात्मा बुद्ध का जो जीवन-वृत्त मिलता है उसमें इतनी अधिक कथाओं, कल्पनाओं और अतिरंजनाओं का समावेश हो गया है कि उनके बीच ऐतिहासिक महात्मा बुद्ध को ढूँढ़ना बड़ा कठिन हो गया है। पाली त्रिपिटक इन ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं, परन्तु उनमें महात्मा बुद्ध की जीवनी के विषय में बहुत कम सूचना मिलती है। फिर भी विद्वानों ने काफी छानबीन के पश्चात् महात्मा बुद्ध की जीवनी के विषय में निम्न-लिखित घटनाओं को ऐतिहासिक माना है—

नेपाल की तराई में शाक्य क्षत्रियों का एक छोटा-सा गणतन्त्रात्मक राज्य था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। ई० पू० छठी शताब्दी में शुद्धोदन इस गणतन्त्र का राजा (राष्ट्रपति) था। जैसा कि पहले कहा गया है, तत्कालीन गणतन्त्रों के निर्वाचित अध्यक्ष की उपाधि राजा होती थी। कालान्तर में बौद्ध साहित्यकार इस आशय को भूल गये और उन्होंने शुद्धोदन का उल्लेख राजतन्त्रात्मक राज्य के नृप के रूप में किया है। उदाहरण के लिये अपने बुद्ध-चरित में अश्वघोष शुद्धोदन को नृप और वसुधाधिपति कहते हैं। इन्हीं शुद्धोदन की पत्नी माया अथवा महामाया के गर्भ से लुम्बिनी वन में एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम सिद्धार्थ रक्खा गया। यही सिद्धार्थ आगे चलकर महात्मा बुद्ध हुये। लुम्बिनी वन में जहाँ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था वहाँ कालान्तर में सम्राट् अशोक ने एक स्तम्भ स्थापित कराया था और उस पर महात्मा बुद्ध के जन्म की घटना का लेख लिखवाया था।[1]

सिद्धार्थ बुद्ध की जन्म-तिथि के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार वे ५६३ अथवा ५६७ ई० पू० उत्पन्न हुये और कुछ के अनुसार ६२४ ई० पू०।

सिद्धार्थ के जन्म के पश्चात् सातवें दिन उनकी माता महामाया की मृत्यु हो गई। अतः बालक का पालन-पोषण उसकी मौसी महाप्रजापती गौतमी ने किया था।

१—हिद बुधे जाते सक्य मुनिति हिद भगवा जातेति—यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुये थे। यहाँ भगवान् उत्पन्न हुये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभाग्यवश महात्मा बुद्ध की शिक्षा-दीक्षा का प्रामाणिक व्योरा नहीं मिलता। हम जानते हैं कि ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सिद्धार्थ ने जब अपने धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया तो उन्हें अनेकानेक आचार्यों और पण्डितों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था। इस आधार पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उन्हें उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त हुई होगी।

पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें क्षत्रियोचित सामरिक शिक्षा भी दी गई होगी।

युवावस्था आने पर शुद्धोदन ने उनका विवाह कर दिया। बौद्ध साहित्य में उनकी पत्नी के अनेक नाम मिलते हैं—यशोधरा, गोपा, बिम्बा, भद्दकच्छना। कालान्तर में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल रक्खा गया। परन्तु टामस महोदय का मत है कि पाली त्रिपिटक में महात्मा बुद्ध के विवाह के स्पष्ट कथन नहीं मिलते। उनमें न उसकी पत्नी का नाम यशोधरा आदि मिलता है और न राहुल को पुत्र बताया गया है।

सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही गम्भीर और मननशील स्वभाव के थे। सांसारिक भोग-विलास में उनका मन न लगता था। वे मनुष्यों के दुःख को देखकर दुःखी थे और उसी के विषय में सोचा करते थे। त्रिपिटक के अनुसार उन्होंने एक बार बाहर जाते हुए एक जर्जरगात्र वृद्ध को देखा, दूसरी बार एक दुःखी रोगी को और तीसरी बार एक शव को। इन दृश्यों ने उनके मन-मस्तिष्क पर बड़ा भारी प्रभाव डाला। उन्होंने एक रात अपने रोते हुये परिवार को छोड़कर चुपचाप गृह-त्याग कर दिया। बौद्ध साहित्य में उनका गृह-त्याग महाभिनिष्क्रमण के नाम से प्रख्यात है। इस घटना के समय उनकी आयु २९ वर्ष की थी।

चलते-चलते सिद्धार्थ वैशाली के समीप आलार कालाम नामक एक तपस्वी के आश्रम में पहुँचे। सम्भवतः ये सांख्य-दर्शन के अनुयायी थे। परन्तु ये सिद्धार्थ की जिज्ञासा को सन्तुष्ट न कर सके। अतः सिद्धार्थ उन्हें छोड़कर आगे बढ़े और राजगृह की सीमा पर रुद्रक रामपुत्र नामक एक अन्य आचार्य से मिले। परन्तु इनसे भी सिद्धार्थ को सन्तोष न हुआ। वे आगे बढ़े और बोधगया में उरुवेला की वनस्थली में पहुँचे। यहाँ इन्हें पाँच ब्राह्मण तपस्वी मिले। उनके साथ सिद्धार्थ ने घोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। उनका शरीर मृतप्राय हो गया, परन्तु फिर भी उन्हें ज्ञान प्राप्त न हुआ। अतः उन्होंने तपस्या को निरर्थक समझकर उसे छोड़ दिया। उनके इस निश्चय से उनके पाँचों ब्राह्मण साथी बड़े क्षुब्ध हुये और वे सिद्धार्थ को छोड़कर सारनाथ चले गये।

अब सिद्धार्थ ने ध्यान का सहारा लिया। वे बोधगया में एक बट वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर बैठ गये। इसी स्थान पर आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा का सिद्धार्थ को

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञान प्राप्त हुआ। तभी से वे बुद्ध (जिसे बोध अथवा ज्ञान हो गया हो) कहलाये। तभी से गया बोधगया और वह बटवृक्ष बोधिवृक्ष के नाम से प्रख्यात हुये।

अब महात्मा बुद्ध ने अपने ज्ञान का प्रचार करने का निश्चय किया। वे ऋषिपतन (सारनाथ) गये। वहाँ उन्हें अपने पाँचों पुराने ब्राह्मण साथी मिल गये। इन्हीं को महात्मा बुद्ध ने अपना सर्वप्रथम उपदेश दिया। यह घटना इतिहास में धर्मचक्र प्रवर्तन कहलाती है।

इसके पश्चात् महात्मा बुद्ध लगभग ४५ वर्ष तक घूम-घूम कर प्रचार करते रहे। उनका प्रचार-कार्य वर्षाकाल के तीन-चार मास को छोड़कर वर्ष भर चलता रहता था। धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में वे काशी, राजगृह, कपिलवस्तु, वैशाली, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि नगरों में गये। अन्त में कुशीनारा में उन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया। अधिकांश विद्वान् उनके परिनिर्माण की तिथि ४८३ ई० पू० अथवा ४८७ ई० पू० मानते हैं।

महात्मा बुद्ध के अवशेष ८ भागों में विभक्त किये गये। इन्हें (१) मगध के राजा अजातशत्रु (२) वैशाली के लिच्छवियों (३) कपिलवस्तु के शाक्यों (४) अल्लकप्प के बुलियों (५) रामग्राम के कोलियों (६) वेठदीप के ब्राह्मणों (७) पावा के मल्लों और (८) पिप्पलिवन के मौर्यों ने ग्रहण किया तथा उन अवशेषों के ऊपर प्रत्येक ने एक-एक स्तूप बनवाया।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

चार आर्य सत्य—सर्वप्रथम महात्मा बुद्ध ने सारनाथ में अपने धर्म का निरूपण किया था। इस धर्म का मूल आधार चार आर्य सत्य हैं—(१) दुःख (२) दुःख-समुदय (३) दुःख-निरोध और (४) दुःख-निरोध गामिनी प्रतिपदा।

(१) दुःख—महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिया कि सम्पूर्ण संसार दुःखमय है। इन समस्त दुःखों में सबसे बड़ा दुःख आवागमन है। मनुष्य बार-बार जन्म लेता है, संसार में रहते हुये नाना प्रकार के दुःख सहता है और फिर मर जाता है। परन्तु मृत्यु के साथ दुःखों का अन्त नहीं हो जाता, क्योंकि उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने के पश्चात् दुःखों का क्रम पुनः प्रारम्भ हो जाता है। अतः बौद्ध धर्म का उद्देश्य इस दुःख का अन्त करना है।

(२) दुःख-समुदय—एक चतुर चिकित्सक की भाँति महात्मा बुद्ध ने रोग (दुःख) ढूँढा और फिर उसका कारण (समुदय), क्योंकि जबतक दुःख का कारण न ज्ञात हो जाय तबतक उसका उपचार, दूरीकरण कैसे किया जाय। अपनी तर्कशील बुद्धि का उपयोग करते हुये महात्मा बुद्ध ने सम्पूर्ण विषय को विवेचना की और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के सारे दुःखों की जड़ तृष्णा (तन्हा) अथवा इच्छा है। मनुष्य को आजीवन तृष्णा घेरे रहती है, जैसे काम-तृष्णा, भाव-तृष्णा, विभव-तृष्णा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस तृष्णा के कारण ही मनुष्य नाना प्रकार के दुःख सहता है। मनुष्य मर जाता है, परन्तु फिर भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती। अपूर्ण तृष्णा की पूर्ति के लिये वह पुनः जन्म लेता है और फिर वही चक्र चलने लगता है।

(३) दुःख निरोध—अतः महात्मा बुद्ध ने बताया कि दुःख तभी समाप्त होगा जब उसका मूल कारण (तृष्णा) समाप्त हो जाय। वे स्वयं कहते हैं कि 'इस तृष्णा का ही पूर्ण विराम निरोध, त्याग, प्रतिनिस्सर्ग और छोड़ना दुःख-निरोध आर्य सत्य है।'[1]

(४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा—परन्तु अब प्रश्न यह है कि इस मूल कारण (तृष्णा) का निरोध नाश कैसे किया जाय। महात्मा बुद्ध ने बताया कि तृष्णा के नाश के लिये मनुष्य को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का नाश करना पड़ेगा।[2] यह नाश सम्भव हो सकता है यदि मनुष्य उनके बताये हुये मार्ग का पालन करें। इस मार्ग को उन्होंने दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा के नाम से पुकारा। इसमें ८ नियम हैं। इसलिये इसे अष्टांग-मार्ग भी कहा जाता है। यह मार्ग दोनों अतियों के बीच का है, अर्थात् यह न तो कठोर कायाक्लेश का उपदेश देता है और न भोग-विलास का। इसलिये इसे बीच का मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) भी कहा गया है। इस मार्ग के आठ नियम निम्नलिखित हैं—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाणी (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि।

(१) सम्यक् दृष्टि—जिस दृष्टि से मनुष्य सत्य-असत्य, पाप-पुण्य आदि को पहचान सके।

(२) सम्यक् संकल्प—जिस संकल्प में हिंसा, कामना आदि न हों।

(३) सम्यक् वाणी—जो वाणी विनीत हो, मृदु हो, सत्य हो।

(४) सम्यक् कर्मान्त—अच्छे कर्म।

(५) सम्यक् आजीवन—विशुद्ध जीवन व्यतीत करने की विधि।

(६) सम्यक् व्यायाम—धर्म और ज्ञान के साथ प्रयत्न।

(७) सम्यक् स्मृति—सदैव सावधान और जागरूक रहना कि कहीं कोई अधर्म न हो जाय।

(८) सम्यक् समाधि—मन और मस्तिष्क की एकाग्रता।

१—धम्मचक्कपवत्तन सुत्त।

२—संयुक्त निकाय २२·३।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि मनुष्य इन आठों नियमों का पालन करे तो वह निश्चित रूप से तृष्णा, दुःख और आवागमन से मुक्त हो जायगा।

यह बौद्ध धर्म का सार है। इसे भी संक्षिप्त करते हुये महात्मा बुद्ध ने अन्यत्र कहा था कि 'मैं दो ही बातें सिखाता हूँ—दुःख और दुःख से मुक्ति।'[1]

निर्वाण—बौद्ध धर्म का एक ही लक्ष्य है—निर्वाण। इसका सामान्य अर्थ है, आवागमन के चक्कर से छूट जाना, जरा-मरण से मुक्ति पा लेना।[2] यह तृष्णा, आसक्ति से छूटने का नाम है। यह पूर्ण विशुद्धि है।[3] अष्टांगमार्ग के अनुसरण से यह सम्भव है। वे कहते हैं कि 'जिस प्रकार गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू और मही नदियाँ पूर्व की ओर बहती हुई समुद्र की ओर जाती हैं उसी प्रकार अभ्यास करने पर आर्य अष्टांग मार्ग निर्वाण की ओर ले जाने वाला होता है।[4]

कर्म—बौद्ध धर्म का केन्द्र-विन्दु कर्म है। बौद्ध धर्म में कर्म का वही स्थान है जो आस्तिक धर्मों में ईश्वर का। महात्मा बुद्ध के अनुसार संसार में सब कुछ कर्म के द्वारा ही होता है। वे कहते हैं कि 'प्राणी कर्मस्वक हैं, कर्मदायाद हैं, कर्म-योनि हैं, कर्म-बन्धु हैं, कर्म-प्रतिशरण हैं।[5]' सारांश में कर्म ही मनुष्य के सुख-दुःख, बन्धन-मुक्ति, ऊँच-नीच का कारण है। इसी कर्म को अपना आधार बनाते हुये महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण-धर्म की जन्मज वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। उन्होंने कहा कि यदि ब्राह्मण दुष्कर्मा है तो वह शूद्र है और यदि शूद्र सत्कर्मा है तो वह ब्राह्मण है। उनके शब्द 'जाति मत पूछो, कर्म पूछो'[6] आज के भारतीय समाज के लिये भी पथ-प्रदर्शक हैं।

अनीश्वरवाद—महात्मा बुद्ध ने न ईश्वर के विषय में विचार किया और न उसे सृष्टिकर्ता ही माना। कर्मवादी होने के कारण वे मनुष्य को ही अपने सुख-दुःख का कर्ता मानते थे। ईश्वर है अथवा नहीं है, इस प्रकार का विवाद मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता। ईश्वरविषयक उनके मौन को देखकर विद्वानों ने उन्हें अनीश्वरवादी बताया है।

अनात्मवाद—अधिकांश विद्वानों का मत है कि जहाँ जैन धर्म अनेकात्मवादी है वहाँ बौद्ध धर्म अनात्मवादी। वस्तुतः महात्मा बुद्ध ने आत्मा के विषय में वाद-

---

१—संयुक्त निकाय।

२—सुत्त-निपात ५·१०।

३—चूल वियूह सुत्त।

४—संयुक्त निकाय।

५—मज्झिमनिकाय ३. ४. ५.

६—सुन्दरिक भारद्वाज-सुत्त (सुत्त नियात)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवाद करने से इन्कार कर दिया था। वे ऐसे विषयों को अमनसिकरणीय (जिन पर विचार नहीं करना चाहिए) बताते थे, क्योंकि इन विषयों पर विवाद किसी प्रकार भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक नहीं है।

पुनर्जन्मवाद—महात्मा बुद्ध ने पुनर्जन्म को ही मनुष्य का सबसे बड़ा दुःख समझा और उससे बचने का उपाय बताया। परन्तु मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म होता किसका है? शरीर का? यह हो नहीं सकता, क्योंकि शरीर तो मृत्यु के पश्चात् ही नष्ट हो जाता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों का भी पुनर्जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने इन्हें भी नाशवान् बताया। आत्मा का भी पुनर्जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि महात्मा बुद्ध आत्मा के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते थे। कम से कम उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा।

इस प्रकार अनात्मवादी बौद्ध धर्म के लिये पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझाना एक कठिन समस्या थी। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझाने का सर्वप्रथम प्रयत्न 'मिलिन्द पन्ह' में बौद्ध आचार्य नागसेन द्वारा कराया गया। उसका कथन है कि जल-प्रवाह लहरों का समुदाय है। एक लहर उठती है और विलीन हो जाती है। तभी दूसरी लहर उठ जाती है और इस प्रकार जल-प्रवाह चलता रहता है। वह एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता। इसी प्रकार प्राणी की मृत्यु के समय उसकी अन्तिम चेतना के जाते ही नई चेतना का उदय होता है। तभी पुनर्जन्म होता है।

दस अकथनीय—महात्मा बुद्ध प्रयोजनवादी थे। वे उन्हीं बातों की विवेचना करते थे जिन्हें वे मोक्ष-प्राप्ति में, मनुष्य के कल्याण के लिये, उपयोगी समझते थे। उनकी दृष्टि में लोक, जीव और तथागत के पुनर्जन्म से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषय निरर्थक थे। इन पर वाद-विवाद किसी भी प्रकार से मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। अतः ऐसे विषयों को उन्होंने अकथनीय अथवा अमनसिकरणीय बताया। इनकी संख्या दस है—

(१) क्या लोक अनश्वर है? (२) क्या लोक नश्वर है? (३) क्या लोक सान्त है? (४) क्या लोक अनन्त है?	लोकविषयक
(५) क्या जीव और शरीर एक हैं? (६) क्या जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं?	जीवविषयक
(७) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत का पुनर्जन्म होता है? (८) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता है? (९) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते हैं, और नहीं भी होते हैं? (१०) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत न होते ही हैं, और न हो सकते हैं?	तथागत के पुनर्जन्म विषयक

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण धर्म का विरोध—महावीर स्वामी की भाँति महात्मा बुद्ध ने भी ब्राह्मण धर्म के वेदवाद, बहुदेववाद, यज्ञवाद और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। उन्होंने इन सब बातों की अपेक्षा सदाचार, नैतिकता और अन्त:शुद्धि पर ही जोर दिया। शुद्ध आचरण को ही वे उच्चता का माप-दण्ड समझते थे। उन्होंने कहा था—"हे ब्राह्मण, लकड़ी जलाकर शुद्धि मत समझो। यह बाहर की वस्तु है।······ब्राह्मण, मैं लकड़ी छोड़कर भीतर की ज्योति जलाता हूँ।"[1]

ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत शूद्रों और स्त्रियों की अवस्था हीन थी। परन्तु महात्मा बुद्ध ने उन्हें भी समानरूप से मोक्ष का अधिकारी समझा। उनका कथन कि 'जाति मत पूछो, कर्म पूछो।·······नीच कुल का मनुष्य भी धृतिमान्, ज्ञानवान् और पापहीन साधु होता है', तत्कालीन समाज के लिये एक क्रान्तिकारी सन्देश था।

उन्होंने प्रारम्भ में स्त्रियों को संघ-प्रवेश की आज्ञा नहीं दी थी। परन्तु इसका कारण यह न था कि वे स्त्रियों को मौलिक रूप से हीन समझते थे। इसका कारण एक-मात्र उनका मानवी दुर्बलता का ज्ञान था। 'दीर्घनिकाय' में एक स्थान पर वे स्वयं कहते हैं कि स्त्री में कोई नीचता नहीं है। अत: जब उनके परम प्रिय शिष्य आनन्द ने स्त्रियों को भी संघ में प्रविष्ट होने के लिये उनकी अनुमति माँगी तो उन्होंने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

बौद्ध धर्म की कुछ अन्य विशेषताएँ

(१) सार्वजनीन धर्म—बौद्ध धर्म किसी एक जाति या वर्ग के लिये नहीं था। उसके द्वार सबके लिये खुले थे। वह 'बहुजनहितार्य, बहुजनसुखाय' था।

(२) 'गुरुडम' का अभाव—बौद्ध धर्म अथवा संघ में कोई भी सबका गुरु, आचार्य अथवा मठाधीश न था। उसमें सब व्यक्ति समान थे। धर्म ही सबका नेता था। मरते समय महात्मा बुद्ध ने अपने परम प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था—"हे आनन्द, सम्भवत: तुम ऐसा सोचो कि हमारे शास्ता चले गये, अब हमारा शास्ता नहीं है। आनन्द, ऐसा मत समझना। मैंने जिस धर्म और विनय का उपदेश दिया है, वही मेरे पश्चात् तुम्हारे शास्ता होंगे।"

(३) एहिपस्सिको धर्म—बौद्ध धर्म 'एहिपस्सिको' कहा गया है, अर्थात् आओ और देखो और यदि उपयोगी तथा तर्कसम्मत प्रतीत हो तो ग्रहण करो। महात्मा बुद्ध ने एक बार कलामों से स्वयं कहा था कि "मेरे धर्म को तुम केवल इसीलिये स्वीकार न करो कि मैं कहता हूँ। तुम स्वयं इसकी परीक्षा कर लो और यदि तुम्हें यह अदोष, अनिन्दित और सुखकर प्रतीत हो तभी इसे ग्रहण करो।"[2]

१—सुन्दरिक भारद्वाज-सुत्त (संयुक्तनिकाय)।

२—अंगुत्तर निकाय, ३·६·५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) प्रतीत्य समुत्पाद—बौद्ध धर्म किसी भी बात को बिना तर्क अथवा हेतु के स्वीकार नहीं करता। प्रतीत्य (ऐसा होने पर) समुत्पाद (ऐसा होता है) का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की आधारपीठिका है। महात्मा बुद्ध ने पहले प्रत्येक वस्तु का कारण बताया और फिर उस कारण को दूर करने का उपाय।

(५) प्रयोजनवाद—महात्मा बुद्ध व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवाद में कभी नहीं पड़े। वे ऐसे तर्क-वितर्क और वाद-विवाद से बचते थे जो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में किसी प्रकार भी योग नहीं देता। ईश्वर है अथवा नहीं, आत्मा है अथवा नहीं, इन विषयों पर वाद-विवाद करने से क्या लाभ, जब मनुष्य एक मात्र अपने प्रयत्न (प्रधान) के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है? इस प्रकार बौद्ध धर्म नितान्त व्यावहारिक और प्रयोजनवादी है।

(६) अतिहीनता—महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म को अतियों (Extremes) से बचाकर रखा। वे जैन धर्म के आत्यन्तिक काया-क्लेश के सिद्धान्त के विरोधी थे। साथ ही साथ उन्होंने मनुष्यों की भोग-लिप्सा, काम-वासना आदि को दुःखदायी बताया। उन्होंने दोनों अतियों को छोड़कर बीच के मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का सहारा लिया।

(७) मानववाद—महात्मा बुद्ध ने ईश्वर के विषय में विचार नहीं किया। उनका विषय मानव था। वे मानव को ही देव से ऊँचा उठाना चाहते थे।

बौद्ध धर्म की सफलता—महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में ही बौद्ध धर्म को काफी सफलता मिल गई थी। शाक्यों, लिच्छवियों, मल्लों, कोलियों, कलामों, बुलियों, भग्गों, मोरियों आदि के गणराज्यों में महात्मा बुद्ध का बड़ा स्वागत हुआ था। मगध-नरेश बिम्बिसार और अजातशत्रु दोनों महात्मा बुद्ध के भक्त बताये जाते हैं। अपने अन्तिम दिनों में वत्स का राजा उदयन भी महात्मा बुद्ध का आदर करने लगा था। कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने महात्मा बुद्ध को कई बार अपनी राजधानी श्रावस्ती में आमन्त्रित किया था। यही नहीं, बौद्ध परम्परा से प्रकट होता है कि अवन्ति राज्य में भी बौद्ध संघ स्थापित हो गया था।[1] राहुल सांकृत्यायन का मत है कि महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में ही उनका धर्म कोसी से कुरुक्षेत्र और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश[2] में फैल चुका था।

महात्मा बुद्ध को सफलता के कारण

ई० पू० छठी शताब्दी में यद्यपि अनेक धर्मों एवं मतों का प्रचार-प्रसार हुआ, तथापि किसी को भी इतनी सफलता न मिली जितनी बौद्ध धर्म को। इस महती सफलता के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं :—

१—चुल्लवग्ग।

२—बुद्धचर्या, पृ० १८८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) सिद्धान्तों की सरलता—महात्मा बुद्ध के सिद्धान्त बड़े सरल थे। न उनमें अधिक दार्शनिकता थी और न शास्त्रीय तर्क-वितर्क। वे दैनिक अनुभव और नैतिकता के ऊपर आधारित थे। अतः वे सबकी समझ में बड़ी शीघ्रता से आ जाते थे।

(२) भाषा की सरलता—महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश संस्कृत भाषा में नहीं दिये, क्योंकि वह समाज के एक अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा ही समझी जाती थी। उन्होंने लोकभाषा को अपनाया। यह पाली थी। ओल्डेनवर्ग, कीथ, विण्टर्निज आदि इसे मागधी नाम देते हैं। यह भाषा जनता में बोली और समझी जाती थी। इसमें दिये गये महात्मा बुद्ध के उपदेश सबके लिये सुबोध थे।

(३) प्रचार-शैली की सरलता—महात्मा बुद्ध की प्रचार-शैली बड़ी सरल और आकर्षक थी। वे बड़ी से बड़ी बात को बड़े शान्त और स्वाभाविक ढंग से उदाहरणों, उपमाओं, उक्तियों, मुहावरों और कहानियों आदि के द्वारा समझा देते थे। कभी-कभी वे प्रश्नोत्तर की शैली अपनाते थे। उनके प्रश्नों के सामने विपक्षी निरुत्तर हो जाता था।

(४) प्रभावशाली व्यक्तित्व—साधारण जन के लिये यह बड़े आकर्षण की बात थी कि एक सुकुमार राजकुमार अपने सम्पूर्ण राज-पाट तथा राजकीय वैभव को छोड़कर संसार के दुःख को दूर करने के लिये इतस्ततः घूम रहा है। उन्हें देखने-सुनने के लिये लोग सदैव एकत्र हो जाते थे। पुनः उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। उनके सम्मुख आकर शत्रु भी नतमस्तक हो जाता था। गौतम बुद्ध का धैर्य, साहस, विनीत भाव, आत्मविश्वास बड़े से बड़े विपक्षी को विचलित कर देते थे। उनकी तर्कशीलता और वाक्पटुता के समक्ष बड़े-बड़े पण्डित हार जाते थे।

(६) राजकीय सहायता—महात्मा बुद्ध राजपुत्र थे। अतः उन्हें तत्कालीन राज्यों से बड़ा सहयोग मिला। शाक्यों, लिच्छवियों, कोलियों, मल्लों, बुलियों, कलामों, मोरियों आदि के गणतन्त्रात्मक राज्यों के साथ-साथ मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति के राजतन्त्रात्मक राज्यों ने भी उनके प्रति बड़ा आदर-भाव दिखाया।

(७) बौद्ध संघ की कार्यपटुता—महात्मा बुद्ध ने समस्त बौद्ध भिक्षुओं को संघ में संगठित किया था। संघ के द्वार सभी के लिये खुले हुए थे। उसकी कार्य-प्रणाली जनतन्त्रात्मक थी। उसके सदस्यों का जीवन संयत, अनुशासित, साधनापूर्ण और अध्यवसायशील था। इस संघ ने बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया।

(८) धार्मिक और सामाजिक असन्तोष ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण-व्यवस्था अनेक प्रकार से अव्यावहारिक हो गई थी। अतः उसके विरुद्ध समाज में भारी असन्तोष था। समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति वेदवाद, बहुदेववाद, यज्ञवाद और जातिवाद आदि का विरोध कर रहे थे। अतः जब महात्मा बुद्ध ने इन मान्यताओं के विरुद्ध आवाज उठाई तो उन्हें तत्काल भारी सहयोग प्राप्त हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(९) चारों वर्णों का सहयोग—महात्मा बुद्ध क्षत्रिय थे। अतः क्षत्रियों से उन्हें सहजरूप में योग मिला। इनके अतिरिक्त समाज में ब्राह्मणों का भी एक ऐसा विचारशील वर्ग था जो ब्राह्म-धर्म की अनेक कुप्रथाओं से असन्तुष्ट था। अतः इस ब्राह्मण वर्ग ने भी महात्मा बुद्ध का साथ दिया। महात्मा बुद्ध के कुछ अत्यन्त प्रतिभाशाली अनुयायी—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन आदि—ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मण-व्यवस्था अव्यावहारिक हो गई थी। उससे वैश्यों के व्यवसाय-व्यापार में भी बाधा पड़ रही थी। अतः उनमें भी काफी असन्तोष रहा होगा और उन्होंने भी नीति, आचरण, स्वतन्त्रता और समानता पर आधारित बौद्ध-व्यवस्था का स्वागत किया होगा। ब्राह्मण-व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र-समुदाय की सबसे अधिक हीन अवस्था थी। अतः बौद्ध धर्म उसके लिये तो मोक्षदायक के रूप में आया। शूद्रों ने बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म स्वीकार किया। मातंग, उपालि, सुनीति आदि कुछ शूद्र बौद्धों के नाम भी मिलते हैं।

(१०) पूर्वी भारत का सहयोग—ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक पूर्वी भारत आर्य-संस्कृति के प्रभाव में अधिक न था। वहाँ अब भी अनार्य संस्कृति का जोर था। अतः जब महात्मा बुद्ध ने पूर्वी भारत में ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध झण्डा खड़ा किया तो वहाँ उन्हें सरलतापूर्वक जनता का सहयोग प्राप्त हो गया। यदि यह धार्मिक विद्रोह ब्राह्मण-धर्म-प्रधान प्रदेश में होता तो महात्मा बुद्ध को प्रारम्भिक सहयोग प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई होती।

बौद्ध संघ—संघ बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इसी के अन्तर्गत बौद्ध भिक्षुओं का जीवन संगठित किया गया था और इसी के द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था।

महात्मा बुद्ध के आदेशानुसार बौद्ध भिक्षु वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष महीनों में इधर-उधर घूमते रहते थे और धर्म-प्रचार करते थे। वर्षा ऋतु में वे नगरों के बाहर जिन निवास-स्थानों में रहते थे उन्हें 'आवास' कहते थे। धीरे-धीरे देश भर में बौद्ध आवासों का जाल-सा बिछ गया। प्रत्येक आवास में अनेक विहार होते थे और प्रत्येक विहार में अनेक कमरे।

महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघ के द्वार सबके लिये खोल दिये थे। परन्तु इस प्रवेश-स्वतन्त्रता का कभी-कभी दुरुपयोग हुआ। अनेक अनुभवहीन अल्पवयस्क एवं तरुण आकस्मिक भावनावेग से प्रेरित होकर संघ में आ गये। इनसे संघ का कष्टसाध्य अनुशासन-मय जीवन न चल सका। अपने आश्रितों, वृद्ध माता-पिता आदि के जीवन-यापन की व्यवस्था किये बिना ही बहुसंख्यक नवयुवकों के संघ-प्रवेश ने सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया। कानून की पहुँच से बचने के लिये अनेकानेक चोरों, लुटेरों, कर्जदारों आदि ने भी संघ में घुस कर शरण ली।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस अनुभव के पश्चात् संघ के अधिकारियों को संघ-प्रवेश नियन्त्रित करना पड़ा। तत्पश्चात् चोरों, हत्यारों, कर्जदारों, रोगियों, दासों, क्लीवों और अल्पवयस्कों को संघ-प्रवेश की अनुमति नहीं रही। यह भी नियम बनाया गया कि अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई भी नवयुवक संघ-प्रवेश नहीं कर सकता था।

प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध स्त्रियों को संघ में न रखना चाहते थे। परन्तु जब उनके परम प्रिय शिष्य आनन्द ने बड़ी अनुनय-विनय की तब उन्होंने भिक्षुणियों के लिये एक पृथक् नियमावली बनाते हुए उन्हें संघ-प्रवेश की अनुमति दे दी। फिर भी उन्होंने घोषित किया था कि "हे आनन्द, यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में नारियाँ घर से बेघर हो प्रव्रज्या न पातीं तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म एक हजार वर्ष ठहरता। परन्तु अब आनन्द, नारियाँ घर से बेघर हुई हैं! इसलिये अब यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।"

जिस प्रकार ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्याश्रम में दीक्षित होते हुए उपनयन-संस्कार होता था उसी प्रकार बौद्ध धर्म के अन्तर्गत संघ-प्रवेश के समय उपसम्पदा-संस्कार होता था। प्रविष्ट हो जाने पर भिक्षु किसी अधिक अनुभवी और योग्य भिक्षु के निरीक्षण में कुछ काल तक अध्ययन करता था। इस काल को निस्सय कहते थे।

संघ का अपना विधान होता था। इस विधान को राज्य भी स्वीकार करता था। इस विधान के अन्तर्गत संघ अपने समस्त सदस्यों पर नियन्त्रण रखता था। अपराधी भिक्षु के विरुद्ध वह अनुशासन की कार्यवाही भी कर सकता था। गम्भीर अपराध में भिक्षु को संघ-वहिष्कार (मानन्द) तक का दण्ड दिया जा सकता था।

संघ की नियमावली के अनुसार प्रत्येक भिक्षु तिचीवर (तीन वस्त्र) धारण करता था। इन्हें (१) अन्तर्वासक (२) उत्तरसंग और (३) संघाटि कहते थे। इनका रंग गेरुआ होता था।

वर्षाकाल के अतिरिक्त वर्ष के शेष भाग में प्रत्येक भिक्षु इधर-उधर घूम-घूमकर धर्म-प्रचार करता था। कुछ पवित्र दिवसों पर सारे भिक्षु एक स्थान पर एकत्र होते और धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श करते थे। इसे 'उपोसथ' कहा जाता था। इस अवसर पर वे अपने यम-नियमों का पाठ भी करते थे। यम-नियमों के संकलित रूप का नाम 'पातिमोक्ख' था।

'महापरिनिर्वाण सुत्त' से प्रकट होता है कि अपने संघ को संगठित रखने के लिये महात्मा बुद्ध ने निम्नलिखित सात बातों का उपदेश दिया था—

(१) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण एक साथ एकत्र होकर समय-समय पर अपनी सभायें करता रहेगा, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण सम्मिलित रूप से सभायें करेगा, सम्मिलित रूप से उन्नति करेगा और सम्मिलित रूप से संघीय कार्यों को करेगा, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं ।

(३) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण संघीय नियमों का उल्लंघन नहीं करेगा, संघ-विरुद्ध नियमों का अनुसरण नहीं करेगा, पुराने भिक्षु-नियमों का पालन करता रहेगा, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि होगी, हानि नहीं ।

(४) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण उच्चतर धर्मानुरागो, चिर-प्रव्रजित, संघ के जन्मदाता, संघ के नेता, स्थविर भिक्षुओं का सत्कार करता रहेगा, उनका आदर करते हुए उनकी पूजा करेगा, उनकी बातों को सुनने और ध्यान देने योग्य समझेगा, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि होगी, हानि नहीं ।

(५) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण बार-बार उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं होगा, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि होगी, हानि नहीं ।

(६) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण वन-कुटीरों में रहना पसन्द करेगा, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि होगी, हानि नहीं ।

(७) भिक्षुओ, जब तक भिक्षु-गण यह याद रखेगा कि भविष्य में अच्छे ब्रह्मचारी संघ में सम्मिलित हों और जो ब्रह्मचारी संघ में सम्मिलित हो चुके हैं वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सुखपूर्वक निवास करें, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि होगी, हानि नहीं ।

संघ की कार्यपद्धति गणतन्त्रात्मक थी । काशीप्रसाद जायसवाल आदि का मत है कि महात्मा बुद्ध ने यह पद्धति गणतन्त्रात्मक राज्यों की कार्यपद्धति के अनुकरण पर अपनाई थी । यह स्वाभाविक भी लगता है । महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु के गण-राज्य के राजकुमार थे । उनके पिता शुद्धोदन कुछ समय के लिये उस गणराज्य के राष्ट्रपति (राजा) थे । महात्मा बुद्ध ने अपने राज्य की गणतन्त्रात्मक व्यवस्था को बड़ी निकटता से देखा था । अतः जब उन्होंने अपने भिक्षु-संघ का संगठन किया तो उसकी गणतन्त्रात्मक व्यवस्था को लागू किया । इस कथन की पुष्टि में एक अन्य साक्ष्य दिया जा सकता है । जब अजातशत्रु ने वज्जि-संघ के ऊपर आक्रमण किया था तो उस समय महात्मा बुद्ध ने घोषित किया था कि वज्जि-संघ की हानि उस समय तक नहीं हो सकती जब तक वह सात बातों का पालन करता रहेगा । ये सात बातें वही हैं जिनके पालन करने का आदेश उन्होंने अपने भिक्षु-संघ को दिया था । इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध की दृष्टि में राजनीतिक गणतन्त्र और धार्मिक संघ की कार्य प्रणाली का आधार एक ही था ।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गणतन्त्रात्मक राज्यों की केन्द्रीय सभा की भाँति संघ के अधिवेशन के लिये भी सदस्यों की एक निश्चित संख्या (कोरम) आवश्यक थी। अधिवेशन में सदस्यों के बैठने का प्रबन्ध करने वाला अधिकारी 'आसन प्रज्ञापक' कहलाता था।

संघ के प्रत्येक सदस्य को अपना मत प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। कोई भी व्यक्ति संघ के समक्ष अपना प्रस्ताव (नत्ति) रख सकता था। परन्तु इसके लिये उसे पहले से सूचना (ज्ञप्ति) देनी पड़ती थी। प्रस्ताव के पाठ को 'अनुस्सावन' अथवा 'कम्मवाचा' कहते थे। विवादग्रस्त प्रश्न कभी-कभी एक विशेष समिति (उब्बाहिका) के पास भेजा जाता था। मत-विभाजन शलाकाओं के द्वारा होता था। भिन्न-भिन्न रंगों की शलाकायें भिन्न-भिन्न मतों को प्रकट करती थीं। संघ का जो पदाधिकारी इन शलकाओं को संगृहीत करता था उसे 'सलाकागाहापक' कहते थे। कभी-कभी मत-दान खुला (विवतक) न होकर गुप्त (गुल्हक) होता था। निर्णय सदैव बहुमत (भूमस्सिकम्) से होता था।

बौद्ध संगीतियाँ—अपने धर्म के सिद्धान्तों को निश्चित करने तथा पारस्परिक मतभेदों को दूर करने के लिये समय-समय पर बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी संगीतियाँ (सभायें) कीं। ये संगीतियाँ कुल मिलाकर चार हुईं। बौद्ध धर्म के इतिहास में इनका बड़ा महत्व है।

प्रथम संगीति—बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के तत्काल पश्चात् सुभद्र नामक एक भिक्षु ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा कि बड़ा अच्छा हुआ जो महात्मा बुद्ध नहीं रहे। अब हम स्वतन्त्र हो गये। अब हमें उनके बनाये हुए अनेक प्रकार के विधि-निषेधों का पालन नहीं करना पड़ेगा। सुभद्र का यह कथन इस बात का संकेत करता है कि अनेक भिक्षु बौद्ध धर्म के अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करते थे। इस बात की आशंका थी कि अवसर मिलते ही वे बौद्ध संघ के संयत जीवन को नष्ट करके स्वेच्छाचारिता का व्यवहार करेंगे। इस संकट को दूर करने के लिये अनुभवी भिक्षुओं ने यह विचार किया कि यदि महात्मा बुद्ध की दी गई शिक्षाओं को भलीभाँति संगठित कर दिया जाय और भिक्षु-जीवन के यम-नियमों को भी पुनः निश्चित कर लिया जाय तो फिर बौद्ध धर्म और संघ में अव्यवस्था फैलने की आशंका कम हो जाएगी।

इसी उद्देश्य से परम अनुभवी बौद्ध भिक्षु महाकाश्यप ने ५०० चुने हुए भिक्षुओं की एक संगीति राजगृह में की। यही प्रथम बौद्ध संगीति कहलाती है।

बौद्ध परम्परा का कथन है कि इस संगीति में बौद्ध धम्म और विनय का रूप निश्चित किया गया। परन्तु यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता। बौद्ध धम्मपिटक और विनयपिटक का विस्तृत विकास और संगठन महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् इतनी जल्दी न हुआ होगा। उसमें अधिक समय लगा होगा। इस संगीति ने तो बौद्ध धम्म

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रौर विनय के ग्राधारभूत सिद्धान्तों को ही निश्चित किया होगा। इन्हीं के ग्राधार पर धीरे-धीरे बौद्ध धम्म ग्रौर विनय विकसित हुए होंगे।

यद्यपि ग्रधिकांश विद्वान् इस संगीति को ऐतिहासिक मानते हैं, परन्तु ग्रोल्डेनबर्ग नामक विद्वान् ने प्रमुख रूप से इस मत का विरोध किया है। वे कहते हैं कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् प्रथम संगीति के ग्रधिवेशन की बात कल्पित है। ग्रपने मत की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(१) महापरिनिर्वाण सूत्र महात्मा बुद्ध की मृत्यु का तो वर्णन करता है, परन्तु वह इस संगीति का उल्लेख नहीं करता।

(२) तिब्बती जनश्रुति सुभद्र की घोषणा का उल्लेख करती है, परन्तु वह भी इस संगीति के विषय में मौन है।

परन्तु याकोबी ग्रादि विद्वानों ने इन तर्कों का खण्डन किया है। उनका कथन है कि—

(१) महापरिनिर्वाण सूत्र का उद्देश्य महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण का वर्णन करना था। ग्रतः यदि वह प्रथम संगीति का उल्लेख नहीं करता तो स्वाभाविक ही है।

(२) तिब्बती जनश्रुति का मौन ग्राकस्मिक भी हो सकता है। एकमात्र तिब्बती साक्ष्य के ग्राधार पर हम समस्त बौद्ध-ग्रन्थों के साक्ष्य को ग्रस्वीकार नहीं कर सकते। ये सभी बौद्ध-ग्रन्थ एक स्वर से प्रथम संगीति के ग्रधिवेशन का उल्लेख करते हैं।

द्वितीय बौद्ध संगीति—महात्मा बुद्ध की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पश्चात् वैशाली में यश नाम के एक भिक्षु ने बौद्ध धर्म के प्रचलित दस सिद्धान्तों को धर्म-विरुद्ध घोषित किया। इस झगड़े का निर्णय करने के लिये वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति हुई। संगीति ने दस सिद्धान्तों को धर्मविहित घोषित किया। यश ग्रौर उसके सहयोगी पराजित हुए। 'दीपवंश' का कथन है कि पराजित होने के पश्चात् यश ने स्वतन्त्र रूप से एक ग्रन्य संगीति की। इसमें १० हजार भिक्षुग्रों ने भाग लिया ग्रौर ग्रपने नवीन धम्म तथा विनय की स्थापना की। परन्तु 'दीपवंश' का यह कथन ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ बाद का है। इससे कहीं ग्रधिक प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ 'चुल्लवग्ग' में यश द्वारा की गई स्वतन्त्र संगीति का उल्लेख नहीं है।

कुछ विद्वानों ने वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति को भी ग्रनैतिहासिक माना है। उनका मुख्य तर्क यह है कि भिन्न-भिन्न बौद्ध ग्रन्थों में इस संगीति का जो ब्यौरा मिलता है वह एक-दूसरे से भिन्न है। उदाहरण के लिये 'चुल्लवग्ग' के ग्रनुसार इस संगीति में ८ ग्रर्हतों ने भाग लिया था जबकि कुछ ग्रन्य ग्रन्थों में उनकी संख्या ७०० तक बताई गई है। इसी प्रकार प्रत्येक ग्रन्थ में दस सिद्धान्तों का उल्लेख भी भिन्न-भिन्न रूप में हुग्रा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु ये आपत्तियाँ निर्बल हैं। 'चुल्लवग्ग' सबसे पुराना ग्रन्थ है। उसी का वर्णन प्रामाणिक समझना चाहिए। कालान्तर में मूल वर्णन में अतिरंजन, परिवर्तन और भिन्नता का आ जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार ब्यौरे में अन्तर हो सकता है। परन्तु जहाँ तक दस सिद्धान्तों के विवाद को लेकर द्वितीय बौद्ध संगीति के अधिवेशन का प्रश्न है, वह सभी मुख्य बौद्ध ग्रन्थों में सुरक्षित है।

तृतीय बौद्ध संगीति—'दीपवंश' और 'महावंश' नामक ग्रन्थों का कथन है कि अशोक के शासन-काल में बौद्ध संघ में बहुसंख्यक ऐसे व्यक्ति घुस आये थे जिन्हें बौद्ध धर्म में कोई आस्था न थी। उनके प्रवेश के कारण बौद्ध संघ की व्यवस्था भंग होने लगी। भिक्षुओं ने धार्मिक क्रियायें—उपोसथ, पवारणा आदि—करना भी बन्द कर दिया। स्वयं पाटलिपुत्र के बौद्ध संघ में सात वर्ष से उपोसथ और पवारणा न हुए थे।

अशोक को जब यह सूचना मिली तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने मोग्गलिपुत्त तिस्स के सभापतित्व में पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति की। इसका उद्देश्य वास्तविक धम्म और विनय को निश्चित करके मिथ्याचार को रोकना था।

इस संगीति ने विभज्जवादियों के सिद्धान्तों को धर्मविहित घोषित किया। संगीति की समाप्ति पर तिस्स ने कथावस्तु नामक ग्रन्थ की रचना की।

रमेशचन्द्र मजूमदार इस संगीति को ऐतिहासिक नहीं मानते। अपने पक्ष में वे निम्नलिखित तर्क देते हैं—

(१) इस संगीति का उल्लेख एक मात्र सिंहली ग्रन्थों—दीपवंश, महावंश और सामन्तपासादिका—में हुआ। उत्तरी भारत, चीन और तिब्बत के बौद्ध ग्रन्थों तथा ह्वेनसाँग के विवरण में इस संगीति का उल्लेख नहीं किया गया है।

(२) यद्यपि इस संगीति का अधिवेशन अशोक के समय में हुआ, परन्तु उसके अभिलेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

(३) दीपवंश और महावंश के संगीति-सम्बन्धी विवरण के अंश बड़े अतिरंजित, चमत्कारपूर्ण, कल्पित और अविश्वसनीय हैं। उदाहरणार्थ, तिस्स में दैवी शक्ति थी, पाटलिपुत्र के संघ में सात वर्ष तक उपोसथ और पवारणा बन्द रहे, फिर भी अशोक को इसका पता न चला, आदि।

परन्तु अधिकांश विद्वान् डा० मजूमदार से सहमत नहीं हैं। यहाँ ये बातें विचारणीय हैं—

(१) दीपवंश और महावंश के साक्ष्य की अवहेलना नहीं की जा सकती।

(२) अशोक के अभिलेखों में सभी बातों का उल्लेख नहीं है। वे उसके पिता, पितामह तथा उसके उत्तराधिकार-युद्ध आदि का भी उल्लेख नहीं करते।

(३) जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे ही वैसे बहुधा मूल घटना के चारों ओर अनेक प्रकार के कल्पित ब्यौरे जुड़ते जाते हैं। परन्तु इनके कारण हम सदैव मूल घटना को ही अस्वीकार नहीं कर देते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ बौद्ध संगीति – अपने शासन-काल में उपस्थित बौद्ध धर्म के मतभेदों को दूर करने के लिये कनिष्क ने कश्मीर में इस संगीति का अधिवेशन किया था। यह वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई थी। अश्वघोष इसका उपसभापति था। वाद-विवाद के पश्चात् इस संगीति ने धम्म, विनय और अभिधम्म के उन भागों को भी लेखबद्ध किया जो अभी तक अलिखित थे। इसके साथ-साथ उसने उन पर विभाषायें (टीकायें) भी लिखीं।

कुछ विद्वान् इस संगीति की ऐतिहासिकता को भी स्वीकार नहीं करते। इसका प्रमुख कारण यह है कि यद्यपि अधिकांश बौद्ध ग्रन्थ, ह्वेनसांग तथा तारानाथ इस संगीति का वर्णन करते हैं परन्तु दीपवंश और महावंश में इसका कोई उल्लेख नहीं है। पुन: अधिकांश साक्ष्यों में संगीति के ब्यौरे पर भिन्नता है।

परन्तु ये आपत्तियाँ भी निर्बल हैं। दीपवंश और महावंश के मौन के कारण हम अन्य ग्रन्थों के स्पष्ट कथन को असत्य नहीं मान सकते। पुन:, ब्यौरे में भिन्नता होते हुए भी सभी ग्रन्थ मूल तथ्य —संगीति की ऐतिहासिकता—को स्वीकार करते हैं।

त्रिपिटक—इन्हीं संगीतियों ने बौद्धों के सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थों—त्रिपिटक—का संगठन किया। 'पिटक' का अर्थ है पिटारी, टोकरी। प्राचीन काल में मजदूर एक पंक्ति में खड़े हो जाते थे और मिट्टी की टोकरी क्रम से प्रत्येक मजदूर के हाथों से होती हुई अन्त तक पहुँच जाती थी। अत: पिटक का अर्थ परम्परा अथवा सम्प्रदाय हो गया।

यहाँ पिटक का अर्थ उन बौद्ध ग्रन्थों से है जिनमें बौद्ध परम्परायें सुरक्षित हैं।

पिटक तीन हैं—१ विनय पिटक, २ धम्मपिटक और ३ अभिधम्मपिटक।

(१) विनयपिटक—इसमें भिक्षुओं के विनय (अनुशासन) से सम्बन्धित यम-नियम हैं। कर्न महोदय के अनुसार यह तीनों पिटकों में सबसे अधिक प्राचीन है। महावग्ग और चुल्लवग्ग इसी पिटक के भाग हैं।

(२) धम्मपिटक—इसे सुत्तपिटक कहते हैं। 'सुत्त' का अर्थ भी धर्मोपदेश है। इस पिटक में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त हैं। दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय नामक ५ निकाय इसी पिटक के भाग हैं।

(३) अभिधम्मपिटक—'अभिधम्म' का अर्थ दर्शन है। इसमें बौद्ध दर्शन की व्याख्या है।

बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय—महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे बौद्धधर्म में अनेक सम्प्रदाय हो गये। प्रत्येक सम्प्रदाय महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों को ही अपना मूलाधार समझता था, परन्तु फिर भी सभी सम्प्रदाय एक-दूसरे से भिन्न थे, उनके अपने ग्रन्थ थे और अपनी प्रथायें थीं। यहाँ इन विभिन्न सम्प्रदायों का परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थविरवादी और महासांघिक—वैशाली की द्वितीय संगीति में बौद्ध संघ में सर्वप्रथम भेद उत्पन्न हुआ। जिन लोगों ने पुराने विधि-निषेधों को माना वे स्थविरवादी कहलाये। परन्तु जो लोग नये परिवर्तनों के पक्ष में थे उन्होंने अपना अलग संघ बनाया और उसे महासंघ कहा। इसके अनुयायी महासांघिक के नाम से प्रसिद्ध हुए।

विभज्जवादी—अशोक के समय भी धार्मिक मतभेद था। अतः उसे दूर करने के लिये तृतीय बौद्ध संगीति की गई थी। इसने धर्म के विशुद्ध रूप को निश्चित किया और उसे विभज्जवाद कहा। इसे वस्तुतः स्थविरवाद का ही नया रूप समझना चाहिए।

हीनयानी और महायानी—कनिष्क के समय हुई चतुर्थ बौद्ध संगीति में बौद्ध धर्म दो शाखाओं में विभक्त हो गया—हीनयान और महायान। इन दोनों सम्प्रदायों के अन्तर पर हम कनिष्क के अध्याय में विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना समझ लेना चाहिए कि महायानी सम्प्रदाय में भक्तिवाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा के सिद्धान्तों ने समावेश कर लिया, जब कि हीनयान प्राचीन परम्पराओं का ही अनुसरण करता रहा।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक—ये हीनयान के ही सम्प्रदाय हैं। वैभाषिक सम्प्रदाय अभिधम्म की विभाषा (टीका) को सबसे अधिक महत्व देता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक वस्तु परमाणुओं से बनी है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय अभिधम्म की टीका को महत्व नहीं देता। उसकी दृष्टि में सुत्त ही सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक वस्तु तत्वों से बनी है। ये तत्व अनन्त हैं। इन तत्वों को स्वलक्षण कहा जाता है।

शून्यवादी और विज्ञानवादी—ये महायान के सम्प्रदाय हैं। शून्यवाद को माध्यमिक भी कहते हैं। इसके अनुसार परम तत्व को बुद्धि से नहीं सभझा जा सकता। बुद्धि भ्रम उत्पन्न करने वाली है। जो व्यक्ति बुद्धि-भ्रम से ऊपर उठ जाता है वह शून्य-दृष्टि प्रात कर लेता है। इसी शून्य दृष्टि को ज्ञान के नाम से पुकारा जाता है। इस ज्ञान को 'प्रज्ञापारमिता' भी कहा जाता है। शून्यवाद को सापेक्षत्ववाद (Relativism) के नाम से भी पुकारा जाता है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने इसका प्रतिपादन किया था।

विज्ञानवादी सम्प्रदाय का केन्द्रविन्दु विज्ञान है। विज्ञान चित्त को कहते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार संसार में एकमात्र चित्त ही सत्य है। वासना के कारण चित्त के अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। संसार में जो भी वस्तुयें दिखाई देती हैं वस्तुतः उनका अस्तित्व नहीं है। वे चित्त के वासनाजन्य विकल्पों के कारण दिखाई देती हैं। ज्ञान प्रात हो जाने पर इन वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तन्त्रयानी और वज्रयानी—धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तित होता गया। गुप्तकाल के पश्चात् इस धर्म में तन्त्र-मन्त्रों की महत्ता बढ़ने लगी। वही मोक्ष के साधन बन गये। बौद्ध धर्म का यह परिवर्तित रूप तन्त्र-यान के नाम से प्रख्यात हुआ।

इसके पश्चात् वज्रयान आया। इसके अन्तर्गत तन्त्रों-मन्त्रों और गुह्य क्रियाओं के साथ-साथ स्त्री को भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक माना गया। परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर बौद्ध धर्म ने भ्रष्टाचार का प्रसार करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार की विचार-धारा ने बौद्ध धर्म को देश में बड़ा अप्रिय बना दिया और जनता धीरे-धीरे उससे विमुख होती गई।

बौद्ध धर्म का प्रसार—महात्मा बुद्ध के समय बौद्ध धर्म भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों में ही पहुँचा था। परन्तु कालान्तर में सम्राट् अशोक ने इसका अभूतपूर्व प्रसार किया। वह सम्पूर्ण भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी पहुँचाया गया। हिन्द-यूनानी राजाओं में मिनेण्डर और कुषाण-राजाओं में कनिष्क ने भी बौद्ध धर्म को अङ्गीकार किया और इसका प्रसार किया। इन राजाओं का सम्बन्ध मध्य एशिया से भी था। अतः इनके शासन-काल ने बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रचार को योग दिया। कालान्तर में हर्ष ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया और उसका यथाशक्ति प्रचार किया। इन राजाओं की प्रेरणा और प्रोत्साहन से देश के विभिन्न स्थानों पर बहुसंख्यक बौद्ध गुहाओं, स्तूपों, चैत्यों, विहारों और मूर्तियों आदि का निर्माण हुआ। मोग्गलिपुत्त तिस्स, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र, असंग, दिङ्नाग, वसुबन्धु, बुद्धघोष, धर्मपाल आदि अनेकानेक बौद्ध विद्वानों ने साहित्यिक रचनाओं द्वारा बौद्ध धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिग आदि विदेशी बौद्ध यात्रियों के भारत-आगमन से बौद्ध धर्म की ख्याति और भी अधिक स्थापित हुई।

भारतीय एवं विदेशी ग्रन्थों तथा उत्खनन में प्राप्त विविध सामग्री से प्रकट होता है कि किसी समय बौद्ध धर्म अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया और जापान पहुँचा था। दक्षिणी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया में वह लंका, ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, चम्पा, मलाया प्रायद्वीप तथा इण्डोनेशिया के प्रदेशों में बड़ा लोकप्रिय था।[1]

बौद्ध धर्म के पतन के कारण—मौर्यों का विनाश करके पुष्यमित्र शुङ्ग ने अपने ब्राह्मण-राज्य की स्थापना की और ब्राह्मण-धर्म को अपना राजधर्म

१—वृहत्तर भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार का इतिहास जानने के लिये डा० विमलचन्द्र पाण्डेय कृत 'प्राचीन भारत का इतिहास' (२५० ई०–१२०० ई०) नामक ग्रन्थ देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घोषित किया। तभी से ब्राह्मण-धर्म की उन्नति और बौद्ध धर्म की अवनति प्रारम्भ हुई। शुङ्गों के पश्चात् कण्वों और सातवाहनों ने भी ब्राह्मण-धर्म को प्रोत्साहित किया। कालान्तर में गुप्त व शासकों और वाकाटकों ने हिन्दू धर्म को अपना राजधर्म बनाया और उसकी अभूतपूर्व उन्नति की। यद्यपि इन राजाओं ने बौद्ध धर्म के ऊपर कोई अत्याचार नहीं किया तथापि राजाश्रय प्राप्त न होने के कारण बौद्ध धर्म की स्थिति न्यून हो गई। सातवीं शताब्दी में हर्ष ने एक बार फिर बौद्ध धर्म को देशव्यापी मान्यता देने की चेष्टा की, परन्तु उसे अधिक सफलता न मिली। ह्वेनसांग के विवरण से प्रकट होता है कि उस समय तक हिन्दू धर्म बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया था। राजपूत-काल तो प्रमुखतया हिन्दू-धर्म-प्रधान काल है। अतः इस काल में बौद्ध धर्म की अवनति हो गई। बारहवीं शताब्दी तक आते-आते हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म बंगाल और बिहार को छोड़कर भारतवर्ष के अन्यान्य प्रदेशों से प्रायः विलुप्त हो गया।

बौद्ध धर्म की इस क्रमिक अवनति के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं—

(१) बौद्ध धर्म का परिवर्तित रूप—महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था वह बड़ा सरल और स्वाभाविक था। परन्तु धीरे-धीरे उसका रूप परिवर्तित होने लगा। उसमें वे सभी बातें आगईं जिनका महात्मा बुद्ध ने विरोध किया था। उदाहरणार्थ, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, तन्त्र-मन्त्र इत्यादि। यही नहीं बौद्ध धर्म के वज्रयानी सम्प्रदाय के अन्तर्गत तो घोर अनैतिक एवं भ्रष्ट क्रियाओं का प्रतिपादन होने लगा। इन सब परिवर्तनों ने जनता को बौद्ध धर्म की ओर से विमुख कर दिया।

(२) बौद्ध संघ का पतन—बौद्ध धर्म की सफलता का एक प्रमुख कारण बौद्ध संघ था। परन्तु उसके भीतर बहुसंख्या में स्त्रियों और सम्पत्ति के आगमन ने उसकी साधना, कर्मठता, अल्पभाण्ड़ता और नैतिकता को नष्ट कर दिया। धीरे-धीरे बौद्ध संघ विलासिता और निष्क्रियता का केन्द्र बन गया। ऐसे संघ से बौद्ध धर्म के प्रचार अथवा संरक्षण की आशा करना व्यर्थ था।

(३) प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अभाव—हम देखते हैं कि आठवीं शताब्दी के उपरान्त बौद्ध धर्म अथवा संघ में किसी भी ऐसे विद्वान् आचार्य अथवा प्रचारक का जन्म न हुआ जो अपनी प्रतिभा और कर्मनिष्ठा से पतनोन्मुख बौद्ध धर्म की स्थिति को सुधार सकता।

(४) हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार—शुङ्गों के शासन-काल में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रतिक्रिया हुई वह उत्तरोत्तर सबल होती गई। उनके पश्चात् कण्वों और सातवाहनों ने भी ब्राह्मण-धर्म को ही अंगीकार किया। तीसरी शताब्दी में गुप्तों और वाकाटकों का उदय हुआ। ये हिन्दू-धर्मावलम्बी थे। इनके शासनकाल में हिन्दू-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म के दो प्रमुख मतों, वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय, ने अभूतपूर्व उन्नति की। हिन्दुओं ने भक्तिमार्ग, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, आराधना, उपासना, व्रत, स्नान, तीर्थ-यात्रा, दान-दक्षिणा आदि के सिद्धान्तों के आधार पर अपने धर्म को बड़ा आकर्षक और लोकप्रिय बनाया। उन्होंने महात्मा बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया। बौद्धों का अहिंसा-सिद्धान्त भी हिन्दू धर्म में अधिक आदरणीय हो गया। शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट ने दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध धर्म का खण्डन करके हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित की। शङ्कराचार्य ने हिन्दू-संन्यासियों के लिये मठों की स्थापना करके बौद्ध विहारों की विशेषता को भी नष्ट कर दिया। इन सब कारणों से बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर अपनी महत्ता खोता गया और उसके स्थान पर हिन्दू धर्म की लोकप्रियता बढ़ती गई।

(५) राजाश्रय का अभाव—हर्ष के पश्चात् बौद्ध धर्म को किसी शक्तिशाली राजा का आश्रय न मिला जो अपने साम्राज्य के साधनों को उसके प्रसार में लगाता।

(६) राजपूतों की अरुचि—राजपूत-काल में बौद्ध धर्म की विशेष अवनति हुई। इसका प्रमुख कारण यह था कि राजपूत युद्धकर्मा जाति थे। वे अहिंसावादी बौद्ध धर्म को स्वीकार न कर सके।

(७) विदेशियों के आक्रमण—हूणों तथा मुसलमानों के आक्रमणों ने बौद्ध धर्म को बड़ी क्षति पहुँचाई। उन्होंने बहुसंख्यक बौद्धों को मार डाला, उनकी मूर्तियाँ आदि तोड़ डालीं तथा नालन्दा – जैसे विशाल बौद्ध विहारों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

बौद्ध धर्म की देन – बौद्ध धर्म शताब्दियों तक भारतवर्ष का एक प्रमुख धर्म बना रहा। उसने भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों पर प्रबल प्रभाव डाला। हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत इस प्रभाव का अध्ययन कर सकते हैं—

(१) नैतिकता को प्रोत्साहन—महात्मा बुद्ध ने वाह्य कर्मकाण्ड को निरर्थक बताते हुए मनुष्य की अन्तःशुद्धि एवं उसके सदाचार पर अधिक जोर दिया था। अतः इस धर्म ने समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में योग दिया।

(२) अहिंसा का सिद्धान्त—अहिंसा के सिद्धान्त को सबसे अधिक जैन धर्म ने अपनाया था। परन्तु उसने इस सिद्धान्त को आत्यन्तिक और अव्यावहारिक बना दिया। बौद्ध धर्म के साथ यह बात न थी। उसने अहिंसा के सिद्धान्त को अपना एक प्रमुख अङ्ग माना, परन्तु उसे इस प्रकार सीमा में रखा कि मनुष्य अपने दैनिक जीवन में उसका सरलता से पालन कर सकें। बौद्ध धर्म के अहिंसा-प्रचार ने हिंसात्मक यज्ञों, मांसाहार, आखेट, समाज आदि को हतोत्साह किया। परन्तु इसका एक दुष्प्रभाव भी हुआ। अशोक ने अहिंसा के इस सिद्धान्त का प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र में भी किया। परिणामस्वरूप उसने युद्ध-नीति का त्याग कर दिया और सेना-संगठन की अवहेलना की। देश की सुरक्षा के लिये यह अहिंसात्मक नीति घातक सिद्ध हुई और शीघ्र ही मौर्य-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) **परोपकारिता के कार्य**—बौद्ध धर्म ने अत्यन्त व्यावहारिक रूप धारण किया। बौद्ध राजाओं और अनुयायियों ने बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय और परोपकारिता के अनेक कार्य किये। बौद्ध धर्म की प्रेरणा के अन्तर्गत ही सड़कों, कूओं, कुंजों, विश्राम-शालाओं, दानशालाओं, चिकित्सालयों, गुहाओं आदि का निर्माण किया गया।

(४) **मूर्ति-पूजा**—कुछ विद्वानों के मतानुसार भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा की लोकप्रियता का कारण बौद्ध धर्म है। महायान बौद्ध धर्म के अन्तर्गत महात्मा बुद्ध, बोधिसत्वों आदि की बहुसंख्यक मूर्तियाँ बनीं और पूजा के लिये स्थापित की गईं। कालान्तर में हिन्दुओं ने भी बौद्धों का अनुकरण करते हुए अपने देवी-देवताओं की बहुसंख्यक मूर्तियाँ निर्मित करनी प्रारम्भ कीं।

(५) **उद्धारक की प्रतिष्ठा**—ऋग्वैदिक काल में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की पूजा होती थी। औपनिषदिक काल में निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु महायानी बौद्ध धर्म ने जनता के समक्ष महात्मा बुद्ध के रूप में एक व्यक्तिगत, भावनामय उद्धारक की प्रतिष्ठा की। उद्धारक की यह प्रतिष्ठा भागवत धर्म के अन्तर्गत विष्णुरूप में भी हुई थी। महायानी बौद्ध धर्म ने इसका अच्छा प्रचलन किया।

(६) **विहार-जीवन की स्थापना**—महात्मा बुद्ध ने गृहत्यागी बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिये विहारों की स्थापना कराई थी। नगरों से दूर इन आवासों में भिक्षु यम-नियमों का पालन करते हुए बड़े अनुशासन और अध्यवसाय के साथ अपना संन्यस्त जीवन व्यतीत करते थे। बौद्धों के इन आवासों ने हिन्दू धर्मावलम्बियों पर भी प्रभाव डाला और उन्होंने भी अपने संन्यासियों के लिये मठों की स्थापना प्रारम्भ की।

(७) **शिक्षा का प्रसार**—बौद्ध विहार एक ओर तो साधना, संयम, कर्मनिष्ठा और आदर्श-जीवन के केन्द्र थे और दूसरी ओर वे शिक्षा के केन्द्र भी थे। ये शिक्षा-केन्द्र धीरे-धीरे विकसित होते गये और कालान्तर में इन्होंने विश्वविद्यालयों एवं विशाल पुस्तकालयों का रूप धारण कर लिया। तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला विहार इसके ज्वलन्त उदाहरण थे। इन विहारों की ख्याति भारतवर्ष की सीमाओं को पार करती हुई विदेशों में भी गई और वहाँ से बहुसंख्या में विदेशी विद्यार्थी भारतवर्ष आने लगे। इस प्रकार बौद्ध धर्म के कारण भारतवर्ष एक बार फिर संसार का शिक्षक बन गया।

(८) **लोकभाषाओं का उदय**—महात्मा बुद्ध ने संस्कृत भाषा का परित्याग कर लोकभाषा पाली को अपनाया था। बौद्ध त्रिपिटक तथा अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ पाली भाषा में ही हैं। बौद्धों की इस प्रवृत्ति ने प्राकृत भाषाओं के विकास में योग दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(९) दार्शनिक प्रगति—धीरे-धीरे बौद्धों ने अपने दर्शन का भी विकास किया। दूसरे अन्य भारतीय दर्शनों को भी प्रभावित किया। अनेक विद्वानों के मतानुसार बौद्धों के शून्यवाद ने शंकराचार्य के मायावाद को प्रभावित किया।

(१०) विदेशों से सम्बन्ध—कुछ समय पश्चात् बौद्ध धर्म एकमात्र भारतीय धर्म ही न रह गया, वह विश्व-धर्म बन गया। भारतवर्ष के अनेक विदेशी राजाओं—मेनाण्डर, कनिष्क आदि—ने इसे ग्रहण किया। भारतीय और विदेशी प्रचारकों तथा विद्वानों के माध्यम से बौद्ध धर्म मध्य एशिया, चीन, दक्षिण-पूर्वी एशिया आदि में पहुँचा। बौद्ध धर्म के साथ-साथ इन देशों में भारतीय संस्कृति भी पहुँची और ये देश प्रायः भारतीय रंग में रँग गये।

भारतीयों और विदेशियों के इस घनिष्ठ सम्बन्ध-सम्पर्क ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान को सम्भव बनाया। इसका फल यह हुआ कि भारतीय संस्कृति में अधिक उदारता और सहिष्णुता आई और उसने सहर्ष विदेशी तत्वों को भी अपने भीतर ग्रहण कर लिया।

(११) कला को प्रोत्साहन--बौद्ध धर्म ने ललित कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। उसकी प्रेरणा से अनेकानेक कला-प्रणालियों का विकास हुआ। उससे प्रेरित होकर बहुसंख्यक शिलालेखों, स्तम्भों, गुहाओं, स्तूपों, चैत्यों, विहारों, मूर्तियों, चित्रों आदि का निर्माण किया गया। इनमें कुछ उदाहरण संसार-प्रसिद्ध हैं। भरहुत, सांची, अमरावती, नागार्जुनीकोण्ड के स्तूप तथा अजन्ता की गुफायें बौद्ध कला के विश्वविख्यात उदाहरण हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ७

ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध

तीन धर्म—यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म का अध्ययन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यद्यपि जैन और बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे तथापि उन्होंने ब्राह्मण धर्म से बहुत-कुछ ग्रहण किया था। बौद्ध मत पर विचार करते हुए बार्थ महोदय ने लिखा है कि यह धर्म औपनिषदिक धर्म और ब्राह्मण धर्म से इतना मिलता-जुलता है कि कभी-कभी यह बताना कठिन हो जाता है कि इसकी मौलिक विशेषतायें क्या हैं।[1] इसी प्रकार रिज डेविड्ज महोदय महात्मा बुद्ध के विषय में लिखते हैं कि वे आजीवन हिन्दू रहे और अपने पूर्वगामियों के बौद्धिक कार्य के अभाव में उनका कार्य कभी भी सम्भव न होता।[2] यही कथन जैन धर्म और महावीर स्वामी के विषय में भी लागू होते हैं।

तात्विक दृष्टि से महात्मा बुद्ध न ब्राह्मण-विरोधी थे और न वेद-विरोधी। अनेक स्थलों पर उन्होंने स्वयं अपने को ब्राह्मण और वेदगू (वेदज्ञ) कहा है। परन्तु उन्होंने ब्राह्मण शब्द को व्यापक अर्थ में लिया है। उनकी दृष्टि में सत्कर्मा, ज्ञानी व्यक्ति ही ब्राह्मण है। 'ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः'—यही परिभाषा ब्राह्मण धर्म में भी मिलती है। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जानना'। अतः वेद का अर्थ भी विशुद्ध ज्ञान है, एकमात्र कुछ ग्रन्थ नहीं। यही अर्थ महात्मा बुद्ध का भी था जब उन्होंने अपने को वेदज्ञ कहा।

महात्मा बुद्ध की भाँति महावीर स्वामी भी ब्राह्मण-विरोधी नहीं थे। उन्होंने भी व्यापक अर्थ में ब्राह्मण को निष्काम और निःस्पृह व्यक्ति माना है। उनके अनुसार

---

१. "When we attempt to reconstruct its primitive doctrine and early history, we come upon something so akin to what we meet in the most ancient upanishads and the legends of Brahmanism that it is not always easy to determine what features belong peculiarly to it."

२. "........We should never forget that Gautama was born and brought up and lived and died a Hindu.........without the intellectual work of his predecessors, his own work, however original, would have been impossible."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'जो लालची नहीं है, जो पेट के लिये संचय नहीं करता, जिसके घरबार नहीं है, जो अकिंचन है और जो गृहस्थों से अपरिचित है, उसे ब्राह्मण कहते हैं ।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों धर्मों ने ब्राह्मण को आदर्श रूप में माना है और मनुष्य की उच्चता और निम्नता का मापदण्ड उसका कर्म माना है ।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने बहुदेववाद, यज्ञवाद और कर्मकाण्ड आदि का जो विरोध किया वह भी मौलिक न था । इस प्रकार का विरोध हमें ऋग्वेद, ब्राह्मणों, आरण्यकों और विशेषतया उपनिषदों में पहले से ही मिलता है । यही मत ओल्डेनबर्ग का है[2] ।

अहिंसा, अन्तः शुद्धि आदि के सिद्धान्त भी ब्राह्मण धर्म के पुरातन सिद्धान्त थे । उदाहरणार्थ, उपनिषदों का उपदेश कि 'सत्यं वद धर्म चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः……… धर्मान्न प्रमदितव्यम् कुशलान्न प्रमदितव्यम् भूत्यै न प्रमदितव्यम् ।' धर्म के नैतिक पक्ष पर ही जोर देता है । जैन धर्म और बौद्ध धर्म का नैतिक पक्ष ही प्रधान है ।

मोक्ष का आदर्श भी नया न था । उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद् आवागमन से विमुक्ति का उल्लेख करता है ।

उपनिषद्-साहित्य ब्रह्मचर्य की महिमा से भरा पड़ा है । छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है कि ब्रह्मचर्य से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है । यही ब्रह्मचर्य जैन और बौद्ध व्यवस्थाओं का एक प्रमुख आधार है ।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही संन्यास-प्रधान धर्म हैं । परन्तु संन्यास की संस्था का उदय इन धर्मों ने नहीं किया था । वह पहले से ही विद्यमान थी । इन दोनों धर्मों के पूर्व परिव्राजक, श्रमण और संन्यासी विद्यमान थे ।

जैनियों और बौद्धों ने अपने संघ के लिये जो विधि-निषेध निश्चित किये थे वे भी ब्राह्मण-धर्म के ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम से लिये गये हैं । उपसम्पदा, निस्सय, अध्ययन-अध्यापन, निवास, पर्यटन आदि के नियम तीनों धर्मों में एक-से दिखाई देते हैं ।

ब्राह्मण धर्म ने संन्यास आश्रम को मनुष्य के जीवन के अन्तिम चरण में रखा है । इसके पूर्व मनुष्य को तीनों आश्रमों के उत्तरदायित्वों और अनुभवों से गुजरना आवश्यक समझा जाता था । परन्तु बौद्ध धर्म ने सद्यः गृहत्याग का उपदेश किया और प्रत्येक व्यक्ति को सीधे संन्यास लेने की अनुमति दे दी । इसके भयंकर परिणाम

---

१. उत्तराध्ययन, २५, ८८

२. "For hundreds of years before Buddha's time movements were in progress in Indian thought which prepared the way for Buddhism."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए और बौद्धों को विवश होकर संघ-प्रवेश पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने पड़े। इस प्रकार बौद्धों ने परोक्षरूप से ब्राह्मण-धर्म की चतुराश्रम-व्यवस्था की उपयोगिता को समझा।

जैन और बौद्ध धर्म दोनों में कर्म, पुरुषार्थ, प्रयत्न अथवा प्रधान को महत्ता दी गई है। मनुष्य के बन्धन और मुक्ति दोनों का ही कारण उसका कर्म है। भारतीय समाज में यह भावना पहले से ही विद्यमान थी। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है कि पुरुष कर्म प्रधान है। वह इह लोक में जैसा करता है उसी के अनुरूप वह मृत्यु के पश्चात् होता है।

व्यवस्था और आदर्श की विविध समता को देखकर मैक्समूलर महोदय ने कहा था कि बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों के प्राचीन उद्देश्यों और स्वप्नों का विरोध नहीं किया, वरन् उन्हें पूर्ण किया।[1] यही बात जैन धर्म के विषय में भी कही जा सकती है।

सारांशत: जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ने ही ब्राह्मण धर्म से बहुत कुछ ग्रहण किया और उसे आवश्यकतानुसार अपनी व्यवस्थाओं में स्वीकृत, संवर्धित अथवा परिवर्तित किया।

कुछ विद्वानों का मत है कि महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध केवल ब्राह्मण-धर्म में सुधार करना चाहते थे। उनका उद्देश्य अपने स्वतन्त्र धर्मों की स्थापना करना न था। परन्तु यह मत असंगत प्रतीत होता है। दोनों ने ब्राह्मण-धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को नष्ट करने की चेष्टा की, अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र संस्थाओं और मान्यताओं की स्थापना की तथा प्रत्येक स्थान पर अधिक से अधिक अपने अनुयायी बनाने का अनवरत प्रयत्न किया। इन सब बातों से तो यही प्रतीत होता है कि दोनों ही प्रचारक अपने स्वतन्त्र धर्मों की स्थापना करना चाहते थे, एक मात्र ब्राह्मण-धर्म में सुधार नहीं। अत: इन धर्मों को एक मात्र 'Protestant Brahmanism' नहीं कहा जा सकता।

महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध—महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध की जीवनी में अनेक समानतायें दिखाई देती हैं—

(१) दोनों राजवंशीय थे।

(२) दोनों क्षत्रियजातीय थे।

(३) दोनों मगध में उत्पन्न हुए और दोनों का कार्यक्षेत्र विशेषतया मगध था।

(४) प्रारम्भ में दोनों ने गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। कुछ समय पश्चात् दोनों ने गृह त्याग करके संन्यास ले लिया।

---

१. "Buddhist Society, as we know it from the sacred writings of the Buddhists, is far more the fulfilment than the denial of the ancient schemes and dreams of the Brahmanic law-givers".

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५) दोनों ने दीर्घ साधना के पश्चात् ज्ञान प्राप्त किया।

(६) दोनों ने ही संघ की स्थापना की।

(७) दोनों ने ही अपने ज्ञान का प्रचार किया।

इन समानताओं को देखकर ग्युरिनो महोदय ने महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध को एक ही व्यक्ति माना था। परन्तु आज इस मत को कोई भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि इन समानताओं के साथ-साथ दोनों के जीवन में अनेक अन्तर भी हैं—

(१) दोनों की जन्म-तिथियाँ और मृत्यु-तिथियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

(२) महावीर स्वामी का जन्म वैशाली में और महात्मा बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था।

(३) महात्मा बुद्ध की माता उनके जन्म के पश्चात् सातवें दिन मर गई थीं, परन्तु महावीर की माता उनके जन्म के पश्चात् बहुत दिनों तक जीवित रहीं।

(४) महात्मा बुद्ध ने गुप्त रूप से गृह-त्याग किया था, परन्तु महावीर स्वामी ने अपने बड़े भाई की अनुमति लेकर संन्यास लिया था।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की समानता—इन दोनों धर्मों में अनेक समानतायें दिखाई देती हैं। इन्हीं का उल्लेख करते हुए बार्थ महोदय ने लिखा था कि यदि हम सिद्धान्त, संगठन, धार्मिक क्रियाओं और परम्पराओं की इन समस्त समानताओं को साथ-साथ रखें तो यही परिणाम निकलेगा कि दोनों में से एक दूसरे की शाखा है और किसी सीमा तक दूसरे की अनुकृति है। दोनों धर्मों की समानतायें निम्न-लिखित हैं—

(१) दोनों ब्राह्मण-धर्म के वेदवाद, बहुदेववाद, यज्ञवाद और जातिवाद को स्वीकार नहीं करते।

(२) दोनों ही ब्राह्मणों की चतुराश्रम-व्यवस्था का विरोध करते हुए सद्यः गृह-त्याग का उपदेश देते हैं।

(३) दोनों ने ही सभी जातियों के व्यक्तियों तथा स्त्री-पुरुषों—दोनों को अपने धर्म में ग्रहण किया।

(४) दोनों पुनर्जन्म को प्रधान दुःख, और मोक्ष को प्रधान लक्ष्य मानते हैं।

(५) दोनों ही कर्म को मनुष्य का निर्माता बताते हैं।

(६) दोनों ही ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते।

(७) दोनों ही धर्मों में कर्मकाण्ड का विरोध किया गया है, सदाचार पर जोर दिया गया है। वे मन, वचन और कर्म की शुद्धि को अत्यन्त आवश्यक बताते हैं।

(८) दोनों ने ही संघ की स्थापना की और अपने अनुयायियों को भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका की पृथक्-पृथक् कोटि में रखा।

(९) दोनों धर्मों में अहिंसा एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१०) दोनों ने प्रारम्भ में अवतारवाद, मूर्तिपूजा, भक्तिवाद और कर्मकाण्ड का विरोध किया, परन्तु बाद को दोनों धर्मों में ये सभी बातें आ गईं।

(११) प्रारम्भ में दोनों धर्मों ने लोकभाषा को अपनाया, परन्तु बाद को दोनों ने ही संस्कृत भाषा में ग्रन्थ-रचना की।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म का अन्तर—परन्तु समानताओं के साथ-साथ दोनों धर्मों में अनेक अन्तर भी हैं—

(१) बौद्ध धर्म ई० पू० छठी शताब्दी में उत्पन्न हुआ। परन्तु जैन धर्म इससे कहीं अधिक प्राचीन है।

(२) बौद्ध धर्म ने तपस्या, अनशन, नग्नता, केशलुञ्चन आदि को निरर्थक बताया। परन्तु जैन धर्म इन सभी बातों को मोक्ष-प्राप्ति में सहायक बताता है।

(३) जैन धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त पर बौद्ध धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक जोर दिया गया है।

(४) जैन धर्म अनेकान्तवादी है, बौद्ध धर्म अनात्मवादी।

(५) जैन धर्म ने सृष्टि-निर्माण पर विचार किया। बौद्ध धर्म ने इस विषय को अमनसिकरणीय बताया।

(६) जैन धर्म ने निर्वाण-प्राप्ति के लिये त्रिरत्न का उपदेश दिया। बौद्ध धर्म ने जनता के सामने अपना अष्टांग-मार्ग रक्खा।

(७) जैन ग्रन्थ आगम कहलाते हैं और बौद्ध ग्रन्थ त्रिपिटिक।

(८) जैन अपने तीर्थङ्करों की पूजा करते हैं और बौद्ध अपने बुद्धों एवं बोधिसत्वों की।

(९) बौद्धों ने जाति-प्रथा को महत्व न दिया। परन्तु जैन धर्मावलम्बी इस प्रथा का व्यावहारिक रूप में परित्याग न कर सके।

(१०) जैन धर्म का प्रचार एकमात्र भारतवर्ष में हुआ, परन्तु बौद्ध धर्म विदेशों में भी गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ८

मगध का उत्कर्ष

प्रारम्भिक इतिहास—वैदिक काल में मगध कीकट-प्रदेश के नाम से प्रख्यात था। यह प्रदेश आर्य-संस्कृति के क्षेत्र से बाहर समझा जाता था।

महाभारत और पुराणों से विदित होता है कि बृहद्रथ नामक एक राजा ने मगध में एक नवीन राजवंश (बृहद्रथ-वंश) की स्थापना की। बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध अपने समय का एक प्रतापी राजा था। इस वंश का अन्तिम राजा रिपुञ्जय था। इसके पश्चात् मगध में एक नवीन राजवंश—हर्यङ्क-वंश—का उदय हुआ।

हर्यङ्कवंश—पुराणों के अनुसार बृहद्रथ-वंश के पश्चात् शिशुनाग ने अपने नवीन वंश (शैशुनाग-वंश) की स्थापना की और बिम्बिसार इसी शैशुनाग-वंश का एक शासक था।

इसके विरुद्ध बौद्ध साहित्य का कथन है कि बिम्बिसार पहले हुआ। वह हर्यङ्क-वंश का था और उसका शैशुनाग-वंश से कोई सम्बन्ध न था। हर्यङ्क-वंश के पतन के पश्चात् ही शैशुनाग-वंश का उदय हुआ था। अधिकांश विद्वान् बौद्ध साहित्य के साक्ष्य को ही अधिक प्रामाणिक मानते हैं।

डा० भण्डारकर का मत है कि हर्यङ्क-वंश नाग-वंश था। हर्यङ्क-वंश के एक राजा के नाम—नागदसक—से इस मत की पुष्टि होती है।

बिम्बिसार ५४३ ई० पू०—४९१ ई० पू०—हर्यङ्क-वंश को शक्ति-सम्मान देने का काम सर्वप्रथम बिम्बिसार ने किया। डा० भण्डारकर का मत है कि यह प्रारम्भ में वैशाली के लिच्छवियों के अधीन एक सेनापति था। कालान्तर में इसने लिच्छवियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता घोषित करके मगध में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। परन्तु यह मत बड़ा सन्दिग्ध है, क्योंकि 'महावंश' के अनुसार बिम्बिसार का पिता पहले से ही मगध का राजा था। बिम्बिसार के पिता के नाम के विषय में भी बड़ा मतभेद है। पुराण उसे हेमजित्, क्षेमजित् और क्षत्रौजा के नामों से पुकारते हैं। तिब्बती साहित्य में उसे महापद्म कहा गया है।

विवाह-सम्बन्ध—बिम्बिसार ने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिये अनेक तत्कालीन राज-वंशों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) उसने वैशाली के लिच्छवियों के राजा चेटक की पुत्री छलना के साथ विवाह किया। इस विवाह-सम्बन्ध से मगध की उत्तरी सीमा सुरक्षित हो गई।

(२) उसका दूसरा विवाह कोशल-नरेश प्रसेनजित् की बहन कोशलदेवी के साथ हुआ था। इस विवाह के परिणाम-स्वरूप उसे काशी-प्रदेश भी प्राप्त हुआ। मगध के राज्य-विस्तार में यह पहला कदम था।

(३) उसकी तीसरी रानी मद्र-देश की राजकुमारी थी।

(४) 'महावग्ग' का कथन है कि बिम्बिसार के ५०० रानियाँ थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसके कुछ अन्य विवाह भी राजनीतिक दृष्टिकोण से हुए थे।

मैत्री-सम्बन्ध—बिम्बिसार ने अन्य राज्यों के साथ भी मित्रता स्थापित की।

(१) उसने अवन्ति-नरेश प्रद्योत को अपना मित्र बनाने की चेष्टा की। प्रद्योत की बीमारी का समाचार पाकर उसने अपने राजवैद्य जीवक को उसकी चिकित्सा के लिये भेजा।

(२) गन्धार-नरेश पुक्कुसाति के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे थे। पुक्कुसाति ने उसकी सभा में अपना एक राजदूत भेजा था।

(२) सिन्ध का रोरुक-नरेश रुद्रायण उसका मित्र था।

(३) यूनानी साक्ष्यों का कथन है कि 'मगध-नरेश' ने फारस के राजा दारा (५२५ ई० पू०—४८५ ई० पू०) की सभा में अपना राजदूत भेजा। सम्भव है कि यह मगध-नरेश बिम्बिसार ही रहा हो।

अंग-विजय—ऐसा प्रतीत होता है कि वैवाहिकों और कूटनीतिक सम्बन्धों की सहायता से बिम्बिसार ने अपनी स्थिति बड़ी दृढ़ करली और अपने पड़ोसी अंग-राज्य (बिहार का भागलपुर तथा उसका समीपवर्ती प्रदेश) को बिलकुल मित्रहीन और अकेला कर दिया। तत्पश्चात् उसने अंग पर आक्रमण कर दिया और उसके राजा ब्रह्मदत्त को पराजित करके अंग को अपने राज्य में मिला लिया।

राज्य-विस्तार—बहुत सम्भव है कि बिम्बिसार ने कुछ अन्य प्रदेशों की भी विजयें की हों, परन्तु उनका ब्यौरा नहीं मिलता। 'महावग्ग' का कथन है कि उसके राज्य में ८० हजार गाँव थे। 'बुद्धचर्या' के अनुसार उसका राज्य ३०० योजन तक विस्तृत था।

राजधानी—बिम्बिसार के पूर्व तक मगध की राजधानी गिरिव्रज थी। इसका प्राचीन नाम कुशाग्रपुर भी था। परन्तु इसे वैशाली के लिच्छवियों के आक्रमण का भय रहता था। अत: बिम्बिसार ने राजगृह में अपनी दूसरी राजधानी स्थापित की।

शासन-प्रबन्ध—बिम्बिसार कूटनीतिज्ञ और योद्धा होने के साथ-साथ एक योग्य शासक भी था। वह स्थानीय जनता की इच्छा-अनिच्छा का बड़ा ध्यान रखता था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा अपने शासन में उसका पूर्ण सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करता था। 'महावग्ग' से विदित होता है कि वह समस्त ग्रामों के प्रतिनिधियों का अधिवेशन करता था।

शासन-व्यवस्था में योग देने के लिये उसके पास बहुसंख्यक पदाधिकारी थे। इनमें कुछ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) उपराजा—यह वायसराय के रूप में कार्य करता था।

(२) माण्डलिक राजा—यह राजा के अधीन प्रदेशों में शासन करने वाले सामन्त होते थे।

(३) सेनापति—साम्राज्यवादी मगध-राज्य में सेनापति का बहुत अधिक महत्व रहा होगा।

(४) व्यावहारिक महामात्र—यह न्यायाधीश के रूप में कार्य करता था।

(५) ग्राम भोजक—यह गाँव का मुखिया था।

बिम्बिसार अपने समस्त पदाधिकारियों के कार्यों पर दृष्टि रखता था। वह उन्हें महत्वपूर्ण सेवाओं के लिये पुरस्कृत करता था, परन्तु साथ ही उनकी असावधानी और अयोग्यता आदि के लिये उन्हें कठोर दण्ड भी देता था।

अपनी प्रजा की सुविधा के लिये बिम्बिसार ने अनेक सड़कों, नहरों आदि का निर्माण कराया था। उसके अनेक निर्माण-कार्य उस समय के प्रसिद्ध वास्तुकलाविद् महागोविन्द के निरीक्षण में हुए थे।

शासन-काल—जनश्रुति के अनुसार बिम्बिसार की मृत्यु महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण (४८३ ई० पू०) के ८ वर्ष पूर्व हुई थी। इससे बिम्बिसार की मृत्यु की तिथि ४८३+८=४९१ ई० पू० रखी जा सकती है। 'महावंश' के अनुसार उसने ५२ वर्ष तक राज्य किया था। इस प्रकार वह ४९१+५२=५४३ ई० पू० सिंहासन पर बैठा होगा।

बिम्बिसार का धर्म—बौद्ध और जैन दोनों ही बिम्बिसार को अपना-अपना अनुयायी बताते हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उसने महात्मा बुद्ध से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और उन्हें करन्द वेलुवन दान में दिया था।

इसी प्रकार जैन ग्रन्थों का कथन है कि उसने महावीर स्वामी से जैन धर्म स्वीकर कर लिया था।

इन उल्लेखों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह दोनों धर्मों के प्रति सहिष्णु था और महात्मा बुद्ध तथा महावीर स्वामी दोनों का समानरूप से आदर-सत्कार करता था।

अजातशत्रु (४९० ई० पू० ४५९ ई० पू०)—बौद्ध साहित्य का कथन है कि अपने चचेरे भाई देवदत्त की कुमन्त्रणा से अजातशत्रु ने अपने वृद्ध पिता बिम्बिसार को कारागार में डाल दिया था जहाँ अन्न-जल के बिना उसकी मृत्य हो गई। डा० स्मिथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का मत है कि बौद्ध साहित्य की यह कथा अविश्वसनीय है। बौद्धों ने इस कथा को यह प्रदर्शित करने के लिये गढ़ा था कि बौद्ध धर्म के आश्चर्यजनक प्रभाव में पितृहन्ता अजातशत्रु भी ठीक मार्ग पर आ गया था। डा० स्मिथ के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि जैन साहित्य अजातशत्रु को पितृहन्ता नहीं बताता। परन्तु रिज डेविड्ज और ग्राइगर आदि अनेक विद्वान् बौद्ध साक्ष्य को स्वीकार करते हुए अजातशत्रु को पितृहन्ता मानते हैं।

कोशल से युद्ध—अजातशत्रु के समय तक आते-आते चारों राजतन्त्रात्मक राज्यों की विस्तारकारिणी एवं साम्राज्यवादिनी नीति ने राजनीतिक क्षेत्र में एक विस्फोटक परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। स्पष्ट था कि ये चारों राज्य शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते और कभी-न-कभी इनमें संघर्ष अवश्य होगा।

अजातशत्रु के सिंहासनासीन होते ही मगध और कोशल के बीच संघर्ष का एक कारण उत्पन्न हो गया। जब कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने यह सुना कि अजातशत्रु ने उसके बहनोई बिम्बिसार की हत्या कर दी है और इसी शोक में उसकी बहन कोशलदेवी का भी देहान्त हो गया है तो उसे बड़ा क्षोभ हुआ। उसने तत्काल अपनी बहन के विवाह के अवसर पर दिये गये काशी-प्रदेश को अजातशत्रु से छीन लिया। अजातशत्रु जैसा साम्राज्यवादी नरेश काशी-प्रदेश को खोकर चुपचाप कैसे बैठता। बस, इसी विवाद को लेकर प्रसेनजित् और अजातशत्रु का युद्ध छिड़ गया। 'भद्साल जातक', 'संयुक्तनिकाय' आदि ग्रन्थों में इस युद्ध का उल्लेख है। कुछ समय पश्चात् दोनों राज्यों में संधि हो गई। प्रसेनजित् ने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और उसे काशी-प्रदेश भी दे दिया। 'आर्यमंजु श्री मूलकल्प' के अनुसार काशी अजातशत्रु के राज्य में था।

वैशाली से युद्ध—साम्राज्यवादी आजातशत्रु की आँखों में वैशाली का स्वतन्त्र लिच्छवि-राज्य खटक रहा था। शीघ्र ही उसे उस पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया।

(१) बौद्ध साहित्य का कथन है कि मगध-राज्य और वैशाली-राज्य के बीच की सीमा पर एक बहुमूल्य खान थी। यह दोनों राज्यों के सम्मिलित अधिकार में थी। परन्तु वैशाली राज्य इसे एक मात्र अपने अधिकार में करना चाहता था। इसी प्रश्न पर अजातशत्रु ने उस पर आक्रमण कर दिया।

(२) जैन साहित्य में इस युद्ध का एक भिन्न कारण बताया गया है। इसके अनुसार बिम्बिसार ने अपनी दूसरी पत्नी लिच्छविकुमारी छलना से उत्पन्न अपने दो पुत्रों हल्ल और वेहल्ल को उपहार-स्वरूप सेचनक नामक एक प्रसिद्ध हाथी और एक बहुमूल्य मुक्ताहार दे रक्खा था। सिंहासन पर बैठने पर अजातशत्रु ने अपने सौतेले भाइयों से इन्हें छीनना चाहा। अपनी रक्षा का अन्य उपाय न देखकर हल्ल और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बेहल्ल अपने नाना लिच्छविराज चेटक के यहाँ चले गये। बस, इसी बात पर अजातशत्रु ने लिच्छवि-राज्य पर आक्रमण कर दिया।

मगध की साम्राज्यवादिता से सभी गणतन्त्रवादी एवं राजतन्त्रवादी राज्यों को खतरा उत्पन्न हो गया था। इस खतरे को रोकने के लिये लिच्छविराज चेटक ने मगध के विरुद्ध कुछ पड़ोसी राज्यों का संघ बनाने का प्रयत्न किया। 'निरयावलि सुत्त' नामक जैन ग्रन्थ का कथन है कि चेटक ने लिच्छवियों के ९, मल्लों के ९ और काशी-कोशल-प्रदेश के १८ गणराज्यों को आमन्त्रित किया था। डा० रायचौधरी का कथन है कि इस अवसर पर कोशल ने भी लिच्छवियों की सहायता की थी। वस्तुतः पूर्वोल्लिखित मगध-कोशल-युद्ध कोई पृथक् एवं एकाकी घटना न थी।

मगध के विरुद्ध कोशल और वैशाली के युद्ध एक ही घटना के दो अङ्ग थे।

इस युद्ध के दौरान में मगध को बड़े संकट उठाने पड़े। शक्तिशाली वज्जि-संघ को पराजित करना सरल कार्य न था। उस पर आक्रमण करने के लिये अजातशत्रु ने गंगा और सोन के संगम पर पाटलि ग्राम में एक दुर्ग बनवाया। कालान्तर में इसी के चारों ओर पाटलिपुत्र नगर बसा। इसके पश्चात् उसने कूटनीति से काम किया। उसके मन्त्री वस्सकार ने वज्जि-संघ में फूट उत्पन्न कर दी। तब कहीं वज्जि-संघ पराजित हुआ। जैन साहित्य के अनुसार यह युद्ध १६ वर्षों तक चला था। ऐसा प्रतीत होता है कि वज्जियों के साथ-साथ अजातशत्रु ने मल्लों को भी पराजित किया था।

यह न समझना चाहिये कि इस पराजय के पश्चात लिच्छवि और मल्ल नष्ट हो गये। वे एक मात्र मगध के अधीन हो गये थे। कौटिल्य ने कालान्तर में उनका उल्लेख 'राजशब्दोपजीविसंघ' के रूप में किया है। पुनः, चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया।

मगध और अवन्ति—अजातशत्रु की इस विजय के परिणामस्वरूप मगध और अवन्ति की सीमायें एक-दूसरे से टकराने लगी थीं। दोनों ही शक्तिशाली और साम्राज्यवादी राज्य थे। अतः दोनों एक-दूसरे के बैरी थे। 'मज्झिम निकाय' का कथन है कि अजातशत्रु ने अवन्ति-नरेश प्रद्योत के आक्रमण के भय से अपनी राजधानी राजगृह की किलेबन्दी की थी। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के जीवन-काल में मगध-अवन्ति-संघर्ष न हुआ।

इस प्रकार अजातशत्रु ने मगध को तत्कालीन भारत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली राज्य बना दिया। इस राज्य के अन्तर्गत मगध, काशी, अंग और वैशाली सम्मिलित थे। मल्लों की पराजय के परिणाम-स्वरूप सम्भवतः पूर्वी भारत का वर्तमान देवरिया-क्षेत्र भी मगध-राज्य के अन्तर्गत आ गया था।

अजातशत्रु का धर्म—जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही अजातशत्रु को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपना-अपना अनुयायी बताते हैं। जैन धर्म के दावे के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) जैन ग्रन्थ 'औपपातिक सूत्र' के अनुसार अजातशत्रु ने महावीर स्वामी के सम्मुख जैन धर्म में अपना विश्वास प्रकट किया था।

(२) सम्भवत: अजातशत्रु के जैन धर्मावलम्बी होने के कारण ही जैन साहित्य उसकी पितृहन्ता के रूप में निन्दा नहीं करता।

इसके विरुद्ध बौद्धों के दावे के पक्ष में भी निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं—

(१) बौद्ध साहित्य के अनुसार अजातशत्रु ने महात्मा बुद्ध के सम्मुख पितृ-हत्या के अपराध को स्वीकार किया, पश्चात्ताप प्रकट किया और बाद को बौद्ध हो गया।

(२) ई० पू० द्वितीय शताब्दी के भरहुत स्तूप के एक लेख में 'मागधो अजातसत्त् वैदेहीपुत्तो भगवतो पादे सिरसा वन्दति' लिखा हुआ है। इससे प्रकट होता है कि अजातशत्रु ने महात्मा बुद्ध के दर्शन किये थे और उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की थी।

(३) 'महापरिनिर्वाण सूत्र' से प्रकट होता है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके अवशेषों पर उसने राजगृह में एक स्तूप बनवाया था।

(४) अजातशत्रु ने प्रथम बौद्ध संगीति के अधिवेशन के लिये वैभार पहाड़ी पर एक सभा-भवन बनवाया था।

इन परस्पर-विरोधी कथनों के समक्ष अजातशत्रु के धर्म के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

मृत्यु—बौद्ध साक्ष्यों से प्रकट होता है कि अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया था। अत: उसकी मृत्यु लगभग ४५९ ई० पू० हुई होगी। अजातशत्रु के शासन-काल में ही महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध की मृत्यु हुई थी।

दर्शक—पुराणों का कथन है कि अजातशत्रु की मृत्यु के पश्चात् दर्शक राजा हुआ। परन्तु बौद्ध और जैन साक्ष्यों में उदायी को अजातशत्रु का उत्तराधिकारी बताया गया है। अधिकांश विद्वान् बौद्ध और जैन साक्ष्यों को ही अधिक प्रामाणिक मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार दर्शक का समीकरण हर्यङ्क-वंश के अन्य राजा नागदासक मे किया जाना चाहिए। डा० रायचौधरी का कथन है कि दर्शक बिम्बिसार के अधीन एक माण्डलिक राजा था।

उदायी—महावंश का कथन है कि उदायी ने अपने पिता अजातशत्रु की हत्या करके सिंहासन प्राप्त किया था। परन्तु डा० जायसवाल इस मत का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि गार्गी-संहिता में उदायी को 'धर्मात्मा' कहा गया है। यदि वह पितृघाती होता तो उसके लिये इस शब्द का प्रयोग कभी न किया जाता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोशल अशक्त—विरुद्धक के पश्चात् के साक्ष्यों में कोशल के किसी भी राजा को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। यद्यपि पुराणों के अनुसार कोशल-सिंहासन पर कुछ अन्य राजा भी आसीन हुए, परन्तु वे इतने निर्बल थे कि उन्होंने तत्कालीन साम्राज्यवादी संघर्ष में कोई भाग न लिया।

वत्स का विलय—इस समय तक वत्स-राज्य भी निर्बल हो गया था और वह अपनी स्वतन्त्रता कायम न रख सका। 'कथासरित्सागर' से प्रकट होता है कि वह अवन्ति के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया था।

मगध और अवन्ति—अब अवन्ति ही मगध का एकमात्र शत्रु रह गया था। 'स्थविरावलिचरित' से प्रकट होता है कि उदायी ने किसी पड़ोसी राजा पर आक्रमण करके उसकी हत्या कर दी थी और उस राजा के पुत्र ने भाग कर अवन्ति में शरण ली थी। इस उल्लेख से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अवन्ति ही मगध को चुनौती दे सकता था।

'परिशिष्टपर्व' का कथन है कि अवन्ति-नरेश उदायी का शत्रु था। परन्तु उदायी ने उसे अनेक बार पराजित किया था। उदायी की इन विजयों का कोई अन्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता।

नवीन राजधानी—वायु पुराण, गार्गीसंहिता और परिशिष्टपर्व का कथन है कि उदायी ने पाटलिपुत्र में अपनी नवीन राजधानी स्थापित की। गंगा और सोन के संगम पर स्थित होने के कारण यह नगर व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त था।

मृत्यु—बौद्ध साक्ष्यों से प्रकट होता है कि उदायी ने १६ वर्ष तक शासन किया था। 'स्थविरावलिचरित' का कथन है कि उदायी ने जिस पड़ोसी राजा की हत्या की थी उसी के पुत्र ने साधुवेश में पाटलिपुत्र जाकर उदायी को सोते हुए मार डाला था।

उदायी का शासन-काल ४५९ ई० पू० से ४४३ ई० पू० रखा जा सकता है।

उदायी के उत्तराधिकारी—उदायी के उत्तराधिकारियों के विषय में भिन्न-भिन्न साक्ष्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि वे सब निर्बल और अयोग्य शासक थे। 'महावंश' का कथन है कि वे सब पितृघाती भी थे। अतः वे सब बड़े अप्रिय हो गये थे। अन्त में उनके वंश के अन्तिम शासक नागदासक को पौरों और मन्त्रियों ने सिंहासन से उतार कर शिशुनाग नामक एक अमात्य को राजा बनाया। इस प्रकार ४१३ ई० पू० के लगभग हर्यङ्क-वंश का अन्त और शिशुनाग-वंश का उदय हुआ।

शिशुनाग (४१३ ई० पू०—३९५ ई० पू०)—पुराणों के अनुसार शिशुनाग बिम्बिसार का पूर्वज था। परन्तु यह कथन नितान्त असंगत है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'महावंश टीका' के अनुसार शिशुनाग एक लिच्छविराजा और वैशाली की एक 'नगर-शोभिनी' की सन्तान था। परन्तु यह कथन भी कल्पित प्रतीत होता है।

शिशुनाग के नाम के साथ 'नाग' शब्द लगा हुआ है। इस आधार पर डा० रायचौधरी ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सम्भवतः शिशुनाग भी हर्यङ्क-नाग-वंश से सम्बन्धित था। पुराणों के अनुसार वह वाराणसी का गवर्नर रह चुका था। सम्भवतः उसकी योग्यता और कुलीनता से प्रभावित होकर ही जनता और मन्त्रियों ने उसे अपना राजा चुना था।

अवन्ति से युद्ध—इस समय तक अवन्ति भी बड़ा शक्तिशाली राज्य हो गया था। वत्स राज्य को अपने अधीन करने के पश्चात् उसकी प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई थी। मगध और अवन्ति की विस्तारकारिणी नीति के परिणामस्वरूप दोनों की सीमायें एक-दूसरे से टकराने लगी थीं। उन दोनों का संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था। यह संघर्ष शिशुनाग के शासन-काल में घटित हुआ। यद्यपि इस संघर्ष का ब्यौरा नहीं मिलता तथापि इतना निश्चित है कि इसमें अवन्ति की भारी पराजय हुई और वह मगध-राज्य में मिल गया। पुराणों का कथन है कि 'शिशुनाग प्रद्योतों की शक्ति का विनाश करेगा।' इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अवन्ति का विजेता शिशुनाग ही था। अवन्ति का पराजित नरेश अवन्तिवर्धन प्रतीत होता है। इस प्रकार शिशुनाग के समय तक आते-आते दक्षिण विहार के छोटे-से राज्य मगध का विस्तार बंगाल से मालवा तक हो गया। वर्तमान उत्तर-प्रदेश का पूर्वी भाग भी उसके अन्तर्गत था।

कोशल—पुराणों से प्रकट होता है कि शिशुनाग के अधीन काशी-प्रदेश भी था। इस आधार पर डा० भण्डारकर ने यह मत प्रतिपादित किया था कि कोशल भी शिशुनाग के अधीन था। परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि शिशुनाग के समय काशी-कोशल एक राज्य न थे। काशी कोशल से अलग हो चुका था। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रसेनजित्, और विरुद्धक के पश्चात कोशल में कोई भी ऐसा शक्तिशाली नरेश न हुआ जो राजनीतिक क्षेत्र में कोशल को प्रभावशाली बना सकता। फिर भी कोशल शिशुनाग के समय एक स्वतन्त्र राज्य था।

राजधानी—शिशुनाग ने पाटलिपुत्र का परित्याग करके गिरिव्रज को पुनः अपनी राजधानी बनाया था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस राजधानी-परिवर्तन का कारण क्या था।

मृत्यु—'महावंश' के अनुसार शिशुनाग ने लगभग १८ वर्षों तक राज्य किया। ३९५ ई० पू० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई।

कालाशोक, काकवर्ण (३९५ ई० पू०–३६७ ई० पू०)—'दीपवंश' और 'महावंश' के अनुसार शिशुनाग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक सिंहासन पर बैठा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु पुराणों और 'दिव्यावदान' में उसका नाम काकवर्ण बताया गया है। ये दोनों एक ही राजा के नाम प्रतीत होते हैं।

इसने पुनः पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। इस तिथि के पश्चात् पाटलिपुत्र उत्तरोत्तर उन्नति करता रहा। वह शताब्दियों तक भारतवर्ष की राजधानी बना रहा।

कालाशोक के शासन-काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना ३८० ई० पू० के लगभग वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का अधिवेशन है।

बाण के 'हर्षचरित' में उल्लेख है कि राजधानी के बाहर गले में छुरा भोंक कर काकवर्ण की हत्या कर दी गई थी। यह कार्य महापद्म नन्द का प्रतीत होता है।

काकवर्ण ने २८ वर्ष तक शासन किया था। अतः उसकी हत्या ३६७ ई० पू० के लगभग हुई होगी।

काकवर्ण के पुत्र—बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि काकवर्ण की हत्या के पश्चात् उसके १० पुत्रों ने २२ वर्ष तक राज्य किया। जैन ग्रन्थ 'परिशिष्टपर्व' के विवरण से प्रकट होता है कि महापद्म नन्द नामक एक शूद्र ने काकवर्ण की हत्या की थी। इस हत्या के समय काकवर्ण के दसों पुत्र अल्पवयस्क थे। अतः महापद्मनन्द उनके संरक्षक के रूप में राज्य करने लगा। कुछ समय पश्चात् उसने इन राजकुमारों की भी हत्या कर दी और स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार ३४५ ई० पू० के लगभग शैशुनाग वंश का अन्त हो गया और उसके स्थान पर एक नवीन वंश नन्दवंश का उदय हुआ।

नन्द-वंश (३४५ ई० पू०–३२२ ई० पू०)—जैसा कि अभी कहा गया है, इस नवीन नन्दवंश का संस्थापक महापद्मनन्द था। इसकी उत्पत्ति और उदय के विषय में निम्नलिखित मत मिलते हैं—

(१) जैन ग्रन्थ 'परिशिष्टपर्व' का कथन है कि नन्दवंश का संस्थापक (महापद्मनन्द) एक नापित और वेश्या की सन्तान था।

(२) 'महावंश टीका उसे' अज्ञातकुल बताती है और कहती है कि वह डाकुओं के हाथ में पड़ गया था तथा उनका नेता बन गया था। थोड़े समय में उसने राज्य प्राप्त कर लिया। 'महाबोधि वंश' में उसका नाम उग्रसेन है।

(३) पुराणों के अनुसार वह शैशुनाग-वंश के अन्तिम राजा और एक शूद्रा स्त्री की सन्तान था। उसे पुराण महापद्म कहते हैं।

(४) यूनानी लेखक कर्टिअस ने इस विषय में बड़ी महत्वपूर्ण सूचना दी है। सिकन्दर के समकालीन मगध-नरेश अग्रमीज (औग्रसैन्य अर्थात् उग्रसेन, महापद्मनन्द का पुत्र) के सम्बन्ध में लिखते हुए वह कहता है कि—

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अग्रमीज का पिता, अर्थात् उग्रसेन, जिसे महापद्मनन्द भी कहा गया है, वस्तुतः एक नापित था जो अपनी दैनिक आय से कठिनाई से अपना पेट भर पाता था। परन्तु देखने में वह बड़ा सुन्दर था। उसने रानी को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और रानी के प्रभाव से राजा का भी बड़ा विश्वासपात्र बन गया। बाद को उसने विश्वासघात से राजा को मार डाला और फिर राजकुमारों के संरक्षक के रूप में कार्य करने के बहाने उसने राजसत्ता अपने हाथ में कर ली। फिर राजकुमारों को मार कर उसने स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया।

इन साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि नन्द-वंश का संस्थापक शूद्र था तथा उसने विश्वासघात से शैशुनाग वंश के राजा (काकवर्ण) की हत्या की थी। इस हत्याकांड के विषय में 'हर्षचरित' और कर्टिअस एकमत हैं। पुराणों में नन्द-वंश के इस संस्थापक का नाम महापद्म और 'महाबोधिवंश' में उग्रसेन मिलता है। उसके उग्रसेन नाम के आधार पर ही कर्टिअस ने उसके पुत्र (सिकन्दर का समकालीन मगध-नरेश) को अग्रमीज (औग्रसैन्य) कहा है।

महापद्मनन्द, उग्रसेन—ये दोनों नाम उसकी शक्ति के परिचायक हैं। 'भागवत पुराण' की टीका का कथन है कि उसके पास या तो महापद्म की संख्या में सेना थी या इतनी ही संख्या में सम्पत्ति थी। इसी से उसका नाम महापद्म पड़ा था[१]। 'उग्रसेन' से भी यही ध्वनित होता है कि उसके पास एक उग्र सेना थी।

'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार वह पहले (सम्भवतः काकवर्ण का) प्रधानमंत्री रह चुका था। कर्टिअस का कथन कि वह रानी के प्रभाव की सहायता से राजा का विश्वासपात्र बन गया था[२], उसके उच्चपदासीन होने की ओर संकेत करता है।

सर्वक्षत्रान्तक—महापद्मनन्द अत्यन्त महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी सिद्ध हुआ। पुराण उसे 'भार्गव (परशुराम) के समान', 'सर्वक्षत्रान्तक', 'एकराट्', 'अनुल्लंघित शासन' आदि शब्दों से पुकारते हैं। अभाग्यवश पुराणों में यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गई कि किन क्षत्रिय-वंशों का विनाश करके उसने अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया था। परन्तु हम अनुमान कर सकते हैं कि ये वंश इक्ष्वाकु (कोशल), पंचाल (गंगा-यमुना का दोआब), काशी, हैहय (नर्मदा-घाटी), कलिङ्ग (दक्षिण उड़ीसा), अश्मक (गोदावरी-घाटी), कुरु (दिल्ली-प्रदेश), मिथिला (उत्तरी बिहार), शूरसेन (मथुरा), वीतिहोत्र (मालवा) आदि होंगे।

---

१. "नन्दो नाम कश्चिन्महापद्मसंख्यायाः सेनायाः धनस्य वा पतिर्भविष्यति। अतएव महापद्म इत्यपि तस्य नाम।"

२. "........by her influence advanced to too near a place in the confidence of the reigning monarch."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोशल—कोशल राज्य की विजय सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यद्यपि कोशल राज्य निर्बल हो गया था, परन्तु अभी तक वह अपनी स्वतन्त्रता कायम किए हुए था। अब महापद्मनन्द ने उसे जीतकर मगध-साम्राज्य में मिला लिया। इस कथन की पुष्टि 'कथासरित्सागर' से भी होती है। यह ग्रन्थ अयोध्या में नन्दों के शिविर का उल्लेख करता है।

कलिङ्ग—हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिङ्ग भी नन्दराज के अधिकार में था। इस लेख का कथन है कि नन्दराज कलिङ्ग से एक जिन मूर्ति ले गया था और उसने वहाँ एक नहर बनवाई थी।

अवन्ति—शैशुनाग-साम्राज्य के अन्तर्गत अवन्ति था। अतः इस पर महापद्म का अधिकार स्वतः हो गया होगा।

उत्तरी भारत—यूनानी लेखकों के वर्णन से प्रकट होता है कि अग्रमीज (महापद्म का पुत्र) का साम्राज्य पश्चिम में व्यास नदी तक विस्तृत था। कर्टिअस और डिओडोरस का कथन है कि उसके साम्राज्य में गंगा-घाटी (गंगैरिडाय) और प्राच्य (प्रसाय-पूर्वी भारत) सम्मिलित थे। उसकी राजधानी पालीबोथ्रा (पाटलिपुत्र) थी। ये सारे प्रदेश अग्रमीज ने अपने पिता महापद्मनन्द से उत्तराधिकार के रूप में पाये थे।

दक्षिणी भारत—गोदावरी नदी पर नौनन्ददेहरा नामक एक स्थान है। डा० रायचौधरी का मत है कि इससे अनुमान किया जा सकता है कि दक्षिण के कुछ प्रदेश पर नवनन्दों का अधिकार रहा होगा।

दक्षिण के कुछ अभिलेखों से प्रकट होता है कि कुन्तल (उत्तरी मैसूर) पर नन्दों का अधिकार था। दक्षिण की कुछ तमिल कविताओं में भी नन्दों के उल्लेख मिलते हैं। जब कलिङ्ग, अश्मक और अवन्ति नन्दों के अधिकार में हो सकते थे तो कुन्तल पर उनका आधिपत्य आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता।

गुजरात और काठियावाड़—दक्षिणी भारत में 'नन्दों' के अधिकार को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि गुजरात और काठियावाड़ भी उनके साम्राज्य में होंगे।

'परिशिष्टपर्वन' का भी कथन है कि नन्दों का विशाल साम्राज्य समुद्र तक फैला हुआ था। इस साम्राज्य की स्थापना महापद्मनन्द ने ही की थी। अतः उसके विषय में पुराणों के कथन सार्थक हैं। इस प्रकार महापद्म ने मगध-साम्राज्य को अभूतपूर्व विशालता दी। उसने भारतवर्ष के अधिकांश भाग को एक राजनीतिक सूत्र में बाँध दिया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशाल सेना—नन्दों के पास एक विशाल सेना थी। हम पहले कह चुके हैं कि महापद्म और उग्रसेन के नाम सम्भवत: उसकी विशाल सेना के ही कारण पड़े थे। कर्टिअस के अनुसार इस विशाल सेना में २ लाख पैदल, २० हजार घुड़सवार, ३ हजार हाथी और २ हजार रथ थे। किसी-किसी लेखक ने उसके हाथियों की संख्या ४ हजार अथवा ६ हजार बताई है। इस विशाल सेना के भय से भी सिकन्दर की सेना ने नन्द-साम्राज्य पर आक्रमण करने से इन्कार कर दिया था।

अपार सम्पत्ति—नन्दों के पास अपार सम्पत्ति भी थी। ह्वेनसांग का विवरण एवं 'कथासरित्सागर' इस सम्पत्ति का उल्लेख करते हैं। 'महावंश-टीका' के अनुसार यह सम्पत्ति नन्दों ने अत्यधिक करों को लगाकर प्राप्त की थी। मुद्राराक्षस अन्तिम नन्दराज को 'अर्थरुचि' कहता है।

अप्रियता—परम शक्तिशाली होते हुए भी नन्द लोकप्रिय शासक न हो सके। इस अप्रियता के कुछ कारण बताये जा सकते हैं—

(१) महापद्म का विश्वासघात के द्वारा राज्य प्राप्त करना।

(२) उसका शूद्रजातीय होना।

(३) उसका धन-लोलुप होना, जिसके कारण उसने अत्यधिक कर लगाकर प्रजा का शोषण किया।

सम्भवत: इन सभी कारणों से पुराण नन्दों को 'अधार्मिक' कहते हैं। 'परिशिष्ट-पर्व' का उल्लेख है कि नापित-पुत्र होने के कारण कुछ सामन्तों ने नन्दराज की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। यूनानी लेखकों के अनुसार नन्दराज की निम्न-जातीयता और दुष्टता के कारण जनता उससे घृणा करती थी।

शासन-काल—मत्स्य पुराण का कथन है कि महापद्म ने ८८ (अष्टाशीति) वर्ष तक शासन किया। परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। वायुपुराण का पाठ कि उसने २८ वर्ष (अष्टाविंशति) तक शासन किया, ठीक प्रतीत होता है।

उत्तराधिकारी—पुराणों का कथन है कि महापद्मनन्द के पश्चात् उसके ८ पुत्रों ने १२ वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम नन्दराज को धननन्द कहा गया है। यही यूनानियों का अग्रमीज था। चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने इसी को मार कर नन्द-वंश का अन्त किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ६

पारसीक आक्रमण

राजनीतिक अवस्था—ई० पू० छठी शताब्दी में भारतवर्ष को एक राजनीतिक सूत्र में बांधने की चेष्टा का आभास मिलता है। मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति के पारस्परिक संघर्ष ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इनमें से कोई न कोई राज्य शेष राजतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक राज्यों को अपने अधीन करके एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना करेगा। इनमें से मगध का राज्य विशेष रूप से शक्तिशाली हो रहा था।

परन्तु पश्चिमोत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था इससे बिल्कुल विपरीत थी। यह प्रदेश अब भी अनेक छोटे और निर्बल राज्यों में विभक्त था। इनमें से कोई भी राज्य ऐसा शक्तिशाली न था जिससे उस प्रदेश में राजनीतिक एकता स्थापित करने की आशा की जा सकती। इस प्रदेश में गन्धार, कम्बोज और मद्र के राज्य प्रमुख थे। परन्तु इनमें कोई भी राज्य मगध-जैसा महत्वाकांक्षी और शक्तिशाली न था।

कुरु (५५८ ई० पू०–५३० ई० पू०)—जिस समय पश्चिमोत्तर भारत की यह हीन अवस्था थी उसी समय उसके दुर्भाग्य से फारस में हखामनी (Achaemenian) वंश के शक्तिशाली नरेश कुरु (Cyrus) का उदय हुआ। उसने मध्य एशिया से लेकर हेलेस्पाण्ट तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसने भारतवर्ष पर भी आक्रमण किया और उसके कुछ भाग पर अपना अधिकार कर लिया। इस आक्रमण और अधिकार के निम्नलिखित साक्ष्य मिलते हैं—

(१) नियार्कस—इसका कथन है कि कुरु ने भारत पर आक्रमण करने के लिये एक सेना भेजी।

(२) एरिअन—यह लिखता है कि कुरु की सेना गेड्रोशिया के रेगिस्तान को पार करने में नष्ट-भ्रष्ट हो गई। केवल कुरु अपने ७ व्यक्तियों के साथ बच सका।

वह पुनः बताता है कि सिन्धु नदी के पश्चिम में काबुल नदी तक के प्रदेश में अष्टक और अश्वक जातियाँ रहती थीं। ये कुरु के अधीन थीं।

(३) प्लिनी—इसका कथन है कि कुरु की सेना ने उत्तरी काबुल घाटी में स्थित कपिशा नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

इन साक्ष्यों पर यदि सम्मिलित रूप से विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि कुरु ने भारत-विजय की चेष्टा की। उसने पश्चिमी गन्धार (सिन्धु और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काबुल नदियों के बीच में स्थित), गेड्रोशिश्रा (मकरान-बलोचिस्तान) का कुछ प्रदेश तथा कुछ पास के प्रदेश जीते थे। परन्तु वह सिन्धु नदी को पार करके उसके पूर्वी प्रदेश पर अधिकार न कर सका था।

बेहिस्तून अभिलेख से पुष्टि—यह अभिलेख दारा प्रथम का है। इसमें दारा के अधीन प्रदेशों में गडर (गन्धार), हरखवती (अराकोशिया-कन्धार) और मक (मकरान) के भी नाम हैं। इन प्रदेशों को स्वयं दारा ने न जीता होगा, क्योंकि यह लेख उसके शासन-काल के प्रारम्भिक चरण का है। इन प्रदेशों को दारा के पूर्वगामी नरेश कैम्बिसेस ने भी न जीता होगा, क्योंकि उसने एकमात्र मिस्र-विजय की थी। अतः हमारा निष्कर्ष है कि इन प्रदेशों को कुरु ने ही जीता होगा।

हर्जफेल्ड का मत—बेहिस्तून अभिलेख में शतगु लोगों का उल्लेख हुआ है। हर्जफेल्ड नामक विद्वान का मत है कि शतगु पंजाब-निवासी थे। इस आधार पर वे कहते हैं कि पंजाब का कुछ भाग भी कुरु के अधीन था। परन्तु उनका मत नितान्त असंगत है। शतगु का समीकरण पंजाब-निवासियों से नहीं हो सकता। एच० सी० चट्टोपाध्याय महोदय ने शतगु का समीकरण गुनल नदी के किनारे बसे हुए लोगों से किया है।

जैक्सन का मत—जेनाफन के 'विश्वकोष' में यह उल्लेख मिलता है कि एक भारतीय नरेश ने अपने पुत्र को कर-रूप कुछ धन के साथ कुरु के पास भेजा था। इस उल्लेख के आधार पर जैक्सन ने यह मत निकाला है कि यह भारतीय नरेश उत्तरी भारत का राजा था और वह कुरु के अधीन था। परन्तु यह मत दो आधारों पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथमत: ई० पू० छठी शताब्दी में कोई भी राजा पूरे उत्तरी भारत का राजा न था। द्वितीयत: जेनाफन के 'विश्वकोष' में अनेक बातें अविश्वसनीय हैं।

अतः यही मत अधिक मान्य प्रतीत होता है कि कुरु ने कभी भी सिन्धु नदी पार करके उसके पूर्वी भाग पर अधिकार स्थापित न किया था।

दारा प्रथम (५२१ ई० पू०–४८६ ई० पू०)—कुरु की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र काम्बुजीय (Cambyses) राजा हुआ। परन्तु वह मिस्र-विजय में ही इतना संलग्न रहा कि उसे भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न रहा।

५२१ ई० पू० के लगभग सरदारों ने दारा प्रथम को फारस के सिंहासन पर बैठाया। इसने ४८६ ई० पू० तक राज्य किया। यह कुरु की ही भांति महत्वाकांक्षी शासक था। उसने पुन: भारत पर पारसीक सत्ता स्थापित करने की चेष्टा की। इसमें उसे काफी सफलता मिली। दारा प्रथम की भारत-विजय के निम्नलिखित प्रमाण प्राप्त होते हैं—

(१) हेरोडोटस का उल्लेख—यह यूनानी लेखक लिखता है कि भारत फारस साम्राज्य का २० वाँ प्रान्त था। यह फारस को ३६० टैलेण्ट सोना देता था, जो फारस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अधीन अन्य सभी प्रान्तों के सम्मिलित कर-दान से अधिक था। यह फारस-साम्राज्य की कुल आय का एक तिहाई था। हेरोडोटस का यह भी कथन है कि भारतीय प्रान्तों की जनसंख्या किसी भी अन्य फारसी प्रान्त की जनसंख्या से अधिक थी।

दूसरे स्थान पर हेरोडोटस पुनः कहता है कि दारा ने स्काइलैक्स के नेतृत्व में एक बेड़ा सिन्धु नदी का पता लगाने के लिये भेजा था। यह बेड़ा पैक्टीका (Pactyica) प्रदेश में स्थित कैस्पेटिरस नगर से चला था और सिन्धु नदी से होते हुए समुद्र तक निर्बाधरूप से पहुँच गया था। हिकैटिग्रस के अनुसार पैक्टीका गन्धार-प्रदेश में था।

सिन्धु नदी में स्काइलैक्स की निर्बाध यात्रा से अनुमान होता है कि इस यात्रा के पूर्व ही पंजाब और सिन्ध का काफी प्रदेश दारा के अधीन हो चुका होगा। अधिक जनसंख्या वाले भारतीय प्रदेश से फारस को जो प्रभूत धन मिल रहा था उससे भी यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह भारतीय प्रदेश विस्तार में काफी बड़ा होगा। अतः हेरोडोटस के उल्लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक मात्र सिन्ध का भाग ही नहीं वरन् पंजाब का काफी भाग भी दारा के अधीन था। कुछ विद्वानों का मत है कि दारा का भारतीय राज्य व्यास नदी तक विस्तृत था।

(२) अभिलेख—बेहिस्तून, पर्सीपोलिस और नक्शे-रुस्तम अभिलेखों से प्रकट होता है कि गंधार और सिन्ध के प्रदेश निश्चित रूप से दारा के अधीन थे। पर्सीपोलिस अभिलेख की तिथि ५१८ ई० पू० और नक्शे-रुस्तम अभिलेख की तिथि ५१५ ई० पू० है। अतः दारा की भारतीय विजय इन्हीं दोनों तिथियों के बीच में हुई होगी।

प्रथम और द्वितीय साक्ष्यों को मिलाकर यही निष्कर्ष निकलता है कि दारा के भारतीय राज्यों में गन्धार, पंजाब का कुछ भाग तक सिन्ध प्रदेश रहे होंगे। बौद्ध एवं जैन साहित्य गन्धार महाजनपद, मद्र राज्य (पंजाब में) और रोरुक (सिन्ध में) का उल्लेख करता है। दारा के आधिपत्य ने इन राज्यों की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी।

क्षहयार्ष (४८६ ई० पू०–४६५ ई० पू०)—दारा प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र क्षहयार्ष (Xerxes) सिंहासन पर बैठा। उसने अपने पिता से प्राप्त किये गये भारतीय साम्राज्य को सुरक्षित रखा। इसके दो साक्ष्य हैं—

(१) हेरोडोटस का कथन—इस लेखक का कथन है कि क्षहयार्ष ने यूनान पर आक्रमण किया था। उसकी आक्रमणकारी सेना में गन्धार और भारत के भी सैनिक थे।

डा० मजूमदार का मत है कि इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता कि गन्धार और भारत क्षहयार्ष के अधीन थे, क्योंकि यहाँ के सैनिक किराये के सैनिक भी हो सकते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) पर्सीपोलिस अभिलेख—इस लेख से डा० मजूमदार के मत का खण्डन हो जाता है। यह गन्धार और सिन्धु को क्षहयार्ष के अधीन बताता है।

क्षहयार्ष की असहिष्णुता—कुरु एक सहिष्णु शासक था। उसने सभी विजित देशों को धार्मिक स्वतन्त्रता दे रखी थी। परन्तु क्षहयार्ष ने इस नीति को छोड़ दिया। पर्सीपोलिस के लेख का कथन है कि देव-पूजा का उसने दमन किया और उसके स्थान पर 'ऋत' की पूजा कराने का प्रयत्न किया।

क्षहयार्ष के उत्तराधिकारी—क्षहयार्ष के पश्चात् अर्तक्जक्सीज (Artaxerxes) प्रथम ने ४६५ ई० पू० से लेकर ४२५ ई० पू० तक राज्य किया। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसके समय में भारत का कितना भाग पारसीकों के अधीन था। यूनानी लेखक हेरोडोटस इसी का समकालीन था। उसने दारा प्रथम के साम्राज्य-विस्तार और उसके अधीन भारत-राज्य का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि हेरोडोटस का वह वर्णन अर्तक्जक्सीज प्रथम के साम्राज्य का है। परन्तु इस मत को अधिकांश विद्वान् स्वीकार नहीं करते।

अर्तक्जक्सीज प्रथम के पश्चात् दारा द्वितीय ने ई० पू० ४२५ से ई० पू० ४०८ तक राज्य किया। उसके साम्राज्य की सीमाओं के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

अर्तक्जक्सीज द्वितीय (४०८ ई० पू०–३५८ ई० पू०)—दारा द्वितीय के पश्चात् अर्तक्जक्सीज द्वितीय सिंहासन पर बैठा। इसकी सभा में केशिअश नामक राजवैद्य रहता था। इसका उल्लेख है कि अर्तक्जक्सीज द्वितीय को भारत से सुगन्धित तेल, एक घातक पदार्थ और एक रंग तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुयें उपहार के रूप में मिले थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि भारत का कुछ भाग उसके अधीन था।

इस अनुमान की पुष्टि पर्सीपोलिस के एक लेख (South Tomb Inscription) से भी होती है। यह गन्धार और भारत को फारस के अधीन बताता है।

परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अर्तक्जक्सीज द्वितीय के समय में वे सम्पूर्ण भारतीय प्रदेश भारत के साम्राज्य में थे जिन पर दारा प्रथम ने राज्य किया था। क्षहयार्ष यूनान द्वारा पराजित हुआ था। इस पराजय के पश्चात् फारस-साम्राज्य का पतन-काल प्रारम्भ होता है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि सिन्ध नदी के पूर्व का भारतीय प्रदेश फारस-साम्राज्य से निकल गया हो और एक मात्र सिन्ध के पश्चिम का भाग ही अर्तक्जक्सीज द्वितीय के आधीन रहा हो। इस पूर्वी प्रदेश पर पुरु, आम्भी और अभिसार के पूर्वजों ने अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर ली थी। परन्तु पश्चिमोत्तर भारत के इस स्वतन्त्रता-संग्राम का ब्यौरा नहीं मिलता।

दारा तृतीय (३५८ ई० पू० – ३३० ई० पू०)—अर्तवजक्सींज द्वितीय के पश्चात् ह्खामनी-वंश का अन्तिम राजा दारा तृतीय सिंहासन पर बैठा। इसके शासन-काल में सिकन्दर महान् ने फारस पर आक्रमण किया और ३३० ई० पू० में गौगेमेला के युद्ध में उसे पराजित किया। इस पराजय के परिणाम-स्वरूप फारस का पतन हो गया।

एरिअन का कथन—एरिअन का कथन है कि इस युद्ध में भारतीय सैनिकों के तीन दलों ने दारा तृतीय की ओर से युद्ध किया था—

(१) प्रथम दल में वे भारतीय थे जो बैक्ट्रिअन के पड़ोसी थे। इस दल का नेता बैक्ट्रिया का गवर्नर बेसस था।

(२) द्वितीय दल में पहाड़ी भारतीय थे। ये अराकोशिया (कन्धार) के गवर्नर बर्सायण्टीज के नेतृत्व में लड़े थे।

(३) तृतीय दल में वे सैनिक थे 'जो सिन्धु नदी के इस ओर रहते थे'।

ये सारे सैनिक सिन्धु नदी के पश्चिम के हैं। एरिअन के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि गौगेमेला के युद्ध के पूर्व ही सिन्धु नदी के पूर्व का प्रदेश स्वतन्त्र हो चुका था।

स्ट्रैबो का कथन—सिन्धु नदी के पूर्व के स्वतन्त्र हो जाने की बात का प्रमाण स्ट्रैबो के कथन से भी मिलता है। वह कहता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय सिन्धु नदी भारत और एरियाना के बीच की सीमा थी। एरियाना भारत के पश्चिम में था और सिकन्दर के आक्रमण के समय फारस के अधीन था। इस कथन से स्पष्ट है कि सिन्धु नदी के पश्चिम में तो दारा तृतीय का राज्य था, परन्तु उस नदी के पूर्व का प्रदेश स्वतन्त्र था। सिन्धु नदी के पश्चिम में भी फारस का अधिकार सम्भवतः निर्बल और नाममात्र को था, क्योंकि यहाँ के सैनिक दूसरे प्रान्तों के गवर्नरों के नेतृत्व में लड़े थे, किसी पारसीक गवर्नर के नेतृत्व में नहीं[1]।

पारसीक प्रभाव—इस प्रकार भारत के किसी न किसी भाग पर पारसीकों ने लगभग २०० वर्षों तक राज्य किया। इस पारसीक सम्पर्क-सम्बन्ध ने भारतवर्ष पर अनेक प्रभाव डाले—

(१) इस आक्रमण ने भारत और पश्चिमी देशों के बीच गमनागमन को प्रोत्साहन दिया। क्षहयार्ष के नेतृत्व में यूनान पर आक्रमण करने के लिये भारतीय सैनिकों का

१. The fact that Indians fought under the Satraps of other provinces shows that there was no longer a Persian satrap of India proper and the hold of Persia over that region was becoming relaxed.
—*Dr. Majumdar.*

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो दल गया था वह योरप जाने वाला सर्वप्रथम ऐतिहासिक भारतीय दल था। स्काइलैक्स ने सिन्धु नदी की खोज की और भारत तथा पश्चिमी देशों के बीच समुद्री मार्ग का पता लगाया। पारसीक साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के उत्तर-पश्चिम के स्थलीय मार्ग भी अधिक लोकप्रिय हो गये। इनसे भी भारत और पश्चिमी देशों के बीच अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने में सहायता मिली। कालान्तर में इन सबसे भारत के व्यापार की बड़ी वृद्धि हुई।

(२) पारसीक प्रभाव में भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश में खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ। यह फारस की अरमाइक लिपि से निकली थी।

(३) फारस की स्वर्ण-मुद्रा डेरिक और चाँदी की मुद्रा सिग्लाइ (शेकेल) कहलाती थी। ये दोनों मुद्रायें भारत में भी आईं।

(४) विद्वानों का मत है कि पारसीक शैली का अनुकरण करते हुए अशोक ने अपने स्तम्भों के घण्टाकार शीर्ष-भाग (Capitals) तथा उन पर स्थापित सिंह, वृष आदि की मूर्तियों का निर्माण कराया। मौर्यों के राजप्रासादों और पाषाण-स्तम्भों पर पारसीक प्रभाव बताया जाता है। भारतीय कला में पक्षधारी पशुओं, नृसिंहों आदि का प्रयोग भी फारस-जैसा हुआ। कुछ विद्वानों के मतानुसार मौर्यकाल की चमकदार पालिश भी फारस की देन थी। अशोक के अभिलेखों का वाक्य 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा आह' दारा के अभिलेखों के फारमूला 'थातिय दारयवौष क्षयाथिय' की नकल है।

(५) चन्द्रगुप्त मौर्य की केश-सिंचन प्रथा (Hair-Washing Ceremony) फारस से ग्रहण की गई थी।

(६) चन्द्रगुप्त मौर्य के द्वारा अपने अंगरक्षक के रूप में यवनी नारियों की नियुक्ति भी पारसीक प्रभाव की सूचना देती है।

(७) मौर्यों ने सम्भवतः अनेक पारसीकों को अपने साम्राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त किया था। अशोक के समय में काठियावाड़ का गवर्नर तुषास्प पारसीक था।

(८) कुछ विद्वानों के अनुसार भारतीय राजनीति में साम्राज्य-विभाजन, पैतृक राजता, धार्मिक सहिष्णुता आदि के सिद्धान्त फारस से आये। परन्तु यह नितान्त संदिग्ध है।

(९) भारत में 'अक्षपटल' पदाधिकारी फारस के पदाधिकारी का ही प्रतिरूप है। फारस में उसे 'साम्राज्य के नेत्र एवं कर्ण' कहा जाता था।

(१०) फारस में भूमि और जल पर सम्राट् का अधिकार माना जाता था। 'अर्थशास्त्र' में भी एक स्थान पर यही विचार प्रकट किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(११) कालान्तर में भारतीय शकों ने पारसीक प्रभाव के अन्तर्गत क्षत्रपों की नियुक्ति की।

(१२) अनेक भारतीय शब्दों पर भी पारसीक प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, पारसीक शब्द 'दिपि' और 'निपिस्त' संस्कृत के 'लिपि' और 'लिखित' हैं।

(१३) कुछ विद्वानों के मतानुसार तक्षशिला नगर की स्थापना दारा प्रथम के समय हुई थी। परन्तु यह मत संदिग्ध है।

(१४) तक्षशिला में एक अरेमिक अभिलेख मिला है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह पारसीक प्रभुता के समय का है। परन्तु हर्जफेल्ड इसे अशोककालीन मानते हैं।

(१५) पारसीक आधिपत्य के कारण भारत का प्रचुर धन करों और उपहारों के रूप में बाहर चला गया।

(१६) पारसीक आधिपत्य ने उत्तर-पश्चिमी भारत में राजनीतिक एकता का सूत्रपात किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १०

यूनानी सिकन्दर का आक्रमण

फारस पर आक्रमण—अपने उन्नति-काल में फारस ने अनेक बार यूनान को पराभूत करने का प्रयत्न किया था। यूनान के सिकन्दर ने अपनी जाति के पराभव का प्रतिशोध करते हुए फारस पर आक्रमण किया। उसने ३३० ई० पू० गौगेमेला के युद्ध में पारसीक नरेश दारा तृतीय को पराजित करके फारस की राजधानी पर्सीपोलिस को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। फारस-साम्राज्य का पतन हो गया और उसके स्थान पर यूनानी साम्राज्य का उदय हुआ।

एरिआ और अराकोशिआ—अब सिकन्दर ने फारस-साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों पर आक्रमण किया। उसने एरिया (हेरात) पर अधिकार किया और अराकोशिआ (कंधार) पर आक्रमण किया। वहाँ बर्सायण्टीज गवर्नर था। वह दारा तृतीय की ओर से गौगेमेला के युद्ध में लड़ा था। सिकन्दर के आगमन की सूचना पाते ही बर्सायण्टीज भाग गया। परन्तु कुछ व्यक्तियों ने उसे पकड़ कर सिकन्दर के सिपुर्द कर दिया। सिकन्दर ने उसकी हत्या करा दी। अराकोशिआ पर भी सिकन्दर का अधिकार हो गया। वहाँ उसने सिकन्दरिया (Alexandria-among-the-Arachosians) नामक नगर की स्थापना की।

गेड्रोशिआ और पैरोपेनिसेडाय—इसके पश्चात् सिकन्दर ने गेड्रोशिआ (बलोचिस्तान) पर अधिकार किया। उत्तर की ओर बढ़ते हुए वह पैरोपेनिसेडाय (काबुल घाटी) में प्रविष्ट हुआ। इसका अधिकाँश भाग भी उसके अधिकार में हो गया।

बैक्ट्रिया—अभी तक बैक्ट्रिया स्वतन्त्र था। वहाँ का गवर्नर बेसस सिकन्दर का शत्रु था। गौगेमेला के युद्ध में उसने दारा तृतीय की सहायता की थी। पैरोपेनिसेडाय पर अधिकार करने के पश्चात् सिकन्दर ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया और उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। तदुपरान्त सोग्डिआना भी उसके अधिकार में आ गया।

भारत-विजय की योजना—सिकन्दर बड़ा महत्वाकांक्षी योद्धा था। वह फारस एवं उसके साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों पर अधिकार करके ही सन्तुष्ट न हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब उसने भारत-विजय का निश्चय किया। कुछ भारतीयों के आमन्त्रण ने उसके निश्चय को और भी अधिक दृढ़ कर दिया। अभी वह आक्सस-प्रदेश में ही था कि उसे तक्षशिला के राजा ओम्फिस (आम्भी) का आमन्त्रण मिला। आम्भी अपने पड़ोसी राजा पोरस (पुरु) का घोर शत्रु था। अतः उसने पुरु का दमन करने के लिये सिकन्दर की सहायता चाही थी।

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था

नन्द-साम्राज्य—सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरी भारत का अधिकांश तथा दक्षिणी भारत का कुछ भाग मगध-साम्राज्य के अन्तर्गत संगठित हो चुके थे। वहाँ नन्दों का राज्य था। उनके पास एक विशाल सेना तथा प्रभूत सम्पत्ति थी। कर्टिअस के अनुसार उसकी सेना में २ लाख पैदल, २० हजार घुड़सवार, २ हजार रथ और ३ हजार हाथी थे। परन्तु अभाग्यवश नंद अपनी निम्न जाति तथा स्वभाव की दुष्टता के कारण लोकप्रिय न थे। यूनानी लेखक तत्कालीन नन्द-राजा का नाम अग्रमीज अथवा जैन्द्रमीज बताते हैं। यह महापद्मनन्द, उग्रसेन का पुत्र था। नन्द-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा यमुना नदी थी।

सिकन्दर एवं उसके सैनिकों ने नन्द-साम्राज्य की शक्ति की सूचना प्राप्त कर ली थी। सिकन्दर उससे लोहा लेने के लिये तैयार भी था। परन्तु उसकी सेना ने व्यास नदी को पार करके नन्द-साम्राज्य से टक्कर लेने का साहस नहीं किया। सम्भवतः वह नन्दों की प्रबल शक्ति से आतङ्कित हो चुकी थी। अतः उसे सिकन्दर के ओजस्वी भाषण भी उत्साहित न कर सके।

यह अनुमान करना व्यर्थ है कि यदि सिकन्दर और नन्दों में मुठभेड़ हुई होती तो उसका परिणाम क्या होता। परन्तु इतना निश्चित है कि यदि नन्द-साम्राज्य ने अधिक दूरदर्शिता और राष्ट्रभक्ति दिखाते हुए पंजाब और सिन्ध के गणतन्त्रवादी एवं राज्यतन्त्रवादी, स्वतन्त्रताप्रेमी शक्तियों को विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध सहायता दी होती तो सिकन्दर के सम्मुख एक महान् संकट उत्पन्न हो जाता। सम्भव है कि उसका एशिया-विजय का स्वप्न सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर ही चूर्ण हो जाता। यह असम्भव है कि सिकन्दर के ऐतिहासिक आक्रमण और पश्चिमोत्तर प्रदेश में अनेक आयुधजीवी जातियों एवं स्वाभिमानी पुरु की रण-भेरी का निनाद नन्दों के कानों में न पड़ा हो। परन्तु उसने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। विशाल मगध-साम्राज्य भारतवर्ष के सम्मुख उपस्थित महान् संकट के समय भी उदासीन रहा।

पश्चिमोत्तर-भारत—इस समय यमुना के पश्चिम में सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर-भारत पूर्ण रूप से असंगठित था। पारसीक आधिपत्य के समाप्त होने के पश्चात् वहाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई भी एकछत्र सत्ता न रही थी। पंजाब, सिन्ध तथा सीमाप्रान्त में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें कुछ राजतन्त्रात्मक थे और कुछ गणतन्त्रात्मक। अभाग्यवश उनमें पारस्परिक शत्रुता थी। कर्टिअस के वर्णन से प्रकट होता है कि तक्षशिला का राजा आम्भी अपने पड़ोसी पुरु का घोर शत्रु था। अभिसार-नरेश पुरु का मित्र था, परन्तु वह आम्भी का शत्रु था। एरियन का उल्लेख है कि पुरु और उसके भतीजे छोटे पुरु में वैमनस्य था। यही नहीं, ये राजतन्त्रात्मक राज्य अपने पड़ोसी गणतन्त्रात्मक राज्यों के शत्रु थे तथा उन्हें अपने-अपने राज्यों में मिलाना चाहते थे। पुरु और अभिसार-नरेश मालवों और क्षुद्रकों के शत्रु थे। दो अन्य जातियाँ शाम्ब और मुषिक आपस में लड़ा करती थीं। अभाग्यवश विदेशी आक्रमण के समय भी ये राज्य अपने मतभेदों को दूर कर संगठित मोर्चा न बना सके। सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर-प्रदेश में अनेक युद्ध किये। परन्तु अभिसार-नरेश, क्षुद्रकों और मालवों को छोड़कर किसी ने भी उसके विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता न की। परिणामस्वरूप सिकन्दर का कार्य बड़ा सरल हो गया और उसने एक-एक करके सभी को पराभूत किया।

सिकन्दर के समकालीन पश्चिमोत्तर-भारत के राज्य

राजतन्त्रात्मक—उस समय के पश्चिमोत्तर-प्रदेश के राजतन्त्रात्मक राज्यों में निम्नलिखित प्रमुख थे—

(१) तक्षशिला—यह राज्य सिन्ध और झेलम नदियों के बीच में था। यहाँ का राजा आम्भी था।

(२) पुरुराज्य—यह झेलम और चिनाव नदियों के बीच में था। यहाँ का राजा पोरस (पुरु) था।

(३) अभिसार-राज्य—इसके अन्तर्गत काश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग आता था।

(४) छोटे पुरु का राज्य—यह चिनाव और रावी नदियों के बीच में था।

(५) सौभूति-राज्य – यह झेलम नदी के तट पर था।

(६) भगल-राज्य—यह रावी और व्यास के बीच में था।

(७) पट्टल (Patalene)—यह सिन्धु-डेल्टा में स्थित था।

गणतन्त्रात्मक राज्य—इनमें निम्नलिखित जातियों के राज्य विशेषरूप से उल्लेखनीय थे—

(१) अष्टक (Astekenians)—ये पुष्कलावती में रहते थे।

(२) अस्पैशिअन (Aspasians)—ये अलिशंग-कुनार-घाटी के निवासी थे।

(३) गौरी-निवासी (Gaureans)—ये गौदी नदी (पंजकोर) की घाटी में रहते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) अश्वक (Assakenians)—ये सिन्धु नदी के पश्चिम में थे। इनकी राजधानी मस्सग थी।

(५) ग्लौगनिकाय (Glauganikai)—इनका राज्य चिनाव नदी के पश्चिम में था।

(६) अड्रैस्टाय (Adraistai)—इनका राज्य रावी नदी के पूर्व में था।

(७) कठ (Kathains)—इस बात पर मतभेद है कि इस जाति का राज्य कहाँ था। कुछ विद्वान् उसे चिनाव और रावी के बीच में और कुछ झेलम और चिनाव के बीच में बताते हैं।

(८) शिवि (Sivi)—यह जाति झेलम और चिनाव नदियों के बीच में रहती थी।

(९) अग्रश्रेणि (Agalassoi)—इनका राज्य भी उपर्युक्त दोनों नदियों के बीच में था।

(१०) मालव (Malloi)—यह जाति झेलम और चिनाव नदियों के संगम के दक्षिण में रहती थी।

(११) क्षुद्रक (Oxydrakai)—इनका राज्य मालव-राज्य के ही समीप था।

(१२) अम्बष्ठ (Abastanoi) यह जाति भी मालवों के पड़ोस में रहती थी।

(१३) क्षत्रिय (Xathroi)—इनके राज्य की स्थिति चिनाव और रावी नदियों के बीच में थी।

(१४) वसाति (Ossadioi)—इस जाति का राज्य चिनाव और सिन्धु नदियों के बीच में था।

(१५) शूद्र (Sogdoi or Sordai)—इसका राज्य सिन्धु नदी के निचले भाग में था।

(१६) मूषिक (Mausicanos)—यह जाति सिन्ध में रहती थी।

(१७) शम्भु (Sambos)—यह जाति मूषिक की पड़ोसी थी।

सिकन्दर की शक्ति—सिकन्दर अपने समय का एक महान् योद्धा और विजेता था। उसने अपने सैनिक संगठन और रण-नीति से योरप और एशिया के एक बड़े भूखण्ड पर यूनानी साम्राज्य की स्थापना कर दी थी।

यद्यपि उसकी सेना में अनेक देशों—मेसीडोनिया, यूनान, फोनेशिया, फारस, बैक्ट्रिया, मध्य एशिया, मिश्र आदि—के सैनिक थे, परन्तु सिकन्दर के उत्साह, शौर्य और संगठन-कुशलता ने उन्हें एक प्रबल अनुशासनपूर्ण एवं रणकुशल सेना के रूप में संगठित कर दिया था। इस सेना में सिकन्दर के अनेक विश्वस्त एवं कुशल सेनापति थे। इनमें टालमी, हेफैस्टिअन, निआर्कस, लिओनाटस और पर्डिकस के नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेष रूप से उल्लिखित हैं। सिकन्दर की महान् विजयों का बहुत-कुछ श्रेय उन्हें भी दिया जा सकता है।

सिकन्दर ने कितनी बड़ी सेना के साथ भारतवर्ष पर आक्रमण किया था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्लूटार्क का कथन है कि उसकी सेना में १ लाख २० हजार पैदल और १५ हजार घुड़सवार थे। परन्तु यह संख्या अतिरंजित दिखाई देती है। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार सिकन्दर की सेना में ३० हजार से अधिक सैनिक न थे।

भारत की ओर प्रस्थान—३२७ ई० पू० में सिकन्दर ने हिन्दुकुश पार किया और निकाइ (Nicaea) नामक नगर की ओर बढ़ा। यहाँ तक्षशिला के राजा आम्भी ने उससे भेंट की। सिकन्दर ने सम्भवतः उससे भारत की राजनीतिक अवस्था के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त की होगी और तत्पश्चात् भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई होगी।

यहाँ सिकन्दर ने अपनी सेना को दो भागों में बाँट दिया। एक भाग को उसने हेफैस्टिअन और पर्डिकस नामक सेनापतियों के अधीन किया। उन्हें यह आदेश दिया गया कि वे काबुल घाटी और खैबर दर्रे से होते हुए सीधे सिन्धु नदी की ओर प्रस्थान करें तथा वहाँ पहुँच कर सिन्धु नदी पर पुल तैयार करायें जिससे सारी सेना नदी को पार कर सके। दूसरी सेना का नेतृत्व स्वयं सिकन्दर ने किया। उसने काबुल घाटी के उत्तर से प्रस्थान किया। यह पर्वतीय मार्ग अधिक दुर्गम था।

प्रथम दल का आगमन—हेफैस्टिअन और पर्डिकस के अधीन प्रथम दल को मार्ग में अधिक कठिनाई नहीं पड़ी। प्रायः सभी जातियों ने बिना लड़े ही आत्म-समर्पण कर दिया। एकमात्र अष्टक जाति (Astekenians) के राजा अष्ट (Astes) ने उसका सामना किया। यह पश्चिमी गन्धार का राजा था। इसकी राजधानी पुष्कलावती (Peucelaotis) थी। परन्तु ३० दिन के युद्ध के पश्चात् इस राजा ने वीरगति प्राप्त की। उसके राज्य पर सिकन्दर का अधिकार हो गया।

इस विजय के पश्चात् यह दल निर्बाध रूप से सिन्धु-तट पर पहुँच गया और उसने नदी पर पुल बनाना प्रारम्भ किया।

द्वितीय दल का आगमन—सिकन्दर के नेतृत्व में द्वितीय दल को अपने अभियान-मार्ग पर अधिक युद्ध करने पड़े। सर्वप्रथम अलीशंग-कुनार घाटी में अस्पैशिअन (Aspasians) लोगों ने उसका विरोध किया। परन्तु भयंकर युद्ध के पश्चात् यह जाति पराजित हुई।

अब सिकन्दर न्यासा नामक राज्य में प्रविष्ट हुआ। इसका सेनापति अकौफिस (Akouphis) था। इसने बिना लड़े ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौरी नदी की घाटी में एक अन्य जाति (Goureans) रहती थी। उसने सिकन्दर से युद्ध किया। परन्तु अन्त में वह पराजित हुई।

अब अश्वकों (Assakenians) की बारी आई। उनकी राजधानी मस्सग थी। इस जाति ने ३० हजार पैदलों, २० हजार घुड़सवारों, ३ हजार हाथियों और ७ हजार अतिरिक्त भाड़े के सैनिकों की सहायता से अपनी राजधानी की रक्षा की। दोनों पक्षों में भयंकर युद्ध हुआ। अश्वकों का वीर राजा चौथे दिन युद्ध करते हुए मारा गया। तत्पश्चात् उसकी विधवा रानी ने एक वीर रमणी की भाँति सेना का नेतृत्व किया। यूनानी लेखकों का कथन है कि उसका अनुकरण करते हुए समस्त अश्वक-नारियों ने भी हथियार उठा लिये। परन्तु अन्त में वीर अश्वकों की पराजय हुई और उनकी राजधानी पर सिकन्दर का अधिकार हो गया। एरियन के अनुसार उसने रानी और राजकुमारी को बन्दी बना लिया।

भाड़े के सैनिकों ने सिकन्दर के साथ अलग सन्धि की। उन्होंने सिकन्दर की सेना में भर्ती होना स्वीकार कर लिया। रात को उन्होंने चुपचाप भाग जाने का प्रयत्न किया। परन्तु वे सब पकड़े गये। सिकन्दर ने अतीव क्रूरता का परिचय देते हुए उन सभी सैनिकों का वध करा दिया। सिकन्दर-जैसे वीर योद्धा के लिये यह महान् कायरता और निर्दयता का कार्य था। डियोडोरस और प्लूटार्क आदि लेखकों ने उसके इस दुष्कर्म की बड़ी निन्दा की है।[1]

मस्सग पर अधिकार करने के पश्चात् सिकन्दर ने बजिरा (Bazira) और ओरा (Ora) नामक स्थानों पर अधिकार कर लिया।

तत्पश्चात् वह पुष्कलावती में पहुँचा। पहले कहा जा चुका है कि इस नगर पर सिकन्दर के प्रथम दल ने पहले ही अधिकार कर लिया था। सिकन्दर ने वहाँ निकेनोर (Nicanor) को गवर्नर नियुक्त किया और उसकी सहायता के लिये अपने एक सेनापति फिलिप को भेजा।

पुष्कलावती के आगे आर्नोज (Aornos) नामक एक प्रसिद्ध दुर्ग था। स्टाइन ने इसका समीकरण पीरसार तथा उनसार से किया है। यह दुर्ग ७ हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित था। ऐसी किम्वदन्ती प्रचलित थी कि हेराक्लीज भी इस पर अधिकार न कर सका था। अतः महत्वाकांक्षी सिकन्दर ने इस दुर्ग पर अधिकार करने की विशेष रूप से उत्सुकता दिखाई। आर्नोज के लोगों ने बड़ी वीरता से सिकन्दर का सामना किया। सिकन्दर को दुर्ग तक पहुँचने में अभूतपूर्व कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु अन्त में उसका प्रयास सफल हुआ और दुर्ग पर उसका अधिकार हो गया। आर्नोज-निवासी और सैनिक बड़ी भारी संख्या में मारे गये। सिकन्दर ने यह दुर्ग

---

१. Foul blot on his martial fame.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शशिगुप्त (Sissikottus) नामक एक भारतीय के सिपुर्द कर दिया। आम्भी की भाँति इसने भी बहुत पहले से ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करली थी।

इस प्रकार कठिन संकटों का सामना करते हुए सिकन्दर सिन्धु नदी के तट पर पहुँच गया और प्रथम दल से मिल गया।

ओहिन्द पर पुल—आजकल जहाँ ओहिन्द स्थित है वहीं सिकन्दर के प्रथम दल के सेनापतियों, हेफैस्टिअन और पर्डिकस, ने सिन्धु नदी पर एक पुल बनवाया था। वहाँ सिकन्दर एवं उसकी सेना ने लगभग एक मास तक विश्राम किया।

तक्षशिला का दरबार—तत्पश्चात् ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने नदी पार की और तक्षशिला में प्रवेश किया। इस प्रकार एक देशद्रोही ने विदेशी आक्रमणकारी के लिये अपने हाथों अपने देश का प्रवेश-द्वार खोल दिया। आम्भी ने उपहार में सिकन्दर को २०० चाँदी की मुद्रायें, ३० हाथी, ७०० घोड़े, ३,००० बैल और १,००० भेड़ें दीं और अपनी राजधानी में उसका भव्य स्वागत किया। तक्षशिला में एक राज-दरबार किया गया। आस-पास के सभी भारतीय राजाओं के पास सन्देश भेजे गये कि वे सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर लें और दरबार में उपस्थित हों। बहुतों ने इस आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और तक्षशिला के राजदरबार में वे सम्मिलित हुए। तीन दिन तक वहाँ आमोद-प्रमोद और आगन्तुकों का आतिथ्य होता रहा।

पुरु का प्रत्युत्तर—परन्तु एक भारतीय राजा ऐसा था जिसने तक्षशिला के राजदरबार और सिकन्दर के सन्देश को भारतीय गौरव के लिये घोर अपमानजनक समझा। यह पुरु (Porus) था। इसने सिकन्दर के निमन्त्रण का प्रत्युत्तर देते हुए कहला भेजा—"हम आपसे अवश्य मिलेंगे, परन्तु युद्ध-भूमि में।"

सिकन्दर की तैयारी—उत्तर स्पष्ट था। दोनों ओर से युद्ध की तैयारी होने लगी। सिकन्दर ने पहले तक्षशिला में व्यवस्था की। उसने आम्भी को मान्यता दे दी थी और उसका राज्य उसी के हाथ में रहने दिया था। परन्तु उसकी देख-रेख के लिये तक्षशिला में फिलिप को गवर्नर और यूडेमस को सेनापति नियुक्त किया।

तत्पश्चात् उसने पुरु से युद्ध करने की तैयारी की। सिकन्दर की सेना की संख्या का निश्चित रूप से पता नहीं है, परन्तु इतना निश्चित है कि वह अस्त्र-शस्त्रों से भली-भाँति सुसज्जित थी और उसमें अनेक देशों के सैनिक थे।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है

---

१. "But mingled with the Europeans were men of many nations. Here were troops of horsemen representing the chivalry of Iran, which had followed Alexander from Bactria and beyond, Pashtus and men of the Hindukush with their highland bred horses, central Asiatics who could ride and shoot at the same time ;........Phoenicians inheriting an immemorial tradition of ship-craft and trade, bronze Egyptians able to confront the Indians with an antiquity still longer than their own.'' —Bevan

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि सिकन्दर के अश्वारोहियों की संख्या पुरु के अश्वारोहियों से अधिक थी, परन्तु पैदल सेना सम्भवतः कम थी। इस प्रकार अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सिकन्दर झेलम नदी के पश्चिमी तट पर आ डटा और उसे पार करने की योजना बनाने लगा।

पुरु की तैयारी— उधर पुरु ने भी पूरी तैयारी के साथ झेलम नदी के पूर्वी तट पर अपना पड़ाव डाल दिया। एरियन का कथन है कि जिस समय पुरु और सिकन्दर का निर्णायक युद्ध हुआ था उस समय पुरु की सेना में ३० हजार पैदल, ४ हजार घुड़सवार, ३०० रथ और २०० हाथी थे। इसके पूर्व पुरु का पुत्र २ हजार पैदल और १२० रथों के साथ सिकन्दर के एक दल का सामना कर चुका था। इस प्रकार पुरु की सेना काफी बड़ी थी। अपनी इस सेना के साथ पुरु बड़ी सावधानी से झेलम नदी की निगरानी करने लगा। उसका प्रथम उद्देश्य यूनानियों को नदी पार न करने देना था।

सिकन्दर की चालाकी—पुरु की विशाल सेना के सामने रहते हुए सिकन्दर का साहस न हुआ कि तत्काल झेलम पार करे। उसने चालाकी से कार्य किया। उसने अपनी सेना को अनेक टुकड़ियों में बाँटकर झेलम के पश्चिमी तट पर कई स्थानों पर सैनिक शिविर लगाये, जिससे पुरु यह न समझ सके कि आक्रमण किस स्थान से होने वाला है। इससे पुरु किसी एक स्थान पर अपनी सेना केन्द्रित न कर सका[1]। आक्रमण में देर होते देख पुरु ने यह भी समझा कि सम्भवतः नदी की बाढ़ के कारण यूनानी सेना तत्काल उसे पार करने का विचार छोड़ चुकी है और वह बाढ़ के शान्त होने पर ही आक्रमण करेगी। इस मिथ्या धारणा में भारतीय सेना बहुत-कुछ असावधान हो गई। उनकी असावधानी का एक अन्य कारण भी था। सिकन्दर के आदेशानुसार यूनानी सेना प्रतिदिन शोर-गुल करती थी जिससे यह प्रकट हो कि यूनानी नदी को पार करने के लिये आ रहे हैं। इस शोर-गुल को सुनकर पुरु की सेना अस्त्र-शस्त्र उठा लेती और युद्ध के लिये कटिबद्ध हो जाती। परन्तु फिर भी आक्रमण न होता। अनेक दिनों की इस स्थिति से पुरु की सेना ने शोर-गुल को निरर्थक समझा और उसकी ओर ध्यान देना छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब एक दिन सिकन्दर की सेना ने वास्तव में झेलम पार करने के लिये प्रस्थान किया और उससे शोर-गुल हुआ तब भी भारतीय सेना उसे प्रतिदिन-जैसा तमाशा ही समझती रही और यूनानी सेना ने नदी पार कर ली।

---

१. "All this prevented Porus from resting and concentrating his preparations at any one point selected in preference to any other as the best for defending the passage." —Arrian

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस बीच सिकन्दर ने नदी पार करने के लिये एक उपयुक्त स्थान चुन लिया। यह नदी के १६ मील ऊपर था। इसी स्थान के सामने नदी में एक टापू था जो झाड़-झंखाड़ से ढका-सा दिखाई देता था। इसकी ओट लेकर नदी को पार करना अपेक्षाकृत सरल था।

सिकन्दर ने एक काम और किया। उसने एक सैनिक टुकड़ी अपने सेनापति क्रेटरस के अधीन कर उसे यह आदेश दिया कि वह उस समय नदी पार करे जब भारतीय सेना उस ओर दिखाई न दे। उसने अपनी सेना की दूसरी टुकड़ी अपने अन्य तीन सेनापतियों, एटलस, मेलीगर और जार्जिअस, के अधीन की और उन्हें यह आदेश दिया कि झेलम के पूर्वी तट पर जब युद्ध प्रारम्भ हो जाय तब वे नदी पार करें।

सिकन्दर ने शेष सेना अपने नेतृत्व में की और झेलम पार करने के लिये वह उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

झेलम का युद्ध—तभी एक रात में बड़ी जोर की वर्षा होने लगी और प्रबल झंझावात चलने लगा। सिकन्दर ने तत्काल १२ हजार सेना के साथ नदी पार करना आरम्भ कर दिया। इस बात की सूचना पाते ही पुरु ने अपने पुत्र को २ हजार घुड़-सवारों और १२० रथों के साथ उसे रोकने के लिये भेजा। परन्तु उसके पहुँचने के पूर्व ही सिकन्दर नदी पार कर चुका था। फिर भी राजकुमार ने वीरतापूर्वक युद्ध किया और अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मारा गया। उसके साथ ४०० भारतीय भी खेत रहे।

सिकन्दर के नदी पार करने के पश्चात् ही अवसर पाकर क्रेटरस ने भी अपनी टुकड़ी के साथ नदी पार कर ली।

अब पुरु ने स्वयं अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान किया। उसे दो दिशाओं में अपनी सेना लगानी पड़ी—एक सिकन्दर से मुठभेड़ करने के लिये और दूसरी क्रेटरस से।

शीघ्र ही दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हुआ। यह युद्ध झेलम का युद्ध कहलाता है। दैव पुरु से विमुख था। वर्षा के कारण पृथिवी गीली और दलदली हो रही थी। उस पर भारतीय रथ तेजी से न चल सके। पुनः भारतीय धनुर्धरों के विशाल धनुष भी गीली भूमि पर न टिक रहे थे। अतः वे भली-भाँति सर-सन्धान नहीं कर पा रहे थे। उधर यूनानी अश्वारोहियों के भीषण प्रहारों से भारतीय हाथियों में भगदड़ मच गई। वे अपनी सेना को ही कुचलने लगे। जिस समय भारतीय सेना में खलबली मची हुई थी उसी समय सिकन्दर की शेष सेना भी नदी पार करके आ गई। उसके आघात को भारतीय सेना न सँभाल सकी। भारतीय सैनिक बड़ी वीरता से लड़े परन्तु उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पराजय हुई। एरियन के अनुसार पुरु के २० हजार पैदल और ३ हजार घुड़सवार मारे गये। उसकी सेना का प्रत्येक रथ चूर-चूर हो गया। परन्तु यह संख्या अतिरंजित प्रतीत होती है। डिओडोरस के अनुसार १२ हजार भारतीय मारे गये और ९ हजार बन्दी बनाये गये।

भारतीय गौरव और वीरता का प्रतीक पुरु अन्त तक लड़ता रहा। उसके शरीर में अनेक घाव लगे। अन्त में अपनी सेना को पूर्ण रूप से नष्ट-भ्रष्ट देखकर वह अपने हाथी को लेकर युद्ध-भूमि से बाहर हो लिया। सिकन्दर ने उससे आत्म-समर्पण कराने के लिये आम्भी को भेजा। आम्भी को सामने देखकर पुरु की आँखों से क्रोध की ज्वाला निकलने लगी और उसने अपना भाला फेंक कर आम्भी पर प्रहार किया। अब सिकन्दर ने पुरु के पास अन्य व्यक्तियों को भेजा। इनमें पुरु का मित्र मेरोज भी था। किसी प्रकार समझाने-बुझाने पर पुरु सिकन्दर के समक्ष उपस्थित हुआ। उसका सिर अब भी ऊँचा था। पराजय ने उसके स्वाभिमान को नष्ट न किया था। सिकन्दर उसकी वीरता से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने पुरु से पूछा—"तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाय ?" पुरु ने स्वाभिमानपूर्वक इतिहास-प्रसिद्ध उत्तर दिया,—"जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।"

सिकन्दर इस वीरोचित उत्तर से बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने पुरु के साथ बड़ी उदारता का बर्ताव किया। उसने पुरु को उसका ही राज्य वापस न किया वरन् उसमें अन्य प्रदेश भी मिला दिये। यूनानी लेखकों का कथन है कि पराजय के पश्चात् पुरु सिकन्दर के अधीन हो गया। परन्तु सम्पूर्ण विवरण को पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि सिकन्दर ने पुरु को अपना मित्र बना लिया था, उसके साथ अधीन सामन्त की भाँति व्यवहार न किया था। कम से कम सिकन्दर की दृष्टि में पुरु का स्थान आम्भी से अधिक ऊँचा था।

सिकन्दर की इस विशेष उदारता का कारण क्या था ? जस्टिन का कथन है कि वह पुरु की वीरता से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। आंशिक रूप से यह कथन ठीक है। परन्तु इसके साथ एक कूटनीतिक कारण भी प्रतीत होता है। झेलम के युद्ध ने सिकन्दर की नीति में एक भारी परिवर्तन उपस्थित किया। इस युद्ध के पूर्व उसने दमन-नीति और भर्त्सना से कार्य किया था। परन्तु इस युद्ध के पश्चात् उसने अनुभव किया कि वीर भारतीयों के सहयोग के बिना काम नहीं चल सकता। उसने पुरु को मित्र बनाकर उसके प्रभाव से लाभ उठाना चाहा। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि उसे आम्भी पर अधिक विश्वास नहीं था। आज आम्भी ने अपने देश के साथ विश्वास-घात किया। कल वह स्वयं सिकन्दर को भी धोखा दे सकता था। अतः उस पर नियन्त्रण रखने के लिये पुरु को शक्तिशाली एवं मित्र बनाये रखना अधिक श्रेयस्कर था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

झेलम के युद्ध में यूनानियों की क्षति के विषय में हमें निश्चित ज्ञान नहीं है। एरियन का कथन है कि इस युद्ध में केवल ३०० यूनानी मारे गये थे। परन्तु यह संख्या इतनी थोड़ी है कि इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हताहत यूनानियों की संख्या इससे कहीं अधिक होगी।

अपनी झेलम-विजय के उपलक्ष्य में सिकन्दर ने झेलम के तट पर दो नगरों की स्थापना की—निकाय और बुकेफेला। बुकेफेला नगर उसके घोड़े के नाम पर बसाया गया। सम्भवतः उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में एक मुद्रा भी प्रचलित की। चाँदी की मुद्रायें ऐसी मिली हैं जिन पर हाथी पर बैठे पुरु का चित्र है और उसके पीछे एक अश्वारोही उसका पीछा कर रहा है।

6792

ग्लौचुकायन—झेलम-विजय के पश्चात् सिकन्दर ने आगे अभियान किया। यूनानियों के कथन से प्रतीत होता है कि चिनाव के पश्चिमी तट पर ग्लौगनिकाय (ग्लौचुकायन) जाति रहती थी। इसके ३७ प्रमुख नगर थे। सिकन्दर ने इस पर आक्रमण किया और जीत कर इसके राज्य को पुरु राज्य में मिला दिया।

भारतीय विद्रोह—ऐसा प्रतीत होता है कि सिकन्दर ने जिन राज्यों को पराजित किया था वे अपनी स्वतन्त्रता की हानि से बड़े क्षुब्ध थे और उसे प्राप्त करने के लिये यूनानी सत्ता को समाप्त करना चाहते थे। यूनानी एवं भारतीय साक्ष्यों से अनुमान किया जा सकता है कि इसी समय चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी पंजाब में विद्यमान थे। इन्होने यूनानियों के विरुद्ध भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का नेतृत्व किया था। हम देखते हैं कि सिकन्दर के पंजाब में रहते हुए भी यत्र-तत्र यूनानियों के विरुद्ध विप्लव और हत्यायें हो रही थीं इनमें से दो इस प्रकार हैं—

(१) सिकन्दर के गवर्नर निकेनोर की अश्वकों ने हत्या कर दी।

(२) आर्नोज-निवासियों ने यूनानियों के मित्र-शासक शशिगुप्त की स्थिति इतनी संकटमय बना दी कि उसे सिकन्दर से अतिरिक्त सैनिक सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी।

सिकन्दर ने इन सूचनाओं के प्राप्त होते ही अपने दो अन्य गवर्नरों, फिलिप और टाइरीस्पीज, को विद्रोही-प्रदेश में भेजा।

सिकन्दर की अन्य विजयें—सिकन्दर के भाग्य से इसी समय ईरान से उसके पास नई सेना आ गई। उसने पुरु को नई सेना लाने के लिये अपने राज्य में भेजा। इस सेना को लेकर उसने आगे अभियान किया। चिनाव को पार करके उसने छोटे पुरु पर आक्रमण किया। वह बिना लड़े ही अपना राज्य छोड़ कर भाग गया। अब सिकन्दर रावी-तट पर पहुँच गया। रावी तक का सम्पूर्ण विजित प्रदेश पुरु के राज्य में मिला दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिकन्दर ने रावी को पार किया। इस नदी के पूर्व में स्थित अड्रैस्टाप (अरिष्ट) जाति ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

कठों से भीषण संग्राम—इसी प्रदेश में कठ नामक एक अत्यन्त वीर जाति रहती थी। इसकी राजधानी संगल थी। सिकन्दर के अश्वारोहियों ने कठों पर आक्रमण किया। परन्तु उन्हें मुँह की खानी पड़ी। कठों ने उनके आक्रमण को निष्फल कर दिया। अब सिकन्दर ने अपनी पैदल सेना की सहायता से आक्रमण किया। भीषण संग्राम के पश्चात् कठ अपने दुर्गीकृत नगर संगल के भीतर चले गये। सिकन्दर के सामने इस नगर पर अधिकार करना एक कठिन समस्या थी। उसके भाग्य से इसी समय पुरु ५ हजार सैनिकों की नई सेना के साथ सिकन्दर की सहायता के लिये आया। अब नई यूनानी सेना के सामने कठों को विजय की कोई आशा न रही। अतः रात्रि के समय उन्होंने भागने की चेष्टा की। परन्तु उसी समय सिकन्दर ने उन पर आक्रमण कर दिया और बहुत बड़ी संख्या में कठों को मार डाला। उनका नगर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। सम्पूर्ण युद्ध में १७ हजार कठ मारे गये और ७० हजार बन्दी बनाये गये। यूनानी विजयी अवश्य हुए, परन्तु उन्हें भी भारी क्षति उठानी पड़ी।

भगल—कठ-विजय के पश्चात् सिकन्दर व्यास नदी की ओर बढ़ा। यहीं भगल का राज्य था। उसने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। अब सिकन्दर व्यास नदी के तट पर पहुँच गया।

सिकन्दर का उद्देश्य—सम्भवतः सिकन्दर का विचार व्यास नदी को पार करके आगे प्रस्थान करना और मगध-राज्य पर अधिकार करना था। उसे पंजाब में ही मगध राज्य के विषय में काफी सूचना मिल गई थी। उसे बताया गया था कि मगध का राजा अग्रमीज अपने निम्नवंश और दुष्ट स्वभाव के कारण जनता में बड़ा अप्रिय था। अतः अनुमान किया जा सकता है कि सिकन्दर मगध-विजय को सम्भव समझ रहा था।

परन्तु टार्न महोदय इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि व्यास नदी तक पहुँचते-पहुँचते सिकन्दर की काफी सेना नष्ट हो गई थी। अब उसे पुरु से सैनिक सहायता लेनी पड़ रही थी। ऐसी स्थिति में सिकन्दर मगध-जैसे शक्ति-शाली राज्य को जीतने का विचार नहीं कर सकता था। मगध-विजय की बात तो बाद के लेखकों की मनगढ़न्त (later legend) है। टार्न का मत है कि सिकन्दर की यह मिथ्या धारणा थी कि व्यास से कुछ ही दूरी पर महासागर है। अतः वह वहाँ तक पहुँचना चाहता था। परन्तु यह मत नितान्त काल्पनिक प्रतीत होता है। पंजाब में अनेकानेक भारतीयों के बीच में रहते हुए उसे भारतवर्ष की मोटी भौगोलिक स्थिति का ज्ञान न हुआ हो, यह असम्भव है। अतः यही अनुमान अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है कि अदम्य उत्साही एवं महत्वाकांक्षी सिकन्दर का उद्देश्य मगध-विजय ही था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यूनानी सैनिकों का विद्रोह—परन्तु सिकन्दर का उद्देश्य कभी पूरा न हो सका। उसके सैनिकों ने व्यास नदी को पार करने और आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। यूनानी सेनापति कोनोस ने सैनिकों का प्रतिनिधित्व करते हुए सिकन्दर से कहा कि सैनिकों को अपना देश छोड़े हुए बहुत दिन हो गये और अब उन्हें अपने घरों और परिवारों की याद सता रही है। उनके बहुत-से साथी युद्धों में मर चुके हैं बहुत से नवीन स्थापित नगरों एवं विजित प्रदेशों में रहने के लिये छोड़ दिये गये हैं। अतः इस परिस्थिति में सैनिक अब अधिक युद्ध करने के लिये तैयार नहीं हैं। यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध वे फिर भी युद्ध-भूमि में भेजे गये तो वे पूर्ववत् उत्साह और वीरता के साथ न लड़ेंगे।[1]

कोनोस का कथन सत्य हो सकता है। दीर्घकालीन प्रवास, अनवरत युद्धों, संख्या और रसद की कमी से यूनानी सैनिक अब और अधिक संकटों का सामना करने के लिये तैयार न थे। परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। सैनिकों के निरुत्साह का एक प्रमुख कारण उनके हृदय में भारतीय वीरता का आतङ्क भी प्रतीत होता है। पुरु और कठों से युद्ध करते हुए उन्हें भारतीय सैनिकों के शौर्य, जीवट और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में सब कुछ स्वाहा कर देने की प्रवृत्ति का पता लग गया था। इन युद्धों में यूनानियों की भारी क्षति हुई थी। उन्हें यह भी पता था कि व्यास नदी के आगे जो मगध-साम्राज्य था वह पुरु-राज्य और कठ-राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल, जन-बहुल, शक्तिशाली और समृद्धिशाली था। ऐसे साम्राज्य से टक्कर लेने के लिये अब वे तैयार न थे। उधर, महाकूटनीतिज्ञ चाणक्य और महत्वाकांक्षी चन्द्रगुप्त ने लोकमत में जागरण प्रारम्भ कर दिया था। सम्भवतः उन्हीं के आन्दोलन एवं संगठन के परिणामस्वरूप विजित देशों में विद्रोह होने लगे थे, शशिगुप्त के समक्ष भयङ्कर संकट उत्पन्न हो गया था और यूनानी गवर्नर निकेनोर की हत्या की गई थी। इन चतुर्दिक संकटों ने सामूहिक रूप से यूनानी सिपाहियों के मन-मस्तिष्क पर बड़ा दुष्प्रभाव डाला और उनके हौसले पस्त कर दिये। वे किसी भी दशा में अब व्यास को पार करने के लिये तैयार न थे।

सिकन्दर ने अपने सिपाहियों को समझाने-बुझाने की बहुत कोशिश की। उसने यह भी धमकी दी कि वह सिपाहियों के बिना अकेले ही व्यास पार करेगा। परन्तु फिर भी सैनिक अडिग रहे। इस पर सिकन्दर तीन दिनों तक अपने शिविर में अकेले पड़ा रहा। परन्तु सैनिकों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न हुआ। अन्त में विवश होकर सिकन्दर को वापस चलने के लिये घोषणा करनी पड़ी।

---

१ "Seek not to lead them against their inclination, for you will not find them the same men in the face of dangers, if they enter without heart into their contests with the enemy."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार व्यास ही सिकन्दर के अभियान की अन्तिम सीमा थी। कालान्तर के कुछ लेखकों के ये कथन कि सिकन्दर गंगा अथवा गुजरात और काठियावाड़ तक गया था, कोरी कल्पना हैं।

वापसी—३२६ ई० पू० में सिकन्दर की वापसी प्रारम्भ हुई। वह अपनी सेना के साथ चिनाव को पार करता हुआ झेलम-तट पर पहुँचा। यहीं कहीं सौभूति-राज्य था। उसने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी समय सिकन्दर का सेनापति कोनोस बीमार पड़ गया और मर गया।

निआर्कस के नेतृत्व में ८०० नौकाओं का एक बेड़ा सेना के एक भाग को लिए हुए झेलम से दक्षिण की ओर चल पड़ा। शेष सेना बेड़े की रक्षा करती हुई नदी के दोनों किनारों पर पैदल चली।

अग्रश्रेणी—चिनाव और झेलम के बीच में ही शिवि (Siboi) और अग्रश्रेणी (Agalassoi) जातियां रहती थीं। शिवि जाति ने हार कर आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु अग्रश्रेणी जाति ने ४० हजार पैदलों और ३ हजार अश्वारोहियों के साथ सिकन्दर का मार्ग रोका। युद्ध में उन्होंने बहुसंख्यक यूनानियों को मार डाला। सिकन्दर ने क्रोध में आकर अग्रश्रेणियों के नगर में आग लगवा दी और बड़ी संख्या में इन लोगों का वध करा डाला। बहुसंख्यक अग्रश्रेणी बन्दी बना लिये गये। केवल ३,००० जन शेष रहे। इन्होंने सिकन्दर से सन्धि कर ली।

मालव और क्षुद्रक—परन्तु अभी यूनानियों का मार्ग निर्वाध न था। चिनाव और झेलम नदियों के संगम के दक्षिण में मालव (Malloi) और क्षुद्रक (Oxydrakai) जातियाँ रहती थीं। इन दोनों के पास सम्मिलित रूप से ९० हजार पैदल, १० हजार अश्वारोही और ९ सौ रथ थे। ये दोनों जातियाँ सम्मिलित रूप से यूनानियों से युद्ध करना चाहती थीं। परन्तु इनके मिलने के पूर्व ही सिकन्दर ने मालवों पर आक्रमण कर दिया। मालवों ने पग-पग भूमि पर भीषण संग्राम किया। एक स्थान पर उनसे युद्ध करते हुए स्वयं सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ और मरते-मरते बचा। इस पर यूनानी सैनिकों ने पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का सामूहिक वध करना प्रारम्भ किया। भीषण हानि के पश्चात् अन्त में मालवों ने सिकन्दर से सन्धि कर ली। उनका अनुकरण करते हुये क्षुद्रकों ने भी यूनानियों की अधीनता स्वीकार कर ली।

अम्बष्ठ, क्षत्रिय और वसाति—मालव-राज्य के दक्षिण में अम्बष्ठ (Abastanoi) क्षत्रिय (Xathroi) और वसाति (Ossadioi) जातियाँ रहती थीं। इन्होंने बिना लड़े ही सिकन्दर की अधीनता मान ली। यहाँ तक का सम्पूर्ण प्रदेश गवर्नर फिलिप के अधीन कर दिया गया।

इस प्रकार सिकन्दर की सेना चिनाव और सिन्धु के संगम पर पहुँच गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिन्ध की जातियाँ—इस संगम के नीचे शूद्र (Sogdoi or Sordai) जाति रहती थी। सिकन्दर ने इसे पराजित करके अपने अधीन कर लिया।

सिन्ध में मूषिक (Musicanos) नामक एक अन्य जाति थी। इसने भी बिना लड़े ही आत्म-समर्पण कर दिया। यही हाल शम्भु (Sambus) जाति का हुआ। परन्तु प्रोस्थ (Praestai) जाति ने सिकन्दर का सामना किया। अंत में पराजित हुई और उसका राजा बन्दी बना लिया गया।

सिन्ध-प्रदेश में सिकन्दर का सबसे अधिक विरोध ब्राह्मणों ने किया। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में ब्राह्मणक जनपद का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों ने आक्रमणकारियों के विरुद्ध जनता को संगठित और प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। उनके प्रचार के परिणामस्वरूप मूषिकों और प्रोस्थों ने पुन: विद्रोह कर दिया। सिकन्दर ने उन पर आक्रमण किया और उन्हें पराजित किया। तत्पश्चात् सिकन्दर ने ब्राह्मण-राज्य के अनेक नगरों पर आक्रमण किया और वहाँ बहुसंख्यक ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया।

अब सिकन्दर सिन्ध-डेल्टा में स्थित पट्टल (Patalene) नामक राज्य में पहुँच गया था। इस राज्य में दो शासक थे। उन्हें सहायता देने के लिये पट्टल-नगर में एक केन्द्रीय समिति थी। यूनानी सेना के आगमन पर इस नगर के निवासी बहर भाग गये। यूनानियों के समझाने पर वे किसी प्रकार पुन: वापस आ गये।

सेना के दो दल—पट्टल नगर से ३२५ ई० पू० में सिकन्दर ने अपनी यात्रा का अन्तिम भाग प्रारम्भ किया। सेना का एक भाग निआर्कस के नेतृत्व में समुद्र-मार्ग से दजला-फरात की ओर चला। सेना का दूसरा भाग स्वयं सिकन्दर के नेतृत्व में मकरान प्रदेश (Gedrosia) से होता हुआ कर्मानिआ की ओर चला। इसस्थल-मार्ग में सिकन्दर को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। गर्मी की अधिकता और पानी के अभाव में उसके बहुत से सैनिक मर गये।[1]

फिलिप की हत्या—प्रतीत होता है कि सिकन्दर के भारत छोड़ते ही चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा संगठित आन्दोलन ने जोर पकड़ा। जिस समय सिकन्दर कर्मानिया पहुँचा उस समय उसे सूचना मिली कि भारतीय विद्रोहियों ने उसके गवर्नर फिलिप की हत्या कर दी है। सिकन्दर ने आम्भी और यूडेमस को आदेश दिया कि वे यूनानी प्रदेशों की देख-रेख करें।

---

१. "The blazing heat and the want of the water destroyed a great part of the army and specially the beasts of burden which perished from the great depth of sand and the heat which scorched like fire, while a great many died of thirst." —Arrian

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिकन्दर की मृत्यु—अन्त में सेना के दोनों भाग मिल गये और उन्होंने ३२४ ई० पू० में सूसा होते हुए अपने देश की ओर प्रस्थान किया। परन्तु ३२३ ई० पू० में बेबिलोन पहुँचने पर अकस्मात् सिकन्दर बीमार हो गया और उसकी मृत्यु हो गई।

भारत में सिकन्दर की व्यवस्था—सिकन्दर साम्राज्यवादी था। वह भारत में यूनानी राज्य कायम करना चाहता था। अपने विजित प्रदेशों में यूनानी आधिपत्य की रक्षा के लिये सिकन्दर ने जाते समय उचित व्यवस्था इस प्रकार की—

(१) तक्षशिला का राजा आम्भी के सिपुर्द किया।

(२) झेलम और व्यास के बीच का सम्पूर्ण प्रदेश पुरु के अधीन किया गया।

(३) काश्मीर-प्रदेश में अभिसार को नियुक्त किया गया।

(४) सिन्ध और पश्चिम में हब तक के सम्पूर्ण प्रदेश में पीथन (Peithon) को क्षत्रप नियुक्त किया गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के सम्पूर्ण यूनानी राज्य का सर्वोच्च अधिकारी फिलिप था। निकेनोर की हत्या के पश्चात् गन्धार-प्रदेश भी फिलिप के क्षेत्र में आ गया था। निकेनोर के पश्चात् उसका कार्य यूडीमस के सिपुर्द किया गया। इसका प्रधान कार्यालय तक्षशिला में था।

इस अधिकृत क्षेत्र की रक्षा के लिये सिकन्दर यूनानी सेना भी छोड़ गया था। यह पुष्कलावती, आनोज और मस्सग आदि दुर्गों में स्थापित की गई थी। सिकन्दर ने अपने अभियान-मार्ग में अनेक यूनानी उपनिवेश और नगर भी बसाये थे। इनमें मिस्र का सिकन्दरिया, बैक्ट्रिया का सिकन्दरिया, हिन्दूकुश का सिकन्दरिया, झेलम का सिकन्दरिया, जेनाब का सिकन्दरिया तथा झेलम के बुकेफेला और निकाय विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी यूनानी सेनायें रखी गई थीं।

परन्तु फिर भी यह यूनानी साम्राज्य अधिक समय तक न चल सका। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् कुछ ही दिनों में उसका पतन हो गया। इस पतन के कारणों पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

यूनानी आक्रमण के प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण बताते हैं और कहते हैं कि इसने भारतीय जीवन के प्रायः प्रत्येक अङ्ग पर प्रचुर प्रभाव डाला। इसके विरुद्ध कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि इस आक्रमण का लेशमात्र भी प्रभाव भारत पर नहीं हुआ। ये दोनों मत अतिवादी हैं। जैसा कि पाल मैसन-अर्सिल का कथन है, सिकन्दर के इस आक्रमण के महत्व को या तो बहुत अधिक समझा गया है या बहुत कम।[1] वस्तुतः सत्य दोनों अतियों के बीच में है।

---

१. "The importance of this Indian campaign of Alexander has been exaggerated and under-estimated."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिकन्दर का आक्रमण एक आकस्मिक छापे की भाँति था। सिकन्दर भारत में केवल १९ मास तक रहा और इस काल में भी उसे निरन्तर युद्ध करने पड़े। अत: उसके इस अल्पकालीन सम्पर्क-सम्बन्ध से अधिक प्रभाव की कल्पना करना अस्वाभाविक है।[1] रालिन्सन महोदय के कथन में कुछ सत्य है कि इस आक्रमण का कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा। अगणित अन्य आक्रमणों की भाँति यह आक्रमण भी आया और चला गया। इससे देश पर कोई प्रभाव न पड़ा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं है।[2] कुछ विद्वानों की ये धारणायें नितांत असंगत हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस की अधीनता स्वीकार कर ली थी, उसकी शासन-व्यवस्था यूनानियों की देन थी, इस आक्रमण ने भारत में यूनानी सभ्यता (Hellenism) का प्रचार करते हुए उसे बर्बर अवस्था से मुक्त कराया और अपने प्रभाव से उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं कला-सम्बन्धी पद्धतियों को निश्चित किया! इस आक्रमण के पश्चात् भी भारतीय युद्ध-नीति पहले-जैसी ही रही। मौर्यों ने यूनानियों की क्षत्रप-शासन-प्रणाली नहीं अपनाई। भारत भूमि से यूनानी सेना शीघ्र ही भगा दी गई। सैनिक शक्ति के अभाव में सिकन्दर द्वारा स्थापित भारत के यूनानी नगर भी प्रभावहीन हो गये। अत: प्लूटार्क का यह कथन कि सिकन्दर के यूनानी नगरों ने बर्बरता को नष्ट किया और अधिक उन्नत नैतिकता को जन्म दिया, कम से कम भारत के विषय में सत्य नहीं है। इस आक्रमण के पश्चात् भारत की भाषा, लोक-परम्परायें, धर्म आदि भी पूर्ववत् रहे।

इतना होते हुए भी सिकन्दर का आक्रमण एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। यह पूर्णरूप से प्रभावहीन नहीं हो सकती थी।[3] प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से इसके कुछ प्रभाव निश्चित रूप से दिखाई देते हैं—

(१) राजनीतिक एकता की स्थापना—सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारत का सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेश अनेकानेक छोटे राज्यों में विभक्त था। सिकन्दर ने इनमें से बहुतों को पराजित करके उनकी स्वतन्त्र इकाई नष्ट कर दी और उन्हें आम्भी, पुरु अथवा अभिसार के राज्यों में मिला दिया। उसके इस कार्य ने कालान्तर में चन्द्र-

---

१. "The campaign, although carefully designed to secure a permanent conquest, was in actual effect no more than a brilliantly successful raid on a gigantic scale, which left upon India no mark save the horrid scars of bloody war." —Smith

२. "The invasion had no immediate effect, and passed off like countless other invasions leaving the country almost undisturbed. No mention of it is to be found in contemporary Indian literature." —Rawlinson

३. "The European invasion of India was an event of too great magnitude not to have far-reaching consequences." —Bevan

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुप्त मौर्य के कार्य को सरल कर दिया और उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश को सुगमता से अपने अधीन कर लिया।[1] डा० रायचौधरी का कथन ठीक है कि जिस प्रकार पूर्व में उग्रसेन-महापद्म नन्द चन्द्रगुप्त मौर्य का पथ-प्रदर्शक था, उसी प्रकार उत्तर-पश्चिम दिशा में यूनानी सिकन्दर।[2]

(२) नगरों की स्थापना—सिकन्दर भारत में अनेक नगर बसा गया था। उनमें से कई दीर्घ काल तक कायम रहे। अशोक के अभिलेख पश्चिमोत्तर में सिंध के पार रहने वाले यूनानियों का उल्लेख करते हैं। सम्भवतः सिकन्दर के पहले से वहाँ यूनानियों के उपनिवेश थे। प्रथम शताब्दी के ग्रन्थ 'पेरीप्लस' में सिकन्दरिया-बुकेफेला का उल्लेख है। इन दोनों नगरों को सिकन्दर ने झेलम नदी के तट पर बसाया था। 'मिलिन्द प्रश्न' और 'महावंश' में अलसन्द का उल्लेख है। अधिकांश विद्वान् इसका समीकरण काकेशस के सिकन्दरिया से करते हैं।

(३) भारत के बाहर उपनिवेश-स्थापना—सिकन्दर ने अपने अभियान-मार्ग पर अनेक उपनिवेश बसाये थे। ये उसके यूनानी साम्राज्य की रक्षा के लिये सैनिक चौकियों के समान थे।[3] इनमें से कई आज तक विद्यमान हैं। ये उपनिवेश भारतीय इतिहास के लिये बड़े महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। उदाहरणार्थ, बैक्ट्रिया-उपनिवेश के यूनानियों ने ई० पू० द्वितीय शताब्दी में भारत पर आक्रमण किया और उसके अधिकृत प्रदेश पर लगभग १५० वर्षों तक राज्य किया। इस दीर्घकालीन आधिपत्य ने भारतीय समाज और संस्कृति पर भारी प्रभाव डाला।

(४) भारत और विदेशों से सम्बन्ध—इस आक्रमण ने भारत और वाह्य देशों के बीच सामुद्रिक और स्थलीय मार्ग खोल दिये। निआर्कस ने मकरान के दक्षिण

---

१. "Alexander's invasion promoted the political unification of the country. Smaller states which handicapped unity were now merged in the larger ones, such as those of Paurava, Abhisara or Taxila. These conditions were favourable for the rise of an Indian Empire to be shortly founded by Chandragupta."
—R. K. Mookerji

"The confederacies of free tribes, which had maintained their proud isolation from other political systems, were left utterly broken. Smaller principalities were swallowed up in a realm such as that given by Alexander to the Paurara. This, no doubt, made it a simpler matter for the Maurya king a few years later to take these countries into his great Indian empire." —Bevan

२. "If Ugrasena-Mahapadma was the precursor of Chandragupta Maurya in the east, Alexander was the forerunner of that emperor in the north-west'. —H. C. Ray Chaudhary

३. "At various points along his route, he established a chain of fortified posts, to keep open his communications. Many of these survive today." —Rawlinson

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से होकर समुद्र-यात्रा को सम्भव करके दिखाया। इस आक्रमण ने भारत पहुँचने के तीन स्थलीय मार्गों को लोकप्रिय बनाया—(१) काबुल से होकर (२) बलोचिस्तान के मुल्ला दर्रे से होकर और (३) गेड्रोशिआ से होकर। इन मार्गों से भारत और विदेशों का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्भव हो सका।[1]

(५) भारत विषयक ज्ञान—इस आक्रमण के पूर्व पश्चिमी देशों को भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक अवस्था का बहुत कम ज्ञान था। सिकन्दर अपने साथ अनेक विद्वान् और अन्वेषक लाया था। इनमें निआर्कस, अरिस्टाब्यूलस, ओनेसिक्रिटस आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने अनुभवों को लेखबद्ध किया। यद्यपि आज इनके विवरण प्राप्त नहीं होते, परन्तु इनके बाद के लेखकों के ग्रन्थों में इनके उद्धरण मिलते हैं। उनसे पता लगता है कि इनके लेखों ने तत्कालीन संसार को भारत-विषयक महत्वपूर्ण सूचनायें दी थीं। स्वयं इस आक्रमण का ज्ञान भी हमें यूनानी लेखों से ही प्राप्त होता है।[2]

(६) मुद्रा-कला पर प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण ने भारतीय मुद्रा-कला को प्रभावित किया। तत्कालीन सौभूति-नरेश की कुछ मुद्रायें मिली हैं। इन पर स्पष्ट रूप से यूनानी प्रभाव दिखाई देता है।[3]

कुछ विद्वानों ने भारतीय साहित्य, कला और ज्योतिष आदि पर भी इस आक्रमण का प्रभाव बताया है। परन्तु यह मत असंगत लगता है। वह प्रभाव सिकन्दर के आक्रमण का नहीं वरन् ई० पू० द्वितीय शताब्दी के यूनानी आक्रमण का था। इसका उल्लेख आगे किया जाएगा।

---

१. "Alexander broke down the wall of separation between West and East, opened up four distinct lines of communication, three by land and one by sea. The land routes which he provedto be practicable were those through Kabul, the Mulla Pass in Baluchistan and Gedrosia. Nearchus demonstrated that the sea voyage round the coast of Makran offered few difficulties to Sailors........"
—Smith

२. "Not a few of Alexander's officers and companions were men of high attainments in literature and science, and some of their number composed memoirs of his wars, in the course of which they recorded the impressions of India and the races by which they found it inhabited."
—Mc Crindle

३. "The only mark of Alexander's direct influence of India is the existence of a few coins modelled in, imitation of Greek types which were struck by Saubhuti,,,,,,,,"
—Smith

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खण्ड २

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय 1

मौर्य वंश

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार

मौर्य-वंश की विशेषताएँ—मौर्य-वंश भारतीय इतिहास के महान् वंशों में गिना जाता है। इस वंश की महत्ता के कुछ प्रमुख कारण बताये जा सकते हैं—

(१) राजनीतिक एकता की स्थापना—भारतवर्ष के छोटे-छोटे राज्यों को मगध-राज्य के अधीन करके राजनीतिक एकता का जो कार्य हर्यङ्क-वंश ने प्रारम्भ किया था उसे मौर्य-वंश ने पूरा किया। मौर्य-वंशीय नरेशों चन्द्रगुप्त और अशोक की विजयों के परिणामस्वरूप भारत का अधिकांश भाग एक विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

(२) यूनानी प्रभुता की बराबरी—उस समय संसार में यूनानी साम्राज्य अपनी विशालता और शक्ति के लिये प्रसिद्ध था। मौर्यों ने उसकी बराबरी करते हुए एक भारतीय साम्राज्य की स्थापना की जो यूनानी साम्राज्य की विशालता और शक्ति से किसी प्रकार कम न था! इस प्रकार ये दो साम्राज्य--यूनानी साम्राज्य और भारतीय साम्राज्य--तत्कालीन राजनीतिक शक्ति और सांस्कृतिक वैभव के प्रतीक थे।

(३) झेलम की पराजय का बदलना—सिकन्दर ने अपने समसामयिक भारतीय नरेश पुरु को पराजित किया था। इस पराजय के लगभग २० वर्षों के पश्चात् ही मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के उत्तराधिकारी सीरिया-नरेश सेल्यूकस को पराजित करके झेलम की पराजय का बदला लिया।

(४) वैज्ञानिक सीमा की स्थापना—सेल्यूकस पराजित हुआ और उसे विवश होकर अफगानिस्तान और बलोचिस्तान के प्रदेश चन्द्रगुप्त को देने पड़े। इस प्रकार भारतीय साम्राज्य हिन्दूकुश तक पहुँच गया। हिन्दूकुश को डा० स्मिथ ने भारतवर्ष की वैज्ञानिक सीमा के नाम से पुकारा है।

(५) अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना—सेल्यूकस ने पराजित होने के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य से मित्रता कर ली और उसकी राज-सभा में अपना राजदूत मेगस्थनीज भेजा। भारतीय इतिहास में अन्तरराष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्ध का यह सर्वप्रथम उदाहरण है। चन्द्रगुप्त की भाँति अन्य मौर्य-सम्राटों, बिन्दुसार और अशोक, ने भी विदेशों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) तिथि-क्रम का आरम्भ—मौर्य-वंश के पूर्व भारतीय इतिहास का तिथिक्रम निश्चित करना बड़ा कठिन है। परन्तु मौर्य-कालीन यूनानी राजाओं एवं उनके शासन-काल की ज्ञात तिथियों के आधार पर मौर्य-कालीन घटनाओं की तिथियाँ बहुत-कुछ निश्चित-सी हैं। इस प्रकार इस वंश से भारतीय इतिहास के निश्चित तिथि-क्रम का आरम्भ होता है।

(७) एक महान् ग्रन्थ की रचना—चाणक्य चन्द्रगुप्त का मन्त्री था। उसने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, कूटनीतिक आदि परिस्थितियों, अपने काल की आवश्यकताओं और भावी भारत के निर्माण को दृष्टिकोण में रखते हुए 'अर्थशास्त्र' नामक एक महान् ग्रन्थ लिखा। भारतीय साहित्य की यह अमर कृति है।

(८) मौर्य-वंश की सर्वोत्तम देन अशोक—यह मौर्य-वंश के लिये एक महान् गौरव की बात है कि उसने अशोक-जैसे विश्व-विख्यात नरेश को जन्म दिया। अशोक का धर्म-प्रचार संसार में एक नूतन प्रयोग था। उसने भारत के लिये ही नहीं, वरन् संसार के लिये भी अनेक राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्श प्रस्तुत किये।

चन्द्रगुप्त के नाम—चन्द्रगुप्त को अनेक नामों से पुकारा गया है—

(१) यूनानी-रोमन लेखक इसे सैण्ड्राकोट्टस, सैण्ड्राकोप्टस और ऐण्ड्राकोटस के नाम से पुकारते हैं।

(२) 'मुद्राराक्षस' इसे चन्द्रश्री, प्रियदर्शन और वृषल कहता है।

मौर्यों की जाति—चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के विषय में बड़ा मतभेद है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर उसकी जाति के विषय में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किये हैं—

(१) पारसीक—स्पूनर महोदय ने मौर्यों को पारसीक (Persian) माना है[१]। उनका कथन है कि मौर्यों और पारसीकों की अनेक परम्परायें एक-सी हैं। इनका उल्लेख पारसीक-आक्रमण के सम्बन्ध में पीछे किया जा चुका है। परन्तु आज कोई विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करता[२]। केवल कुछ समताओं के आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

(२) शूद्र—डा० स्मिथ, डा० हरप्रसाद शास्त्री आदि ने मौर्यों को शूद्र माना है। उनके तर्क ब्राह्मण-ग्रन्थों पर आधारित हैं—

(अ) पुराणों में शैशुनाग-वंश के पश्चात् एक वाक्य मिलता है "ततः प्रभृति-राजानो भविष्याः शूद्रयोलयः" अर्थात् शैशुनाग-वंश के पश्चात् शूद्र राजा होंगे।

---

१. JRAS, 1915, pp. 405–55.

२. Thomas, JRAS, 1916, pp. 362–6.
Keith, JRAS, 1916, pp. 138–43.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(आ) विशाखदत्त द्वारा रचित 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त मौर्य को वृषल (निम्न-जातीय), कुलहीन, नन्दान्वय (नन्द-वंश में उत्पन्न), स्वामिपुत्र (राक्षस के स्वामी नन्द का पुत्र) आदि नामों से पुकारा गया है। ये समस्त उल्लेख उसे शूद्र सिद्ध करते हैं।

(इ) 'विष्णुपुराण' के टीकाकार रत्नगर्भ ने चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र बताते हुए उसका कुछ जीवन-वृत्त भी दिया है। यह टीकाकार कहता है कि नन्दराज के मुरा नामक एक शूद्र पत्नी थी। चन्द्रगुप्त इसी शूद्रा स्त्री की सन्तान था। अपनी माता मुरा के नाम पर ही वह 'मौर्य' कहलाया।

(ई) 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार ढुण्ढिराज ने भी चन्द्रगुप्त को शूद्र कहा है। वह भी चन्द्रगुप्त की जीवनी के बारे में कुछ सूचना देता है। उसके अनुसार अन्तिम नन्दराज सर्वार्थसिद्धि के दो पत्नियाँ थीं—सुनन्दा जो क्षत्रिया थी और मुरा जो शूद्रा थी। सुनन्दा के ९ पुत्र उत्पन्न हुए। वे नवनन्द कहलाये। मुरा के एक पुत्र हुआ। वह उसी के नाम पर मौर्य कहलाया। चन्द्रगुप्त इसी मुरा का पुत्र था।

(उ) 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' में चन्द्रगुप्त की जीवनी की घटनायें भिन्न प्रकार से हैं। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त नन्दराज का पुत्र था। कुछ समय पश्चात् नन्दराज की मृत्यु के पश्चात् इन्द्रदत्त नामक एक योगी अपने योग की सहायता से उसके शव में प्रविष्ट हो गया। उसने उसे जीवित कर दिया तथा नन्द के रूप में स्वयं राजा हो गया। उसका नाम योगनन्द पड़ा।

योगनन्द ने नन्द की विधवा रानी से विवाह भी कर लिया। उसके एक पुत्र हुआ जो हिरण्यगर्भ कहलाया। चन्द्रगुप्त और हिरण्यगर्भ की पटती नहीं थी। अन्त में नन्द के मन्त्री शकटार और चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त ने योगनन्द और उसके पुत्र हिरण्यगर्भ का वध कर दिया और स्वयं राजा बन गया।

इस प्रकार इन ग्रन्थों में भी चन्द्रगुप्त को शूद्र स्त्री मुरा का पुत्र माना गया है। अतः वह भी शूद्र था।

कुछ विद्वानों का मत है कि इन ग्रन्थों की चन्द्रगुप्तविषयक कथा प्रथम शताब्दी के लेखक गुणाढ्य के पैशाची ग्रन्थ 'बृहत्कथा' से ली गई है। अतः चन्द्रगुप्त के शूद्र होने की बात प्राचीन ग्रन्थ पर भी आधारित है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की आलोचना—परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों के उक्त कथनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके कुछ विशेष कारण हैं—

(क) पुराणों में कहीं पर भी चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र नहीं कहा गया है। न उनमें चन्द्रगुप्त की माता का नाम मुरा मिलता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ख) पुराणों के टीकाकार रत्नगर्भ ने अपनी कल्पना से चन्द्रगुप्त को मुरा नामक शूद्र स्त्री से चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति बताई है।

(ग) 'मुद्राराक्षस' इस विषय पर नितान्त अविश्वसनीय है। वह नन्दों को अभिजात वर्ग का बताता है, जो समस्त साक्ष्यों के विरुद्ध है। यही नहीं, वह ९ नन्दों के स्थान पर १० नन्दों की कल्पना करता है। किसी भी प्रामाणिक साक्ष्य में दसवें नन्द सर्वार्थसिद्धि का नाम नहीं मिलता। इस परिस्थिति में 'मुद्राराक्षस' द्वारा प्रतिपादित चन्द्रगुप्त के शूद्र होने के मत को भी सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(घ) 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार ढुण्ढिराज ने तो और भी अधिक कल्पना से कार्य किया है। वह नन्द की एक नहीं वरन् दो स्त्रियाँ सुनन्दा और मुरा बताता है। यही नहीं वह चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्द का पौत्र बताता है। पुनः उसने भी नन्दों को क्षत्रिय बताया है, जो बिलकुल असत्य है।

(ङ) 'कथासरित्सागर' और वृहत्कथामंजरी' के चन्द्रगुप्त-सम्बन्धी कथानक तो पूर्णतया काल्पनिक हैं। इनके ऊपर विश्वास नहीं किया जा सकता।

(च) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पैशाची ग्रन्थ 'वृहत्कथा' में भी चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र कहा गया था। यह ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं है। परन्तु अन्य ग्रन्थों में प्राप्त इसके उद्धरणों के आधार पर चरनदास चटर्जी ने यह मत प्रतिपादित किया है कि 'वृहत्कथा' में सम्भवतः चन्द्रगुप्त को शूद्र नहीं कहा गया।

(छ) चन्द्रगुप्त मौर्य की माता का नाम किसी भी प्राचीन साक्ष्य से प्राप्त नहीं होता। पुनः संस्कृत व्याकरण के आधार पर मुरा शब्द से 'मौर्य' नहीं बन सकता। मुरा का पुत्र 'मौरेय' कहलायेगा, मौर्य नहीं।

(ज) ये सब ब्राह्मण-ग्रन्थ बहुत बाद के हैं।

(झ) इनमें परस्पर-विरोधी बातें पाई जाती हैं। उदाहरण के लिये पुराण नन्दों को शूद्र बताते हैं, परन्तु वे चन्द्रगुप्त की जाति का उल्लेख नहीं करते। इसके विरुद्ध 'मुद्राराक्षस' तथा अन्य ग्रन्थ नन्दों को अभिजातवंशीय अथवा क्षत्रिय बताते हैं। पुराण ९ नन्दों का उल्लेख करते हैं, परन्तु मुद्राराक्षस १० नन्दों का। 'कथासरित्सागर' में पूर्वनन्द और योगनन्द का उल्लेख है, परन्तु अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थ इनका नाम नहीं लेते।

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित मौर्यों की शूद्र-जातीयता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

(३) क्षत्रिय—अधिकांश विद्वान् चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(क) बौद्ध साहित्य—महावंश चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कहता है।[1] महावंश-टीका के अनुसार भी वह शाक्य क्षत्रियों की उपशाखा मोरिय जाति का राजकुमार था। इसका नाम मोरिय अथवा मौर्य इसलिये पड़ा, क्योंकि यह नेपाल की तराई में जिस नगर में रहती थी वहाँ मोर बहुत अधिक थे। 'महाबोधिवंश' कहता है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय शाक्यपुत्रों द्वारा स्थापित मोरियनगर का राजकुमार था। महापरिनिर्वाणसूत्र में स्पष्टतया मौर्यों को क्षत्रिय कहा गया है। इसके अनुसार महात्मा बुद्ध के अवशेषों को तत्कालीन क्षत्रिय जातियों ने आपस में विभाजित कर लिया था। इनमें मौर्य भी थे। दिव्यावदान में बिन्दुसार और अशोक दोनों को क्षत्रिय कहा गया है।

ब्राह्मण-साक्ष्य की अपेक्षा यह बौद्ध साक्ष्य अधिक प्रामाणिक है। यह अधिक प्राचीन भी है इसमें परस्पर-विरोधी और अविश्वसनीय बातें नहीं हैं। पुनः इसकी और पुष्टि अन्य स्वतन्त्र साक्ष्यों से भी हो जाती है।

(ख) अर्थशास्त्र—इस ग्रन्थ की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री चाणक्य ने की थी। अतः इसका मत समसामयिक और सबसे अधिक प्राचीन होने के कारण असन्दिग्ध है। यह ग्रन्थ एक स्थान पर कहता है कि जनता दुर्बल राजा का भी आदर करती है, यदि वह अभिजात वंश का हो। परन्तु वह अनभिजात (निम्नजातीय) राजा का आदर नहीं करती, चाहे वह बलवान् ही क्यों न हो।[2] यदि चाणक्य का स्वामी चन्द्रगुप्त स्वयं निम्नजातीय होता तो चाणक्य इस प्रकार की घोषणा कभी नहीं करता।

(ग) ब्राह्मण-धर्मावलम्बी चाणक्य का कार्य—चाणक्य कट्टर ब्राह्मण-धर्मावलम्बी था। अर्थशास्त्र से अनुमान किया जा सकता है कि वह शूद्र-राज्य को धर्म-विरुद्ध समझता था। उसका विचार था कि ऐसे राज्य में भारतीय संस्कृति और शक्ति की रक्षा नहीं हो सकती। इसीलिये उसने शूद्र नन्दों का विनाश किया था।[3]

यदि चन्द्रगुप्त शूद्र होता तो चाणक्य उसे कभी राजा न बनाता। निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था और वर्णाश्रम धर्म के अनुसार राज्य प्राप्त करने के योग्य था।

(घ) विदेशी साक्ष्य—विदेशी साक्ष्य से भी परोक्ष रूप से चन्द्रगुप्त के अभिजात-वंशीय होने के प्रमाण मिलते हैं। प्लूटार्क का कथन है कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला था और उसके पश्चात् वह कहा करता था कि सिकन्दर भारतवर्ष पर सुगमतापूर्वक अधिकार करने में सफल हो जाता, क्योंकि वहाँ का राजा अपनी निम्नजातीयता और स्वभाव की दुष्टता के कारण बदनाम था।

१—"मोरियानं खत्तियानं..........।"

२—"दुर्बलमभिजातं प्रकृतय : स्वयमुपनमन्ति,
बलवतश्चानभिजातस्योपजातं विसंवादयन्ति।"

३—"येन शास्त्रं च शस्त्रं चनन्दराज गता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं शूद्र होता तो वह इस प्रकार की बात कभी नहीं कहता।

जस्टिन चन्द्रगुप्त मौर्य की निम्न अवस्था (humble origin) का उल्लेख अवश्य करता है। परन्तु इसका तात्पर्य केवल यह है कि जिस समय चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ था उस समय उसके परिवार की दयनीय दशा थी। अतः जस्टिन के कथन पर चन्द्रगुप्त को शूद्र नहीं कहा जा सका।

(ङ) जैन साक्ष्य—जैन ग्रन्थों में कहीं भी मौर्यों को शूद्र नहीं कहा गया है। 'परिशिष्टपर्व' से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त नन्दराज के मयूरपोषकों के गाँव के सरदार (मयहर) की पुत्री का पुत्र था। कालान्तर में 'पुण्याश्रव-कथाकोष' में चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कहा गया है।

निष्कर्ष—समस्त साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि नन्द शूद्र थे और मौर्य क्षत्रिय। एकमात्र ब्राह्मण-साक्ष्य ही मौर्यों को शूद्र बताते हैं, परन्तु ये सब बहुत बाद के हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों ने कुछ विशेष कारणों से मौर्य क्षत्रियों को शूद्र-कोटि में रखने की चेष्टा की। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जात्यपकर्ष (ऊँची जाति से नीची जाति में आ जाना) का उल्लेख हुआ है। वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल कार्य न करने वाले व्यक्तियों की जाति-च्युति हो जाती थी। सम्भवतः यही बात मौर्यों के साथ हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। उसने यूनानी राजकुमारी के साथ विवाह किया था। उसके पौत्र अशोक के धर्म-प्रचार से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, उनके वर्णाश्रम-धर्म को बड़ा भारी धक्का लगा था। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने जैन धर्म को अपना कर उसके प्रचार का भारी प्रयत्न किया था। सम्भवतः मौर्य-वंश के किसी अन्य राजा ने भी बौद्ध धर्म की स्थापना की चेष्टा की थी।[1] मौर्यों के इन सब कामों से ब्राह्मण उनसे बड़े क्रुद्ध थे और इसीलिये उन्होंने कालान्तर में मौर्यों को शूद्र-कोटि में रखने का प्रयत्न किया।

'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये 'वृषल' शब्द का प्रयोग किया गया है। मनु के अर्थ के अनुसार वे क्षत्रिय 'वृषल' कहलाये जिन्होंने अपनी धार्मिक क्रियाओं को छोड़ दिया था और जो ब्राह्मणों के सम्पर्क से दूर हो गये थे।[2] इससे भी मौर्य क्षत्रियों के जात्यपकर्ष का मत प्रतिपादित होता है।

१—"स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्।"
—युगपुराण

२—शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च।"
—मनुस्मृति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चन्द्रगुप्त की प्रारम्भिक जीवनी—चन्द्रगुप्त की जीवनी के विषय में ब्राह्मण-साहित्य में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ भरी हुई हैं। अतः उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मण-साहित्य की अपेक्षा बौद्ध साहित्य इस विषय पर अधिक प्रामाणिक है। इस सम्बन्ध में महावंश, महावंश-टीका और महाबोधिवंश के सम्मिलित साक्ष्य से प्रकट होता है कि विरुद्धक ने शाक्यों पर आक्रमण किया था। उससे बचने के लिये शाक्य अपने देश को छोड़ कर हिमवंत के एक प्रदेश में बस गये थे। वहाँ उन्होंने एक नगर का निर्माण किया। इस प्रदेश में मोरों की अधिकता थी। इसलिये इस नगर का नाम 'मोरिय नगर' पड़ा और वहाँ के निवासी मोरिय (मौर्य) कहलाये। इस प्रकार मौर्य शाक्य-क्षत्रियों की एक शाखा हुए।

महावंश-टीका और महाबोधिवंश का कथन है कि चन्द्रगुप्त का पिता मोरियनगर का राजा था। मोरियनगर पर किसी राजा (सम्भवतः नन्दराज) के आक्रमण के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त का पिता मारा गया। उस समय तक चन्द्रगुप्त का जन्म न हुआ था। उसकी माता गर्भवती थी। अपनी एवं अपनी भावी सन्तान की रक्षा के लिये वह पाटलिपुत्र में अपने भाई के पास चली गई। वहीं चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। परिवार ने नवजात शिशु को किसी स्थान पर डाल दिया। वहाँ चन्द्र नामक एक वृषभ ने उसकी रक्षा की। इसी से उसका नाम चन्द्रगुप्त (चन्द्र नामक वृषभ द्वारा रक्षित) पड़ा। उस स्थान से चन्द्रगुप्त को एक गोपालक उठा ले गया। कुछ समय बाद गोपालक ने उसे एक शिकारी को दे दिया।

एक दिन बालक चन्द्रगुप्त शिकारी के ग्राम में 'राजकीलं' खेल खेल रहा था। इस में वह स्वयं राजा बनकर अपना दरबार लगा रहा था। उसी समय चाणक्य नामक ब्राह्मण उस ग्राम से गुजरा। उसने इस बालक को प्रतिभाशाली समझ कर शिकारी से उसे एक हजार कार्षापण में खरीद लिया।

चाणक्य तक्षशिला का रहने वाला था। वह चन्द्रगुप्त को अपने साथ तक्षशिला ले गया और वहाँ उसने उसे ६-७ वर्ष तक शिक्षा दी।

थोड़े-बहुत अन्तर के साथ जैन ग्रन्थ 'परिशिष्ट पर्व' में भी चन्द्रगुप्त की यही जीवनी मिलती है।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रगुप्त की इस जीवनी के कौन-से अंश ऐतिहासिक हैं परन्तु इतना निश्चित है कि जिस समय चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ था उस समय उसके परिवार की दयनीय दशा थी। सम्भवतः जस्टिन का कथन कि चन्द्रगुप्त हीनावस्था (humble origin) में उत्पन्न हुआ था, इसी मत की पुष्टि करता है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० बरुआ महोदय चन्द्रगुप्त को उत्तरापथ, सम्भवतः तक्षशिला, का निवासी बताते हैं। इसी प्रकार डा० एच० सी० सेठ का मत है कि चन्द्रगुप्त और, यूनानियों द्वारा उल्लिखित, शशिगुप्त (Sisikottus) वास्तव में एक ही व्यक्ति हैं। अतः चन्द्रगुप्त कोहेमूर (स्वात और कुनार नदियों की घाटी में) के समीपवर्ती प्रदेश का निवासी था।

परन्तु ये दोनों मत असंगत हैं। प्रथमतः, अधिकांश ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त के जन्म और प्रारम्भिक जीवनी का केन्द्र पूर्वी भारत माना गया है। अतः वह पश्चिमोत्तर प्रदेश का निवासी नहीं माना जा सकता। द्वितीयतः, यूनानी-रोमन लेखक शशिगुप्त और चन्द्रगुप्त का उल्लेख अलग-अलग करते हैं। ये दोनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते।

मौर्यों और मोरों का सम्बन्ध भी ऐतिहासिक प्रतीत होता है। जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त पुरातत्व-साक्ष्य भी इस बात पर कुछ प्रकाश डालते हैं। नन्दनगढ़ के अशोक-स्तम्भ के निचले भाग पर मोर की आकृति बनी है। साँची स्तूप के पूर्वी तोरण-द्वार पर मोरों की मूर्तियाँ हैं। अशोक के अभिलेखों में भी मोरों का नाम आता है।

सर्वप्रथम ग्रुनवेडेल महोदय ने यह मत रखा था कि सम्भवतः मोर मौर्यों का राज चिह्न था। उनके मत का समर्थन फूशे और मार्शल महोदयों ने भी किया।

इन साक्ष्यों से अनुमान किया जा सकता है कि मोरों के नाम पर चन्द्रगुप्त के वंश का नाम मौर्य पड़ा।

चाणक्य की प्रारम्भिक जीवनी—ब्राह्मण-ग्रन्थ यह तो कहते हैं कि नन्दों का विनाश कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राजा बनाया था, परन्तु वे उसकी जीवनी पर प्रकाश नहीं डालते।

बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में उसकी जीवनी की कुछ महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख मिलता है—

'महावंश-टीका' के अनुसार चाणक्य तक्षशिला का रहने वाला था। परन्तु 'परिशिष्टपर्व' और 'आवश्यक सूत्र' से प्रकट होता है कि वह गोल विषय में स्थित चणय नामक ग्राम का निवासी था। कुछ ग्रन्थों में उसके पिता का नाम चणक और कुछ में कपिल बताया गया है। 'सुखबोधा' के अनुसार चाणक्य का पिता जैन-धर्मावलम्बी था।

'वृहत्कथाकोष' के अनुसार चाणक्य का विवाह यशोमती नामक एक ब्राह्मण-कन्या के साथ हुआ था।

चाणक्य विद्वान् अवश्य था, परन्तु उसकी आर्थिक अवस्था अच्छी न थी। जैन ग्रन्थों का कथन है कि एक बार एक समारोह में यशोमती की धनाढ्य बहनों ने निर्धनता के कारण उसका अपमान किया। वह रोती हुई आई और उसने सारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हाल चाणक्य को सुनाया। उसी दिन चाणक्य ने अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने का संकल्प किया। वह धनार्जन के उद्देश्य से पाटलिपुत्र आया। जैन ग्रन्थ और बौद्ध ग्रन्थ दोनों ही पाटलिपुत्र में चाणक्य के आगमन की बात कहते हैं।

बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों का कथन है कि पाटलिपुत्र में नन्दराज ने एक भुक्तिशाला बनवाई थी और उसमें ब्राह्मणों को दान देता था। एक दिन चाणक्य उस भुक्तिशाला में पहुँचा और अपने को सबसे अधिक विद्वान् घोषित करके वह भुक्तिशाला के प्रधान आसन पर बैठ गया। कुछ समय पश्चात् वहाँ नन्दराज आया और उसने कुरूप चाणक्य को उस आसन से उतरवा दिया। चाणक्य ने इस अपमान का बदला लेने के लिये नन्द-वंश के सम्पूर्ण विनाश की प्रतिज्ञा की[1]।

कुछ समय के पश्चात् चाणक्य घूमता-फिरता शिकारियों के एक ग्राम में पहुँचा। वहीं उसने बालक चन्द्रगुप्त को देखा और उसे लेकर तक्षशिला चला गया।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि चाणक्य के इस जीवन-वृत्त में कितनी घटनायें ऐतिहासिक हैं।

समस्त साक्ष्यों के आधार पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सम्पर्क-सम्बन्ध निश्चित है। उनकी कार्यवाही का क्षेत्र पंजाब भी था। सम्भव है कि चन्द्रगुप्त वहाँ सिकन्दर से मिला हो। जस्टिन के विवरण से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त पंजाब में सिकन्दर से मिला था। उसकी धृष्टतापूर्ण बात से सिकन्दर क्रुद्ध हो गया था और उसने उसकी हत्या करने की आज्ञा दी थी। परन्तु चन्द्रगुप्त ने भाग कर अपनी रक्षा की।

चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिलने क्यों गया था, इस पर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वह नन्दों के नाश के लिये सिकन्दर की सहायता लेने गया था। कुछ के अनुसार वह सिकन्दर के पास नौकरी प्राप्त करने गया था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर के आक्रमण के विरुद्ध अपना विरोध-प्रदर्शन करने गया था।

मगध पर असफल आक्रमण—'महावंश-टीका' से प्रकट होता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम मगध-राज्य पर आक्रमण किया परन्तु उन्हें सफलता न मिली। दोनों ने भाग कर प्राण बचाये। वे घूमते-घामते एक ग्राम से गुजरे। वहाँ

१—"कोशेन भृत्यैश्च निबद्धमूलं
पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम्।
उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि
महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः।"
—सुखबोधा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्होंने एक घर में एक माता और पुत्र की वार्ता सुनी। इस वार्ता का आशय यह था कि पुत्र ने गरम रोटी को बीच से खाना प्रारम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि वह जल गया। इस पर उसकी मां ने उसे डाटते हुए कहा—"तुम चाणक्य की भाँति मूर्ख हो। उसने भी मध्य से आक्रमण करना प्रारम्भ किया और इसीलिये उसे असफलता मिली।" चाणक्य ने यह वार्ता सुनी और उसने अपनी युद्ध-योजना बदल दी। अब उसने पहले सीमा-प्रान्त पर अधिकार करने का निश्चय किया।

पश्चिमोत्तर प्रदेश की स्वतन्त्रता—सिकन्दर ने अनेक युद्धों के पश्चात् पंजाब और सिन्ध पर अधिकार कर लिया था। परन्तु जनता इस विदेशी आधिपत्य को स्वीकार करने के लिये तैयार न थी। यही कारण है कि यद्यपि सिकन्दर भारत में विद्यमान था, परन्तु फिर भी उसके विरुद्ध विद्रोह और हत्याकाण्ड हो रहे थे—

(१) कन्धार में सेमैक्सस अथवा डेमेरैक्सस ने विद्रोह किया।

(२) जनता ने सिकन्दर के पक्षपाती शशिगुप्त के विरुद्ध कोहेमूर-प्रदेश में विद्रोह कर दिया।

(३) अश्वकों ने सिकन्दर के क्षत्रप निकेनोर की हत्या कर दी।

(४) मूषिकों और प्रोस्थों ने यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

(५) और वापस जाते हुए सिकन्दर को कर्मानिआ में सूचना मिली कि भारत में उसके सर्वोच्च यूनानी पदाधिकारी फिलिप की भी हत्या कर दी गई।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी आदि विद्वानों का निष्कर्ष था कि इन घटनाओं के पीछे चाणक्य और चन्द्रगुप्त का हाथ था। वे यूनानियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम का संचालन कर रहे थे।

इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) चाणक्य वैराज्य (विदेशी राज्य) का घोर विरोधी था। वह उसे देश के परिपीडन और शोषण का कारण समझता था[1]।

(२) 'महावंश-टीका' से प्रकट होता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने प्रथम मगध-आक्रमण की असफलता के पश्चात् सीमा-प्रान्त को जीतने की योजना बनाई थी। इसी ग्रन्थ का कथन है कि उन्होंने घूम-घूम कर सैनिक भर्ती की थी[2]।

(३) जस्टिन और प्लूटार्क का कथन है कि चन्द्रगुप्त पंजाब में सिकन्दर से मिला था।

१—'अर्थशास्त्र' में वैराज्य के विरुद्ध 'कर्षयति' और 'अपवाहयति' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

२—"महाबलकायं संगहेत्वा।"

GC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) जस्टिन स्पष्ट रूप से कहता है कि सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने दासता का जुआ अपनी गर्दन से उतार फेंक दिया और उसके पदाधिकारियों की हत्या कर दी। सैण्ड्राकोटस (चन्द्रगुप्त) नेता था, जिसने उसको (भारत को) स्वतन्त्रता दिलाई।[1]

(५) सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापतियों में साम्राज्य-विभाजन के लिये झगड़ा प्रारम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में दो सन्धियाँ हुईं। पहले ३२३ ई० पू० में बेबिलोन की सन्धि हुई। इसमें यूनानी साम्राज्य के अधीन भारतीय प्रदेश का नाम आता है। अतः ३२३ ई० पू० तक पश्चिमोत्तर प्रदेश यूनानियों के अधीन था। दूसरी सन्धि ३२१ ई० पू० ट्रिपैरिडिसस में हुई। उसमें भारत का कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ३२१ ई० पू० तक भारत, यूनानी आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया होगा। ३२३ ई० पू० और ३२१ ई० पू० के बीच ३२२ ई० पू० में पश्चिमोत्तर प्रदेश को स्वतन्त्रता मिली होगी।

इन समस्त साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यूनानी शासन प्रारम्भ से ही भारतीयों के लिये अप्रिय था और वे उसका अन्त करना चाहते थे। चाहे उपर्युक्त विद्रोहों और हत्याओं के पीछे चाणक्य और चन्द्रगुप्त का हाथ न रहा हो, परन्तु इतना निश्चित है कि यूनानियों के आधिपत्य का अन्त इन्हीं दोनों महापुरुषों ने किया।

कुछ अन्य यूनानी लेखों से प्रकट होता है कि मेसीडोनिआ के शासक ऐण्टीपेटर ने ३२१ ई० पू० तक झेलम के पश्चिम के प्रदेश पर अपना शासन बनाये रखा था।[2] इस कथन से अनुमान किया जा सकता है कि प्रारम्भ में ३२२ ई० पू० तक चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने एकमात्र व्यास और झेलम के बीच के प्रदेश को स्वतन्त्र कराया था। ३२१ ई० पू० के लगभग ही उन्होंने शेष पंजाब को भी स्वतन्त्र करा दिया होगा। इसी समय की ट्रिपेरीडिसस की सन्धि में भारत का नाम बिल्कुल नहीं आता। पश्चिमोत्तर प्रदेश से यूनानियों का निष्कासन तत्कालीन भारत के लिये एक क्रान्तिकारी घटना थी। यह आश्चर्य की बात है कि फिर भी किसी भारतीय साक्ष्य में इस घटना का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि ये साक्ष्य प्रधानतया मगध की घटनाओं का उल्लेख करते हैं। इसका ज्ञान हमें यूनानी-रोमन लेखकों से प्राप्त होता है। ये लेखक पश्चिमोत्तर प्रदेश को स्वतन्त्र कराने का श्रेय एकमात्र चन्द्रगुप्त को देते हैं। उनके विवरणों में कहीं भी चाणक्य का नाम नहीं आता। चन्द्रगुप्त का गुरु

---

१. "………India, which after Alexander's death, as if the yoke of servitude had been shaken off its neck, had put his prefects to death. Sandrakottus had been the leader who achieved this freedom." —Justin

२. Mc Crindle—India as described in Classical Literature, pp. 201-2.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और प्रेरक चाणक्य प्रत्यक्ष रूप से सम्मुख न आने के कारण सम्भवतः यूनानियों की दृष्टि के परे रहा।

पश्चिमोत्तर प्रदेश के यूनानी पदाधिकारी—सिकन्दर के भारत में रहते हुए ही उसके क्षत्रप निकेनोर की अश्वकों ने हत्या कर दी थी। सिकन्दर ने भारत से जाने के पूर्व फिलिप को भारत का प्रमुख क्षत्रप नियुक्त किया था। उसे आम्भी और पुरु के सहयोग से भारत में यूनानी राज्य की रक्षा करनी थी। परन्तु जिस समय सिकन्दर कर्मानिआ पहुँचा उस समय उसे सूचना मिली कि फिलिप की भी हत्या कर दी गई है। अब सिकन्दर ने आम्भी और यूडेनस को सूचना भेजी कि वे दोनों सम्मिलित रूप से तब तक भारत में यूनानी शासन की देख-रेख करें जब तक किसी अन्य क्षत्रप की नियुक्त न हो। परन्तु शीघ्र ही (३२३ ई० पू०) सिकन्दर की मृत्यु हो गई और भारत में नया यूनानी क्षत्रप कभी भी नियुक्त न हो सका। ३२१ ई० पू० ट्रिपैरिडिसस की सन्धि में पीथन (Peithon) को सिन्ध से बुला लिया गया और उसकी नियुक्ति सिन्धु-नदी के पश्चिम में हुई। सिन्ध में किसी भी यूनानी क्षत्रप का उल्लेख नहीं है। अब भारत में एकमात्र यूनानी यूडेमस ही था। यूनानी लेखों से प्रकट होता है कि वह ३१७ ई० पू० में एक भारतीय राजा की हत्या करके तथा उसके बहुसंख्यक हाथियों को लेकर यूनानियों के गृह-युद्ध में यूमेनीज की सहायता करने चला गया। यूमेनीज पराजित हुआ और उसके प्रतिद्वन्द्वी ऐण्टीगोनस ने यूडेमस का वध करा दिया।

इस घटना-चक्र में कई प्रश्न निहित हैं—

(१) ३२१ ई० पू० और ३१७ ई० पू० के बीच यूडेमस भारत के किस भाग में और किस रूप में रहा?

(२) उसके रहते हुए क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि ३१७ ई० पू० तक पश्चिमोत्तर प्रदेश अथवा उसका कुछ भाग यूनानी आधिपत्य से स्वतन्त्र न हुआ था?

(३) वह कौन भारतीय राजा था जिसकी हत्या करके यूडेमस ने भारत छोड़ा था?

इन प्रश्नों का उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता।

(१) अनुमानतः यूडेमस राजकीय पदाधिकारी के रूप में ३१७ ई० पू० तक न रहा था। किसी भी यूनानी लेख में यूनानी पदाधिकारी अथवा क्षत्रप के रूप में इसका उल्लेख नहीं मिलता। ३२१ ई० पू० पीथन का सिन्ध से हटाया जाना, यूडेमस का सिन्धु नदी के पश्चिम में नियुक्त किया जाना और ट्रिपैरिडिसस की सन्धि में भारत में यूनानी आधिपत्य का उल्लेख न होना इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय तक भारत से यूनानी सत्ता समाप्त हो गई थी। यूडेमस के पास न कोई पद था और न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई अधिकार। वह सम्भवतः भारतीय राजाओं, पुरु आदि, की दया पर निर्भर रहते हुए पश्चिमोत्तर प्रदेश के किसी भाग में एक प्रभावहीन व्यक्ति के रूप में रहा था।

(२) अतः यूनानी यूडेमस का भारत में ३१७ ई० पू० तक रहना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस तिथि तक पश्चिमोत्तर प्रदेश यूनानियों के ही अधीन था। यदि यूडेमस के अधीन भारत का कोई भाग होता तो यूनानी-रोमन लेख इस बात का उल्लेख अवश्य करते।

(३) सम्भवतः पुरु ने यूनानी आधिपत्य को हृदय से कभी भी स्वीकार न किया था। अनुमान किया जा सकता है कि सिकन्दर के भारत से जाते ही, विशेषतः उसकी मृत्यु के पश्चात्, पुरु ने यूनानी पदाधिकारियों का साथ छोड़ दिया और उसने चन्द्रगुप्त और चाणक्य द्वारा संचालित भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में योग दिया। भारत का एकमात्र यूनानी यूडेमस पुरु के विद्रोह के पश्चात् असहाय और विवश हो गया था। वह पुरु के कार्य को विश्वासघात समझता था और इसी से उससे क्रुद्ध था। अन्त में विश्वासघात से उसने पुरु की हत्या कर दी और भारत से भाग गया। इस प्रकार सम्भवतः यूडेमस द्वारा मारा गया भारतीय नरेश पुरु ही था। डिओटोरस के विवरण के एक पाठ में मारे हुए भारतीय नरेश का नाम पुरु मिलता है।

मगध-विजय—यूनानी-रोमन साक्ष्य चन्द्रगुप्त और चाणक्य की मगध-विजय का कहीं भी उल्लेख नहीं करते। वे केवल यही बताते हैं कि चन्द्रगुप्त प्राच्य और गंगा-घाटी का स्वामी था। परन्तु यह स्वामित्व प्राप्त कैसे हुआ, इस विषय में वे पूर्णरूप से मौन हैं। मगध-विजय का ज्ञान हमें एकमात्र भारतीय साक्ष्यों से ही होता है। अधिकांशतः ये साक्ष्य इस विजय का श्रेय चाणक्य को देते हैं और कहते हैं कि उसने नन्दों का विनाश करके चन्द्रगुप्त को राजा बनाया था। यह ब्राह्मण-आचार्यों को सर्वाधिक मान्यता देने की भारतीय प्रवृत्ति का परिणाम था।

मगध-विजय—चाणक्य द्वारा मगध-विजय के निम्नलिखित साक्ष्य उपलब्ध होते हैं—

(१) पुराण—ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते हैं कि 'ब्राह्मण कौटिल्य नवनन्दों का नाश करेगा ....कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेश करेगा[1]।'

१—"नवैव तान् नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणःसमुद्धरिष्यति.......... ।
कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥"
तथा
"उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विरष्टिभिः ।
कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) अर्थशास्त्र—इससे भी चाणक्य द्वारा नन्द-वंश का विनाश ज्ञात होता है।[1]

(३) मुद्राराक्षस—यह नाटक चाणक्य द्वारा नन्दों के विनाश और चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण का उल्लेख करता है।

(४) कथासरित्सागर और वृहत्कथामंजरी—इन ग्रन्थों में भी यह सत्य निहित है, यद्यपि ब्यौरे का अन्तर है।

(५) कामन्दक नीतिशास्त्र—इसका कथन है कि चाणक्य ने नन्दों का नाश किया और चन्द्रगुप्त को राजा बनाया।[2]

जैन-ग्रन्थ

(१) परिशिष्टपर्व—इसका कथन है कि चाणक्य ने पहले मध्यदेश (मगध) पर आक्रमण किया था, परन्तु वह असफल रहा। अन्त में उसने अपनी योजना बदली और पहले सीमान्त प्रदेश को जीता। तत्पश्चात् उसने पुनः मगध पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। इसके कथन में प्रमुख अन्तर यह है कि चाणक्य ने नन्दराज का विनाश नहीं किया था वरन् उसे राजधानी छोड़कर चले जाने की अनुमति दे दी थी।

(२) स्थविरावलि—यह भी चाणक्य द्वारा नन्दों के विनाश और चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण की घटना की पुष्टि करता है।

बौद्ध-ग्रन्थ

(१) महावंश—इस ग्रन्थ का कथन है कि चन्द्रगुप्त मौर्य-वंश में उत्पन्न हुआ था। ब्राह्मण चाणक्य ने नवें धननन्द का विनाश करके चन्द्रगुप्त को समस्त जम्बूद्वीप का राजा बनाया।[3]

(२) महावंश टीका—इस ग्रन्थ के अनुसार भी चाणक्य ने धननन्द का नाश किया था और चन्द्रगुप्त को राजा बनाया था।

१—"येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥"

२—"यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥"

३—"मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं
चन्द गुत्तोति पञ्ञत्तं चणक्को ब्राह्मणो ततो।
नवमं धननन्दं तं घातेत्वा चण्डकोधसा
सकले च जम्बूद्वीपम्हि रज्जे समभिसिंच सो ॥"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) **मिलिन्द प्रश्न**—यह ग्रन्थ चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा नन्दों के विनाश का अधिक ब्यौरा देता है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना से नन्द-सेना का बड़ा भयंकर युद्ध हुआ था। नन्दों का सेनापति भद्दसाल था। इस युद्ध में १०० कोटि सैनिक, १ लाख हाथी, इतने ही घोड़े और ५ सौ रथारोही मारे गये। यह संख्या अतिरंजित है। परन्तु इससे युद्ध की भयंकरता का अनुमान होता है।

पहले पंजाब-विजय अथवा मगध-विजय ?—इस बात पर बड़ा मतभेद है कि चन्द्रगुप्त ने पहले पंजाब की विजय की अथवा मगध की विजय।

(१) डा० स्मिथ और डा० रायचौधरी मगध-विजय को पहले रखते हैं।

(२) परन्तु हैवेल, टामस आदि विद्वानों ने पंजाब-विजय को पूर्वकालीन माना है।

इन दोनों मतों में दूसरा मत अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है। इसके पक्ष में निम्नलिखित साक्ष्य दिये जा सकते हैं—

(क) **महावंश टीका**—इस ग्रन्थ का कथन है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम मगध पर आक्रमण किया, परन्तु वह असफल रहा। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी योजना बदल दी और पहले सीमा-प्रान्त (पंजाब) पर अधिकार किया। इसके पश्चात् उन्होंने मध्य-देश (मगध) को जीता।

(ख) **परिशिष्टपर्व**—इस ग्रन्थ का विवरण बहुत कुछ 'महावंश टीका' के विवरण से मिलता है।

(ग) **जस्टिन**—इस लेखक के विवरण से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त ने 'डाकुओं' के झुण्ड एकत्र करके पंजाब को स्वतन्त्र कराया था। यदि पंजाब-विजय के पूर्व ही चन्द्रगुप्त मगध पर अधिकार कर चुका होता तो वह मगध-राज्य की सेना को साथ लेकर पंजाब पर आक्रमण करता। उस स्थिति में उसे 'डाकुओं' के झुण्ड एकत्र करने की आवश्यकता न होती।

पर्वतक—'मुद्राराक्षस' मगध-विजय के पूर्व चाणक्य और पर्वतक नामक एक राजा के बीच हुई सन्धि का उल्लेख करता है। डा० टामस का मत है कि यह पर्वतक पुरु था और मगध-विजय चन्द्रगुप्त और पुरु के सम्मिलित प्रयासों से हुई थी।

परन्तु डा० रायचौधरी ने इस समीकरण को असंगत बताया है—

(१) 'मुद्राराक्षस' के अनुसार पर्वतक म्लेच्छ था, परन्तु पुरु पौरववंशीय भारतीय था।

(२) 'मुद्राराक्षस' के अनुसार पर्वतक किसी पर्वतीय प्रदेश का राजा था, परन्तु पुरु व्यास और झेलम (बाद को सिन्धु) के बीच तक के प्रदेश में मैदानी राज्य का शासक था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) मुद्राराक्षस से प्रकट होता है कि चाणक्य ने विषकन्या द्वारा पर्वतक की हत्या कराई थी, परन्तु पुरु सम्भवतः यूडेमस द्वारा विश्वासघात से मारा गया था।

चन्द्रगुप्त की सिंहासनारोहण-तिथि—जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह तिथि बेबिलोन की सन्धि (३२३ ई० पू०) और ट्रिपैरिडिसस की सन्धि (३२१ ई० पू०) के बीच में रखी जा सकती है। अनुमानतः चन्द्रगुप्त ३२२ ई० पू० सिंहासन पर बैठा।

चीनी अनुश्रुति के अनुसार महात्मा बुद्ध ने ४८७ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया था।[1]

'महावंश' से विदित होता है कि अशोक का अभिषेक महात्मा बुद्ध के निर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात हुआ था। अतः अशोक के राज्याभिषेक की तिथि ४८७-२१८ = २६९ ई० पू० निश्चित हुई।

'महावंश' से यह भी प्रकट होता है कि अशोक का राज्याभिषेक उसके सिंहासनारोहण के ४ वर्ष पश्चात् हुआ था। अतः उसके सिंहासनारोहण की तिथि २६९+४ =२७३ ई० पू० हुई।

पुराणों का कथन है कि चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक और बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया था। अतः चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि २७३+२५+२४ =३२२ ई० पू० रखी जा सकती है। प्लूटार्क का भी कथन है कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) के पश्चात् अचिरात् राजा हुआ था।

चन्द्रगुप्त की प्रारम्भिक विजयों की तिथि—चन्द्रगुप्त की प्रारम्भिक विजयों का क्रम निम्नलिखित रूप में निर्धारित किया जा सकता है—

(१) ३२२ ई० पू०—झेलम और व्यास के बीच के प्रदेश की विजय और सिंहासनारोहण।

(२) ३२१ ई० पू०—शेष पंजाब और सिन्ध के प्रदेश। इस तिथि तक चन्द्रगुप्त ने व्यास नदी से लेकर सिन्धु नदी तक के बीच के सम्पूर्ण प्रदेश पर अधिकार कर लिया था।

(३) ३१३ ई० पू०—मगध की विजय। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त की मगध-विजय की तिथि ३१३ ई० पू० निश्चित होती है। कुछ विद्वान् इस कथन को सत्य मानते हैं और कहते हैं कि मगध का नन्द-साम्राज्य अत्यन्त शक्तिशाली और

१—चीनियों ने अपने कैण्टन नगर में महात्मा बुद्ध की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् से एक-एक विन्दु रखकर वर्षों की गणना की है। ४८९ ई० तक वहाँ ९७५ विन्दु हो गये थे। इनसे महात्मा बुद्ध के निर्वाण की तिथि ९७५+१--४८९=४८७ ई० पू० निश्चित होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समृद्धिशाली था। उस पर आक्रमण करने का साहस स्वयं सिकन्दर के सैनिकों को भी न हुआ था। अतः उससे लोहा लेने के लिये चन्द्रगुप्त और चाणक्य को दीर्घकाल तक तैयारी करनी पड़ी होगी। सम्भवतः यह तैयारी ३२१ ई० पू० से लेकर ३१३ ई० पू० तक चलती रही। अतः चन्द्रगुप्त की मगध पर आक्रमण और विजय की तिथि ३१३ ई० पू० मानी जा सकती है।

सेल्यूकस का आक्रमण—सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापतियों में साम्राज्य-विभाजन पर झगड़ा हुआ। इन सेनापतियों में सेल्यूकस और ऐण्टीगोनस विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों का संघर्ष दीर्घकाल तक चलता रहा। अन्त में विजय सेल्यूकस की हुई। उसने बेबिलोन पर अधिकार करने के पश्चात् पूर्व में अपना साम्राज्य-विस्तार सिन्धु नदी तक कर लिया।

अब सेल्यूकस अपने स्वामी सिकन्दर की भाँति भारत-विजय के स्वप्न देखने लगा। अन्त में अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसने सिन्धु नदी को पार करके भारत पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध तत्कालीन संसार के लिये एक महत्वपूर्ण घटना रही होगी, क्योंकि इसमें संसार के दो महान् साम्राज्यों—सीरिया-साम्राज्य और मगध साम्राज्य—की टक्कर हुई।

सेल्यूकस के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त का साम्राज्य कम से कम मगध से लेकर सिन्धु नदी तक विस्तृत था। प्लिनी ने एक स्थान पर लिखा है कि सिंधु नदी मगध-राज्य की सीमा पर बहती थी। मगध-राज्य के विस्तार का यह वर्णन सेल्यूकस के आक्रमण के समय का प्रतीत होता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त के पूर्व किसी भी भारतीय नरेश का राज्य-विस्तार सिंधु नदी तक न था और उसकी सेल्यूकस-विजय के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के साम्राज्य में सिंधु नदी के पश्चिम में अफगानिस्तान तक सम्मिलित था। अतः सेल्यूकस के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक अवस्था सिकंदर के समय-जैसी न थी। इस समय वहाँ परम पराक्रमी चन्द्रगुप्त का विशाल साम्राज्य था जिसकी रक्षा में महापण्डित चाणक्य की कूटनीति भी संलग्न थी।

अभाग्यवश इस ऐतिहासिक युद्ध का सम्पूर्ण ब्यौरा नहीं मिलता। भारतीय साक्ष्य इस युद्ध का उल्लेख नहीं करते। यूनानी-रोमन कभी-कभी सेल्यूकस के इस आक्रमण का उल्लेख तो करते हैं, परंतु वे इसके पूर्ण परिणाम के विषय में मौन हैं। हम यहाँ इनके समस्त प्रासंगिक उद्धरणों पर विचार करेंगे।

(१) जस्टिन इसका कथन है कि 'सेल्यूकस ने बेबिलोन पर अधिकार किया और फिर बैक्ट्रिया पर। उसके पश्चात् वह भारतवर्ष आया।…… ……सैण्ड्राकोटस उस समय भारत का राजा था जब सेल्यूकस अपनी महत्ता की नींव डाल रहा था। सेल्यूकस ने उससे सन्धि कर ली और पूर्व में सब काम निपटाकर वह ऐण्टीगोनस के विरुद्ध युद्ध में लग गया।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) प्लूटार्क—इसका कथन है कि 'थोड़े ही समय पश्चात् राजा सेल्यूकस को सैण्ड्राकोटस ने ५०० हाथी उपहार-स्वरूप दिये।'

(३) एरिअन—यह कहता है कि 'उस (सेल्यूकस) ने सिन्धु नदी पार की और भारतीयों के राजा सैण्ड्राकोटस से युद्ध किया। अन्त में उसने सन्धि कर ली और विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया।

(४) स्ट्रैबो—'इन प्रदेशों (पैरोपेनिसेडाय, अराकोशिया और गेड्रोशिया) में सिन्धु नदी के किनारे-किनारे के अधिकांश भाग भारतीयों के अधिकार में हैं। सेल्यूकस निकेटर ने उन्हें अन्तर्विवाह की सन्धि पर और सौ हाथियों की भेंट के बदले चन्द्रगुप्त को दे दिया था।'

दूसरे स्थान पर यही लेखक कहता है कि 'सिंधु नदी भारत और एरियाना के बीच सीमा थी।..........कालान्तर में भारतीयों ने एरियाना के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया। यह भाग उन्हें मेसीडोनिया-निवासियों ने दिया था।'

(५) प्लिनी—यह लिखता है कि 'बहुत-से लेखक ४ प्रांतों (पैरोपेनिसेडाय, अराकोशिया, एरियाना और गेड्रोशिया) को भारत में सम्मिलित मानते हैं।'

इन उद्धरणों के मूल तत्व के विषय में मतभेद हैं। प्रथम दो लेखक जस्टिन और प्लूटार्क—निश्चित रूप से यह नहीं कहते हैं कि सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त का युद्ध हुआ अथवा नहीं। इनके उद्धरणों के आधार पर अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् यह मत प्रस्तुत करते हैं कि अभी सेल्यूकस सिंधु नदी के पश्चिमी तट पर ही विद्यमान था कि उसे अपने यूनानी राज्य में अशान्ति और संकट की सूचना मिली। अतः उसने चंद्रगुप्त से युद्ध नहीं किया और उससे संधि करके अपने देश वापस लौट गया।

परन्तु यह मत नितांत असंगत है। प्रथमतः, तीसरा लेखक एरिअन स्पष्ट रूप से कहता है कि सेल्यूकस ने सिन्धु नदी पार की थी और सैण्ड्राकोटस से युद्ध किया था। द्वितीयतः, चौथे लेखक स्ट्रैबो के विवरण से प्रकट होता है कि चंद्रगुप्त और सेल्यूकस के बीच जो संधि हुई थी वह सेल्यूकस के हित के सर्वथा प्रतिकूल थी, क्योंकि उसे अपने साम्राज्य के विशाल प्रदेश चंद्रगुप्त को देने पड़े थे। उसने इस प्रकार की संधि विवशता-वश ही की होगी। वह चन्द्रगुप्त द्वारा बुरी तरह से पराजित किया गया होगा।

संधि की शर्तों के ऊपर भी विवाद है। स्ट्रैबो के विवरण के आधार पर टार्न महोदय लिखते हैं कि सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को पैरोपेनिसेडाय, अराकोशिया और गेड्रोशिया के वे ही प्रदेश दिये थे जो सिंधु नदी के किनारे-किनारे स्थित थे। सम्भवतः ये दिये गये प्रदेश निम्नलिखित थे—

(१) पैरोपेनिसेडाय का केवल गंधार-प्रदेश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) अराकोशिया का केवल वह प्रदेश जो एक ऐसी रेखा के पूर्व में होगा जो कुनार नदी से क्वेटा तक खींची जाय और फिर कलात और पुरली नदियों से होती हुई समुद्र तक पहुँचाई जाय।

(३) गेड्रोशिया का वह प्रदेश जो मीडियन हाइडैस्पीज (पुरली नदी) और सिंधु नदियों के बीच में है।

इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रगुप्त को अफगानिस्तान और बलोचिस्तान के केवल पूर्वी प्रदेश ही मिले।

टार्न महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस मत के विरोध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

(१) स्ट्रैबो स्पष्टतया कहता है कि मेसीडोनिआ-निवासियों ने एरियाना का अधिक भाग भारतीयों को दिया था।

(२) अशोक का एक लेख काबुल घाटी में मिला है। उसके अभिलेखों में यवनों का उल्लेख है। ये यवन पैरोपेनिसेडाय (काबुल) प्रदेश के निवासी थे। अशोक और बिन्दुसार ने काबुल-घाटी तक के प्रदेश को नहीं जीता था। इस प्रदेश को चन्द्रगुप्त ने ही हस्तगत किया होगा।

इस परिस्थिति में तो यही निष्कर्ष अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है कि सेल्यूकस ने सम्पूर्ण पैरोपेनिसेडाय, अराकोशिया तथा एरियाना और गेड्रोशिया के अधिकांश भाग चन्द्रगुप्त को दे दिये थे। प्लिनी का उपर्युक्त कथन कि 'बहुत से लेखक ४ प्रान्तों (पैरोपेनिसेडाय, अराकोशिया, एरियाना और गेड्रोशिया) को भारत में सम्मिलित मानते हैं, सम्भवतः इसी मत की पुष्टि करता है। इसी मत को स्वीकार करते हुए डा० स्मिथ ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने भारतवर्ष का विस्तार हिन्दूकुश तक कर दिया, जो भारतवर्ष की वैज्ञानिक सीमा है[1]।

विवाह—इस प्रश्न पर भी विद्वानों में मतभेद है। इसका प्रमुख कारण एरिअन और स्ट्रैबो के कथनों की विभिन्नता है—

(१) एरिअन कहता है कि 'अन्त में उसने (सेल्यूकस ने) सन्धि कर ली और (चन्द्रगुप्त के साथ) विवाह-सम्बन्ध (Kedos) स्थापित किया।

१. "The Hindukush now became the frontier between the Chandragupta's provinces of Paropanisadae to the south of the Seleucid province of Bactria to the north.........More than 2000 years ago, the first emperor of India entered into posession of that scientific frontier sighed for in vain by his British successors and never held in its entirety even by the Mughal Emperors of the 16th & 17th centuries A. D."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) स्ट्रैबो का कथन है कि 'सेल्यूकस निकेटर ने उन्हें (४ प्रान्तों को) अन्त-विवाह (epigamia) की सन्धि पर और १०० हाथियों की भेंट के बदले चन्द्रगुप्त को दे दिया था ।'

कुछ विद्वानों का मत है कि epigamia शब्द का तात्पर्य केवल विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के अधिकार से है । इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों राजाओं के बीच विवाह-सम्बन्ध नहीं हुआ, वरन् उन दोनों ने आपस में विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार स्थापित कर लिया । ये विद्वान् अपने मत के पक्ष में यह भी कहते हैं कि सेल्यूकस-वंश में कहीं पर भी चन्द्रगुप्त को उसका दामाद नहीं कहा गया है ।

परन्तु ये दोनों तर्क असंगत हैं । kedos का अर्थ स्पष्ट रूप से विवाह-सम्बन्ध है । एरिअन दोनों राजाओं के बीच हुए अन्तर्विवाह का असन्दिग्ध रूप से उल्लेख करता है ।

यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि epigamia का अर्थ केवल 'विवाह-सम्बन्ध की स्थापना का अधिकार' है तो भी विवाह को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं पड़ती । स्ट्रैबो का कथन है कि सेल्यूकस ने epigamia की शर्त पर ही अपने ४ प्रान्त देने का वचन दिया था । जब विवाह की शर्त पूरी हो गई होगी तभी वे ४ प्रान्त दिये गये होंगे । सम्भवत: ये प्रदेश दहेज के रूप में चन्द्रगुप्त को मिले ।

इस युद्ध की तिथि अनिश्चित है । सेल्यूकस का राज्याभिषेक ३०६ ई० पू० हुआ । इसके पश्चात् ही उसने भारत पर आक्रमण किया । इस आक्रमण की तैयारी में उसे लगभग एक वर्ष लग गया होगा । अत: आक्रमण की तिथि ३०५ ई० पू० मानी जा सकती है ।

चन्द्रगुप्त का साम्राज्य—चन्द्रगुप्त तत्कालीन संसार का महान् विजेता सिद्ध हुआ । उसने अपना राजनीतिक जीवन एक साधारण व्यक्ति के रूप में प्रारम्भ किया । परन्तु अपने बल-पौरुष से उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की ।'

अनेक साक्ष्यों से इस साम्राज्य की विशालता का पता चलता है—

(१) अर्थशास्त्र से परोक्ष रूप से विदित होता है कि यह साम्राज्य हिमालय पर्वत से लेकर समुद्रपर्यन्त विस्तृत था ।[1]

(२) मुद्राराक्षस भी इस साम्राज्य को दक्षिणी समुद्र तक विस्तृत कहता है ।[2]

(३) महावंश-टीका चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का शासक बताती है ।[3]

१—"तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरं उदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्ति क्षेत्रम्"—अर्थशास्त्र

२—"आतीरान्नै करागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य ।"—मुद्रा०

३—"सकले जम्बुदीपस्मिन् रज्जे समिभिसिंचि सो ।"—महावंश टीका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) जस्टिन उसे भारत का स्वामी बताता है।

(५) प्लूटार्क का कथन है कि चन्द्रगुप्त ने ६ लाख सैनिकों के साथ सम्पूर्ण भारत पर आक्रमण और आधिपत्य किया।

अन्य अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत भारतवर्ष के कौन-कौन प्रदेश थे –

(१) पूर्वी-पंजाब—सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त ने व्यास और झेलम के बीच के प्रदेश पर अधिकार किया।

(२) सिन्ध और पश्चिमी पंजाब—तत्पश्चात् उसने सिन्ध और पंजाब को जीता। इस प्रकार उसका साम्राज्य व्यास नदी से लेकर सिन्धु नदी तक हो गया।

(३) नन्द-साम्राज्य—उसकी मगध-विजय ने उसके हाथ में नन्दों का सम्पूर्ण साम्राज्य दे दिया। यह साम्राज्य मगध से व्यास नदी के पूर्व तक विस्तृत था। इसके अन्तर्गत कलिङ्ग और दक्षिणी भारत के भी कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। इस कथन की पुष्टि कुछ साक्ष्यों से हो जाती है—

यूनानी लेखक चन्द्रगुप्त को प्रचाय (प्राच्य या पूर्वी भारत) और गंगेडेराय (गंगा-घाटी का निचला प्रदेश) का शासक बताते हैं और उसकी राजधानी पालीबोथ्रा (पाटलिपुत्र) का उल्लेख करते हैं।

(४) दक्षिणी भारत—दक्षिणी भारत की विजय के सम्बन्ध में कुछ विवाद है। हम जानते हैं कि अशोक का साम्राज्य दक्षिण में कम से कम उत्तरी मैसूर तक विस्तृत था। परन्तु यह विजय अशोक की नहीं हो सकती। उसने तो अपने सम्पूर्ण शासन-काल में केवल एक—कलिङ्ग-युद्ध—किया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि दक्षिणी भारत की विजय उसके पिता बिन्दुसार अथवा पितामह चन्द्रगुप्त ने की थी।

डा० जायसवाल दक्षिण भारत की विजय का श्रेय बिन्दुसार को देते हैं। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) यूनानी बिन्दुसार को 'अमित्रघात' अथवा 'अमित्रखाद' के नाम से पुकारते हैं। इसका अर्थ है क्रमशः शत्रुओं का विनाश करने वाला अथवा शत्रुओं को खा जाने वाला। बिन्दुसार की इस उपाधि से अनुमान किया जा सकता है कि उसने कुछ शत्रुओं को पराजित किया होगा। ये शत्रु दक्षिणी भारत के होंगे।

(ख) तारानाथ का कथन है कि चाणक्य बिन्दुसार का भी मन्त्री रहा था। उसने पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में स्थित १६ नगरों के राजाओं को पराजित करके अपने स्वामी बिन्दुसार के अधीन कर दिया था। यहाँ बिन्दुसार की दक्षिणी-विजय का प्रमाण मिलता है।

परन्तु ये दोनों साक्ष्य नितान्त निर्बल हैं—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(क) उपाधियाँ सदैव सार्थक नहीं होतीं। कभी-कभी छोटे और निर्बल नरेश भी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण किए हुए देखे गये हैं।

(ख) तारानाथ बहुत बाद का लेखक है। अतः उसके साक्ष्य पर सहसा विश्वास नहीं होता। पुनः पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच के प्रदेश से एकमात्र दक्षिणी भारत का ही बोध नहीं होता। काठियावाड़ और बंगाल के बीच में स्थित मध्य प्रदेश भी पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में स्थित कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कोई भी साक्ष्य योद्धा और विजेता के रूप में बिन्दुसार का उल्लेख नहीं करता।

एथेनिग्रस नामक एक यूनानी का कथन है कि अमित्रघात (बिन्दुसार) ने सीरिया के राजा ऐण्टिओकस से मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। ऐण्टिओकस ने मदिरा और अंजीर भेजना सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु दार्शनिक भेजने में अपनी असमर्थता प्रकट की, क्योंकि यूनानी परम्परा के अनुसार कोई भी व्यक्ति बेचा अथवा खरीदा नहीं जा सकता था।

एथेनिग्रस के इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि बिन्दुसार की रुचि खाने-पीने और दार्शनिक चर्चाओं में थी, युद्ध और विजय में नहीं।

इस पृष्ठ-भूमि पर चन्द्रगुप्त को ही दक्षिणी भारत का विजेता मानना अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है। जिस युग-पुरुष ने यूनानी आधिपत्य को पश्चिमोत्तर प्रदेश में ध्वस्त कर दिया, जिसने परम शक्तिशाली नन्दों का सान्वय विनाश कर दिया, जिसने तत्कालीन यूनानी साम्राज्य के परम शक्तिशाली सम्राट् सेल्यूकस को पराजित करके अपने पूर्वज पुरु की पराजय का बदला लिया और अपने साम्राज्य का विस्तार हिन्दूकुश की वैज्ञानिक सीमा तक किया, वह दक्षिणी भारत की विजय भी कर सकता था, विशेषतया उस समय जब कि वहाँ कोई भी शक्तिशाली राजा प्रतीत नहीं होता।

यही नहीं, चन्द्रगुप्त की दक्षिण-विजय के कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलते हैं—

(अ) अर्थशास्त्र, मुद्राराक्षस, महावंश टीका, जस्टिन और प्लूटार्क के उपर्युक्त उद्धरण चन्द्रगुप्त को एकमात्र उत्तरी भारत का ही सम्राट् सिद्ध नहीं करते, वरन् वे उसके द्वारा दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेश पर आधिपत्य का भी संकेत करते हैं।

(आ) मामूलनार आदि तमिल-कवियों की कविताओं से प्रकट होता है कि दक्षिण में कोसार जाति और मोहुर जाति के बीच युद्ध हुआ था। इसमें कोसार जाति की सहायता करने के लिये मोरियार दक्षिण में तिन्नेवली जिले में स्थित पोडियिल पहाड़ी तक गये थे। इन कथनों में मौर्यों के दक्षिणी-अभियान की घटना संरक्षित है। सम्भवतः यह मौर्य-विजेता चन्द्रगुप्त ही था, क्योंकि तमिल कविताओं में एक स्थान पर बम्ब मोरियार (नवीन मौर्य अथवा प्रथम मौर्य) का उल्लेख हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० नीलकण्ठ शास्त्री ने तमिल कवियों के इस साक्ष्य को अस्वीकार किया है, क्योंकि ये चन्द्रगुप्त के चार-पाँच सौ वर्षों के पश्चात् की रचनायें हैं और इनमें अनेकानेक काव्यात्मक एवं अनैतिहासिक बातों का समावेश है।

किसी सीमा तक डा० शास्त्री की आपत्ति ठीक है। परन्तु यह सम्भव है कि इन कविताओं में काल्पनिक घटनाओं और नामों के रहते हुए भी चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिणी-अभियान की घटना संरक्षित हो।

(इ) 'राजवलिकथा' आदि जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि जैन धर्मावलम्बी चन्द्रगुप्त के समय में उत्तरी भारत में १२ वर्ष का एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उसी समय चन्द्रगुप्त अपने आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण चला गया और वहाँ उसने मैसूर में स्थित श्रवणबेलगोल में अनशन द्वारा प्राण त्याग दिये।

यह कथन सत्य हो सकता है। इससे कम से कम चन्द्रगुप्त का दक्षिणी भारत के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(ई) इस सम्बन्ध की पुष्टि लोक-कथाओं द्वारा भी होती है। ऐसा कहा जाता है कि श्रवणबेलगोल नामक स्थान पर जो चन्द्रगिरि नामक पहाड़ी है वह चन्द्रगुप्त के नाम पर ही है। इसी पहाड़ी पर 'भद्रबाहुस्वामी-गुहा' भी है। चन्द्रगिरि के समीप ही एक मन्दिर है, जिसे 'चन्द्रगुप्तवस्ति' कहते हैं। कहते हैं यहीं चन्द्रगुप्त ने आमरण अनशन किया था।

(उ) चन्द्रगिरि पहाड़ी पर कुछ अभिलेख भी मिले हैं। इनमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के आगमन की बात कही गई है। यद्यपि ये लेख बहुत बाद (७ वीं से १४ वीं शताब्दी तक) के हैं, परन्तु अन्य साक्ष्यों की भाँति ये भी चन्द्रगुप्त का दक्षिणी भारत के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

इन समस्त आधारों पर चन्द्रगुप्त मौर्य को ही दक्षिणी भारत का विजेता मानना चाहिए। दक्षिण में उसका साम्राज्य उत्तरी मैसूर तक विस्तृत होगा।

(५) बंगाल – बंगाल में पूर्वकालीन मौर्य-लिपि में महास्थान-अभिलेख मिला है। यह चन्द्रगुप्त के समय का हो सकता है। इस लेख में काकिनी मुद्रा का भी नाम आता है। यह मुद्रा 'अर्थशास्त्र' में भी उल्लिखित है। इससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है कि महास्थान-लेख चन्द्रगुप्त के समय का है। इस प्रकार सम्भवतः बंगाल भी चन्द्रगुप्त के अधीन था।

(६) पश्चिमी भारत—जूनागढ़-अभिलेख में चन्द्रगुप्त के अधीन सौराष्ट्र के राष्ट्रीय (गवर्नर) पुष्यगुप्त वैश्य का नाम आता है। इसी गवर्नर ने सुदर्शन झील बनवाई थी। अतः इस अभिलेख से सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त के अधीन सिद्ध होता है।

जैन साहित्य चन्द्रगुप्त को अवन्ति (मालवा) का भी राजा बताता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) **काश्मीर**—काश्मीर अशोक के अधीन था। परन्तु इसे उसने स्वयं नहीं जीता था। सम्भवत: इस पर चन्द्रगुप्त ने अधिकार स्थापित किया था। सिकन्दर के समय में काश्मीर-प्रदेश में अभिसार राज्य करता था। सम्भव है कि अभिसार ने यूनानियों के विरुद्ध भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में चन्द्रगुप्त की सहायता की हो और कुछ दिनों तक चन्द्रगुप्त के मित्र के रूप में उसने काश्मीर में शासन किया हो।

(८) **नेपाल**—यह प्रदेश भी अशोक के अधीन था। परन्तु इसकी विजय स्वयं उसने न की होगी। इसे भी उसके पितामह चन्द्रगुप्त ने ही मौर्य-साम्राज्य में मिलाया होगा।

(९) **अफगानिस्तान और बलूचिस्तान**—सेल्यूकस पर विजय प्राप्त करने के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त को पैरोपेनिसेडाय (काबुल-घाटी का प्रदेश), अराकोशिया (कन्धार-प्रदेश), एरियाना (हेरात-प्रदेश) और गेड्रोशिया (बलूचिस्तान) के प्रदेश प्राप्त हुए। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रगुप्त को अफगानिस्तान और बलूचिस्तान के प्रान्त मिले।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य हिन्दूकुश से बंगाल तक और हिमालय से उत्तरी मैसूर तक विस्तृत था।

चन्द्रगुप्त का धर्म—प्रारम्भ में चाणक्य के प्रभाव में चन्द्रगुप्त ब्राह्मण धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। यूनानी लेखकों से प्रकट होता है कि वह यज्ञ के लिये राजप्रासाद से बाहर निकलता था।

सम्भवत: वह बौद्ध धर्म का विरोधी था, क्योंकि इस धर्म ने सबके लिये संघ-प्रवेश का अनियन्त्रित अधिकार देकर समाज में विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी। अपने माता-पिता एवं अन्य आश्रितों की जीविका का प्रबन्ध किये बिना ही नवयुवकों का संघ-प्रवेश, स्त्रियों का अपने संरक्षकों को त्याग कर संघ-प्रवेश और अल्पायु, शोकार्त, भावुक, अभियुक्त व्यक्तियों का संघ-प्रवेश समाज में अव्यवस्था उत्पन्न कर रहा था। इसलिये चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य ने संघ-प्रवेश और बौद्ध धर्म के निवृत्तिमार्गी प्रचार के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगाये।

'थेरीगाथा' की टीका से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने एक बौद्ध स्थविर के पुत्र को बन्दी-गृह में डाल दिया था।

जैन साक्ष्यों से प्रकट होता है कि सम्भवत: अपने जीवन के अन्तिम चरण में चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और इसी धर्म के सिद्धान्त के अनुसार आमरण अनशन द्वारा उसने अपने प्राण दे दिये।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु—'मत्स्य पुराण' में चन्द्रगुप्त का शासन-काल ३४ (चतुस्त्रिंशत) वर्ष बताया गया है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस पाठ को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि 'मत्स्य पुराण' में चतुर्विंशत् अथवा चतुर्विंशति (२४) के स्थान पर भूल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से चतुस्त्रिंशत् लिख गया है। वास्तव में चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक ही शासन किया। इस मत की पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि 'वायु पुराण' और 'महावंश' में उसका शासन-काल २४ वर्ष का ही बताया गया है।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त की मृत्यु ३२२–२४ अर्थात् २९८ ई० पू० में हुई होगी।

चन्द्रगुप्त का शासन-प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध को जानने के लिये हमारे पास दो मुख्य साधन हैं—कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और मेगस्थनीज की 'इण्डिका'। चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज ने जो भी देखा या सुना उसे उसने अपनी इस पुस्तक 'इण्डिका' में लिखा। कालान्तर में यह पुस्तक नष्ट हो गई और उसके उदाहरण जहाँ-तहाँ पश्चिमी लेखकों की कृतियों में मिलते हैं। इस पुस्तक के विषय में यद्यपि सब विद्वान् एक मत नहीं हैं तो भी यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक से उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और भौगोलिक दशाओं का ज्ञान होता है।

दूसरा महत्वपूर्ण साधन है कौटिल्य द्वारा लिखित 'अर्थशास्त्र'। यह एक अपूर्व ग्रन्थ है जो चन्द्रगुप्त की शासन-सम्बन्धी बातों के विषय में ज्ञान कराता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य का विशाल साम्राज्य था। उसका प्रबन्ध करने के लिये उसने साम्राज्य को छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त किया और प्रत्येक को प्रान्तीय गवर्नर के अधीन किया। प्रान्तों को जनपदों में विभक्त किया गया। इस प्रकार ग्राम साम्राज्य की सबसे छोटी इकाई थी।

राजा—सम्पूर्ण साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी राजा होता था। उसका शासन उदार निरंकुश था। राजा की इच्छा ही कानून होती थी फिर भी वह पूर्णतया निरंकुश न था। प्रजा को पुत्रवत् समझता था। शासन-संचालन करने के लिये उसने महामन्त्री की नियुक्ति कर रखी थी। राजा को कठिन परिश्रम करना पड़ता था।

प्राचीन भारत में राज्य के ७ अङ्ग समझे जाते थे—(१) राजा (२) अमात्य (३) जनपद (४) दुर्ग (५) कोष (६) सेना और (७) मित्र। इनमें भी सर्वप्रमुख स्थान राजा का था। कौटिल्य ने राजा की योग्यता के ऊपर विशेष ध्यान देते हुए कहा है—वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह गुरुजन की बात को सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्यभाषी हो, परस्पर विरोधी बातों से परे हो, उच्च लक्ष्य वाला हो, अति उत्साही हो और सामन्त राजाओं को नियन्त्रण में करने वाला हो। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार राजा का जो शील होता है वही प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी और उन्नतिशील हो तो प्रजा भी उन्नतिशील होती है। यदि राजा प्रभावी हो तो प्रजा भी उसी प्रकार की होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा के मुख्य कार्य निम्नलिखित थे—

(१) न्याय—मेगस्थनीज ने लिखा है—'राजा दिन में कभी नहीं सोता, वह पूरे समय दरबार में बैठ कर न्याय तथा अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करता है। मालिश का समय भी इन कामों में रुकावट नहीं डालता।' जब राजा अपने वेश सँवारता है उस समय भी उसको चैन नहीं मिलता। कौटिल्य का भी कथन है कि राजा को चाहिए कि वह आवेदकों को अधिक समय तक द्वार पर प्रतीक्षा न करने दे। जब वह आवेदकों के लिये अप्राप्य हो जाता है, तब प्रजा में असन्तोष बढ़ने लगता है।

(२) व्यवस्था—'अर्थशास्त्र' में राजा को 'धर्म प्रवर्तक' कहा गया है और राज-शासन को कानून का स्रोत कहा गया है। अशोक के अभिलेखों में भी शासन का उल्लेख है।

सुदृढ़ शासन के लिए राजा राज्य के समस्त उच्च कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। वह 'मन्त्रि परिषद्' को बुलाता था और राज्य के हर भाग पर नियन्त्रण रखता था जनपद के समाहर्त्ता उसी के आदेशों के अनुसार शासन-संचालन करते थे।

मन्त्री—दैनिक कार्यों के लिये राजा कुछ मन्त्री नियुक्त करता था। इनका पद मन्त्रिपरिषद् से ऊँचा समझा जाता था। राजा उनसे परामर्श लेता था। उन्हीं के परामर्श से शासन-संचालन का कार्य किया जाता था। राजदूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति में ये राजा की सहायता करते थे।

अमात्य और अध्यक्ष—यूनानी लेखकों ने इनका वर्णन सातवीं जाति (Counsellors and Assessors) के रूप में किया है। वस्तुतः राज्य के समस्त उच्च पदाधिकारी (कार्यकारिणी और न्याय विभाग के) अमात्य कहलाते थे।

अध्यक्ष राज्य की दूसरी श्रेणी थी। स्ट्रैबो इन्हें Magistrates के नाम से पुकारता है। 'अर्थशास्त्र' में उल्लिखित अनेक अध्यक्ष यूनानी लेखकों के मजिस्ट्रेट थे।

समाहर्ता—साम्राज्य के जनपद 'समाहर्ता' नामक अमात्य के अधीन होते थे। उनका प्रमुख कार्य कर एकत्र करना होता था। जनपदीय कार्यों में सहायता देने के लिये समाहर्ता के अधीन शुल्काध्यक्ष (व्यापार सम्बन्धी करों को एकत्र करने वाला) सीता-ध्यक्ष, सुराध्यक्ष, नावध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष आदि पदाधिकारी कार्य करते थे।

मन्त्रि-परिषद्—'अर्थशास्त्र' के अनुसार राजसत्ता में सहायता की आवश्यकता पड़ती है। यह ठीक भी था, क्योंकि इतने बड़े साम्राज्य का भार कोई एक व्यक्ति नहीं उठा सकता। इसलिये राजा ने अपनी मदद के लिये मंत्रिपरिषद् बनाई। इसके सदस्यों को 'सचिव' या 'अमात्य' कहा जाता था। एरियन के अनुसार राजा इनकी सहायता से कार्य करता था। राजपुत्रों पर इनका नियन्त्रण रहता था। कौटिल्य

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन्हीं मंत्रियों में-से था। इस परिषद् में किसी विशेष विचार का नहीं बल्कि सभी विचारों का प्रतिनिधित्व होता था। इसे आवश्यकता पड़ने पर ही बुलाया जाता था। परिषद् के सदस्य राजा द्वारा मनोनीत होते थे। 'अर्थशास्त्र' से प्रकट होता है कि इस परिषद् की मंत्रणा अति गुप्त रखी जाती थी।

मुख्य पदाधिकारी—पदाधिकारी इस प्रकार थे—मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक (द्वाररक्षक), अन्तर्वेशिक (अन्तःपुर-रक्षक), प्रशास्तृ (पुलिस अध्यक्ष), समाहर्ता (कर एकत्र करने वाला), सन्निधाता (कोषाध्यक्ष), नायक, कर्मान्तिक (कारखानों का निरीक्षक), दुर्गपाल तथा अन्तपाल, इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पदाधिकारी होते थे।

न्याय-व्यवस्था—राजा न्यायमूर्ति था। गाँवों के छोटे-छोटे झगड़े अधिकतर गाँव का मुखिया निबटा दिया करता था। सभी सूत्रों ने न्याय की कठोरता का उल्लेख किया है। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि भारतीयों में चोरी शायद ही कभी होती थी। राज-कर जान-बूझकर न देने से प्राणदण्ड दिया जाता था। विश्वासघात और व्यभिचार का दण्ड अंगच्छेद था। लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। सम्पूर्ण न्यायालयों की दो कोटियाँ थीं—

(१) **धर्मस्थीय न्यायालय**—जो लोगों के पारस्परिक मुकदमों पर निर्णय देते थे।

(२) **कण्टकशोधन न्यायालय**—ये उन मुकदमों को जो व्यक्ति और राज्य के बीच होते थे सुलझाया करते थे। न्याय-व्यवस्था के चार आधार थे—(१) धर्म, (२) व्यवहार, (३) चरित्र और (४) राज-शासन। मेगस्थनीज न्याय की इस विशिष्ट प्रणाली को न समझ पाया, इसलिये उसने कहा कि 'भारतीयों के पास कोई लिखित कानून नहीं है।' कोई भी न्यायाधीश मनमानी नहीं कर सकता था। चाणक्य ने स्वयं राजा के लिये लिखा है कि यदि वह किसी निरपराधी को दण्ड दे तो उसे तिगुना दण्ड भुगतना पड़ेगा।

नगरों का प्रबन्ध—मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए कहा है कि वह भारत का सबसे बड़ा नगर था। ९½ मील लम्बा, १¾ मील चौड़ा वह गंगा और सोन नदियों के संगम पर बसा हुआ था। उसकी रक्षा के लिये ६०० फुट से अधिक चौड़ी, ३० हाथ गहरी खाई जल से भरी रहती थी। खाई और नगर के बीच एक दीवार थी जिसमें ५७० बुर्ज और ६४ द्वार थे। इस प्रकार यह नगर आक्रमणों से सुरक्षित था।

मेगस्थनीज ने इसका प्रबन्ध करने वाली ६ समितियों के एक बोर्ड का उल्लेख किया है। 'अर्थशास्त्र' में इस बोर्ड का उल्लेख न होकर नगराध्यक्ष का उल्लेख किया गया है। समितियों के कार्य अलग-अलग थे—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहली समिति—औद्योगिक शिल्पों का निरीक्षण करती थी।

दूसरी समिति—विदेशियों की गतिविधियों की जानकारी रखती थी।

तीसरी समिति—जन्म-मरण का हिसाब रखती थी।

चौथी समिति—व्यापार की देखभाल करती थी।

पाँचवीं समिति—कारखाने में तैयार वस्तुओं पर नियन्त्रण रखती थी।

छठी समिति—बिकी हुई वस्तुओं पर लगने वाले कर इकट्ठा करती थी।

पाटलिपुत्र की भाँति अन्य नगरों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था रही होगी।

ग्रामों का प्रबन्ध—ग्राम साम्राज्य की सबसे छोटी इकाई थी। इसका प्रबन्ध 'ग्रामिक' करता था। 'अर्थशास्त्र' के वैतनिक पदाधिकारियों में 'ग्रामिक' का नाम नहीं आता; अतः यह अवैतनिक तथा ग्राम की जनता द्वारा निर्वाचित होता था। ग्राम के रीति-रिवाज गाँव के लिये मान्य होते थे। ५–१० ग्रामों का प्रबन्ध करने के लिये 'गोप' होता था। ८०० ग्रामों के 'स्थानीय' का अधिकारी 'स्थानिक' होता था। सम्पूर्ण जनपद का अधिकारी 'समाहर्ता' होता था।

राजस्व—राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था। इसको 'भाग' कहा जाता था। यह उपज का छठा भाग होता था। साम्राज्य में भूमि दो प्रकार की थी। भूमि से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं पर भी कर लगाये जाते थे—(१) सेतु या फल मूल आदि पर कर और (२) वन कर। इसके साथ ही आयात और निर्यात की सामग्री पर भी कर लगाये जाते थे। कोई भी वस्तु अपने उत्पत्ति-स्थान पर बेची या खरीदी नहीं जा सकती थी। सर्वप्रथम वह शुल्काध्यक्ष के सामने रखी जाती थी। आय का साधन नगर भी थे। शराब बनाने वालों पर, नमक बनाने वालों पर, घी-तेल आदि के व्यवसाय पर भी कर लगाये जाते थे। खान, नमक और हथियारों पर भी कर लगते थे।

प्रान्तीय व्यवस्था—साम्राज्य की विशालता के कारण उसको प्रान्तों में बाँटा गया था। अशोक के अभिलेखों में इन प्रान्तों के उल्लेख मिलते हैं—

उत्तरापथ—	(राजधानी)	तक्षशिला।
अवन्ति—	,,	उज्जयिनी।
दक्षिणापथ—	,,	सुवर्णगिरि।
प्राच्य—	,,	पाटलिपुत्र।
कलिंग—	,,	तोसली।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिणापथ और कलिंग चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में थे या नहीं, इस विषय में मतभेद है।

राजपुत्रों पर विशेष निगरानी रखी जाती थी, क्योंकि कौटिल्य के अनुसार राज्य के कारण पिता पुत्र और पुत्र पिता से घृणा करता है।

प्रान्त 'विषयों' में बँटे हुए थे।

सेना—चन्द्रगुप्त के पास एक विशाल सेना थी। उसकी गज सेना बड़ी प्रसिद्ध थी। उसकी सेना में ६,००,००० पैदल, ३०,००० घुड़सवार, ९,००० हाथी और ८,००० रथ थे। सैनिकों को वेतन राज्य की ओर से दिये जाते थे, इसका उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है। इनके धनुष बहुत बड़े होते थे। इस विशाल सेना का शासन एक युद्ध-समिति के हाथ में था। इसमें ३० सदस्य होते थे और यह पाँच-पाँच की छह समितियों में बँटी थीं।

सिंचाई तथा यातायात-व्यवस्था—प्रजा की भलाई के लिये सिंचाई तथा यातायात की व्यवस्था की गई थी। चन्द्रगुप्त के गवर्नर पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र में एक सुदर्शन झील बनवायी थी। इसकी मरम्मत अशोक और रुद्रदामा ने बाद में कराई थी। कुछ पदाधिकारी ऐसे होते थे जो भूमि की नाप-तोल तथा सिंचाई का प्रबन्ध करते थे।

चन्द्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से पाटलिपुत्र तक ११५० मील लम्बी सड़क का निर्माण कराया था। इस सड़क पर हर आध कोस की दूरी पर निशान लगे हुए थे। इस सड़क की सुरक्षा भी अधिकारी वर्ग करता था।

गुप्तचर-व्यवस्था—ये गुप्तचर सम्राट् को शासन-कार्य में बहुत सहायता देते थे। ये सम्पूर्ण राज्य में फैले हुए थे। वेश्यायें भी इस काम में बहुत सहायता देती थीं, क्योंकि उनके पास हर तरह के व्यक्ति आते थे। एरियन ने गुप्तचरों को 'ओवर-सियर' तथा स्ट्रैबो ने 'इन्सपेक्टर' के नाम से पुकारा है। कौटिल्य ने दो प्रकार के गुप्तचरों का वर्णन किया है—(१) संस्था, जो स्थायी रूप से एक जगह रह कर कार्य करते थे और (२) संचारा जो भ्रमणशील थे और घूम-घूम कर अपराधियों का पता लगाते थे।

मेगस्थनीज का विवरण

मेगस्थनीज सेल्यूकस का राजदूत था। उसने भारतवर्ष में जो कुछ देखा और सुना उसे 'इण्डिका' में लेखबद्ध किया। कालान्तर में यह पुस्तक विलुप्त हो गई और उसका पूरा विवरण प्राप्त न हो सका।

मेगस्थनीज ने भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा का वर्णन किया है। परन्तु इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् (स्ट्रैबो आदि)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके विवरण को झूठा बतलाते हैं। परन्तु स्ट्रैबो का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि मेगस्थनीज की 'इण्डिका' में से परकालीन लेखकों ने बहुत सामग्री ली है।

विदेशी होने के कारण मेगस्थनीज यहाँ की बहुत सी बातें न समझ पाया, यहाँ तक कि उसने उच्चारण भी गलत लिखे। इसके अनेक कारण हैं। उसने बहुत सी बातें जनश्रुति के आधार पर लिखी थीं। उसे दक्षिणी भारत का विशेष ज्ञान नहीं था। परन्तु कहीं-कहीं पर उसने निश्चित रूप से असावधानी दिखाई है। भारतीयों को उसने लेखन-शैली और लिखित क़ानून से अपरिचित बताया है।

परन्तु इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मेगस्थनीज का भारत-विवरण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यदि उसका विवरण प्राप्त न होता तो हम भारत की तत्कालीन दशा से काफी हद तक अपरिचित रह जाते।

मेगस्थनीज ने भारत की ७ जातियों का उल्लेख किया है—

(१) ब्राह्मण और दार्शनिक—ये समाज में आदरणीय समझे जाते थे। इनकी संख्या कम थी। ये करों से मुक्त रहते थे और यजन-याजन का काम करते थे।

(२) ग्वाले और शिकारी (आखेटक)—ये पशु-पालन और आखेट करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे; स्थायी न रहते थे।

(३) योद्धा—इनका सारा खर्च राज्य की ओर से होता था।

(४) मन्त्री और परामर्शदाता—इनकी संख्या सबसे कम थी। ये प्रायः ब्राह्मण या क्षत्रिय होते थे।

(५) निरीक्षक—ये राज्य के प्रत्येक कार्य का निरीक्षण करते थे। ये गुप्तचरों का काम करते थे और गुप्त सूचनायें राजा को पहुँचाते थे। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों होते थे। एरियन ने इन्हें 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' कहा है।

(६) कृषक—भारत कृषिप्रधान देश आरम्भ से ही रहा है, अतएव इनकी संख्या अधिक थी। ये कृषि-कार्य में ही लगे रहते थे। इनका युद्ध से कोई मतलब नहीं होता था। युद्ध में इन्हें कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती थी। इन्हें उपज का चौथा भाग राज-कर के रूप में देना पड़ता था।

(७) व्यापारी और श्रमजीवी—ये भारतीय समाज के वैश्य थे। ये अनेक प्रकार के धन्धे और व्यवसाय अपनाते थे। कुछ व्यापारियों को राज्य-द्वारा निर्दिष्ट कार्य करने पड़ते थे। कतिपय व्यवसायियों को जहाज, कवच तथा अन्य सामान बनाने पड़ते थे। उन्हें राज्य वेतन देता था। राज्य व्यापारियों को उधार भी देता था।

श्रमजीवियों की तुलना ब्राह्मण-व्यवस्था के शूद्रों से की जा सकती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फसल—देश के अनेक भागों में सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध था। उनमें उचित समय पर वर्षा होती थी। मेगस्थनीज के अनुसार 'भारत में अकाल कभी नहीं पड़ा और न कभी पौष्टिक पदार्थों की ही कमी हुई।' युद्ध के समय फसलों को कोई हानि नहीं पहुँचाता था। किसान अपना काम करते थे। कृषि की सम्पन्नता के कारण कृषक सबसे अधिक खुशहाल थे। भारत के अनेक बड़े-बड़े नगर नदी या समुद्र-तट पर बसे हुए थे। मेगस्थनीज ने गन्ने का भी उल्लेख किया है। वह कहता है कि कुछ अधिकारियों का काम भूमि को नापना और निरीक्षण करना था।

शिक्षा—इस कार्य को ब्राह्मण करते थे। ब्राह्मण समय-समय पर आकर गर्भवती स्त्री के सम्मुख अनेक प्रकार के मन्त्रोचारण करते थे। इस तरह बच्चे की शिक्षा तभी से शुरू हो जाती थी जब से वह गर्भ में आता था। बालक बड़े होने पर किसी शिक्षक के सिपुर्द कर दिया जाता था।

विवाह—विवाह का उद्देश्य भोग, संतान-प्राप्ति अथवा सहयोग-प्राप्ति होता था। समाज में बहुविवाह प्रथा थी। मेगस्थनीज ने विवाह की आर्ष प्रणाली का उल्लेख किया है, क्योंकि उसने एक जोड़ा बैल के बदले में पिता द्वारा पुत्री-दान का कथन किया है।

समाधि—मेगस्थनीज का कथन है कि शवों के ऊपर छोटी-छोटी समाधियाँ बनाई जाती थीं।

सती—मेगस्थनीज ने इसका उल्लेख नहीं किया। यह प्रथा मेगस्थनीज के बाद में शुरू हुई होगी।

ब्राह्मण और श्रमण—मेगस्थनीज ने कहा है ये लोग भोगविलास से दूर रहते थे। ये मांस भी नहीं खाते थे। कुशासनों और मृगचर्मों पर सोते थे। मेगस्थनीज ने ब्राह्मणों के शील और विद्वत्ता की प्रशंसा की है। जन्म-मरण के प्रश्नों पर वे विचार करते थे। मेगस्थनीज के लेखों से प्रकट होता है कि सिकन्दर ने मेन्डनिस नामक एक अनिच्छुक ब्राह्मण को मृत्युदण्ड की धमकी देकर अपनी राजसभा में बुलाने का प्रयास किया, परन्तु उसने यह कहलवाया कि 'सिकन्दर मेरा शीश कटवा सकता है, परन्तु वह मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकता।' इस उदाहरण से भारतीयों के आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचार व्यक्त होते हैं।

लेखन-कला—मेगस्थनीज कहता है कि भारतीय लेखन कला से अनभिज्ञ हैं। उसका यह कथन असत्य है, क्योंकि उसके पूर्व निआर्कस लिख चुका था कि भारतीय एक प्रकार के कपड़ों पर लिखते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवता—मेगस्थनीज ने भारतवर्ष में डिग्रोनिसिग्रस ग्रौर हेरक्लीज देवताग्रों की मूर्ति-पूजा का उल्लेख किया है। वास्तव में यह क्रमश: शिव ग्रौर कृष्ण की पूजा थी। ग्राज की भाँति गंगा भी पवित्र मानी जाती थी।

ग्रपराध ग्रौर दण्ड—मेगस्थनीज ने भारतीयों के चरित्र की प्रशंसा की है। उसने चोरियों की संख्या बहुत कम बताई है। चन्द्रगुप्त के शिविर में, जहाँ ४ लाख मनुष्य रहते थे, चोरियों के उदाहरण बहुत कम मिले हैं। यूनानी-यात्री ने भारत के दण्ड विधान को बहुत कठोर बताया है।

मेगस्थनीज कहता है कि राजा दिन में राजसभा में न्याय करता रहता था। वह प्रजा के ग्रावेदनों को ध्यान से सुनता था। मेगस्थनीज का कथन है कि राजा सदैव प्राण-भय से ग्राशंकित रहता था ग्रौर इसीसे वह प्राय: एक कमरे में दो रातें व्यतीत नहीं करता था। 'मुद्राराक्षस' में उसके विरुद्ध हुए षड्यन्त्रों का उल्लेख मिलता है।

भौगोलिक स्थिति—मेगस्थनीज के कथनानुसार भारत एक चतुर्भुज के समान है। उसके उत्तर में हिमोद्स पहाड़ ग्रौर पश्चिम में सिन्धु नदी है। गंगा, सोन, कोसी (Kosoagus), गंडक (Kondochatos) ग्रादि के नाम दिए हैं। उसने दक्षिण ग्रौर पूर्व में समुद्रों का उल्लेख किया है। यहाँ की सबसे बड़ी नदी गंगा बताई है, जिसकी कम से कम चौड़ाई १०० स्टैडिया है। ग्रपने सबसे ग्रधिक चौड़े रूप में तो वह दिखाई भी नहीं देती। मेगस्थनीज ने ग्रफगानिस्तान की नदियों के भी नाम लिखे हैं। उसके ग्रनुसार भारत में गर्मी बहुत पड़ती है। वर्षा जाड़े में भी होती है ग्रौर गर्मी में तो वर्षा ग्रौर भी ग्रधिक होती है।

मेगस्थनीज के ग्रनुसार भारतवासी ग्रच्छे कपड़े पहनने के शौकीन थे। भोजन में चावल का विशेष महत्व था। मदिरा का प्रयोग यज्ञों के ग्रवसर पर ही किया जाता था।

बिन्दुसार

बिन्दुसार के विभिन्न नाम—चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार लगभग २९८ ई० पू० सिंहासन पर बैठा। चीनी ग्रन्थ 'फायुएन चु-लिन' उसे 'बिन्दुपाल' कहता है। पुराणों में कहीं-कहीं उसे 'भद्रसार' ग्रथवा 'वारिसार' के नाम से भी पुकारा गया है। यूनानी उसे 'ग्रमित्रखाद' ग्रथवा 'ग्रमित्रघात' की उपाधि से पुकारते हैं।[१] कुछ विद्वानों के ग्रनुसार जैन ग्रन्थ 'राजवलिकथा' में उल्लिखित चन्द्रगुप्त का पुत्र सिंहसेन वास्तव में बिन्दुसार ही है।

१—Amitrachates, Amitrochades or Allitrochades.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्टपर्व 'बिन्दुसार' नाम का एक विशेष कारण बताता है। वह कहता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा विष खिलाया करता था। अतः कुछ दिनों पश्चात् उसका सारा शरीर विषाक्त हो गया। एक दिन उसकी रानी ने उसके साथ भोजन कर लिया। फलतः उसकी मृत्यु हो गई। मृतक रानी गर्भवती थी। इसलिये चाणक्य ने तत्काल उस रानी का पेट चिरवा कर बच्चा निकलवा लिया। परन्तु उस समय तक उसके सिर पर विष का एक बिन्दु लग गया था। इसी से उसका नाम बिन्दुसार पड़ा।

माता—कुछ विद्वान् उसे चन्द्रगुप्त की यूनानी पत्नी की सन्तान बताते हैं, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। जैन साहित्य के अनुसार वह चन्द्रगुप्त की भारतीय पत्नी दुर्धरा से उत्पन्न हुआ था।

पत्नी—बिन्दुसार बहुपत्नीक था। साहित्य में कम से कम उसकी दो पत्नियों के नाम मिलते हैं। 'महावंश टीका' में उसकी पत्नी धम्मा का उल्लेख है और 'अशोकावदान' में सुभद्राङ्गी नामक पत्नी का।

व्यक्तित्व—'आर्यमंजुश्री' के अनुसार सिंहासन पर बैठने के समय बिन्दुसार अल्पायु था। परन्तु यह ग्रन्थ उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा करता है। इसके अनुसार वह प्रौढ़, धृष्ट (साहसी), प्रगल्भ (वाक्पटु) और प्रियवादी सिद्ध हुआ।[1]

इसके विरुद्ध यूनानी साक्ष्यों के आधार पर कुछ विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि वह विलाशी, विनोदी और दार्शनिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था।

एलिअन किसी भारतीय नरेश का उल्लेख करता है जिसके राजकुमार राजप्रासाद के भीतर बने हुए तड़ाकों में मछलियाँ पकड़ते और नौका-विहार करते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार यह भारतीय नरेश चन्द्रगुप्त था और तड़ाकों में मनोविनोद करने वाले राजकुमारों में बिन्दुसार भी था।

एथेनिअस नामक एक अन्य यूनानी लेखक बताता है कि अमित्रघात (बिन्दुसार) ने यूनानी नरेश एण्टिओकस से मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। इससे उसकी बिलासी और दार्शनिक प्रवृत्ति का अनुमान लगाया जाता है।

अशोक ने अपने सातवें स्तम्भ-लेख में कहा है कि मेरे पहले भी राजाओं ने धर्म-प्रचार की चेष्टा की थी। कुछ विद्वानों का मत है कि इस कथन से अशोक का तात्पर्य अपने पिता के धर्म-प्रचार से भी है।

१—"प्रौढ़ो धृष्टश्च संवृत्तः प्रगल्भश्चापि प्रियवादिनः।" —आर्य मंजुश्रीमूलकल्प

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिन्दुसार की दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्ति का अनुमान इस बात से भी होता है कि तारानाथ के अनुसार उसने महापण्डित चाणक्य को अपना महामन्त्री बनाया था। 'दिव्यावदान' का कथन है कि उसने एक अन्य आजीव-परिव्राजक को भी अपनी राजसभा में स्थान दिया था।

राजनीतिक घटनायें

विद्रोह—बिन्दुसार के शासन-काल की घटनाओं का विस्तृत ब्यौरा प्राप्त नहीं होता। कुछ प्रमाणों से प्रकट होता है कि उसके साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों का शासन असन्तोषजनक था। अतः वहाँ विद्रोह होने लगे थे—

(१) **दिव्यावदान** का कथन है कि तक्षशिला के निवासियों ने बिन्दुसार के दुष्ट एवं शोषक अमात्यों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था[1]। बिन्दुसार ने उनके दमन का कार्य अपने पुत्र अशोक के अधीन किया। जब अशोक तक्षशिला पहुँचा तब वहाँ की जनता ने उसे सूचित किया कि 'न तो हम बिन्दुसार के विरुद्ध हैं और न आपके। परन्तु आपके दुष्ट अमात्य हमें कष्ट देते है।' अन्त में अशोक उस विद्रोह को शान्त करने में सफल हुआ। इस विद्रोह का दमन करते हुए अशोक तक्षशिला से 'स्वश-देश' तक पहुँच गया था। 'स्वश राज्य', 'खश-राज्य' प्रतीत होता है। स्टीन महोदय के अनुसार यह राज्य काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में था।

(२) **तारानाथ** के विवरण से प्रकट होता है कि खशनिवासियों एवं नेपालनिवासियों ने भी बिन्दुसार के शासन-काल में विद्रोह किया था। इसे भी राजकुमार अशोक ने ही शान्त किया।

सोलह राजाओं का दमन—तारानाथ का कथन है कि बिन्दुसार के मन्त्री चाणक्य ने १६ सामन्तों और राजाओं का दमन करके अपने स्वामी को पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों से बीच के सम्पूर्ण प्रदेश का अधिपति बना दिया था। सम्भवतः यह नवीन प्रदेशों की विजय का सूचक नहीं है। दक्षिणी भारत का पर्याप्त भाग चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस प्रदेश के राजाओं ने विद्रोह किया होगा। चाणक्य ने उन्हीं विद्रोहों का दमन किया होगा, परन्तु यह

१—"अथो राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दुसारेण अशोकः विसर्जितः।..........न वयं कुमारस्य विरुद्धाः नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य। अपि तु दुष्टामात्या अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति।" — दिव्यावदान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल अनुमान ही है। तारानाथ का कथन ऐतिहासिक है अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

अमित्रघात की उपाधि—सम्भवतः अपने शासन-काल में होने वाले अनेक विद्रोहों को सफलतापूर्वक दमन करने के पश्चात् ही बिन्दुसार ने Amitrochates[1] अथवा Allitrochades[2] की उपाधि धारण की। फ्लीट के अनुसार यह यूनानी शब्द संस्कृत के 'अमित्रखाद' का रूपान्तर है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस समीकरण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार शुद्ध समीकरण 'अमित्रघात' है। 'अमित्रघात' शब्द का प्रयोग पतंजलि के 'महाभाष्य' और महाभारत में भी हुआ है।

कूटनीतिक सम्बन्ध—बिन्दुसार ने न केवल अपने पैतृक साम्राज्य को सुरक्षित रखा वरन् उसने अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में अपने देश के महत्व को भी कम न होने दिया। उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए यूनानी सम्राटों ने उसके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये—

(१) सेल्यूकस की मृत्यु के पश्चात् एण्टिओकस सोटर सीरिया का राजा हुआ। स्ट्रैबो का कथन है कि उसने अमित्रघात (बिन्दुसार) की सभा में अपना दूत डायमेकस भेजा।

(२) एथेनिअस के अनुसार इसी यूनानी सम्राट् से बिन्दुसार ने मदिरा, अंजीर और दार्शनिक भेजने की माँग की थी।

(३) 'प्लिनी' का कथन है कि मिस्र के राजा टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस ने पाटलिपुत्र में डिआनिसस नामक अपना एक राजदूत भेजा था। यह यूनानी नरेश बिन्दुसार और अशोक दोनों का समकालीन था। परन्तु अधिकांश विद्वानों के मतानुसार डिआनिसस बिन्दुसार के शासन-काल में ही पाटलिपुत्र आया था।

(४) डिओडोरस का कथन है कि 'पालीबोथ्रा' (पाटलिपुत्र) के राजा ने 'आयम्बुलस' नामक एक यूनानी लेखक का विशेष आदर-सत्कार किया। इससे भी विदेशियों के साथ बिन्दुसार के सम्बन्ध और उदारता का प्रमाण मिलता है।

बिन्दुसार के मन्त्री—बिन्दुसार ने शासन-संचालन में सम्मति और सहायता लेने के लिये अनेक मंत्रियों की नियुक्ति की थी। 'दिव्यावदान' उसके ५०० मंत्रियों की एक सभा का उल्लेख करता है।

१—एथेनिअस के अनुसार।

२—स्ट्रैबो के अनुसार।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके मंत्रियों में चाणक्य सर्वप्रमुख था। इसका उल्लेख 'तारानाथ', 'परिशिष्टपर्व' और 'आर्य मंजुश्रीमूलकल्प' ने किया है।

'परिशिष्टपर्व' बिन्दुसार के एक अन्य मंत्री सुबंधु का भी उल्लेख करता है। इसके समझाने-बुझाने से बिन्दुसार, चाणक्य से असंतुष्ट रहने लगा था। अतः चाणक्य अपने पद से इस्तीफा देकर तपस्या करने के लिये वन में चला गया था। उसके जाने के पश्चात् बिन्दुसार और सुबंधु दोनों को अपनी गलती का अनुभव हुआ। वे चाणक्य से क्षमा माँगने के लिये गये। चाणक्य ने उन्हें क्षमा तो कर दिया, परन्तु पुनः वापस आना अस्वीकार कर दिया।

'दिव्यावदान' बिन्दुसार के अन्य दो मंत्रियों खल्लाटक और राधगुप्त का भी नाम लेता है। चाणक्य के पश्चात् सम्भवतः यही दोनों क्रम से महामंत्री बनाये गये थे।

बिन्दुसार की मृत्यु—पुराणों का कथन है कि बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया। अतः उसकी मृत्यु २९८ – २५ अर्थात् २७३ ई० पू० हुई होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय २

अशोक महान्

अशोक—'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक बिन्दुसार की ब्राह्मणजातीया रानी का पुत्र था। परन्तु यह ग्रंथ उस रानी का नाम नहीं देता। 'महाबोधिवंश' अशोक की माता का नाम धम्मा बताता है। इसके विरुद्ध 'अशोकावदान माला' में उसका नाम सुभद्राङ्गी मिलता है। सम्भव है कि ये सब एक ही रानी के नाम हों।

टार्न, ध्रुव आदि के मतानुसार सेल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार से किया था और अशोक बिन्दुसार की इसी यूनानी पत्नी का पुत्र था। परन्तु यह मत पूर्णतया काल्पनिक है।

'महावंश', 'सामंतपासादिका', 'दिव्यावदान' आदि ग्रंथों से प्रकट होता है कि अपने पिता बिन्दुसार के शासन-काल में अशोक उज्जयिनी और तक्षशिला का गवर्नर रह चुका था। तक्षशिला के विद्रोह का दमन करके उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया था।

उत्तराधिकार का युद्ध—अशोक का सिंहासनारोहण शान्तिपूर्ण वातावरण में न हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे सिंहासन-प्राप्त करने के लिये अपने एक अथवा अनेक भाइयों से युद्ध करना पड़ा था। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

प्रत्यक्ष साक्ष्य

(१) सिंहली काव्य—सिंहल (लंका) के काव्यों—'दीपवंश' और 'महावंश' का कथन है कि अशोक ने अपने ९९ सौतेले भाइयों का बध करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का राज्य प्राप्त किया था[1]।

दूसरे स्थान पर 'महावंश' का कथन है कि बिन्दुसार के १०० पुत्र थे। इनमें सुमन सबसे बड़ा था। एक बार बिन्दुसार बीमार पड़ा। उस समय अशोक उज्जयिनी का गवर्नर था। अपने पिता की घातक बीमारी का समाचार पाकर अशोक पाटलिपुत्र

१—"वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनतं सतं।
सकले जम्बुदीपस्मिं एक रज्जमथापुणि॥"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आया और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने बड़े भाई **सुमन** की हत्या करके सिंहासन प्राप्त किया।

(२) **महाबोधि वंश**—इस ग्रन्थ का कथन है कि अशोक **सुसीम** और उसके समर्थक अन्य भाइयों की हत्या करके राजा बना था।

(३) **दिव्यावदान**—यह ग्रंथ भी अशोक के बड़े भाई का नाम **सुसीम** बताता है। बिन्दुसार **सुसीम** को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु राज्य के प्रधानमंत्री खल्लाटक, उसके पुत्र राधगुप्त तथा अन्य अमात्यों ने अशोक का पक्ष लिया और बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसे राजा बनाया। यह समाचार सुनते ही सुसीम ने राजधानी पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया। अशोक ने उसकी हत्या के लिये मार्ग में एक खाई बनबाई थी जिसमें गिर कर वह मर गया।

(४) **तारानाथ**—इस तिब्बती लेखक के अनुसार अशोक को राज्य प्राप्त करने के लिये अपने ६ भाइयों की हत्या करनी पड़ी थी।

(५) **चीनी ग्रन्थ**—'फा-युएन-चु-लिन' नामक चीनी ग्रंथ भी उत्तराधिकार के युद्ध की पुष्टि करता है। इसके अनुसार अशोक ने अपने भाई सुसीम का बध करके सिंहासन प्राप्त किया था।

इन उल्लेखों से कुछ निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) बिन्दुसार का सबसे बड़ा पुत्र सुमन अथवा सुसीम था। दोनों एक ही व्यक्ति के नाम प्रतीत होते हैं।

(२) बिन्दुसार के अन्य पुत्रों में सबसे अधिक योग्य, प्रभावशाली और महत्वाकांक्षी अशोक था।

(३) सुमन-सुसीम तथा अशोक दोनों ही अपने पिता के पश्चात् राजा बनना चाहते थे। बिन्दुसार ज्येष्ठता के आधार पर सुमन-सुसीम को राजा बनाना चाहता था। परन्तु राज्य के मंत्री योग्यता के आधार पर अशोक को राजा बनाना चाहते थे। इस प्रकार उत्तराधिकार का प्रश्न बड़ा विवाद-ग्रस्त बन गया।

(४) बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार का युद्ध हुआ। इसमें अशोक विजयी हुआ और वह सुमन-सुसीम तथा सम्भवत: उसके कुछ अन्य सहयोगी भाइयों की हत्या कर राजा बना।

(५) ९९ भाइयों की हत्या की बात अतिरंजित प्रतीत होती है। अशोक द्वारा मारे गये भाइयों की संख्या इससे कहीं कम होगी। तारानाथ केवल ६ भाइयों की हत्या का उल्लेख करता है।

अप्रत्यक्ष साक्ष्य

उत्तराधिकार-युद्ध के पक्ष में कुछ अप्रत्यक्ष साक्ष्यों को भी उद्धृत किया जा सकता है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) सिंहली काव्य—'दीपवंश' और 'महावंश' का कथन है कि अशोक का राज्याभिषेक उसके सिंहासनारोहण के ४ वर्ष पश्चात् हुआ। इसका कारण गृह-युद्ध और उससे उत्पन्न अशान्ति और अनिश्चितता हो सकती है।

(२) पुराण—डा० स्मिथ ने सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि पुराणों के अनुसार मौर्य-वंश ने १३७ वर्ष तक राज्य किया, परन्तु वायु पुराण और मत्स्य पुराण में पृथक्-पृथक् मौर्य-नरेशों के जो शासन-काल दिये गये हैं उनका योग केवल १३३ वर्ष होता है। यह अन्तर सम्भवतः गृह-युद्ध और उससे उत्पन्न अशान्ति-काल के कारण प्रतीत होता है।

(३) अन्य ग्रन्थ पुराणों में बिन्दुसार का शासन-काल २५ वर्ष का बताया गया है। परन्तु 'सामन्त पासादिका' के अनुसार उसने २८ वर्ष तक राज्य किया था। बर्मा के बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उसका शासन-काल २७ वर्ष का रहा। २–३ वर्षों का यह अन्तर भी बिन्दुसार के पश्चात् उत्तराधिकार-युद्ध के कारण हुआ है।

उत्तराधिकार-युद्ध के मत का विरोध—इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) एकमात्र बौद्ध ग्रन्थों में ही उत्तराधिकार-युद्ध का उल्लेख है। सम्भवतः बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पूर्व अशोक के हिंसक स्वभाव को प्रदर्शित करने के लिये कालान्तर में बौद्ध भिक्षुओं ने उत्तराधिकार-युद्ध और अशोक द्वारा अपने ९९ भाइयों की हत्या की बात गढ़ी है।

(२) बौद्ध ग्रथों में उत्तराधिकार-युद्ध के जो उल्लेख मिलते हैं वे विभिन्न हैं। उदाहरणार्थ, अशोक के भाई का नाम कहीं सुमन और कहीं सुसीम बताया गया है। इसी प्रकार कहीं मारे गये भाइयों की संख्या ९९, कहीं ६ और कहीं कही गई है। उत्तराधिकार के प्रश्न में रुचि लेने वाले प्रधानमंत्री खल्लाटक, उसके पुत्र राधगुप्त तथा अन्य ५०० अमात्यों का उल्लेख प्रत्येक बौद्ध ग्रंथ में नहीं मिलता।

(३) अशोक के पाँचवे शिलालेख से प्रकट होता है कि उसके भाई उसके शासन-काल में जीवित थे[1]।

(४) अशोक के अभिलेखों से प्रकट होता है कि वह अत्यन्त सहिष्णु, उदार और महान् व्यक्तित्व का मनुष्य था। उससे कभी भी यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह राज्य-प्राप्ति के लिये अपने भाइयों की हत्या करेगा।

(५) अशोक के अभिलेखों में उसके जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख है। परन्तु उनमें से कोई भी उत्तराधिकार-युद्ध का संकेत तक नहीं देता।

१—"हिद बहिरेषु च नगरेषु सव्रेहु ओरोधनेषु भतन च स्पसुन च ये वपि अञे आतिके सव्रत्र वियपट।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) डा० जायसवाल के मतानुसार अशोक के सिंहासनारोहण और राज्याभिषेक के बीच ४ वर्षों का जो अन्तर है उसका एक अन्य कारण भी हो सकता है। प्राचीन भारत में यह प्रथा थी कि राजकुमार का अभिषेक तभी होता था जब वह कम से कम २५ वर्ष का हो। सिंहासनारोहण के समय अशोक की अवस्था लगभग २१ वर्ष की थी। अतः उसका अभिषेक लगभग ४ वर्ष तक रुका रहा।

परन्तु ये सभी आपत्तियाँ निर्बल हैं—

(१) इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकमात्र बौद्ध ग्रन्थ ही अशोक के उत्तराधिकार-युद्ध का उल्लेख करते हैं, अन्य ग्रन्थ नहीं। परन्तु यहाँ यह महत्वपूर्ण बात है कि ये बौद्ध ग्रन्थ उत्तरी भारत, दक्षिणी भारत, लंका, बर्मा, चीन, तिब्बत आदि सभी स्थानों के हैं। पुनः अशोक की जीवन-सम्बन्धी अन्य घटनाओं का उल्लेख भी बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ नहीं करते। परन्तु हम केवल इसी आधार पर उन घटनाओं की ऐतिहासिकता को अस्वीकार नहीं कर सकते। बात यह थी कि अशोक बौद्ध था। अतः उसकी जीवन-घटनाओं और कार्यों में विशेष रुचि केवल बौद्ध ग्रन्थों ने ही ली, अन्य धर्मों के ग्रन्थों ने नहीं।

(२) बौद्ध ग्रन्थों में उत्तराधिकार-युद्ध के विवरण में अन्तर अवश्य है, परन्तु जहाँ तक उसके मूलतत्व—स्वयं युद्ध—का सम्बन्ध है वह सभी ग्रन्थों में सुरक्षित हैं।

(३) पहले कहा जा चुका है कि अशोक द्वारा अपने ९९ भाइयों की हत्या का कथन अतिरंजित है। सम्भवतः उसने सुमन-सुसीम तथा उसके कुछ सहयोगी भाइयों को ही मारा हो। उनके अतिरिक्त उसके अनेक भाई जीवित भी रहे होंगे। ५ वें शिलालेख में इन्हीं जीवित भाइयों का उल्लेख है।

(४) अशोक ने सहिष्णुता, उदारता और महत्ता आदि गुणों का प्रदर्शन बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात् किया था। बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पूर्व उसका स्वभाव अपेक्षाकृत निर्दय भी हो सकता था। कम से कम कलिङ्ग-युद्ध में उसके हत्याकाण्ड को देखकर यही अनुमान होता है।

(५) उसके अभिलेख अशोकसम्बन्धी प्रत्येक बात का उल्लेख नहीं करते। उदाहरण के लिये, वे उसके पिता और पितामह का भी नाम नहीं लेते। इसके अतिरिक्त अशोक अपने अभिलेखों में अपने कुकृत्यों का स्मरण नहीं दिलाना चाहता था। उत्तराधिकार-युद्ध की भाँति वह कलिङ्ग-युद्ध को कुकृत्य अवश्य समझता था। परन्तु यह युद्ध ही उसके हृदय-परिवर्तन का कारण था। अतः उसके जीवन में इसका विशेष महत्व था। इसी से उसने इसका उल्लेख अपने अभिलेखों में किया है। परन्तु उत्तराधिकार-युद्ध का इस प्रकार का कोई भी महत्व नहीं था। अतः उसका उल्लेख करना अशोक ने नितान्त अनावश्यक समझा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) प्राचीन भारत में इस प्रकार की कोई प्रथा न थी कि राजकुमार का अभिषेक तभी हो जब वह २५ वर्ष का हो जाय। महाभारत से प्रकट होता है कि विचित्रवीर्य का अभिषेक अल्पावस्था में ही हुआ था।

इस प्रकार समस्त साक्ष्यों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अशोक को सिंहासन प्राप्त करने के लिये अपने भाई अथवा भाइयों से युद्ध करना पड़ा था।

अशोक का क्रूर स्वभाव—बौद्ध ग्रन्थों में अशोक के प्रारम्भिक जीवन की क्रूरता के अनेक उल्लेख मिलते हैं। उसे मनुष्यों को नाना प्रकार के क्लेश देने में आनन्द का अनुभव होता था। 'दिव्यावदान' और ह्वेनसांग के कथनानुसार उसने एक नरक-गृह बनवा रखा था। इसमें विना अपराध अथवा छोटे-छोटे अपराधों पर मनुष्यों को विविध कष्ट दिये जाते थे। 'महावंशटीका' का कथन है कि अपने क्रूर कर्मों के कारण अशोक चण्डाशोक कहलाता था।

सेनार महोदय का मत है कि कलिङ्ग-युद्ध में अशोक की भयंकर निर्दयता को देख-सुन कर ही लोगों ने उसके विषय में अनेक प्रकार की क्रूर कथायें गढ़ ली थीं।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि स्वयं बौद्ध लेखकों ने अपने धर्म के प्रभाव को दिखाने के लिये अशोक के प्रारम्भिक जीवन को अति क्रूरतापूर्ण दिखाया है। उनके अनुसार बौद्ध धर्म के प्रभाव में अशोक-जैसा दुष्कर्मा व्यक्ति भी महान् साधु बन गया।

अशोक के प्रारम्भिक आठ वर्ष—अशोक अपने शासनकाल के प्रारम्भिक आठ वर्षों में मूलतः किसी भी अन्य सामान्य राजा की भांति था। वह स्वयं शिकार (मृगया) खेलने जाता और अपने आमोद-प्रमोद के लिये विहार-यात्रायें करता था। महाभारत से प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में विहार-यात्रायें सर्वकामप्रदा समझी जाती थीं। लोक-रंजन के लिये वह बहुधा समाज करता था जिनमें भोज, पशु-युद्ध, नर-पशु-द्वन्द्व, घुड़दौड़, रथदौड़ आदि का कार्यक्रम होता था। उसके रंधनागार में भोजन के लिये प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों पशु मारे जाते थे। इनसे तैयार किये गये मांसाहार को वह भी सम्भवतः दूसरों में बँटवाता था।

कलिङ्ग-युद्ध—अपने पूर्वजों की भाँति अशोक भी उत्कट साम्राज्यवादी था। वह भी सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन रखकर अपने चक्रवर्तित्व की घोषणा करना चाहता था। इसी नीति का अनुसरण करते हुए उसने कलिङ्ग-विजय की थी।

हम पहले कह चुके हैं कि हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिङ्ग नन्दों के अधीन था। जिस समय चन्द्रगुप्त ने नन्दों का विनाश करके उनके साम्राज्य को अपने अधीन किया तब उस साम्राज्य के साथ-साथ कलिङ्ग भी उसके अधीन आ गया होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्लिनी ने कलिङ्ग का एक शक्तिशाली राज्य के रूप में वर्णन किया है। उसके अनुसार कलिङ्ग राज्य के पास ६० हजार पैदल, १० हजार घुड़सवार और ७ सौ हाथी थे। प्लिनी के वर्णन से कलिङ्ग का राज्य एक स्वतन्त्र राज्य-सा लगता है। विद्वानों का कथन है कि प्लिनी का यह वर्णन मेगस्थनीज के वर्णन पर आधारित है। अतः मेगस्थनीज अथवा चन्द्रगुप्त के समय भी सम्भवतः कलिङ्ग का राज्य स्वतन्त्र था। परन्तु यह कथन अधिक सम्भव प्रतीत नहीं होता। चन्द्रगुप्त ने भारत के अधिकांश भाग पर ही नहीं, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान पर भी अधिकार कर लिया था। ऐसे साम्राज्यवादी राजा के समक्ष कलिङ्ग-जैसे छोटे से राज्य का स्वतन्त्र रहना एक असम्भव-सी बात प्रतीत होती है। अतः कलिङ्ग को महापराक्रमी चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन मानना ही अधिक स्वाभाविक है।

परन्तु जब कलिङ्ग चन्द्रगुप्त के समय से ही मौर्य-साम्राज्य में था तो फिर अशोक ने उसे जीतने का प्रयास कैसे किया ?

इस प्रश्न के निम्नलिखित उत्तर सम्भव हैं—

(१) बिन्दुसार के अपेक्षाकृत निर्बल शासन से कलिङ्ग स्वतन्त्र हो गया होगा।

(२) बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् हुए उत्तराधिकार-युद्ध से मौर्य-साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गई होगी। उसी से लाभ उठाकर कलिङ्ग ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी होगी।

(३) कलिङ्ग प्रारम्भ से ही मौर्य-साम्राज्य के अधीन था। सम्भवतः उसने अशोक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। अशोक ने केवल अपने अधीन राज्य के विद्रोह का दमन किया था, किसी स्वतन्त्र देश की विजय नहीं की।

इनमें प्रथम और द्वितीय मत असंगत प्रतीत होते हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं मिला कि बिन्दुसार के समय मौर्य-साम्राज्य का कोई भी भाग स्वतन्त्र हो गया था। उसके समय अनेक राज्यों में विद्रोह अवश्य हुए, परन्तु चाणक्य की कूटनीति और राजकुमार अशोक की वीरता की सहायता से बिन्दुसार उन्हें शान्त करने में पूर्ण सफल हुआ था।

अशोक के १३वें शिलालेख में कलिङ्ग-युद्ध का जो वर्णन है उससे प्रकट होता है कि यह युद्ध दो स्वतन्त्र राज्यों के बीच का युद्ध था, शासक और शासित राज्यों के बीच का नहीं।

इस अवस्था में उपर्युक्त तीसरी सम्भावना ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है।

जो भी हो, अशोक के १३वें शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष कलिङ्ग पर आक्रमण किया। कलिङ्ग-वासियों ने उसका

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डट कर सामना किया। इस युद्ध में कलिङ्ग की जो क्षति हुई उसे देखकर यह अनुमान होता है कि कलिङ्ग-वासियों ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिये सब कुछ दाँव पर लगा दिया। कलिङ्ग का यह युद्ध कलिङ्ग-वासियों के लिये सामूहिक अवरोध का युद्ध था। उक्त शिलालेख से विदित होता है कि इस युद्ध में १½ लाख आदमी बन्दी बनाये गये और १ लाख मारे गये। इससे कहीं अधिक बड़ी संख्या में मनुष्य मर गये। इस युद्ध में ब्राह्मणों, संन्यासियों और गृहस्थों तक को बड़े कष्ट सहने पड़े।

अन्त में मौर्य-सेना के सामने कलिङ्ग को झुकना पड़ा। फलस्वरूप उसे मौर्य-साम्राज्य में मिला लिया गया। उसका शासन-प्रबन्ध करने के लिये अशोक ने वहाँ अपना एक गवर्नर नियुक्त किया। कलिङ्ग में दो शासन-केन्द्र स्थापित किये गये—उत्तर में तोसली में और दक्षिण में जौगढ़ में।

अशोक का बौद्ध होना—कलिङ्ग का युद्ध अशोक अथवा भारत के लिये ही नहीं वरन् समस्त संसार के लिये एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हुआ। इसके भीषण रक्तपात और सामूहिक यातनाओं को देखकर अशोक का हृदय द्रवित हो गया। इस हृदय-परिवर्तन का उल्लेख करते हुए वह अपने १३ वें शिलालेख में स्वयं कहता है कि 'कलिङ्ग-विजय के पश्चात् देवानांप्रिय, प्रियदर्शी के हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ, क्योंकि किसी अविजित देश की विजय में मनुष्यों का वध, मृत्यु और बंदी रूप में अपहरण होता है। यह देवानांप्रिय प्रियदर्शी के लिये बड़े दुःख और पश्चात्ताप की बात है।........'

इस युद्ध के पश्चात् अशोक ने मगध की परम्परागत साम्राज्यवादिनी और विस्तारकारिणी नीति का सदैव के लिये परित्याग कर दिया। उसने भविष्य में युद्ध और शस्त्र-धारण न करने की घोषणा की। अपने चौथे शिलालेख में वह कहता है कि 'भेरी-घोष बंद कर दिया गया है।' युद्ध का बहिष्कार तत्कालीन संसार के लिये एक नूतन प्रयोग था।

कलिङ्ग-युद्ध के कुछ समय पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। डा० मुकर्जी का कथन कि इस युद्ध के पूर्व ही अशोक बौद्ध हो गया था, नितांत असंगत है। अशोक का १३वाँ शिलालेख उसके अभिषेक के ८वें वर्ष का है। इस अभिलेख में कलिङ्ग-युद्ध का वर्णन है। सम्पूर्ण अभिलेख के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक अशोक बौद्ध नहीं हुआ था। युद्ध से उत्पन्न उसके अनुशोचन (पश्चात्ताप) को देखकर यही अनुमान होता है कि उसके पश्चात् अर्थात् अपने अभिषेक के आठवें वर्ष के पश्चात् ही वह बौद्ध हुआ होगा।

अशोक का चौथा शिलालेख उसके अभिषेक के १२ वें वर्ष का है। यह अभिलेख उसके लघु शिलालेख प्रथम से मिलता-जुलता है। अतः सेनार महोदय का मत है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोनों एक ही काल के हैं। इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है कि लघु शिलालेख प्रथम भी अशोक के अभिषेक के १२ वें वर्ष का है। इस अभिलेख में अशोक बताता है कि २½ वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ जब से वह उपासक (गृहस्थ बौद्ध) है। इस प्रकार वह अपने अभिषेक के लगभग ९½ वर्ष पश्चात् बौद्ध हुआ होगा—कलिङ्ग-युद्ध के लगभग १½ वर्ष पश्चात्।

इस मत की पुष्टि उसके ८ वें शिलालेख से भी होती है। यह शिलालेख उसके अभिषेक के १० वें वर्ष का है। इसमें उसकी सम्बोधि (बोधगया)—यात्रा का वर्णन है। उसने यह यात्रा बौद्ध धर्म ग्रहण करने के थोड़े दिनों पश्चात् ही की होगी। अतः उसके बौद्ध धर्म ग्रहण करने की तिथि उसके अभिषेक के १० वें वर्ष के कुछ पूर्व—लगभग ९½ वें वर्ष मानी जा सकती है।

बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि अशोक को बौद्ध बनाने का श्रेय एक बौद्ध भिक्षु को है। कुछ ग्रन्थों में इस भिक्षु का नाम न्यग्रोध बताया गया है और अन्य ग्रंथों में बाल पण्डित। सम्भवतः दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। विद्वान् न्यग्रोध की अल्पावस्था के कारण ही कदाचित् उसे 'बालपण्डित' कहा गया है। यह सम्भव हो सकता है कि कलिङ्ग-युद्ध के पश्चात् जब अशोक अनुशोचन की अवस्था में था तब वह इस बौद्ध भिक्षु के सम्पर्क में आया हो और उसी ने अशोक को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया हो।

परन्तु बौद्ध ग्रंथों का यह कथन कि न्यग्रोध अशोक के भाई सुमन का पुत्र था, जो अपने पिता की मृत्यु के कुछ दिनों बाद उत्पन्न हुआ था, नितान्त काल्पनिक है।

बौद्ध ग्रंथों का यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अशोक अपने अभिषेक के चौथे वर्ष बौद्ध हुआ। बौद्ध ग्रंथों की अपेक्षा अशोक के अभिलेखों का साक्ष्य अधिक विश्वसनीय है।

निष्क्रियता और सक्रियता—बौद्ध होते ही अशोक ने धर्म-प्रचार करना प्रारम्भ न किया था। प्रारम्भ में वह लगभग एक वर्ष तक अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहा। तत्पश्चात् वह बौद्ध संघ के सम्पर्क में आया और तभी से वह बौद्ध धर्म के अनुसरण और प्रचार में अधिक सक्रिय हो गया। इस सम्बन्ध में वह अपने लघु शिलालेख प्रथम में कहता है कि '२½ वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ जब से मैं उपासक हूँ। परन्तु एक वर्ष तक मैंने उद्योग नहीं किया। परन्तु एक वर्ष से अधिक हुआ जब से मैं संघ के सम्पर्क में आया हूँ। तब से मैंने परिश्रम के साथ उद्योग किया है।'

भिक्षु या उपासक—यहाँ 'संघं उपेते सुमि' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ कुछ विद्वानों ने यह लगाया है कि इस समय अशोक ने उपासक बौद्ध धर्म छोड़ दिया और वह भिक्षु-धर्म स्वीकार करके संघ में प्रविष्ट हो गया था। इन विद्वानों के मतानुसार अशोक अब राज्याध्यक्ष (Head of the State) और धर्माध्यक्ष (Head of the Church) दोनों हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने मत की पुष्टि में ये विद्वान् कहते हैं कि सातवीं शताब्दी में आये हुए चीनी यात्री इत्सिग ने भी बौद्ध भिक्षु के रूप में अशोक की एक मूर्ति देखी थी।

परन्तु इन विद्वानों का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता—

(१) 'उपेते' का अर्थ 'घनिष्ठ सम्पर्क में आना' भी होता है।

(२) लघु शिलालेख प्रथम में स्वयं अशोक कहता है कि उस समय भी वह उपासक था।

(३) अपने संघ को महत्ता देने के लिये सम्भवत: कालान्तर में बौद्ध भिक्षुओं ने अशोक को भिक्षु रूप में प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया, जबकि वह केवल बौद्ध उपासक था। यह भी सम्भव है कि अपने शासन-काल के अन्तिम चरण में अशोक कभी-कभी भिक्षु-वेश में संघ में जाता रहा हो। कभी-कभी मिलिन्द भी भिक्षु-वेष में बौद्ध आचार्य नागसेन के पास जाता था। अत: अशोक पूर्णरूप से भिक्षु हो गया था, इस बात को इत्सिग के कथन के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(४) 'महावंश' के अनुसार अपने अभिषेक के १८ वें वर्ष अशोक ने लंका के राजा के पास जो संदेश भेजा था उसमें उसने कहा था कि 'मैंने उपासक धर्म स्वीकार कर लिया है।' अत: वह १८ वें वर्ष तक उपासक ही था, भिक्षु नहीं।

(५) 'दिव्यावदान' से प्रकट होता है कि अशोक ने प्रौढ़ावस्था में तिष्यरक्षिता से विवाह किया था। अत: वह भिक्षु नहीं हुआ था, गृहस्थ बौद्ध (उपासक) ही था।

(६) भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जब राजा होने के साथ ही साथ कोई व्यक्ति भिक्षु भी रहा हो। डा० राय-चौधरी ने नासिक के एक अभिलेख के आधार पर एक श्रमण-महामात्र का उदाहरण दिया है और कहा है कि यह व्यक्ति श्रमण (भिक्षु) होते हुए भी राजकीय पदाधिकारी (महामन्त्री) था। परन्तु यह निष्कर्ष असंगत है। सेनार महोदय ने कहा है कि श्रमण-महामात्र का अर्थ 'श्रमणों की देख-रेख करने वाला महामात्र' है, न कि ऐसा महामात्र जो स्वयं श्रमण था।

डा० स्मिथ ने भी भिक्षु राजाओं के कुछ उदाहरण दिये हैं। परन्तु वे सब या तो विदेशी हैं या वहुत बाद के।

विहार-यात्रा और धर्म-यात्रा—अशोक के पूर्वकालीन राजा विहार-यात्रायें किया करते थे जिनमें मृगया आदि के द्वारा मनोरंजन होता था। परन्तु ये यात्रायें हिंसात्मक होती थीं। अत: बौद्ध होते ही अशोक ने इनका परित्याग कर दिया और इनके स्थान पर धर्म-यात्रायें प्रारम्भ कीं। उसकी सर्वप्रथम धर्म-यात्रा संबोधि (बोध गया) की थी। उसके बौद्ध होने के पश्चात् लगभग ४–६ मास के भीतर ही हुई होगी। वह अपने अभिषेक के ९½ वें वर्ष के लगभग बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ था और अभिषेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के १० वें वर्ष संबोधि (बोधगया) गया था। इस विषय पर वह अपने ८ वें शिलालेख में कहता है—

'बहुत दिनों से भूतकाल में राजा विहार-यात्रा के लिये निकला करते थे। उनमें मृगया और इसी प्रकार के अन्य मनोरंजन किये जाते थे। अब अपने अभिषेक के १० वें वर्ष देवानांप्रिय प्रियदर्शी संबोधि गया। इस प्रकार धर्म-यात्रा का प्रारम्भ हुआ। धर्म-यात्रा में यह होता है—ब्राह्मणों और श्रमणों के दर्शन, उन्हें दान, वृद्धजन के दर्शन उन्हें सुवर्णदान, जनपदों में गमन, वहाँ धर्मोपदेश तथा धर्म-वार्ता.......।'

इस अभिलेख में 'अयाय संबोधि' शब्दों का प्रयोग हुआ है। डा० फ्लीट ने इसका अर्थ 'बोध (ज्ञान) प्राप्त हुआ' लगाया था। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। संबोधि उस स्थान (बोधगया) का नाम है जहाँ महात्मा बुद्ध को बोध (ज्ञान) हुआ था। अतः इस अभिलेख में अशोक की बोधगया की यात्रा का उल्लेख है, ज्ञान प्राप्त करने का नहीं।

अशोक की सक्रियता और संबोधि-यात्रा का काल एक ही है। सम्भवतः अपनी धार्मिक सक्रियता की सूचना देते हुए ही उसने धर्म-यात्रायें प्रारम्भ की थीं।

अन्य धर्म-यात्रायें—अशोक की अनेक धर्म-यात्राओं का उल्लेख उसके अभिलेखों एवं बौद्ध साहित्य में हुआ है—

अभिलेखों के अनुसार

(१) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अशोक के ८ वें शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने अपने अभिषेक के १० वें वर्ष सम्बोधि-यात्रा की थी। इस यात्रा के अनन्तर उसने अन्य धर्म-यात्रायें भी कीं।

(२) निग्लीवा स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि उसने अपने अभिषेक के १४ वें वर्ष नेपाल की तराई में स्थित बुद्ध कनकमुनि के द्वितीय स्तूप का संवर्धन कराया था और अपने अभिषेक के २० वें वर्ष उसने उस स्थान की धर्म-यात्रा की।

(३) रुम्मिन्देई स्तम्भ-लेख का कथन है कि अशोक अपने अभिषेक के २० वें वर्ष लुम्बिनी गया और वहाँ उस स्थान की पूजा की जहाँ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। उस स्थान पर उसने पत्थर की एक दीवार बनवाई तथा एक पाषाण-स्तम्भ स्थापित कराया। उसने लुम्बिनी ग्राम को 'बलि' से मुक्त कर दिया और उससे $\frac{1}{8}$ भाग (भूमिकर) लेना निश्चित किया।

'बलि' धार्मिक कर को कहते थे जो तीर्थस्थानों में आने वाले यात्रियों से लिया जाता था। अशोक यह नहीं चाहता था कि महात्मा बुद्ध के जन्म-स्थान के दर्शन के लिये आने वाले यात्रियों से किसी भी प्रकार का कर लिया जाय। अतः उसने उसे बन्द कर दिया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य स्थानों की भाँति लुम्बिनी को भी उपज का चौथा अथवा छठा भाग भूमि-कर के रूप में राज्य को देना पड़ता था। अशोक ने महात्मा बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण लुम्बिनी से उपज का केवल आठवाँ भाग लेना प्रारम्भ किया।

बौद्ध साहित्य के अनुसार

'दिव्यावदान' में भी अशोक की धर्म-यात्राओं का उल्लेख है। उसके अनुसार अशोक ने ये यात्रायें बौद्ध भिक्षु, उपगुप्त के साथ की थीं। वे पाटलिपुत्र से चलकर नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी ग्राम गये जहाँ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। उन्होंने वहाँ दानादि दिये और फिर कपिलवस्तु की यात्रा की। कपिलवस्तु में उन्होंने महात्मा बुद्ध का घर देखा। तत्पश्चात् वे बोधगया पहुँचे। वहाँ महात्मा बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था। अशोक ने वहाँ एक चैत्य बनवाया। वहाँ से चलकर वे सारनाथ आये जहाँ महात्मा बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश दिया था। इसके उपरान्त वे कुशीनगर गये जहाँ महात्मा बुद्ध ने महानिर्वाण प्राप्त किया था।

अशोक के बौद्ध होने के प्रमाण

आज प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि अशोक बौद्ध था। परन्तु प्रारम्भ में यह मत थोड़ा-बहुत विवाद-ग्रस्त रहा। किसी समय फ्लीट महोदय ने यह कहा था कि अशोक प्रारम्भ में बौद्ध न था। उसने अपने अभिषेक के ३० वें वर्ष बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। टामस महोदय का मत था कि अशोक बहुत दिनों तक जैन रहा। तत्पश्चात् वह बौद्ध हो गया था। फादर हेरास अशोक को ब्राह्मण धर्मावलम्बी मानते थे।

परन्तु आज अशोक के व्यक्तिगत धर्म का प्रश्न प्रायः निर्विवाद है। वह बौद्ध था। इसके निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं—

पुरातत्व सम्बन्धी साक्ष्य

(१) **लघु शिलालेख प्रथम**—इससे प्रकट होता है कि अशोक संघ के अधिक घनिष्ठ सम्पर्क में आया था तभी से उसने अधिक उद्योग प्रारम्भ किया था।

(२) **आठवाँ शिलालेख**—इसका कथन है कि अशोक ने अपने अभिषेक के १० वें वर्ष संबोधि-यात्रा की थी।

(३) **निग्लीव स्तम्भ लेख**—इस लेख से प्रकट होता है कि अशोक ने अपने अभिषेक के १४ वें वर्ष निग्लीव में बुद्ध कनकमुनि के स्तूप का संवर्धन कराया था और २० वें वर्ष वह उस स्थान के दर्शन करने गया था।

(४) **रुम्मिन्देई स्तम्भ-लेख**—इसके अनुसार अशोक ने अपने अभिषेक के २० वें वर्ष महात्मा बुद्ध की जन्म-भूमि लुम्बिनी की यात्रा की थी। उसने वहाँ ली जाने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाली 'बलि' को बन्द कर दिया था तथा उसका भूमिकर घटा कर $\frac{1}{8}$ भाग कर दिया था।

बोधगया, निग्लीव और लुम्बिनी, ये तीनों बौद्ध तीर्थ थे। इनकी यात्रा से प्रकट होता है कि अशोक स्वयं बौद्ध था। यह मत इस बात से और भी अधिक पुष्ट हो जाता है कि कोई भी ग्रन्थ अथवा अभिलेख यह नहीं बताता कि अशोक किसी अन्य धर्म के तीर्थस्थानों में भी गया था।

(५) सारनाथ, साँची और प्रयाग के स्तम्भ-लेख—ये तीनों लेख प्रायः एक-से हैं। इनके द्वारा अशोक ने बौद्ध धर्म में भेद उत्पन्न न होने देने की चेष्टा की थी।

इनमें वह कहता है कि 'संघ में कोई भेद उत्पन्न न करे। जो कोई—चाहे वह भिक्षु हो अथवा भिक्षुणी—संघ में भेद उत्पन्न करेगा वह सफेद वस्त्र पहना कर उस स्थान पर रखा जायेगा जो भिक्षु-भिक्षुणियों के रहने योग्य नहीं है।'

इन्हीं स्तम्भ-लेखों से ज्ञात होता है कि अशोक ने अपने इस आदेश की एक-एक प्रति अपने महामात्रों के संसरणों (कार्यालयों) में भेज दी थी जिससे वे सभी को उसका यह आदेश समझा सकें और तदनुसार कार्य कर सकें। उसने महामात्रों को यह भी आदेश दिया कि वे उसके मन्तव्य को समझाने के लिये दौरा करें। अशोक ने अपने आदेश की दूसरी प्रति प्रत्येक ऐसे सार्वजनिक स्थान पर रखवा दी जहाँ उपासक (गृहस्थ बौद्ध) आते हों, जिससे वे स्वयं उसकी आज्ञा को समझ लें।

'दीपवंश' और 'महावंश' से हमें ज्ञात होता है कि अशोक के समय तक बौद्ध संघ एक न रहा था। उसमें दो सम्प्रदाय हो गये थे—स्थविरवाद और महासांघिक। पुनः स्थविरवाद में दो सम्प्रदाय और महासांघिक में चार सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे।

अशोक ने बौद्ध संघ की एकता स्थापित करने के लिये अपने अभिषेक के १८ वें वर्ष पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया और इसमें उसने संघ को पुनः एक कर दिया। कहीं वह एकता फिर से भंग न हो जाय, इसीलिये अशोक ने सारनाथ, प्रयाग और साँची के उपर्युक्त आदेश जारी किये थे।

यह आदेश वास्तव में भेदकारियों के लिये चेतावनी थी। बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र गेरुआ होते थे। वे नगरों के बाहर बौद्ध विहारों में रहते थे। अशोक ने यह धमकी दी थी कि यदि किसी भिक्षु ने संघ में भेद उत्पन्न किया तो उसे सफेद वस्त्र पहनाये जायँगे और वे ऐसे स्थानों पर रहने के लिये विवश किये जायँगे जो उनके योग्य नहीं हैं। साधारण भाषा में उसने संघ में भेद उत्पन्न करने वाले भिक्षुओं के पूर्ण वहिष्कार की धमकी दी थी।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने आदेश को भलीभाँति विज्ञापित करने के लिये उसने उसकी प्रतियाँ महामात्रों के कार्यालयों और सार्वजनिक स्थानों में भेजी थीं। इसी ध्येय से उसने महामात्रों को दौरा करने का आदेश दिया था।

अशोक के ये सारे कार्य उसके बौद्ध होने के प्रबल प्रमाण हैं।

(६) भाब्रू शिलालेख—यह अभिलेख अशोक के बौद्ध होने का स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इसमें वह स्पष्टरूप से घोषित करता है कि 'हे भदन्तगण, आप जानते ही हैं कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी श्रद्धा और आसक्ति है। हे भदन्तगण, भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है वह सब ठीक कहा है।'

यही नहीं, इसी अभिलेख में अशोक ने भिक्षुओं के पढ़ने, सुनने और मनन करने के लिये कुछ धर्म-ग्रन्थों के नाम लिये हैं। ये सभी ग्रन्थ बौद्ध हैं।

(७) प्रथम शिलालेख—इसमें अशोक ने घोषणा की कि भोजन के लिये उसके रंधनागार में प्रतिदिन मारे जाने वाले सैकड़ों-हजारों पशुओं के स्थान पर अब केवल तीन प्राणी मारे जायँगे—दो मोर और एक हिरन, परन्तु हिरन भी नियमित रूप से नहीं। बाद को ये तीन प्राणी भी न मारे जायँगे।

इसी अभिलेख में वह कहता है कि 'किसी भी जीव की यहाँ (राज्य में) प्राण-हानि न की जाय और न उसकी बलि दी जाय। और न कोई समाज किया जाय, क्योंकि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बड़ा अनर्थ देखते हैं।'

अशोक के ये कार्य बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त से प्रेरित होकर किये गये थे।

(८) अशोक के स्तम्भ—अशोक ने पाषाण-स्तम्भों के शीर्ष भाग पर हाथी, वृषभ, घोड़ा और सिंह की मूर्तियाँ स्थापित कराई थीं। इन पशुओं का बौद्ध धर्म में विशेष महत्व है। हाथी से महात्मा बुद्ध का अपनी माता के गर्भ में आना सूचित होता है। वृषभ और सिंह महात्मा बुद्ध की आध्यात्मिक शक्ति के सूचक हैं। घोड़ा उनके महाभिनिष्क्रमण की घटना का स्मरण दिलाता है।

साहित्यिक साक्ष्य

(१) भारतीय बौद्ध साहित्य—भारतवर्ष का सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य अशोक को बौद्ध बताता है।

(२) विदेशीय बौद्ध साहित्य—लंका, ब्रह्मा, स्याम, चीन, तिब्बत, नेपाल, कोरिया, जापान आदि विदेशों के बौद्ध साहित्य में भी अशोक को बौद्ध ही कहा गया है।

(३) विदेशी यात्रियों के कथन—समय-समय पर फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिङ्ग आदि विदेशी यात्री भारत आये। इन्होंने भी अशोक को बौद्ध बताया है। इत्सिङ्ग ने तो भिक्षुरूप में अशोक की एक मूर्ति भी देखी थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) राजतरंगिणी—यह ग्रन्थ अशोक को महात्मा बुद्ध का अनुयायी बताता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ होने के कारण इस का साक्ष्य महत्वपूर्ण है।

इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का व्यक्तिगत धर्म बौद्ध था।

अशोक का धम्म

अशोक के अभिलेखों में 'धम्म' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। परन्तु कहीं पर भी यह नहीं कहा गया है कि यह कौन-सा धर्म है। यही कारण है कि विद्वानों में इस 'धम्म' के प्रश्न पर काफी विवाद है।

अशोक अपने इस 'धम्म' का नाम तो नहीं लेता, परन्तु इसकी विशेषताओं को अवश्य बताता है। ये विशेषतायें दो प्रकार की हैं—(१) अनुसरणीय (जिनका मनुष्यों को अनुसरण करना चाहिए) और (२) वर्जनीय (जिनसे मनुष्यों को बचना चाहिए)। जो अनुसरणीय है वह धर्म है और जो वर्जनीय है वह अधर्म है, आसिनव है, पाप है।

अनुसरणीय धर्म—अपने दूसरे स्तम्भ-लेख में अशोक स्वयं पूछता है—

कियं चु धम्मे ?' अर्थात् धम्म क्या है ? इसके पश्चात् वह स्वयं उत्तर देता है—

'अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये।' अर्थात् धर्म अपासिनव (पाप से दूर रहना), बहुकयान (अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण करना), दया, दान, सच (सत्य) और सोचय (शुद्धता) है।

धर्म की इसी प्रकार की विशेषतायें अशोक के अन्य अभिलेखों में भी मिलती हैं। अपने सातवें शिलालेख में अशोक संयम, भाव-शुद्धि, कतन्त (कृतज्ञता) और दिदभतिता (प्रगाढ़ भक्ति) के ऊपर जोर देता है। अपने लघु शिलालेख द्वितीय में वह कहता है कि 'माता-पिता की भलीभांति सेवा करना, सब प्राणियों के प्रति आदर-भाव रखना और सत्य का अनुसरण करना उदात्त सिद्धान्त हैं।' उसका सातवां स्तम्भ-लेख मादव (मृदुता) और साधव (साधुता) का उल्लेख करता है। उसका ग्यारहवाँ शिलालेख दासों, नौकरों और श्रमिकों के साथ सद्-व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण-श्रमणों तथा साधु पुरुषों के प्रति उदारता, जीवों की रक्षा, पशु-बलि का त्याग आदि बातों पर जोर देता है।

अशोक के इस अनुसरणीय धर्म में कहीं पर कोई साम्प्रदायिकता नहीं है। न इसमें कोई कर्मकाण्ड है और न दर्शन। सभी सीधी-सादी सदाचार की बातें हैं जिनका पालन सभी धर्मों के अनुयायी निस्संकोच कर सकते हैं। उसके अनुसरणीय धर्म का रूप विशुद्ध नैतिक, व्यावहारिक और सरल है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्जनीय अधर्म—वर्जनीय अधर्म को अशोक ने 'आसिनव' (पाप) के नाम से पुकारा है और उससे बचने की शिक्षा दी है। अशोक मनुष्य के उन दुर्गुणों का भी उल्लेख करता है जो उसे पाप की ओर ले जाते हैं। अपने तृतीय स्तम्भ-लेख में अशोक इनमें से कुछ दुर्गुणों के नाम लेता है—चण्डिय (उग्रता), कोध (क्रोध), मान (घमण्ड) और इस्सा (ईर्ष्या)। इसी अभिलेख में वह कहता है कि ये दुर्गुण पापकारी और विनाशकारी हैं।

अशोक ने जनता को जिस अधर्म से बचने के लिये कहा है वह सभी के लिये वर्जनीय है। सभी धर्म इन दुर्गुणों को परित्याज्य बताते हैं।

अशोक के अभिलेखों के सम्यक् अध्ययन से उसके धर्म की अन्यान्य विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता है।

अहिंसा – अशोक अहिंसा को अपने धर्म की आधार-शिला समझता था। उसने उसका उपदेश ही नहीं दिया वरन् उसका पालन भी किया। पहले अपने पाँचवें स्तम्भ-लेख के द्वारा उसने अपने राज्य में जीव-हिंसा को सीमित किया। फिर प्रथम शिलालेख के द्वारा उसने अपने राज्य में जीव-हिंसा और पशु-बलि को बिल्कुल बन्द कर दिया। उसने अपने रंधनागार के लिये किया जाने वाला पशु-पक्षी-वध भी समाप्त करवा दिया।

अपने १० वें शिलालेख में वह 'अनारम्भो प्राणिनाम्' (जीव-रक्षा) और 'अविहिंसा भूतानाम्' (जीवों के प्रति अहिंसा) का उपदेश देता है। १३ वें शिलालेख में 'सर्वभूतानां अक्षति च संयम च' (सर्वप्राणियों के प्रति अहिंसा और संयम) की शिक्षा दी गई है।

अहिंसा के सिद्धान्त को और आगे बढ़ाते हुए ही सातवें स्तम्भ-लेख के अनुसार, अशोक ने मनुष्यों, चतुष्पदों, पक्षियों तथा जलचरों के लिये मार्ग में वट-वृक्ष लगवाये, आम्रकुंज लगवाये, कुएँ खुदवाये, धर्मशालायें तथा जलशालायें बनवाईं।

धार्मिक सहिष्णुता – अशोक का धम्म सहिष्णुता के ऊपर अवलम्बित था। उसे किसी भी धर्म से द्वेष न था। वह स्वयं समानरूप से ब्राह्मणों, श्रमणों, निर्ग्रन्थों और आजीवकों का आदर करता था। आजीवक भिक्षुओं के निवास के लिये उसने बाराबर पहाड़ी पर गुहायें बनवाईं थीं। अपने बारहवें शिलालेख में वह कहता है कि 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों, सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थों को दान तथा पूजा से सम्मानित करता है।' इसी शिलालेख में कहा गया है कि जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है और दूसरे धर्म की निन्दा करता है वह ऐसा करते हुए अपने ही धर्म को हानि पहुँचाता है। वह पुन: उपदेश देता है कि यदि मनुष्य दूसरे धर्मों को सुनें और समझने की चेष्टा करें तो धर्म की उन्नति (धम्मस्स दीपन) होगी। प्रत्येक धर्म के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्मकाण्डीय पक्ष भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु उनका नैतिक पक्ष प्रायः एक-सा होता है। अतः अशोक इस सार्वभौम नैतिक पक्ष (जिसमें सदाचार की अच्छी-अच्छी बातें सम्मिलित हैं) को ही प्रत्येक धर्म का सार समझता है और अपने १२ वें शिलालेख में इसी की वृद्धि (सलवढि —सारवृद्धि) चाहता है। धार्मिक सहिष्णुता के लिये वाक्-संयम (वचगुति) आवश्यक है। अतः अशोक ने इसका भी उपदेश दिया। उसकी दृष्टि में विभिन्न धर्मानुयायियों के पारस्परिक सौहार्द्र (समवय) का प्रमुख महत्व था।

नवीन व्याख्यायें—अशोक के पूर्व जनता में अनेक प्रकार की मान्यतायें एवं परम्परायें प्रचलित थीं। उदाहरण के लिये लोग मंगल करते थे, दान देते थे, अनुग्रह करते थे, विजय करते थे, विहार-यात्रायें और समाज करते थे। अशोक ने इन सबका विरोध किया और अपनी नवीन व्याख्या के अनुसार धर्म-मंगल, धर्म-विजय, धर्म-यात्राओं और धर्म-समाजों का प्रतिपादन किया।

अपने ६ वें शिलालेख में वह कहता है कि 'लोग बहुत से मंगल करते हैं। रोग, पुत्र-पुत्रियों के विवाह, पुत्र-जन्म, परदेश-गमन आदि के अवसरों तथा ऐसे ही अन्य अवसरों पर वे अनेक प्रकार के मंगल करते हैं। ऐसे अवसरों पर सन्तानवती स्त्रियाँ और पत्नियाँ अनेक प्रकार के छोटे और सारहीन मंगल किया करती हैं। मंगल अवश्य करने चाहिए, परन्तु ये मंगल बहुत कम फलदायक हैं। जो धर्म-मंगल है वह निश्चितरूप से फलदायक है। इस धर्म-मंगल में ये बातें हैं—दास और वेतनभोगी नौकरों से सद्व्यवहार, गुरुजनों का आदर, प्राणियों के प्रति अहिंसा, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये और ऐसे ही मंगल 'धर्म-मंगल' कहलाते हैं।

अशोक का ११ वाँ शिलालेख साधारण दान के स्थान पर धर्मदान का प्रतिपादन करता है। अशोक की नवीन व्याख्या के अनुसार दासों और नौकरों के साथ सद्व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, सहायकों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता और अहिंसा धर्मदान है।

साधारण विजय शर-सव्य की विजय है। इसमें हिंसा, उत्पीड़न आदि करना पड़ता है। कलिङ्ग-विजय के पश्चात् अशोक ने इसका परित्याग कर दिया और इसके स्थान पर धर्म-विजय की चेष्टा की। तेरहवें शिलालेख के अनुसार धर्म-विजय में मनुष्य अक्षति, संयम, सदाचार और मार्दव आदि गुणों से कार्य करता है। इन गुणों से जीते गये लोगों में घृणा-द्वेष के बजाय प्रेम उत्पन्न होता है। उसके शब्दों में 'धम्म-विजय' ही वास्तविक विजय है। इस प्रकार की विजय इहलोक और परलोक में सुखदायिनी है।

अशोक के पूर्व राजा विहार-यात्रायें करते थे। इनमें मृगया आदि हिंसात्मक मनोरंजन होते थे। अशोक ने उनका विरोध किया और उनके स्थान पर धर्म-यात्राओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अनुसरण किया। उसके आठवें शिलालेख के अनुसार धर्म-यात्रा में ब्राह्मणों, श्रमणों एवं स्थविरों के दर्शन किये जाते हैं और उन्हें दान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त धर्म-यात्री जनपदों में जाकर जनता से सम्पर्क स्थापित करता है और उनसे धर्म-वार्ता और धर्म-परिपृच्छा करता है।

पूर्वकालीन राजा विहार-यात्राओं के साथ-साथ समाज करते थे। ये समाज बड़े लोकप्रिय समझे जाते थे। इनमें मनुष्य एक स्थान पर एकत्र होते थे और खूब खाते-पीते थे। भोजन में मांस और मदिरा का यथेष्ट प्रयोग होता था। खाने-पीने के अतिरिक्त उनमें घुड़दौड़, रथदौड़, पशु-द्वन्द्व आदि होते थे। अर्थशास्त्र और रामायण में समाजों का उल्लेख है। हाथी गुम्फा अभिलेख और नासिक अभिलेख से पता चलता है कि खारवेल और गौतमीपुत्र शातकर्णि क्रमशः समाज करते थे। यूनानी लेखक एरियन चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा किये जाने वाले समारोहों का उल्लेख करता है। इनमें घुड़दौड़ और रथदौड़ आदि से मनोरंजन होता था। सम्भवतः यह वर्णन समाज का ही है।

परन्तु समाज में बहुत अधिक हिंसा होती थी। अतः अशोक ने उसका परित्याग कर दिया। वह अपने प्रथम शिलालेख में कहता है कि समाज नहीं करना चाहिए। 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा' समाज में बहुत दोष देखते हैं। हाँ, कुछ समाज अवश्य ऐसे हैं जिन्हें 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' अच्छा समझते हैं।

इस प्रकार पूर्व प्रचलित समाजों के स्थान पर अशोक ने नवीन प्रकार के समाजों की प्रतिष्ठा की, जिनमें मनुष्य एकत्र हों और धर्मवार्तायें करें। इन्हें हम 'धर्म-समाज' कह सकते हैं।

अन्य सिद्धान्त—अशोक का धम्म प्रत्येक व्यक्ति के उत्कर्ष के लिये था। इसका अनुसरण तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में कुछ निश्चित बातों का ध्यान रखें और पालन करें। प्रथम स्तम्भ-लेख इनमें से कुछ अत्यन्त आवश्यक बातों का उल्लेख करता है—

(१) अग धम्मकामता (धर्म के लिये उत्कट इच्छा)

(२) अग पलिखा (गम्भीर आत्मपरीक्षा)

(३) अग सुस्रूसा (दूसरों के मत को सुनने की तत्परता)

(४) अग भय (पाप से डर)

(५) अग उसाह (धर्म के लिये महान् उत्साह)

धम्म से लाभ—अशोक धम्म को महान् कल्याणकारी समझता था। वह अपने ११ वें शिलालेख में कहता है कि धम्म के अनुसरण से इहलोक (हिद) और परलोक (पलत) दोनों में सुख की प्राप्ति होती है। यह स्वर्गदायक भी है।

धम्म पर चार प्रमुख मत—अशोक के अभिलेखों के आधार पर यह उसके 'धम्म' का स्वरूप था। परन्तु यह धम्म कौन-सा धर्म है, इस प्रश्न पर विद्वानों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में बड़ा मतभेद है। अशोक के धम्म के विषय में प्रमुखतया ४ मत प्रतिपादित किये जाते हैं—

(१) राजधर्म—डा० फ्लीट का मत था कि अशोक का धम्म कोई विशेष धर्म न था। वह एकमात्र राजधर्म था। इसमें उन उदात्त सिद्धान्तों का समावेश था जो किसी भी अच्छे शासन के लिये आवश्यक हैं। मनुस्मृति और महाभारत में राजधर्म की विवेचना मिलती है।

परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह धर्म केवल राजधर्म होता तो अशोक जनता में इसका प्रचार क्यों करता? उसके अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि यह धर्म सभी के अनुसरण करने के लिये था, केवल राजाओं के लिये नहीं।

(२) ब्राह्मण-धर्म—फादर हेरास इसे ब्राह्मण-धर्म बताते हैं। उनके अनुसार अशोक का धम्म ब्राह्मण-धर्म की ही भाँति बहुदेववाद, पुनर्जन्मवाद, धार्मिक सहिष्णुता, शील और स्वर्ग का प्रतिपादन करता है।

परन्तु ये विशेषतायें तो तत्कालीन अनेक धर्मों में पाई जाती थीं। पुनः यदि यह ब्राह्मण-धर्म होता तो किसी न किसी रूप में यह यज्ञ और कर्मकाण्ड का उल्लेख अवश्य करता। परन्तु अशोक का धम्म यज्ञविरोधी और कर्मकाण्ड-विरोधी है। वह ब्राह्मण-धर्म कभी नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त यदि अशोक ने ब्राह्मण-धर्म का प्रचार किया होता तो ब्राह्मण-ग्रन्थ 'गार्गी संहिता' धम्म-विजय की निन्दा कभी न करता।[1]

(३) सार्वभौम धर्म—डा० राधाकुमुद मुकर्जी, डा० स्मिथ तथा डा० रमाशंकर त्रिपाठी आदि विद्वानों का मत है कि अशोक का धम्म किसी एक देश अथवा सम्प्रदाय का धर्म नहीं है। वह सार्वभौम धर्म है। उसमें ऐसी शिक्षाओं का समावेश है जो सभी धर्मों के अनुकूल हैं।[2]

परन्तु यदि अशोक का धम्म बौद्ध धर्म न होता, केवल सार्वभौम धर्म होता तो वह यह कभी न कहता कि संघ के सम्पर्क में आने के पश्चात् मैंने धम्म में अधिक

---

१. "स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्।"

२. "We must at the outset distinguish between his personal and public religion.........The latter is certainly not Buddhism".
—Dr. Mookerji

"These are points common to all religions and so Asoka can hardly be accused of utilising his vast resources as sovereign in the interests of any particular creed". —Dr. Tripathi

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उद्योग किया। यदि यह धम्म बौद्ध धर्म न होता तो सारा बौद्ध संसार बौद्ध-धर्म के महान् प्रचारक के रूप में अशोक का गुणगान क्यों करता ? अशोक के शासनकाल से ही बौद्ध धर्म का अतिशय प्रसार हुआ। इससे परोक्षरूप से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रसार अशोक के उद्योग के परिणामस्वरूप ही हुआ। दूसरे शब्दों में अशोक ने जिस धम्म का प्रतिपादन और प्रसार किया था वह बौद्ध धर्म ही था, सार्वभौम धर्म नहीं। यह महत्वपूर्ण बात है कि बौद्ध-ग्रन्थों को छोड़कर किसी भी अन्य धर्म के ग्रन्थ अशोक के धर्मप्रचार के लिये उसकी प्रशंसा नहीं करते। इससे भी उसके बौद्ध धर्म के प्रचार का अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

(४) उपासक बौद्ध धर्म—सेनार, हुल्श और डा० भण्डारकर का मत है कि अशोक के अभिलेखों का धम्म उपासक बौद्ध धर्म था। इस मत के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

विरोधी तर्क—(१) अभिलेखों में निर्वाण को धर्म का लक्ष्य नहीं बताया गया है। निर्वाण बौद्ध धर्म का परम लक्ष्य था।

(२) यह धम्म अष्टांग-मार्ग का भी उल्लेख नहीं करता।

(३) अपने धम्म-प्रचार के सम्बन्ध में अशोक ने ४ आर्य सत्य, महात्मा बुद्ध और संघ का नाम नहीं लिया है।

(४) अपने धम्म को अशोक बौद्ध धर्म नहीं कहता।

खण्डन—ये आपत्तियाँ निर्बल हैं। जैसा कि डा० भण्डारकर ने कहा है, अशोक गृहस्थ था, कम से कम वह उस समय गृहस्थ अवश्य था जब उसने अपने धम्म का प्रचार किया। जिस जनता के लिये उसने इस धम्म का प्रचार किया था वह भी अधिकांशतः गृहस्थ थी। अतः अशोक ने गृहस्थों के अनुकूल ही बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बौद्ध धर्म के दो रूप होते हैं—भिक्षु-धर्म और गृहस्थ धर्म (इसे उपासक धर्म कहते हैं)। अशोक ने बौद्ध धर्म के द्वितीय रूप अर्थात् उपासक धर्म का प्रचार किया।

उपासक बौद्ध धर्म सरल है। उसका लक्ष्य निर्वाण न होकर स्वर्ग है। (१) इसीलिये अशोक अपने अभिलेखों में निर्वाण के स्थान पर स्वर्ग का उल्लेख करता है। (२) उपासकों (गृहस्थों) के लिये अष्टांग मार्ग का अनुसरण आवश्यक नहीं है। वे शील और सदाचार का जीवन व्यतीत करते हुए ही स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। अशोक अपने अभिलेखों में शील और सदाचार का ही उपदेश देता है। (३) और (४) अशोक में प्रशंसनीय धार्मिक सहिष्णुता थी। वह बौद्ध धर्म का प्रचार साम्प्रदायिक रूप में न करना चाहता था। यदि वह अपने धर्म-प्रचार में बार-बार चार आर्य सत्यों, महात्मा बुद्ध, संघ अथवा बौद्ध धर्म का नाम लेता तो हो सकता है कि उसके राज्य में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बसने वाले अन्य धर्मावलम्बियों को आपत्ति अथवा असुविधा होती। अतः अशोक ने बौद्ध धर्म के उन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार किया जो सभी धर्मावलम्बियों को मान्य हों। उसका उपासक धर्म असाम्प्रदायिक-सा लगता है।

सेनार का मत—परन्तु इस सम्बन्ध में सेनार महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं कि अशोक के समय तक बौद्ध धर्म का वह रूप विकसित न हुआ था जो 'त्रिपिटक' में है। इसी से अशोक के अभिलेखों में बौद्ध धर्म की समस्त विशेषताएँ नहीं मिलतीं।

खण्डन—सेनार का यह मत असंगत है। त्रिपिटक का बहुत बड़ा भाग अशोक के समय तक संगठित हो चुका था। यदि उसने त्रिपिटक में प्रतिपादित बौद्ध धर्म की समस्त विशेषताओं का उल्लेख अपने अभिलेखों में नहीं किया तो इसका एक मात्र कारण यही था कि वह अपने धम्म को नितान्त साम्प्रदायिक नहीं बनाना चाहता था।

भण्डारकर का मत—डा० भण्डारकर ने बड़ी विद्वत्ता के साथ अशोक के समस्त अभिलेखों की विवेचना करके यह मत प्रतिपादित किया है कि उसके अनेक कथन या तो बौद्ध साहित्य से उद्धृत हैं या उससे प्रभावित हैं।

(१) बौद्धों के उपासक धर्म का प्रतिपादन 'दीघनिकाय' के 'सिगालोवाद सुत्त' में किया गया है। महात्मा बुद्ध ने कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए शील और सदाचार की शिक्षायें दी हैं—जैसे माता-पिता की सेवा, गुरुजन का आदर, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, नौकरों तथा दासों के प्रति उदार व्यवहार इत्यादि। अशोक का उपासक धर्म इस सुत्त से प्रभावित है।

(२) अशोक में प्रशंसनीय धार्मिक सहिष्णुता थी। उसने अपने बारहवें शिलालेख में धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी है। यह सहिष्णुता-लेख बौद्ध ग्रन्थों 'चूलवियूह' और 'महा वियूह' के सिद्धान्तों के आधार पर बनाया गया है।

(३) अशोक ने मंगल, दान, विजय आदि की नवीन व्याख्या करते हुए धम्म-मंगल, धम्म-दान, धम्म-विजय आदि का प्रतिपादन किया है। उसने यह नवीन व्याख्या 'इतिवुत्तक' नामक बौद्ध ग्रन्थ से ली है।

(४) उपासक धर्म यह मानता है कि सदाचारी मनुष्यों को मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में विमान, हाथी एवं अग्निस्कन्ध (प्रभामय शरीर) प्राप्त होते हैं। इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए अशोक अपने चौथे शिलालेख में कहता है कि उसने धर्म-प्रचार में जनता को विमान-दर्शन, हस्ति-दर्शन, अग्निस्कन्ध-दर्शन आदि कराये।

(५) अशोक ने अपने भाब्रू अभिलेख में जिन ७ ग्रन्थों के अध्ययन, श्रवण और मनन का उपदेश दिया है वे सब बौद्ध ग्रन्थ हैं।

(६) स्वयं अशोक के अभिलेखों में एक-दो स्थानों पर धम्म का तात्पर्य स्पष्टरूप से बौद्ध धर्म ही है। उदाहरण के लिये भाब्रू अभिलेख में अशोक स्पष्ट रूप से अपने

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धम्म के साथ-साथ बुद्ध और संघ का भी उल्लेख करता है। साँची, सारनाथ और कौशाम्बी में अशोक संघ-भेद की सम्भावना को दूर करने का प्रयत्न कर रहा था। वहाँ वह स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में आया है।

निष्कर्ष — अतः अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया वह वस्तुतः असाम्प्रदाय उपासक बौद्ध धर्म ही था। इसी से समस्त बौद्ध ग्रन्थ अशोक के धर्म-प्रचार की सराहना करते हैं। इसी से ब्राह्मण-ग्रन्थ 'गार्गी संहिता' धर्म-विजय की निन्दा करता है। यही कारण है कि बौद्धों के अतिरिक्त कोई भी अन्य धर्मावलम्बी अशोक के धर्म-प्रचार की प्रशंसा नहीं करता। अशोक का यह कथन कि 'संघ के सम्पर्क में आने के पश्चात् मैंने अधिक उद्योग किया', इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उसने बौद्ध धर्म का ही प्रचार किया था। मौर्य-काल के पश्चात् बौद्ध धर्म के अभूतपूर्व प्रचार से भी संकेत मिलता है कि यह सफलता अशोक के सुमहत् प्रयत्नों का ही परिणाम थी। हां, अपनी अत्यन्त उदार एवं सहिष्णु प्रवृत्ति के कारण अशोक ने यथाशक्ति इस बात का ध्यान रखा कि उसका धम्म साम्प्रदायिक न होने पाये, वह यथासम्भव सार्वभौम, सर्वमान्य रहे।

धम्म-विजय

'धम्म' के अनुसार अशोक की 'धम्म-विजय' पर भी मतभेद है। अशोक ने 'धम्म-विजय' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु उसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। उदाहरण के लिये अपने १३ वें शिलालेख में वह कहता है कि 'धम्म-विजय ही वास्तविक विजय है।' परन्तु प्रश्न यह है कि यह किस धर्म की विजय है?

ब्राह्मण ग्रन्थों की धर्म-विजय—अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों में धर्म-विजय का नाम आता है। 'अर्थशास्त्र' असुर-विजय, लोक-विजय का उल्लेख करता है। महाभारत में भी असुर-विजय और धर्म-विजय के नाम मिलते हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार यदि कोई साम्राज्यवादी नरेश अन्य नरेश से अपनी अधीनता स्वीकार करवा ले, परन्तु उसके राज्य का अपहरण न करे तो वह 'धर्म विजयी' कहलायेगा। क्या अशोक की धर्म-विजय इसी प्रकार की थी? निश्चित रूप से नहीं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिस धर्म-विजय का उल्लेख है उसका लक्ष्य था साम्राज्य-विस्तार अथवा राजनीतिक सत्ता का विस्तार। उसकी प्राप्ति युद्ध अथवा आतंक से होती थी। अशोक ने युद्ध का परित्याग कर दिया था। उसकी नीति में आतंक के लिये कोई स्थान न था। जिन यवन-देशों में उसने धर्म-विजय की वे पूर्ण स्वतन्त्र थे।

बौद्ध ग्रन्थों की 'धर्म-विजय'—ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाँति बौद्ध ग्रन्थों में भी 'धर्म-विजय' का प्रतिपादन है। 'दीघनिकाय' के 'महापदम सुत्तान्त' और 'लक्खन सुत्तान्त' के अनुसार वह चक्रवर्ती धर्मराज दण्ड और शस्त्र से नहीं वरन् धर्म से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरों पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करता है। उसके आने पर अन्य राजा स्वतः अपने प्रदेशों को उसके अधीन कर देते हैं।

परन्तु अशोक ने जो धर्म-विजय की थी उसके अन्तर्गत किसी भी देश पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना उसने नहीं की। उसकी धर्म-विजय ने किसी भी स्वतन्त्र प्रदेश को अपने अधीन नहीं किया। अतः अशोक की धर्म-विजय बौद्ध ग्रन्थों की धर्म-विजय से मेल नहीं खाती।

वास्तविक अर्थ—अशोक की धर्म-विजय का अर्थ साम्राज्य-विस्तार अथवा राजनीतिक प्रभुत्व का विस्तार न था। वह अपने द्वितीय कलिंग-अभिलेख में कहता है कि 'अविजित सीमान्त प्रदेश के राजाओं के मन में सम्भव है कि यह प्रश्न उठे कि हमारे प्रति राजा के विचार क्या हैं। सीमान्त राज्यों के प्रति मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि वे इस बात को समझें कि 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' यह चाहता है कि वे मुझसे किसी प्रकार का भय न करें, मुझ पर विश्वास करें। वे मुझसे सुख ही पायेंगे, दुःख नहीं।'

इस प्रकार अशोक ने अपने राज्य के बाहर विदेशों में भी धर्म-विजय की, परन्तु वहाँ किसी प्रकार का राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं किया। वहाँ उसने केवल शील और सदाचार का प्रचार किया तथा अनेक प्रकार के लोक-कल्याणकारी कार्य किये। उसके धर्म-विजय का सीधा-सादा अर्थ धर्म-प्रचार है। यह स्वदेश और विदेश दोनों में हुआ। इसके पीछे कोई राजनीतिक ध्येय न था।

अशोक का धर्म-प्रचार

कलिङ्ग-युद्ध अशोक के अभिषेक के आठवें वर्ष हुआ था। इस युद्ध के भीषण रक्तपात और हाहाकार ने साम्राज्यवादी अशोक के हृदय को द्रवित कर दिया। उसके मन-मस्तिष्क में भारी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। इसी मनःस्थिति में वह महात्मा बुद्ध के उपदेशों की ओर आकृष्ट हुआ होगा। इसी बीच वह कुछ बौद्ध भिक्षुओं, विशेषतया न्यग्रोध अथवा उपगुप्त, के सम्पर्क में आया होगा। इन्हीं भिक्षुओं की प्रेरणा से उसने अपने अभिषेक के ९½ वें वर्ष के लगभग बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

बौद्ध धर्म स्वीकार करते ही वह बौद्ध प्रचारक हो गया हो, ऐसी बात नहीं है। बौद्ध होने के पश्चात् वह लगभग एक वर्ष तक अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहा। इस एक वर्ष के उपरान्त वह संघ के बौद्ध भिक्षुओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। इन भिक्षुओं में मोग्गलिपुत्त तिस्स प्रमुख रहा होगा, क्योंकि हम देखते हैं कि अशोक के धर्म-प्रचार में इस भिक्षु का काफी योग था। अशोक स्वयं अपने लघु शिलालेख प्रथम में हमें बताता है कि उसने बौद्ध धर्म में अधिक रुचि लेनी कैसे प्रारम्भ की। इस लेख का कथन है कि '२½ वर्ष से अधिक समय हुआ जब से मैं उपासक हूँ। एक वर्ष तक

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मैंने उद्योग नहीं किया। किन्तु एक वर्ष से अधिक हुआ जब से मैं संघ के घनिष्ठ सम्पर्क में आया हूँ। तभी से मैंने परिश्रम के साथ उद्योग किया है।'

अशोक ने अपने धर्म-प्रचार को राज्य का प्रमुख ध्येय बना लिया। उसने अपने साम्राज्य के विपुल साधनों को इस प्रचार में लगा दिया। वह अपने इस धर्म-प्रचार को धर्म-विजय के नाम से पुकारता है। उसने अपने देश में नहीं वरन् विदेशों में भी धर्म-विजय करने का प्रयत्न किया और इसमें उसे काफी सफलता भी मिली। धर्म-विजय् करते हुए और बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए अशोक ने महती सहिष्णुता और उदारता का परिचय दिया। उसने कभी भी अन्य धर्मावलम्बियों को बौद्ध होने के लिये विवश नहीं किया, उन्हें बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में आने के लिये बाध्य नहीं किया। उसने अपनी जनता को चत्वारि आर्य सत्य, अष्टांगमार्ग, निर्वाण आदि बौद्ध सिद्धान्तों का भी उपदेश नहीं दिया। यदि वह ऐसा करता तो लोग निश्चित रूप से उसे अनुदार और असहिष्णु शासक कहते। उसने बौद्ध धर्म का प्रचार अवश्य किया, परन्तु सीमित और सर्वग्राह्य रूप में। उसके प्रचार में न बौद्ध दर्शन था, न बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्त। उसके द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म उपासक धर्म था, असाम्प्रदाय धर्म था, सार्वभौम धर्म था जिसमें एकमात्र शील और सदाचार की ऐसी शिक्षायें थीं जिन्हें बौद्धेतर जनता, विदेशी जनता भी, सहर्ष स्वीकार कर सकती थी।

इस प्रकार के बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये अशोक ने निम्नलिखित उपाय अपनाये--

(१) शरसव्य विजय का परित्याग—अपने तेरहवें शिलालेख में अशोक ने सर्वप्रथम घोषित किया कि 'मैं अब भविष्य में कभी भी शरसव्य-विजय न करूँगा।' राजनीतिक जगत् में युद्ध का परित्याग एक महत्वपूर्ण घटना थी। अशोक ने इसके स्थान पर धम्म-विजय का बीड़ा उठाया। उसकी घोषणा वास्तविक थी, क्योंकि अपने चौथे शिलालेख में वह कहता है कि मेरे राज्य में 'भेरी-घोष' बन्द हो गया है और उसके स्थान पर 'धम्म-घोष' सुनाई देता है।

(२) निध्याति (प्रचार)—अशोक की धर्म विजय बहुत कुछ निज्झति (निध्याति) के द्वारा हुई। उसने, उसके पदाधिकारियों और संघ के भिक्षुओं ने शान्तिपूर्ण ढंग से अपने धम्म की उत्कृष्टता, महत्ता और उपयोगिता समझाकर जनता में हृदय-परिवर्तन करने का प्रयत्न किया।

(३) धम्मनियम—परन्तु कुछ बातें ऐसी थीं जो अशोक को असह्य थीं। उनके साथ वह किसी भी प्रकार का समझौता करने के लिये तैयार नहीं था। उनके दूरीकरण के लिये उसने एकमात्र निध्याति का सहारा नहीं लिया वरन् राज-शक्ति, दण्डनीति का भी प्रयोग किया। उदाहरण के लिये पशु-बलि और हिंसात्मक समाजों का वह घोर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विरोधी था। अत: इन्हें समाप्त करने के लिये उसने धम्मनियम (कानून) पारित किये और पशु-बलि एवं समाज करने वाले व्यक्तियों को दण्डनीय घोषित किया।

(४) धर्मानुशष्टि—अशोक स्वयं समय-समय पर धर्मोपदेश देता था। उसके आठवें शिलालेख का कथन है कि अपनी धर्म-यात्राओं में वह जनपदों में जाता था और लोगों को धम्मानुसट्ठि (धर्मानुशष्टि) देता था।

(५) धर्म-श्रावण—इसी प्रकार अशोक के सातवें स्तम्भ लेख का कथन है कि अशोक आवश्यकतानुसार धार्मिक आदेश जारी करता था। इन्हें धम्म-सावन (धर्म-श्रावण) कहते थे। उसके राज्य के पदाधिकारी इन धम्मसावनों का जनता में प्रचार करते थे।

(६) धर्म-लिपि—अपने अभिषेक के १२ वें वर्ष से अशोक ने शिलाओं और पाषाण-स्तम्भों पर अपने धम्म की शिक्षाओं को उत्कीर्ण कराना प्रारम्भ किया। ये लेख बहुधा ऐसे स्थानों पर स्थापित किये जाते थे जहाँ अधिक से अधिक जनता उन्हें पढ़ सके। इन शिला-लेखों और स्तम्भ-लेखों को धम्म-लिपि कहते हैं।

(७) धार्मिक दौरा—अशोक के तीसरे शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने अपने प्रमुख पदाधिकारियों—युक्तों, राजुकों और प्रादेशिकों—को आदेश दिया था कि वे अपने राजकीय कार्यों के अतिरिक्त धर्म-प्रचार के लिये राज्य में दौरा करें।

अपने प्रथम स्तम्भ-लेख में अशोक कहता है कि उसके पदाधिकारी—छोटे, बड़े और मध्यम सभी—धर्म-प्रचार में लगे हैं। उसने अन्तमहामात्रों को भी धर्म-प्रचार में लगाया था।

(८) धर्म-महामात्र—अशोक के पदाधिकारी राजकीय कार्य भी करते थे और धर्म-प्रचार भी। दो प्रकार के उत्तरदायित्वों के रहते हुए वे अपना पूरा ध्यान और समय केवल धर्म-प्रचार में न दे सकते। उनकी इस विवशता को समझते हुए अशोक ने अपने अभिषेक के १३ वें वर्ष 'महामात्र' नामक नवीन पदाधिकारियों की नियुक्ति की, जिनका कार्य एकमात्र धम्म-सम्बन्धी था। अपने पाँचवें शिलालेख में अशोक कहता है कि 'पहले धर्म-महामात्र नहीं थे। परन्तु अभिषेक के १३ वें वर्ष मैंने धर्म महामात्र नियुक्त किये। वे सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों के लिये हैं। वे धर्म-स्थापना, धर्म-वृद्धि और धर्माचारियों के सुख तथा हित के लिये नियुक्त किये गये हैं।'

(९) दिव्य दृश्यों का प्रदर्शन—अशोक अपने चौथे शिलालेख में कहता है कि 'मैंने मनुष्यों को विमान-दर्शन, हस्ति-दर्शन और अग्नि-स्कन्ध-दर्शन कराये।' इस कथन से उसका क्या तात्पर्य है? डा० भण्डारकर का यह मत है कि ये सब वस्तुयें स्वर्ग की हैं। जनता का विश्वास था कि धर्मात्मा मनुष्य स्वर्ग में जाने पर वहाँ के दिव्य विमानों और हाथियों का प्रयोग करता है और अग्नि-स्कन्ध (प्रभामय शरीर) की

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्ति करता है। अशोक ने इस प्रकार के दृश्य दिखाकर जनता के हृदय में धर्माचरण और स्वर्ग-प्राप्ति की लालसा जगाने का प्रयत्न किया था। आज भी भारत में दशहरा आदि त्यौहारों पर चौकियों के द्वारा अनेक प्रकार के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं। अशोक अपने दिव्य दृश्यों का प्रदर्शन सम्भवतः समाजों में करता था।

(१०) अहिंसा का प्रचार—अशोक के पाँचवें स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि उसने उन पशु-पक्षियों की हत्या बन्द करवा दी थी जो न किसी उपयोग में आते हैं और न खाये जाते हैं। इसके साथ-साथ इसी अभिलेख के द्वारा उसने पूर्णमासी, अमावास्या आदि पवित्र दिवसों पर अनेक पशुओं के मारने, पकड़ने, दागने, बेचने आदि पर भी निषेधाज्ञा लगादी।

अशोक ने अपने प्रथम शिलालेख के द्वारा अपने राज्य में पशु-बलि और हिंसात्मक समाजों को भी अवैध घोषित कर दिया। उसने अपने रंधनागार के ऊपर भी नियन्त्रण लगाया और यह आज्ञा जारी की कि भोजन के लिये प्रतिदिन मारे जाने वाले सैकड़ों-हजारों पशु-पक्षियों के स्थान पर अब केवल ३ जीव ही मारे जायँगे—२ मोर और १ हिरन। हिरन भी प्रतिदिन नहीं। उसने भविष्य में इन तीन जीवों की भी हत्या को बन्द कर देने का वचन दिया।

(११) लोक-कल्याणकारी कार्य—अशोक ने अपने धम्म को व्यावहारिक रूप दिया। उसने प्राणिमात्र के सुख-सुविधा के लिये अनेक कल्याणकारी कार्य किये। ये कार्य मनुष्यों और पशुओं दोनों के लिये किये। ये एकमात्र अशोक के राज्य में ही सीमित न थे। उसने अपने पड़ोसी भारतीय राज्यों एवं समकालीन विदेशी राज्यों की जनता के लिये भी अनेक उपकार किये।

अपने सातवें स्तम्भ-लेख में अशोक कहता है कि 'मैंने बरगद के पेड़ लगवाये जो पशुओं और मनुष्यों को छाया सुख दें, आमों के बाग लगवाये, प्रति ८ कोस (४ मील) पर कुयें खुदवाये, धर्मशालायें बनवाईं तथा जलशालायें स्थापित कराईं। क्यों? पशुओं और मनुष्यों के सुख के लिये।'

उसके दूसरे शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने अपने राज्य के बाहर चोलों, पाण्ड्यों, सतियपुत्रों, केरलपुत्रों के राज्यों, ताम्रपर्णि, यवन-राज्यों आदि में मनुष्यों और पशुओं दोनों के लिये अस्पताल खुलवाये। जो जड़ी-बूटियाँ और फल वहाँ नहीं होते थे उन्हें भिजवाया और लगवाया। अपने देश की भाँति उन देशों में भी उसने कुएँ खुदवाये और पेड़ लगवाये।

(१२) पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध संगीति—अशोक ने अपने अभिषेक के १८ वें वर्ष अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में बौद्धों की एक संगीति की। यह इतिहास में तृतीय बौद्ध संगीति के नाम से प्रख्यात है। दीपवंश, महावंश और सामन्तपासादिका में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस संगीति का वर्णन किया गया है। परन्तु उत्तरी भारत, तिब्बत और चीन के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। ह्वेनसांग भी इसका उल्लेख नहीं करता। अशोक के अभिलेखों में भी इसका नाम नहीं आता। इन आधारों पर डा० मजूमदार ने इस संगीति की ऐतिहासिकता पर विश्वास नहीं किया है।

परन्तु डा० मजूमदार का मत असंगत है। एक मात्र कुछ ग्रन्थों में उल्लेख न होने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि अन्य दूसरे ग्रन्थों का उल्लेख असत्य है। अशोक के अभिलेख और ह्वेनसांग के विवरण में उनके समय की सभी घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता। यद्यपि अशोक ने इस तृतीय बौद्ध संगीति का नाम नहीं लिया है, परन्तु भाब्रू में उत्कीर्ण अशोक का वक्तव्य तृतीय बौद्ध संगीति के अधिवेशन में दिया हुआ प्रतीत होता है। इसके साथ-साथ अशोक के १३ वें शिलालेख में देश-विदेश में धर्म-प्रचार का उल्लेख है। यह व्यापक धर्म-प्रचार तृतीय बौद्ध संगीति में बौद्ध धर्म के एक (समग्र) हो जाने के पश्चात् किया गया होगा। सारनाथ, साँची और कौशाम्बी के अभिलेख तृतीय बौद्ध संगीति की सफल समाप्ति के पश्चात् ही उत्कीर्ण कराये गये होंगे।

इस स्थिति में तृतीय बौद्ध संगीति को स्वीकार करना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

अब प्रश्न होता है कि यह बौद्ध संगीति क्यों की गई थी। अशोक के अभिलेख इस प्रश्न का प्रत्यक्ष उत्तर नहीं देते। परन्तु दीपवंश और महावंश का कथन है कि बौद्ध संघ में बहुसंख्यक अबौद्ध एवं बौद्ध-विरोधी भिक्षु घुस आये थे। वे संघ के नियमों की अवहेलना करते थे। संघ में उपोसथ और पवारणा होना बन्द हो गया था। स्वयं अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के महाविहार में ७ वर्षों से उपोसथ बन्द था।

इसके अतिरिक्त इन्हीं सिंहली महाकाव्यों से प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म में एकता न रही थी। वह दो सम्प्रदायों में विभक्त होगया था—(१) स्थविरवाद और (२) महासांघिक। स्वयं स्थविरवाद में दो सम्प्रदाय और महासांघिक में ४ सम्प्रदाय हो गये थे। हो सकता है कि इन महाकाव्यों में बौद्ध संघ के भेद को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया हो। परन्तु संघ-भेद था अवश्य, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

इस समय तक अशोक बौद्ध संघ के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गया था। संघ के प्रमुख भिक्षु मोग्गलिपुत्त तिस्स का उस पर विशेष प्रभाव था। वह बौद्ध धर्म के प्रचार में लगा था। इस परिस्थिति में यदि उसने सम्भवतः मोग्गलिपुत्त तिस्स की प्रेरणा से, संघ के भेद-भावों को दूर करके उसमें एकता स्थापित करने की चेष्टा की हो तो ऐसा नितान्त स्वाभाविक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह सभा मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुई थी। इसमें उसने अन्य सभी मतान्तरों का खण्डन करते हुए एकमात्र विभज्जवाद की सत्यता को स्थापित किया और तत्पश्चात् 'कथावस्तु' नामक ग्रन्थ की रचना की।

भाब्रू में उत्कीर्ण अशोक का वक्तव्य सम्भवत: इस संगीति के अधिवेशन में दिया गया था। इस वक्तव्य का मूल अंश इस प्रकार है—

'मगध के प्रियदर्शी राजा संघ का अभिवादन करते हैं कि वे स्वस्थ और सुखी रहें। हे भदन्तगण, आप जानते हैं कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी श्रद्धा और आसक्ति है। हे भदन्तगण, भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक कहा है। परन्तु हे भदन्तगण, यदि मैं सद्धर्म को चिरस्थायी करने के लिये कुछ कह सकता हूँ तो मैं उसे कह देना उचित समझता हूँ....'

इसी अभिलेख में अशोक ने बौद्धों के अध्ययन, श्रवण और मनन के लिये ७ बौद्ध-ग्रंथों (परियायों) का नाम लिया है।

बौद्ध संगीति में अशोक को बड़ी सफलता मिली। उसे विश्वास हो गया कि बौद्ध संघ की एकता स्थापित हो गई है। इसी सफल संगीति के पश्चात् सम्भवत: उसने सारनाथ, साँची और कौशाम्बी के स्तम्भ-लेख खुदवाये। इनमें उसने सहर्ष घोषित किया कि उसने संघ को एकता स्थापित कर दी है ('संघे समगे कटे')।

कहीं यह एकता पुन: भंग न हो जाय, इसलिये उसने उपर्युक्त स्तम्भ-लेखों में भेदकारियों के लिये चेतावनी भी जारी की—

'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार आदेश देते हैं कि...... कोई संघ में भेद उत्पन्न न करे। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, संघ में भेद उत्पन्न करेगा वह सफेद वस्त्र पहनाकर उस स्थान पर रखा जायेगा जो भिक्षु-भिक्षुणियों के उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार हमारा यह आदेश भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को सादर बता दिया जाय।'

इस आदेश का प्रचार करने के लिये अशोक ने इसकी एक-एक प्रति अपने महामात्रों के कार्यालयों और सार्वजनिक स्थानों के लिये भेज दी।

इस आदेश का तात्पर्य यह था कि यदि किसी भिक्षु ने संघ में भेद उत्पन्न करने की चेष्टा की तो वह न भिक्षु रह सकेगा और न बौद्ध विहार में निवास कर सकेगा। उसका पूर्ण बहिष्कार कर दिया जायेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक ने बौद्ध धर्म का वास्तविक रूप निश्चित किया, संघ की एकता स्थापित की और भविष्य में संघ-भेद की सम्भावना को रोकने का प्रयत्न किया। सारांशत: वह बौद्ध धर्म का संरक्षक-सा बन गया। अत: उसके धर्म-प्रचार में पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध संगीति का विशेष महत्व है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१३) विदेशों में धर्म-प्रचार—अशोक ने एकमात्र अपने देश में ही नहीं, विदेशों में भी धर्म-प्रचार करने की यथाशक्ति चेष्टा की। इस प्रचार के दो प्रमुख साक्ष्य मिलते हैं—(१) साहित्यिक और (२) अभिलेख-सम्बन्धी।

(१) धर्म-प्रचार के साहित्यिक साक्ष्य

महावंश, दीपवंश और सामन्तपासादिका—ये सभी ग्रन्थ मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुई तृतीय बौद्ध संगीति का उल्लेख करते हैं। इसके अधिवेशन की समाप्ति पर तिस्स ने देश-विदेश में धर्म-प्रचारक भेजे। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ इन प्रचारकों की सूची निम्नलिखित है—

१. मज्झन्तिक—काश्मीर और गन्धार के लिये।

२. महादेव—महिषमण्डल (मैसूर) के लिये।

३. रक्षित—वनवासी (उत्तरी कनारा) के लिये।

४. यवन धर्मरक्षित—अपरान्त (बम्बई-तट) के लिये।

५. महाधर्मरक्षित—महाराष्ट्र के लिये।

६. महारक्षित—यवन राज्य (सम्भवतः पश्चिमोत्तर प्रदेश और काबुल घाटी के यूनानी उपनिवेश) के लिये।

७. मज्झिम—हिमालय-प्रदेश के लिये।

८. सोन और उत्तर—सुवर्णभूमि (बर्मा) के लिये।

९. महेन्द्र और संघमित्रा—लंका के लिये।

साँची के द्वितीय स्तूप में एक अवशेष-पात्र (relic casket) प्राप्त हुआ है। उस पर तिस्स द्वारा भेजे १० धर्म-प्रचारकों के नाम खुदे हैं।

(२) अभिलेख-सम्बन्धी साक्ष्य

अशोक के अभिलेख—स्वयं अशोक के अभिलेख देश-विदेश में उसके धर्म-प्रचार का उल्लेख करते हैं।

अशोक का द्वितीय शिलालेख कहता है कि 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा अन्य सीमान्त-प्रदेशों—जैसे चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णि—में तथा अन्तियोक यवनराज और अन्य पड़ोसी राजाओं के प्रदेशों में प्रत्येक स्थान पर देवानां प्रिय ने चिकित्सा का दो प्रकार का प्रबन्ध किया है—मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा। जहाँ-जहाँ वे औषधियाँ जो मनुष्यों और पशुओं के लिये उपयोगी हैं नहीं पाई जातीं वहाँ-वहाँ वे भेजी गईं और लगाई गईं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ जड़ी-बूटियाँ और फल-वृक्ष नहीं पाये जाते वहाँ-वहाँ वे भेजे गये और लगाये गये।'

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक के पाँचवें शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने कंबोज, गन्धार, राष्ट्रिक आदि प्रदेशों और अपरान्त-प्रदेशों में अपने प्रचारक भेजे थे।

उसका तेरहवाँ शिलालेख उसके धर्म-प्रचार के विषय पर विशेष प्रकाश डालता है—'देवानां प्रिय धर्म-विजय को ही वास्तविक विजय मानते हैं। देवानां प्रिय को अपने विजित राज्य में, सब सीमान्त प्रदेशों में, ६०० योजन तक जहाँ यवनराज अन्तियोक राज्य करता है, तथा उसके पास जो अन्य राजा तुरमय, अंतिकिन, मग और अलिकसुन्दर हैं तथा नीचे (दक्षिण में) जो चोल, पाण्ड्य और ताम्रपर्णि के राज्य हैं, इसी प्रकार राजा (अशोक) के राज्य में यवनों, कम्बोजों, नाभकों और नाभपंतियों के बीच में तथा भोजों, पितिनिकों आदि में सर्वत्र विजय प्राप्त हुई है।'

यहाँ इन समस्त राज्यों के समीकरण पर विचार कर लेना आवश्यक है।

चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी के राज्य धुर दक्षिणी भारत के राज्य थे। ये अशोक के साम्राज्य के बाहर पड़ोसी राज्य थे। इनके साथ अशोक का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था।

गंधार का राज्य सिंधु नदी के पूर्व और पश्चिम में था। पूर्वी भाग की राजधानी तक्षशिला थी। राष्ट्रिक-भोज उपाधिधारी शासक थे जो महाराष्ट्र के कुछ प्रदेश में राज्य करते थे। उक्त शिलालेख में उल्लिखित पितिनिक, नाभक, अंध-पालिंद आदि जन-जातियाँ थीं जिन्हें अपने आंतरिक शासन के कुछ अधिकार प्राप्त थे।

एक यवन-राज्य कोफेन और सिंधु नदी के बीच में था। यहीं शाहबाजगढ़ी में अशोक का एक अभिलेख मिला है।

कम्बोज-राज्य के अन्तर्गत वर्तमान रजौरी और हजारा के जिले आते थे।

अशोक के लेखों ने तबपंनि, से अभिप्राय उस ताम्रपर्णी नदी के काँठे से है जो धुर दक्षिण में तिन्नेवली जिले में होकर बहती है। लंका को 'पारसमुद्र' या 'ताम्रपर्णी-द्वीप' कहा जाता था। 'दीपवंश' और 'महावंश' से ज्ञात होता है कि अशोक के समय लंका का राजा देवानांप्रिय तिष्य था। तिष्य और अशोक ने एक-दूसरे को उपहार भेजे थे। लंका का राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर था।

अब रहे स्वतन्त्र यूनानी विदेशी शासक। अशोक इनमें से पाँच के नाम लेता है—

(१) अन्तियोक—यह सीरिया और पश्चिमी एशिया का राजा ऐण्टिओकस (२६१–२४६ ई० पू०) था।

(२) तुरमय—यह मिस्र का राजा टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस था। इसने २८५ ई० पू० से २४७ ई० पू० तक शासन किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) अन्तिकिन—यह मेसीडोनिया का राजा ऐण्टीगोनस था। इसने २७६ ई० पू० से २३९ ई० पू० तक शासन किया।

(४) मग—यह सिरीन (उत्तरी अफ्रीका) का राजा मैगस था। इसका शासनकाल ३०० ई० पू० से २५० ई० पू० तक था।

(५) अलिक सुन्दर—यह एपिरस अथवा कोरिन्थ का राजा एलेग्जेण्डर था। इसने २५२ ई० पू० से २४४ ई० पू० तक शासन किया था।

इन राज्यों के अतिरिक्त सम्भवत: कुछ अन्य राज्यों में भी अशोक की धर्म-विजय का प्रभाव हुआ था, क्योंकि अशोक के तेरहवें शिलालेख का कथन है कि 'जहाँ देवानां प्रिय के दूत नहीं गये हैं उन राज्यों के लोग भी देवानां प्रिय के धर्माचार, धर्म-श्रावणों और धर्मानुशष्टि को सुनकर धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।

इन समस्त साक्ष्यों के अनुसार अशोक का धर्म-प्रचार भारत, अफगानिस्तान फारस, सीरिया, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वी योरप, नेपाल और बर्मा में हुआ था।

असंगत विरोध - अनेक विद्वानों ने अशोक की धर्म-विजय की इस व्यापकता को अस्वीकार किया है। उदाहरणार्थ स्मिथ और रिज डेविड्ज महोदय क्रमश: बर्मा और यूनानी संसार में अशोक द्वारा बौद्ध धर्म-प्रचार के दावे को असत्य बताते हैं। परन्तु यह विरोध नितान्त असंगत है—(१) अशोक से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह केवल आत्म-प्रशंसा के लिये असत्य लेख खुदवायेगा। (२) अशोक के अभिलेखों की पुष्टि साहित्यिक साक्ष्य से भी होती है। (३) साँची के द्वितीय स्तूप में प्राप्त अवशेष-पात्र से सिद्ध हो जाता है कि अशोक के प्रचारक दूर-दूर के प्रदेशों में गये थे। इस पत्र पर उल्लिखित प्रचारकों के नाम साहित्य में उल्लिखित नाम हैं। अत: उनकी सत्यता निर्विवाद है। (४) आधुनिक काल में हुई देश-विदेश की खुदाई एवं पुरातत्व-सामग्री ने स्पष्ट कर दिया है कि बौद्ध धर्म का प्रचार दूर-दूर हुआ था। यह प्रचार अशोक के प्रयत्नों का ही परिणाम था। (५) अशोक ने अपने अभिलेखों में जिन देशी और विदेशी राज्यो का ब्यौरा दिया है वह वास्तविक है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह इन सब राज्यों से भली भाँति-परिचित था।

भारत—हम देखते हैं कि अशोक के शासन-काल के पश्चात् भारत में बौद्ध धर्म अभूतपूर्व ढंग से प्रचलित हुआ। स्थान-स्थान पर बौद्ध विहारों, स्तूपों, गुहाओं, चैत्यों आदि की प्राप्ति ने सिद्ध कर दिया है कि २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक के काल में बौद्ध धर्म भारत का प्रमुख धर्म था। यह मुख्यतया अशोक के धर्म-प्रचार का परिणाम था।

लंका—लंका या सिंहल में अशोक के धर्म-प्रचार की बात अभिलेखों और सिंहली महाकाव्यों से प्रमाणित होती है। महेन्द्र और संघमित्रा का लंका में जाना,

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति की स्थापना करना, लंका के राजा तिष्य का देवानां प्रिय अशोक के साथ मैत्री-सम्बन्ध होना, दोनों का एक-दूसरे के पास उपहारादि भेजना कोरी कल्पना नहीं है। अशोक के समय से लेकर बहुत बाद तक लंका-निवासी अपने स्थानीय धर्मों को छोड़कर बौद्ध धर्म का अनुसरण करते रहे।

बर्मा—खुदाई में प्राप्त सामग्री से पता चला है कि बर्मा में ५०० ई० के लगभग हीनयान धर्म प्रचलित था। वहाँ इस धर्म की स्थापना सम्भवतः अशोक के प्रचारकों ने की।

नेपाल—तारानाथ का कथन है कि अशोक ने अपने पिता के समय में ही नेपाल के एक विद्रोह का दमन किया था। दीपवंश और महावंश से विदित होता है कि अशोक अपनी पुत्री चारुमती के साथ नेपाल गया था। उसने वहाँ ललितपट्टन नामक एक नगर की स्थापना की थी और उस नगर के मध्य में एक चैत्य और चार स्तूपों का निर्माण कराया था। स्तूप आज भी विद्यमान हैं और कला की दृष्टि से सांची-स्तूप के समान हैं। अशोक के समान उसकी पुत्री चारुमती ने नेपाल में एक दूसरे नगर देवपट्टन की स्थापना की थी। अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि कालान्तर में बौद्ध धर्म नेपाल का प्रमुख धर्म हो गया था। इन सब बातों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अशोक ने नेपाल में धर्म-प्रचार अवश्य किया था।

काश्मीर—काश्मीर में अशोक के धर्म-प्रचार की पुष्टि कल्हण की 'राजतरंगिणी' से होती है। इस ग्रन्थ का कथन है कि अशोक महात्मा बुद्ध का अनुयायी था और उसने शुष्कलेत्र और वितस्ता के प्रदेशों को स्तूपों से भर दिया था। कालान्तर की खोजों से भी काश्मीर में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का पता चला है।

सीमाप्रान्त और अफगानिस्तान—सीमाप्रान्त और अफगानिस्तान चन्द्रगुप्त के समय से ही मौर्य-साम्राज्य में थे। अतः अपने साम्राज्य के अन्य भागों की भाँति इन भागों में भी अशोक का धर्म-प्रचार स्वाभाविक था। सीमाप्रान्त के पेशावर जिले में शाहबाजगढ़ी नामक स्थान पर और हजारा जिले में मानसेहरा नामक स्थान पर अशोक के दो अभिलेख मिले हैं। इसी प्रकार उसका एक अभिलेख अफगानिस्तान में काबुल-घाटी में स्थित लंघन नामक स्थान पर मिला है। इन अभिलेखों से अशोक का इन प्रदेशों में धर्म-प्रचार सिद्ध होता है। कालान्तर में फाह्यान ने सीमाप्रान्त और अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म को फलते-फूलते देखा था। बौद्ध धर्म की इस प्रतिष्ठा का श्रीगणेश अशोक के शासन-काल में ही हुआ था।

चीन—चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश ई० पू० द्वितीय शताब्दी तक अवश्य हो गया था। इसी समय यूचिओं ने चीन को कुछ बौद्ध ग्रन्थ दिये थे। ईसा की प्रथम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी में चीनी सम्राट् ने भारतीय बौद्ध प्रचारकों को अपने देश में बुलाने के लिये अपने दूत भेजे थे। इन प्रारम्भिक विवरणों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि चीन में बौद्ध धर्म का बीजारोपण अशोक के शासन-काल में हो गया होगा।

यूनानी राज्य—रिज डेविड्ज महोदय ने यूनानी राज्यों में अशोक के धर्म-प्रचार के दावे को एकमात्र राजकीय प्रलाप (mere royal rodomontade) कहा है। वे कहते हैं कि यूनानी भारतीयों को बर्बर समझते थे। अतः वे उनके राजा के प्रचार के परिणामस्वरूप अपने देवताओं और अन्ध विश्वासों को कभी नहीं छोड़ सकते थे[1]।

परन्तु रिज डेविड्ज महोदय का मत निम्नलिखित कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता—

(१) इस बात का एक भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है कि अशोक के अभिलेख असत्य, दम्भपूर्ण और प्रलापपूर्ण हैं।

(२) सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारतीयों के विषय में चाहे जो धारणा रही हो, परन्तु इस आक्रमण के पश्चात् उन्होंने भारतीयों को कभी भी बर्बर नहीं समझा।

(३) अशोक ने कभी भी यूनानियों के देवताओं और धार्मिक परम्पराओं को अपदस्थ करने की चेष्टा नहीं की। ऐसा सोचना उसके धम्म के वास्तविक रूप को न समझना है। उसने अपने धम्म के अन्तर्गत केवल ऐसे शील और सदाचार का प्रचार किया था जो किसी भी धर्म के विरोधी न हों और जो सभी को मान्य हों। उसने विदेशी राजाओं को आश्वस्त भी किया था कि वे उसके प्रति किसी प्रकार की शंका न करें। वे उससे सुख ही पायेंगे, दुःख नहीं।

(४) हिन्दूकुश पर अशोक के साम्राज्य और सीरिया के यूनानी साम्राज्य की सीमायें मिलती थीं। अतः यदि अशोक के धर्म-प्रचारक अपने पड़ोसी यूनानी राज्य में गये हों, तो इसमें अस्वाभाविकता की क्या बात है?

(५) चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार दोनों के समय में भारत और यूनानी राज्यों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध थे। अतः अशोक ने इन कूटनीतिक सम्बन्धों के आधार पर यूनानी राज्यों से और अधिक घनिष्ठता बढ़ाते हुए वहाँ धर्म-प्रचार किया होगा।

(६) अशोक के अभिलेखों में यूनानी राज्यों के नामों और भौगोलिक स्थिति के विषय में जो विवरण प्राप्त होता है वह ठीक है। इससे प्रकट होता है कि अशोक इन राज्यों से भली-भाँति परिचित था।

---

१. "We can well imagine the amusement of the Greeks at the idea of a 'barbarian' teaching them their duty but we can hardly imagine them discarding their gods and their superstitions at the bidding of an alien king".

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) मृत सागर (Dead Sea) पर निवास करने वाला एसेनीज (Essenes) सम्प्रदाय और सिकन्दरिया के समीप रहने वाले थेरपुटाय (Theraputae) लोगों में बौद्ध प्रथायें प्रचलित थीं। थेरपुटाय शब्द स्थविरपुत्र का रूपान्तर है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि पश्चिमी एशिया और अफ्रीका में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था।

(८) एपिफेनस नामक लेखक का कथन है कि अशोक के समकालीन मिस्र-नरेश टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस के पुस्तकाध्यक्ष ने हिन्दुओं की पुस्तकों का अनुवाद कराने की चेष्टा की थी। इससे अशोक के समय में भारतीयों और यूनानियों का सम्पर्क सिद्ध होता है।

धर्म-प्रचार में अशोक की सफलता—अशोक को अपने धर्म-प्रचार में बड़ी सफलता मिली थी। उसने इस सफलता का स्वयं अनुभव किया था।

अपने चौथे शिलालेख में वह कहता है कि उसके राज्य में भेरी-घोष बन्द हो गया है और सर्वत्र धर्म-घोष हो रहा है।

लघु शिलालेख प्रथम का कथन है कि 'इस अवधि में सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के मनुष्य जो देवताओं से मिले नहीं थे, वे उनसे मिला दिये गये। यह परिश्रम का फल है।'

इस कथन के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है—

(१) डा० हरप्रसाद शास्त्री ने अभिलेख के 'मिसा' और 'अमिसा' शब्दों से 'मृषा' (झूठे) और 'अमृषा' (सच्चे) का अर्थ लगाया है। उनके अर्थ के अनुसार अशोक ने पृथ्वी के देवताओं अर्थात् ब्राह्मणों को मृषा (झूठा) सिद्ध कर दिया था।

परन्तु शास्त्रीजी के मत को आज कोई भी स्वीकार नहीं करता। मिसा और अमिसा से क्रमशः 'मिश्रा' (मिले हुए) और 'अमिश्रा' (जो मिले नहीं हैं) शब्दों का बोध होता है, मृषा और अमृषा का नहीं।

(२) डा० मुकर्जी ने इस वाक्य का अर्थ यह किया है कि 'इस समय (२½ वर्ष) के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से भिन्न थे अथवा अलग थे अथवा दूर थे अर्थात् जिनका न कोई धर्म था, न कोई देवता, वे देवताओं से सम्बन्धित हो गये अर्थात् वे धार्मिक होकर देवताओं की पूजा करने लगे।'

(३) डा० टामस इस पंक्ति से यह आशय निकालते हैं कि 'अशोक यह व्यक्त करना चाहता है कि लगभग एक वर्ष में उसने ब्राह्मणों के देवताओं का उन बर्बर जातियों से परिचय करा दिया जो अब तक उन देवताओं से अपरिचित थीं।'

(४) डा० भण्डारकर के मतानुसार 'अशोक के धर्म का अनुकरण करने से लोग पुण्यात्मा होने लगे। अतः उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ और वहाँ वे देवताओं के पास आ गये अथवा देवताओं से उनका परिचय या सम्बन्ध हुआ।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो भी हो, यह निश्चित है कि इस लेख के उत्कीर्ण कराने के समय तक (सेनार के मतानुसार अपने अभिषेक के १४ वें वर्ष तक) अशोक अपनी सफलता का अनुभव करने लगा था।

अशोक—शासक के रूप में

अशोक एक आदर्शवादी शासक था। उसने जिन उदात्त सिद्धान्तों को अपने समक्ष रखकर शासन-संचालन का प्रयास किया वे आधुनिक संसार के लिये भी अनुकरणीय हैं। धर्म ही उसके शासन का प्रमुख आधार था—'धम्मेन पासना, धम्मेन विधाने, धम्मेन सुखियने, धम्मेन गुप्ती।'

वह अपनी प्रजा को पुत्रवत् समझता था और उनकी सुख-समृद्धि की चेष्टा किया करता था। अपने कलिङ्ग-शिलालेख में वह कहता है कि 'सब मनुष्य मेरी सन्तान हैं और जैसे मैं अपनी सन्तान के लिये कामना करता हूँ कि वे इस लोक और परलोक में सब प्रकार का सुख प्राप्त करें वैसे ही मैं सब मनुष्यों के लिये कामना करता हूँ।' उसके शासन का सर्वोच्च लक्ष्य 'सर्वलोकहित' था। इसी ध्येय को दृष्टि में रखते हुए अशोक ने अनेक प्रकार के परोपकारिता के कार्य किये थे। अपने सातवें स्तम्भ-लेख में वह कहता है कि 'मार्गों में मैंने बरगद के वृक्ष लगवाये जिससे वे मनुष्यों और पशुओं दोनों को छाया-सुख दें, आम के बाग लगवाये, प्रति ८ कोस पर कुएँ खुदवाये, धर्मशालायें बनवाईं और जलशालायें स्थापित कराईं। क्यों? मनुष्यों तथा पशुओं के सुख के लिये।'

ऐसा प्रतीत होता है कि उसके साम्राज्य में कुछ आटविक (वन्य) जातियाँ बड़ी बर्बर थीं और वे बहुधा उत्पात किया करती थीं। अशोक ने उनके प्रति भी उदारता दिखाई और समझा-बुझाकर उन्हें सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की। अपने तेरहवें शिलालेख में वह कहता है कि यद्यपि इन जातियों को दण्डित करने की मुझमें शक्ति है फिर भी मैं उनसे प्रार्थना और आग्रह करता हूँ कि वे मुझे अधिक कष्ट न दें।

यद्यपि वह बौद्ध था, फिर भी उसने धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की थी। उसके राज्य में सभी धर्मों को स्वतन्त्रता थी। अपने बारहवें शिलालेख में वह केवल 'सारवृद्धि' की कामना करता है और घोषित करता है कि जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है और दूसरे धर्म की निन्दा करता है वह ऐसा करते हुए अपने धर्म को बड़ी हानि पहुँचाता है।

उसकी उदारता एवं दानशीलता केवल एक सम्प्रदाय के लिये न थी। अपने १२ वें शिलालेख में वह कहता है कि 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थों को दान एवं अन्य प्रकार की पूजा से सम्मानित करता है।'

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक ने अपने महान् पितामह और पिता के शासनतन्त्र को मूलतः कायम रखा, परन्तु अपनी मौलिक धारणाओं के अनुरूप उसमें अनेक सुधार भी किये। उसके प्रमुख सुधार निम्नलिखित थे—

(१) अशोक के पूर्व देश में निवास-सम्बन्धी प्रतिबन्ध थे। उदाहरणार्थ चाण्डाल तथा अन्य निम्न जातियाँ नगरों के बाहर ही रहती थीं। अशोक की सहृदयता ने इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध विद्रोह किया और उसने इसे समाप्त कर दिया। अपने सातवें शिलालेख में वह घोषित करता है कि सभी धर्मों के मनुष्य सभी स्थानों पर रहें।

(२) व्यावहारिकता को दृष्टिकोण में रखते हुए अशोक मृत्यु-दण्ड को तो समाप्त न कर सका, परन्तु उसने अपने दण्ड-विधान में यथाशक्ति उदारता लाने का प्रयत्न किया। पाँचवें स्तम्भ-लेख के अनुसार वह अपने राज्याभिषेक के वार्षिक महोत्सव पर बन्दियों को मुक्त कर देता था।

उसका चौथा स्तम्भ-लेख एक अन्य महत्वपूर्ण सुधार का उल्लेख करता है। इसके अनुसार अशोक मृत्यु-दण्ड-प्राप्त अभियुक्तों को तीन दिन का अवकाश देता था जिससे वे मृत्यु के लिये तैयार हो जायँ।

(३) अशोक में भारी धार्मिक सहिष्णुता थी। परन्तु धर्म के नाम पर होने वाले अधर्म को वह कभी सहन न कर सकता था और उसके दमन के लिये राजदण्ड का भी प्रयोग करने में संकोच न करता था। हिंसापूर्ण यज्ञों और समाजों को वह भारी अधर्म समझता था। इसी से उसने अपने प्रथम शिलालेख द्वारा उन्हें बन्द करा दिया।

(४) यद्यपि वह नव-विजित कलिङ्ग को स्वतन्त्रता न दे सका, परन्तु उसने वहाँ की जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हुए एक महत्वपूर्ण आदेश जारी किया। उसे सूचना मिली थी कि उसके पदाधिकारी कलिङ्ग की जनता के ऊपर अत्याचार कर रहे हैं और उनका शासन अन्यायपूर्ण है। अपने कलिङ्ग-अभिलेख में वह आदेश देता है कि कोई भी व्यक्ति अकारण दण्डित न किया जाय। इसी अभिलेख में वह पुनः घोषित करता है कि 'मैं प्रति पाँचवें वर्ष महामात्रों को दौरा पर भेजूँगा जो यह देखेंगे कि कलिङ्ग के नगर व्यावहारिक तथा अन्य पदाधिकारी भली-भाँति शासन करते हैं अथवा नहीं।' उसने उज्जयिनी और तक्षशिला में स्थित अपने कुमारों (वायसराय) को आदेश दिया कि वे भी अपने पदाधिकारियों द्वारा कम से कम तीन वर्षों में इसी प्रकार का एक दौरा अवश्य करायें।

(५) अशोक ने अपनी दौरा-योजना को और आगे बढ़ाया और अपने तीसरे शिलालेख में घोषित किया कि 'भविष्य में मेरे राज्य के तीनों कोटि के उच्चतम पदाधिकारी—युक्त, राजुक और प्रादेशिक—अपने सामान्य कार्यों के साथ-साथ धर्म-प्रचार के लिये प्रति पाँचवें वर्ष दौरा करेंगे।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य राजकीय पदाधिकारियों से धर्म-प्रचार भली-भाँति न हो रहा था। अतः अशोक ने अपने अभिषेक के १३ वें वर्ष एक अन्य महत्वपूर्ण सुधार किया। पाँचवें शिलालेख के अनुसार उसने धर्म-महामात्र नामक नवीन पदाधिकारियों की नियुक्ति की। इनका काम धर्म-स्थापना करना, दानों का निरीक्षण करना और संघ, ब्राह्मणों, निर्ग्रन्थों, आजीविकों तथा अन्यान्य पाषण्डों के हितों की रक्षा करना था। इसके अतिरिक्त उन्हें न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी दिये गये। वे वृद्धों और बहुसन्तानवान् व्यक्तियों के दण्ड को कम कर सकते थे तथा अकारण दण्ड-प्राप्त व्यक्तियों को दण्ड से पूर्णतया मुक्त करा सकते थे।

(७) अच्छे शासन के लिये यह अत्यन्त आवश्यक होता था कि राजा को प्रत्येक महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती रहे। इसी से अशोक ने अपने सातवें शिलालेख में घोषित किया कि 'भूतकाल में राजाओं में प्रत्येक समय सूचनायें प्राप्त करने और तदनुसार कार्य करने की प्रथा न थी। अब नवीन व्यवस्था के अनुसार आवेदक अथवा सूचना-वाहक प्रत्येक समय मुझसे मिल सकते हैं—चाहें मैं भोजन कर रहा हूँ या अन्तःपुर में हूँ या अपने शयन-कक्ष या निजी कक्ष में हूँ, घोड़े की पीठ पर हूँ या राजोद्यान में हूँ। इन अधिनियमों को समझाते हुए अशोक आगे कहता है कि उत्थान (परिश्रम) और अर्थसन्तिरन (राजकाज को निपटाना) द्वारा ही सर्वलोकहित सम्भव है।

(८) अपने अभिषेक के २६ वें वर्ष अशोक ने एक अन्य महत्वपूर्ण सुधार किया। वह अपने चौथे स्तम्भ-लेख में कहता है कि कई सौ हजार लोगों के ऊपर नियुक्त राजुकों को मैंने अभिहृव (पुरस्कार-सम्मान) और दण्ड के वितरण में पूरे अधिकार दे दिये हैं जिससे वे आत्मविश्वास और निर्भयता के साथ अपना कार्य कर सकें। इसका क्या तात्पर्य है ? ऐसा प्रतीत होता है कि इस सुधार के पूर्व प्रत्येक प्रान्त में न्याय-विभाग में तीन उच्च अधिकारी थे—राजुक, प्रादेशिक और नगर-व्यावहारिक। ये तीनों ही स्वतन्त्र रूप से न्याय-सम्बन्धी कार्य करते थे। अतः राज्य में व्यवहार-समता (uniformity of legal procedure) और दण्ड-समता (uniformity of punishment) न थी। अब इस सुधार के अनुसार अशोक ने नगर-व्यावहारिकों और प्रादेशिकों के हाथ से न्याय-सम्बन्धी कार्य ले लिये और उन्हें एक मात्र राजुकों के सिपुर्द कर दिया।

चरित्र की समीक्षा—अशोक के विषय में कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि वह भिक्षु हो गया था अथवा भौतिक जीवन के प्रति वह उदासीन था तथा उसने धर्म के चक्कर में पड़कर राजदण्ड और सैनिक शक्ति के प्रयोग का सर्वथा परित्याग कर दिया था। परन्तु यह धारणा असंगत है।

हम पहले कह चुके हैं कि यह सम्भव हो सकता है कि संघ में जाने के समय

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा अपनी धर्म-यात्राओं के अवसर पर अशोक भले ही भिक्षु-वेश धारण कर लेता हो, परन्तु वह भिक्षु कभी नहीं हुआ था।

उसने भौतिक जीवन की भी उपेक्षा नहीं की थी। वह अश्वारोहण करता था और राजोद्यान में विहार करता था। उसने भौतिक हितों की रक्षा करते हुए नगरों, सड़कों, जलशालाओं और धर्मशालाओं का निर्माण कराया था। उसकी बनवाई गुहाओं और स्तम्भों की कलाविदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसका राजप्रासाद फाह्यान को देवनिर्मित लगा था। ये सारे कार्य संसार-त्यागी भिक्षु के नहीं हो सकते।

अशोक ने राजदण्ड और सैनिक शक्ति का पूर्णरूप से परित्याग न किया था। वह अपने तेरहवें शिलालेख में कहता है कि वह अपराधी को वहीं तक क्षमा करेगा जहाँ तक वह क्षम्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि भयंकर उत्पात अथवा उपद्रव के समय वह राजदण्ड और सैनिक शक्ति का प्रयोग करने में संकोच न करेगा।

आटविक जातियों को चेतावनी देते हुए अशोक अपने इसी तेरहवें अभिलेख में स्पष्ट रूप से कहता है कि 'मैं अनुकम्पावान् होने के साथ-साथ शक्तिमान् भी हूँ।' वह आगे घोषित करता है कि 'आटविक जातियाँ मुझे बहुत अधिक कष्ट न दें अन्यथा उनका वध कर दिया जायेगा।' इस कथन से ज्ञात होता है कि अशोक के शासन में राजदण्ड और क्रूरता की समाप्ति नहीं हुई थी।

बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात् भी अशोक व्यावहारिक था। उसने अनुशोचन के पश्चात् भी कलिङ्ग को स्वतन्त्र न किया था, वरन् उसे अन्त तक अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बनाये रखा।

उसने अपने दण्ड-विधान में मृदुता का पुट अवश्य दिया, परन्तु मृत्यु-दण्ड को समाप्त न किया।

उन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक आदर्श धर्म-प्रचारक होने के साथ-साथ एक व्यावहारिक शासक भी था जिसे अपने साम्राज्य-रक्षा की चिन्ता रहती थी।

अशोक का साम्राज्य

अशोक का साम्राज्य भारतीय इतिहास के अत्यन्त विशाल साम्राज्यों में समझा जाता है। वह स्वयं इसे 'पृथ्वी' और 'महालक' (सुविस्तृत) शब्दों से पुकारता है। हम उसके अभिलेखों, साहित्यिक साक्ष्यों और ह्वेनसांग के विवरण के आधार पर साम्राज्य की सीमायें निश्चित कर सकते हैं—

उत्तर-पश्चिम में—(१) अशोक अपने पाँचवें और तेरहवें शिलालेखों में सीरिया और फारस के राजा अन्तियोक (ऐण्टियोकस द्वितीय) को अपना पड़ोसी बताता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दूकुश पर दोनों साम्राज्यों की सीमायें मिलती थीं। इसमें कोई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवीन बात नहीं थी। उसके पितामह चन्द्रगुप्त के समय ही मौर्य-साम्राज्य हिन्दूकुश तक फैल गया था और अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान के विशाल प्रदेश उसके अन्तर्गत थे।

(२) अशोक का एक अभिलेख काबुल की घाटी में स्थित लंधन नामक स्थान में पाया गया है।

(३) अशोक पाँचवें और तेरहवें अभिलेखों में यवनों को अपने अधीन बताता है। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार ये यवन कोफेन और सिन्धु नदियों के बीच में बसे थे।

(४) अशोक के अन्य दो अभिलेख शाहबाज गढ़ी (पेशावर जिला) और मानसेहरा (हजारा जिला) में पाये गये हैं। इनसे सीमाप्रान्त उसके अधीन सिद्ध होता है।

(५) कल्हण की राजतरंगिणी का कथन है कि अशोक ने शुष्कलेत्र और वितस्ता नदियों के बीच के प्रदेश को स्तूपों से भर दिया था और श्रीनगरी नामक नगर की स्थापना की थी। इस विवरण से काश्मीर अशोक के आधिपत्य में सिद्ध होता है।

(६) ह्वेनसांग का कथन है कि अशोक ने कपिशा, नगर (जलालाबाद) और काश्मीर में स्तूपों का निर्माण कराया था तथा काश्मीर को बौद्ध अर्हतों को दान में दिया था।

उत्तर में—उत्तर में अशोक का साम्राज्य हिमालय की तराई तक विस्तृत था। अनेक साक्ष्यों से नेपाल की तराई और नेपाल उसके अधीन प्रकट होते हैं—

(१) नेपाल की तराई में रुम्मिन्देई और निग्लिवा नामक स्थानों में उसके दो अभिलेख मिले हैं।

(२) बौद्ध जनश्रुति का कथन है कि अशोक की पुत्री चारुमती ने नेपाल के एक क्षत्रिय देवपाल से विवाह किया था और उसने अपने पति के नाम पर नेपाल में देवपट्टन नामक नगर बसाया था।

(३) तारानाथ का कथन है कि अशोक ने अपने पिता बिन्दुसार के समय नेपालियों के विद्रोह का दमन किया था।

(४) नेपाली वंशावलियों से प्रकट होता है कि अशोक अपनी पुत्री चारुमती के साथ नेपाल गया था और वहाँ उसने ललितपट्टन नामक नगर बसाया था।

पूर्व में—पूर्व में बंगाल अशोक के साम्राज्य में था—

(१) हम पहले ही कह चुके हैं कि महास्थान-अभिलेख से बंगाल चन्द्रगुप्त के समय में ही मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत प्रतीत होता है।

(२) दीपवंश और महावंश का कथन है कि जिस समय महेन्द्र लंका जा रहा था तो अशोक उसे बिदा करने के लिये ताम्रलिप्ति (तमलुक,बंगाल) तक गया था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) ह्वेनसांग के विवरण से प्रतीत होता है कि अशोक ने कर्णसुवर्ण, ताम्रलिप्ति, पुण्ड्रवर्धन और समतट में स्तूप बनवाये थे। ये सब प्रदेश बंगाल के ही भाग हैं।

परन्तु आसाम को कोई भी साक्ष्य अशोक के साम्राज्य में नहीं बताता। ह्वेनसांग का कथन है कि कामरूप (आसाम) में न बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था और न वहाँ किसी ने कभी कोई बौद्ध विहार बनवाया था। इससे अनुमान होता है कि आसाम मौर्य-साम्राज्य के बाहर था।

बौद्ध साहित्य और यूनानी साक्ष्य समान रूप से मगध (बिहार) को अशोक के अधीन बताते हैं। उसके अभिलेख में भी उसे मगध का राजा कहा गया है। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र बिहार में ही स्थित थी।

पश्चिम में—पश्चिम में अशोक का साम्राज्य काठियावाड़ औत थाना (बम्बई) तक विस्तृत था। गिरनार (काठियावाड़) और सोपरा (थाना) में उसके अभिलेख प्राप्त हुए हैं। गिरनार-अभिलेख से प्रकट होता है कि पश्चिमी भारत में उसका गवर्नर यवनराज तुषास्प कार्य कर रहा था।

दक्षिण में—अशोक के अभिलेखों से प्रकट होता है कि उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर चोलों, पाण्ड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के स्वतन्त्र राज्य थे। परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि इन राज्यों की स्पष्ट सीमाएँ क्या थीं। परन्तु इतना निश्चित है कि अशोक का साम्राज्य दक्षिण में उत्तरी मैसूर तक अवश्य विस्तृत था, क्योंकि उसके लघु शिलालेख प्रथम की तीन प्रतियाँ चित्तलद्रुग (उत्तरी मैसूर) में पाई गई हैं।

दक्षिण-पूर्व में—इस ओर उड़ीसा और गंजाम उसके साम्राज्य में थे। उड़ीसा में धौली नामक स्थान पर और गंजाम में जौगढ़ नामक स्थान पर अशोक के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। ये प्रदेश कलिङ्ग-विजय के परिणाम-स्वरूप अशोक के साम्राज्य में आये थे।

अशोक के अभिलेख

अभिलेखों का महत्व—अशोक के अभिलेख उसके विशाल साम्राज्य के कोने-कोने में पाये गये हैं। संसार के किसी भी अन्य शासक ने अपने शासन की घटनाओं का विवरण इतने विस्तार के साथ अपने अभिलेखों में नहीं दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फारस के हाखामनी नरेशों ने अशोक के पूर्व पाषाण के ऊपर लेख खुदवाये थे। परन्तु पाषाण-लेखों का सुविस्तृत प्रयोग अशोक की अपनी सूझ है।

अशोक के अभिलेख 'पाषाण पर उत्कीर्ण उसकी आत्म-कथा' कहे गये हैं। इनसे उसके शासन की सर्व प्रमुख घटना कलिङ्ग-युद्ध, उसके बौद्ध होने, धर्म-प्रचार, शासनिक सुधार, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध, राजनीतिक अवस्था, सामाजिक अवस्था, धार्मिक अवस्था आदि बातों का महत्वपूर्ण ब्यौरा प्राप्त होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फिर भी अशोक के अभिलेखों को पूर्ण नहीं समझना चाहिए। वे अशोक तथा उसके शासन की अनेक महत्वपूर्ण बातों के विषय में मौन हैं। उदाहरण के लिये वे अशोक के पिता और पितामह का नाम तक नहीं लेते। उनमें गृह-युद्ध, पाटलिपुत्र की तृतीय संगीति, उसकी शासनावधि आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। यही नहीं, कभी-कभी वे एकपक्षीय भी प्रतीत होते हैं। उनमें धम्म और उसके प्रचार का ही ब्यौरा अधिक है। राजा के निर्देश से उत्कीर्ण हुए इन लेखों को बहुत-से विद्वान् सदैव विश्वसनीय भी नहीं मानते। कभी-कभी अभिलेखों में प्रयुक्त भाषा भी अस्पष्ट है और उसने अनेक प्रकार के विवाद खड़े कर दिये हैं।

अभिलेखों की भाषा और लिपि—अशोक के समस्त अभिलेख मागधी भाषा में हैं। परन्तु उनमें किसी प्रकार की भी काव्यात्मकता नहीं है। उनमें वाक्यों का संगठन शिथिल और टेढ़ा-मेढ़ा है। बहुधा उनमें पुनरुक्ति-दोष मिलते हैं।

इन अभिलेखों में तीन लिपियों का प्रयोग किया गया है।

(१) काबुल घाटी में स्थित लंघन का अभिलेख अरमाइक (Aramaic) लिपि में है।

(२) सीमा प्रान्त में स्थित शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

(३) शेष सभी अभिलेख प्राय: ब्राह्मी लिपि में हैं।

अभिलेखों की कोटियाँ—अशोक के सारे अभिलेख तीन कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(१) शिलालेख—जहाँ पहाड़ थे वहाँ उनकी शिलाओं को साफ करवा कर उन पर लेख खुदवाये गये।

(२) स्तम्भ-लेख—जहाँ पहाड़ नहीं थे वहाँ अशोक ने पाषाण-स्तम्भ बनवाकर स्थापित करवाये और उन पर लेख खुदवाये।

(३) गुहा-लेख—बाराबर पहाड़ी में अशोक ने आजीविक भिक्षुओं के रहने के लिये गुहायें बनवाईं और उनमें लेख लिखवाये।

अशोक का प्रत्येक अभिलेख किसी न किसी नाम से पुकारा जाता है—

१४ शिलालेख—अभिलेखों का यह समूह निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है—(१) शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), (२) मानसेहरा (हजारा जिला), (३) कलसी (देहरादून जिला), (४) गिरनार (काठियावाड़), (५) धौली (पुरी जिला—उड़ीसा), (६) जौगढ़ (गंजाम), (७) येर्रागुडी (कर्नूल जिला—आन्ध्र), (८) सोपारा (थाना—बम्बई—यहाँ इस अभिलेख-समूह का कुछ भाग ही मिला है।), (९) लघमान (काबुल घाटी—यहाँ भी इस अभिलेख-समूह का कुछ भाग प्राप्त हुआ है।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ३

मौर्यों का पतन

अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। इस पतन-काल में मौर्य-राजाओं का शासन-क्रम निर्धारित करना बड़ा कठिन है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उत्तरकालीन मौर्य-नरेशों का क्रम भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है।

'राजतरंगिणी' से विदित होता है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जालौक ने काश्मीर में राज्य किया। उसने काश्मीर में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी।

तारानाथ वीरसेन को गन्धार का राजा बताता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह वीरसेन कौन था। परन्तु इतना अनुमान किया जा सकता है कि इसने अशोक की मृत्यु के पश्चात् गन्धार में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की होगी।

अशोक के अनेक पुत्र थे। इनमें तीवर और महेन्द्र ने सम्भवत: कभी भी राज्य नहीं किया।

कुणाल और सम्प्रति—वायु पुराण का कथन है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कुणाल मौर्य-सिंहासन पर बैठा। परन्तु बौद्ध एवं जैन साक्ष्य कुणाल के पुत्र सम्प्रति को अशोक का उत्तराधिकारी बताते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्धा होने के कारण कुणाल नाममात्र के लिये ही शासक था। वास्तविक शासन-संचालन उसका पुत्र सम्प्रति ही कर रहा था। इसी से जहाँ वायु पुराण कुणाल को अशोक का उत्तराधिकारी बताता है वहाँ बौद्ध एवं जैन साहित्य उसके पुत्र सम्प्रति को।

दशरथ—सम्प्रति की भाँति दशरथ भी अशोक का पौत्र था। नागार्जुनी पहाड़ियों के अभिलेख से प्रकट होता है कि इसने 'देवानां प्रिय' की उपाधि धारण की थी और आजीविकों के रहने के लिये गुहायें बनवाई थीं।

अब प्रश्न होता है कि दशरथ के शासन-काल को कहाँ रखा जाय।

डा० स्मिथ का मत था कि कुणाल की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। उसके पूर्वी भाग का राजा दशरथ था और पश्चिमी भाग का सम्प्रति।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु विभाजन का यह सिद्धान्त नितान्त काल्पनिक है। किसी भी साक्ष्य में इसका उल्लेख नहीं। यही नहीं, समस्त साक्ष्य सम्प्रति को सम्पूर्ण मौर्य-साम्राज्य का शासक बताते हैं। फिर उसे एकमात्र पश्चिमी भारत का ही राजा कैसे मान लिया जाय ?

कुणाल के पश्चात् सम्प्रति और दशरथ दोनों ने राज्य किया था। परन्तु वर्तमान साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनमें से पहले सम्प्रति ने शासन किया था अथवा दशरथ ने।

शालिशूक—'दिव्यावदान' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्प्रति के पश्चात् उसका पुत्र वृहस्पति राजा हुआ था। अनेक विद्वान् वृहस्पति का समीकरण शालिशूक नामक मौर्य-नरेश के साथ करते हैं। विष्णु पुराण और 'गार्गी संहिता' दोनों में शालिशूक का नाम मिलता है। ये ग्रन्थ इसे अधार्मिक और अत्याचारी शासक बताते हैं। कुछ ग्रंथों में इसके बाद देववर्मा और शतधनुष राजाओं के नाम मिलते हैं।

वृहद्रथ—शालिशूक के पश्चात् मौर्यों का वंश-वृक्ष निर्मित करना बहुत कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि इस वंश का अन्तिम राजा वृहद्रथ था। १८४ ई० पू० के लगभग इसके सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने इसकी हत्या कर दी। इस प्रकार मौर्य-वंश के पतन के पश्चात् शुङ्ग-वंश का उदय हुआ।

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

अशोक की मृत्यु से १८४ ई० पू० तक का इतिहास मौर्य-साम्राज्य के क्रमिक विघटन का इतिहास है। अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि मौर्य-साम्राज्य के अनेक प्रदेश अशोक के उत्तराधिकारियों के निर्बल शासन-काल में स्वतन्त्र हो गये थे—

(१) 'राजतरंगिणी' के अनुसार अशोक के पुत्र जलौक ने काश्मीर में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी।

(२) तारानाथ का कथन है कि वीरसेन नामक एक अन्य व्यक्ति गन्धार में स्वतन्त्र शासक था। २०६ ई० पू० में जब सीरिया-नरेश ऐण्टिओकस तृतीय ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया था तो सुभागसेन (Sobhagasenus) को वहाँ शासन करते हुए पाया था। टामस महोदय का मत है कि यह सुभागसेन वीरसेन का उत्तराधिकारी था।

इस प्रकार भारतवर्ष का पश्चिमोत्तर प्रदेश अशोक की मृत्यु के पश्चात् ही मौर्य-साम्राज्य से निकल गया था।

(३) अनुमानतः कलिङ्ग भी अशोक के पश्चात् ही स्वतन्त्र हो गया था। परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि खारवेल के चेदिवंश (महामेघवाहन-वंश) का उदय अशोक के तत्काल पश्चात् हुआ था अथवा काफी समय पश्चात्।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) 'मालविकाग्निमित्र' से स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ के समय तक मौर्य-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा एकमात्र विदर्भ तक थी। दक्षिणापथ का शेष भाग स्वतन्त्र हो गया था। इस प्रकार अन्तिम मौर्य-सम्राट् वृहद्रथ के समय तक मौर्य-साम्राज्य केवल उत्तरी भारत में ही रह गया था। मौर्य-साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं—

(१) ब्राह्मण-प्रतिक्रिया—महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री[1] का मत है कि अशोक के शासन से ब्राह्मणों में घोर असन्तोष फैला था—

(क) अशोक शूद्र था। अतः उसे शासन करने का कोई अधिकार न था।

(ख) अशोक ने धर्म और सदाचारिता के प्रचार के लिये धर्ममहामात्र नियुक्त किये थे। परन्तु यह कार्य ब्राह्मणों का था।

(ग) अशोक की अहिंसावादी नीति ने ब्राह्मणों के श्रौत यज्ञ समाप्त कर दिये थे।

(घ) अपने लघु शिलालेख के अनुसार अशोक ने इस लोक के देवता (ब्राह्मणों) को झूठा सिद्ध करने की चेष्टा की थी।

(ङ) अशोक ने दण्ड-समता और व्यवहार-समता स्थापित करके ब्राह्मणों के विशेषाधिकार छीन लिये थे।

शास्त्रीजी के इन तर्कों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है—

(क) अशोक शूद्र नहीं, क्षत्रिय था।

(ख) धर्ममहामात्रों की नियुक्ति एकमात्र धर्म और सदाचारिता के प्रचार के लिये ही न हुई थी। उनके अन्य कार्य भी थे। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि अशोक अब्राह्मणों को ही महामात्र के पद पर नियुक्त करता था।

(ग) अशोक के बहुत पहले उपनिषदों ने अहिंसा का प्रतिपादन करते हुए श्रौत यज्ञों का विरोध किया था। अतः अशोक का अहिंसा-प्रचार कोई नई बात न थी।

(घ) लघु शिलालेख के अंश का अर्थ शास्त्रीजी ने ठीक नहीं लगाया है। उस अंश में न ब्राह्मणों का उल्लेख है और न झूठा सिद्ध करने का। उस अंश का वास्तविक अर्थ यह है कि 'उस समय तक भारतवर्ष के जो लोग देवताओं से नहीं मिले थे उन्हें अशोक ने उनसे मिलवा दिया।'

(ङ) शास्त्रीजी ने पाँचवे स्तम्भ-लेख के अंश का अर्थ भी गलत लगाया है। उस अंश का आशय यह है कि अशोक ने अन्य पदाधिकारियों के हाथ से न्याय-सम्बन्धी कार्य लेकर उसे एकमात्र राजुकों के सिपुर्द कर दिया जिससे सर्वत्र दण्ड-समता और व्यवहार-समता स्थापित हो सके। इसमें ब्राह्मणों के विरोध की विशेष बात नहीं थी।

---

१. JASB, १९१०
शास्त्रीजी के इस मत के खण्डन के लिये देखिए PHAI, पृ० ३५४ तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० हरप्रसाद शास्त्री के इन तर्कों को अस्वीकार करते हुए भी यह कहना कि अशोक के शासन के विरुद्ध ब्राह्मणों की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई अथवा यह प्रतिक्रिया किसी भी प्रकार मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिये उत्तरदायी नहीं थी, असंगत है।

अशोक बौद्ध था। उसकी दृष्टि में वर्णाश्रम-धर्म का महत्व नहीं था। उसके शासन-काल में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार न रहे थे। उसकी अहिंसा-मूलक नीति ने ब्राह्मणों के श्रौत यज्ञों को ही समाप्त कर दिया था। यही नहीं, इस अहिंसावादी नीति ने मौर्य-सेना को भी शिथिल कर दिया था। इससे देश की सुरक्षा खतरे में पड़ गई थी। अशोक ही क्या, जैन अनुश्रुति के अनुसार उसके पौत्र सम्प्रति ने अपने सेनाधिकारियों को भी धर्म-प्रचार में लगा रखा था। अशोक की भाँति एक अन्य मौर्य-नरेश शालिशूक ने भी धर्म-विजय की स्थापना की चेष्टा की थी।[1] मौर्यों के इन समस्त कार्यों ने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग में, विशेषतया ब्राह्मणों में जो देश के व्यवस्थाकार समझे जाते थे, घोर असन्तोष उत्पन्न कर दिया होगा।

इसी पृष्ठभूमि में अन्तिम मौर्य-नरेश बृहद्रथ की हत्या की गई। हत्यारा स्वयं उसका ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग था। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह हत्या बृहद्रथ की समस्त सेना के समक्ष की गई थी और फिर भी उसके किसी भी सैनिक ने इसका विरोध न किया।

इन तथ्यों से यही ध्वनित होता है कि मौर्य-वंश का अन्त असन्तुष्ट ब्राह्मणों की एक निश्चित योजना के आधार पर हुआ था। ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने ब्राह्मण-प्रतिक्रिया का नेतृत्व करते हुए सम्पूर्ण सेना को भी अपने पक्ष में कर लिया होगा और तत्पश्चात् यह राजनीतिक क्रान्ति की होगी। अतः मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिये ब्राह्मण-प्रतिक्रिया को उत्तरदायी माना जा सकता है।

(२) अयोग्य उत्तराधिकारी—अशोक के पश्चात् कोई भी मौर्य-नरेश इतना योग्य न था जो पतनोन्मुख मौर्य-साम्राज्य की रक्षा कर सकता। राजतन्त्रात्मक शासन की सफलता-असफलता प्रमुखतया राजा पर ही निर्भर करती है। राजा के अयोग्य और निर्बल होते ही राजतन्त्रात्मक शासन के सारे सूत्र शिथिल हो जाते हैं और शासन अस्त-व्यस्त होने लगता है। अशोक के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासन-काल में भी यही हुआ।

(३) अत्याचारी नरेश—अशोक के कुछ उत्तराधिकारी अत्याचारी भी थे। इनमें शालिशूक का नाम प्रमुख रूप से उद्धृत किया जा सकता है। 'गार्गी संहिता'

---

१. "स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्।"—गार्गी संहिता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसे अधार्मिक और शोषक बताती है।[1] स्पष्ट है कि ऐसे अत्याचारी शासक के साथ जनता का सहयोग नहीं रहा होगा।

(४) अत्याचारी प्रान्तीय शासक—मौर्य-साम्राज्य के दूरवर्ती प्रान्तों का शासन सम्भवतः अच्छा न था। इसी से बहुधा वहाँ विद्रोह होते रहते थे। 'दिव्यावदान' का कथन है कि बिन्दुसार के शासन-काल में तक्षशिला में विद्रोह हुआ था। जब उसका दमन करने के लिये राजकुमार पहुँचा तो तक्षशिला के निवासियों ने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि 'हम न तो कुमार (अशोक) के विरोधी हैं और न राजा बिन्दुसार के। परन्तु ये दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं'।[2] इसी प्रकार तारानाथ बिन्दुसार के काल में हुए नेपाल और खश-प्रदेश के विद्रोहों का उल्लेख करता है। इनका भी अशोक ने दमन किया था। स्वयं अशोक कलिङ्ग-अभिलेख में अपने कलिङ्ग के अधिकारियों को सावधान करता है कि वे व्यर्थ में प्रजा का उत्पीडन न करें और उसे अपनी प्रजा के समान समझें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य-साम्राज्य के दूरवर्ती प्रान्तों का शासन अत्याचारपूर्ण था और वहाँ की जनता मौर्य-शासन से बहुत असन्तुष्ट थी।

(५) भारी और बहुसंख्यक कर—चन्द्रगुप्त मौर्य महान् साम्राज्यवादी राजा था। उसने नन्दों का विनाश किया, सेल्यूकस को पराजित किया और अपने अनेक युद्धों के पश्चात् एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इन कार्यों के लिये उसे एक भारी स्थायी सेना रखनी पड़ी थी और एक विशद शासन-व्यवस्था का विकास करना पड़ा था। इनके लिये उसे प्रभूत धनराशि व्यय करनी पड़ी होगी। अतः यदि उसने अपनी प्रजा पर भारी और बहुसंख्यक कर लगाये हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कम से कम 'अर्थशास्त्र' के अध्ययन से यही धारणा होती है। इसमें राज्य की ओर से लिये जाने वाले करों की संख्या अत्यधिक है। कालान्तर में पतंजलि अपने 'महाभाष्य' में सूचित करते हैं कि मौर्य शासक मूर्ति-निर्माण और मूर्ति-प्रतिष्ठा के द्वारा धन-संग्रह करते थे।

(६) रिक्त कोष—अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाया और उसके प्रचार के लिये अपने राज्य के सभी साधन लगा दिये। स्वदेश और विदेशों में परोपकारिता के कार्यों में, प्रचार-कार्यों एवं स्तूपों, विहारों आदि के निर्माण में उसने अपार धन व्यय किया होगा। इससे राजकोष को काफी क्षति पहुँची होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के इस उन्मुक्त व्यय को देखकर उसके अमात्यों को बड़ी चिन्ता हुई। 'अशोकावदान' का कथन है कि एक बार अशोक पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार कुक्कुटाराम

---

१. "स राष्ट्रमर्दते घोरं धर्मवादी अधार्मिकः।"
२. "न वयं कुमारस्य विरुद्धम्। नापि राज्ञः बिन्दुसारस्य। अपितु, दुष्टामात्याः अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को धन देना चाहता था। परन्तु अमात्यों की सम्मति पर युवराज सम्प्रति ने अशोक को राजकोष से यह धन-राशि न देने दी।

जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाया था उसी प्रकार राजा होने पर सम्प्रति ने जैन धर्म को राजधर्म बनाया और उसके प्रचार के लिये सुमहत् प्रयत्न किये। इस धार्मिक प्रचार में भी बड़ा व्यय हुआ होगा।

इसी प्रकार शालिशूक की दंभात्मक धर्म-विजय ने भी राजकोष को काफी हानि पहुँचाई होगी। उधर अशोक के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य का धीरे-धीरे विघटन हो रहा था। उसके पश्चिमोत्तर प्रान्त तो अशोक की मृत्यु के तत्काल पश्चात् ही निकल गये थे। इनके निकल जाने से भारतवर्ष और मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया के बीच के व्यापारिक स्थल-मार्ग अवरुद्ध हो गये। पुन: पश्चिमी और दक्षिणी भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् समुद्री मार्ग भी मौर्य-साम्राज्य से जाते रहे। इस परिस्थिति में उसके व्यापार को बड़ा धक्का लगा होगा और उसकी आर्थिक स्थिति हीन होती गई होगी।

(७) **राजसभा की दलबन्दी**—ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्रीय शासन की निर्बलता के परिणामस्वरूप राज्य के सभासद और सामन्त दलबन्दी करने लगे थे और महत्वपूर्ण राजकीय विषयों में अनुचित रूप से हस्तक्षेप करने लगे थे। उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर बिन्दुसार की राजसभा में काफी दलबन्दी थी। इसी प्रकार वृहद्रथ की राजसभा में सेनापति और सचिव के दो परस्पर विरोधी दल थे। इस दलबन्दी के कारण मौर्य-साम्राज्य में झगड़े बढ़ रहे थे और राजशक्ति को बड़ी हानि हो रही थी।

(८) **सेना की उपेक्षा**—अशोक ने अपने पूर्वजों की उग्र साम्राज्यवादी नीति का बहुत-कुछ परित्याग कर दिया। धर्म और अहिंसा को राजनीति का आधार बना दिया गया। साम्राज्य-विस्तार के स्थान पर धार्मिक प्रचार पर अधिक जोर दिया गया। यह ठीक है कि अशोक ने सेना का पूर्ण विघटन नहीं किया। यह भी ठीक है कि उसने राजदण्ड और शस्त्र-प्रयोग पूर्णरूप से नहीं छोड़ा। परन्तु उसकी अहिंसामूलक राजनीति और धर्म-विजय ने मौर्य-सेना की कार्यकुशलता को भारी क्षति अवश्य पहुँचाई। जिस समय विदेशी भारतवर्ष पर आक्रमण करने की योजना बना रहे थे, जिस समय मौर्य-साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्त विद्रोह की तैयारी कर रहे थे उस समय मौर्य-वंश को चन्द्रगुप्त-जैसे अदम्य सेनापति की आवश्यकता थी, अशोक-जैसे कोरे धर्म-प्रचारक की नहीं।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि अशोक की अहिंसावादी नीति ने भारतीयों की

---

१. "Dark clouds were looming in the north-western horizon. India needed men of the calibre of Puru and Chandragupta to ensure her protection against the Yavana menace. She got a dreamer. Magadha after the Kalinga war frittered away her conquering energy in attempting a religious revolution, as Egypt did under the guidance of Ikhnaton". —H. C. Raychaudhary.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवरोध-शक्ति को शिथिल करने में भारी योग दिया। 'हाउ हान शू' नामक चीनी ग्रन्थ के लेखक फान-ये का कथन है कि भारतवासी 'बौद्धधर्मावलम्बी हैं; हिंसा न करना और युद्ध न करना उनका स्वभाव हो गया है।' स्पष्ट है कि देश-रक्षा के लिये यह स्वभाव सर्वथा अनुपयुक्त था।

अशोक के पश्चात् सम्प्रति के अहिंसामूलक जैनधर्म-प्रचार और शालिशूक के धर्म-विजय के प्रयास ने मौर्य-साम्राज्य की सैनिक शक्ति को और भी क्षति पहुँचाई होगी।

(९) विदेशी आक्रमण—२०६ ई० पू० में भारतवर्ष पर पुनः यूनानी आक्रमण हुआ। यह आक्रमण सीरिया-नरेश ऐण्टिओकस तृतीय का था। भाग्य से वह सम्राट् भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश के आगे नहीं बढ़ा। यूनानी आक्रमण का भीषण प्रहार अन्तिम मौर्य-नरेश बृहद्रथ के शासन-काल में हुआ। उसने मौर्य-साम्राज्य को पूर्णरूप से अस्तव्यस्त कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ४

मौर्य-काल की संस्कृति-सभ्यता

सामाजिक अवस्था

वर्ण-व्यवस्था—'अर्थशास्त्र' मौर्यकालीन समाज में विद्यमान वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख करता है। अशोक के अभिलेखों में ब्राह्मणों, इभ्यों, दासों, भृत्यों इत्यादि के नाम आते हैं। इभ्य से साधारणतया वैश्य वर्ण का बोध होता है। दास और भृत्य सम्भवतः शूद्र-कोटि में माने जाते थे। अशोक के अभिलेखों में यद्यपि क्षत्रिय वर्ण का नाम नहीं आता, परन्तु वह स्वयं क्षत्रिय था।

मेगस्थनीज ने तत्कालीन जाति-प्रथा का कुछ दूसरे प्रकार से वर्णन किया है। वह भारतवर्ष की सात जातियों का उल्लेख करता है—

(१) दार्शनिक (Philosophers)—ये दो प्रकार के होते थे—ब्राह्मण (Brachmanes) और श्रमण (Sarmanes)। पुनः, श्रमणों की दो कोटियाँ थीं—(१) हिलोबिग्राइ जो वनवासी थे और कन्द-मूल-फल के ऊपर अपना निर्वाह करते थे। (२) चिकित्सक जो चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञाता थे। इनका समाज में बड़ा सम्मान था।

ब्राह्मण अपने जीवन के प्रारम्भिक ३५ वर्ष नगर के सम्मुख किसी कुंज में रहकर व्यतीत करते थे। इनका यह काल अध्ययन-अध्यापन का काल होता था। ये मांसाहार और भोग-विलास से दूर रहते थे।

इस काल की समाप्ति पर ये अपने घरों को वापस चले जाते थे और विवाह कर लेते थे। वे स्वेच्छानुसार अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकते थे। अब वे मांसाहार करते और सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करते थे। उनका शेष जीवन भोग-विलास में व्यतीत होता था।

यहाँ मेगस्थनीज ब्राह्मणों और श्रमणों का वर्णन कर रहा है। अशोक के अभिलेखों में जहाँ कहीं 'श्रमण' शब्द आया है उसका अर्थ बौद्ध भिक्षु है। परन्तु सम्भव है कि मेगस्थनीज के 'श्रमण' शब्द से ब्राह्मण परिव्राजक, बौद्ध भिक्षु और जैन भिक्षु आदि सभी का बोध होता हो।

मेगस्थनीज ने ब्राह्मणों के प्रारम्भिक ३५ वर्ष का जो वर्णन किया है वह वस्तुतः ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, जब ब्राह्मण-पुत्र गुरुकुलों अथवा आश्रमों में जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करते थे।

CC-0 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् उनका गार्हस्थ्य प्रारम्भ होता था, जब वे विवाहित जीवन व्यतीत करते थे। समस्त साक्ष्यों से प्रकट होता है कि उस समय बहुपत्नीकता की प्रथा थी। परन्तु मेगस्थनीज का यह कथन कि सभी गृहस्थ ब्राह्मण मांसाहारी थे, गलत प्रतीत होता है। ब्राह्मणों में मांसाहार इतना अधिक प्रचलित न रहा होगा जितना अन्य वर्गों में।

ब्राह्मण-व्यवस्था के अन्तर्गत वानप्रस्थों और संन्यासियों का पृथक् उल्लेख मेगस्थनीज के विवरण में नहीं मिलता। इसका प्रमुख कारण यह है कि इनकी, श्रमणों की तथा परिव्राजकों की जीवन-चर्या में कोई विशेष अन्तर न था। मेगस्थनीज के श्रमणों के अन्तर्गत सम्भवतः वानप्रस्थ और संन्यासी भी आ जाते हैं।

(२) कृषक (Husbandsmen)—ये संख्या में सबसे अधिक थे। इनका कार्य खेती करना था। ये पूर्ण शान्ति और निश्चिन्तता के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। इन्हें सेना में भर्ती नहीं होना पड़ता था। युद्ध-काल में भी इन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई जाती थी। आस-पास युद्ध चलते रहते थे, परन्तु ये सुरक्षित रूप में अपना कार्य किया करते थे। इन्हें अपनी उपज का चौथा भाग कर के रूप में देना होता था।

(३) ग्वाले और शिकारी (Shepherds and Hunters)—इनका काम पशुपालन और शिकार करना था। ये पशुओं को बेचते और उधार देते थे। जंगली पशुओं का शिकार करके ये खेतों की रक्षा करते थे। राज्य इनकी सेवाओं के लिये इन्हें पारश्रमिक देता था।

ये खानाबदोश थे और एक स्थान पर स्थायीरूप से न रहते थे। ये अपने पशुओं को लिये हुए इधर-उधर भ्रमण किया करते थे।

(४) शिल्पी और श्रमजीवी (Artisans)—ये विविध उद्योग-धन्धों में लगे हुए थे और भाँति-भाँति की वस्तुयें बनाते थे। इनसे राज्य आय का कुछ भाग कर के रूप में लेता था। इनमें से बहुत से श्रमजीवी थे। कुछ एकमात्र राज्य के लिये जहाज और कवच बनाते थे।

(५) सैनिक (Soldiers)—इनका काम केवल युद्ध करना था। इनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य के व्यय से होती थी। शान्ति-काल में ये बड़े आमोद-प्रमोद के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे।

(६) निरीक्षक (Overseers or Spies)—इनका कार्य राज्य में होने वाली प्रत्येक बात की सूचना राजा को देना था। इनमें जो सबसे अधिक योग्य और विश्वसनीय होते थे उनकी नियुक्ति राजधानी और राजशिविर में होती थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) मन्त्री और प्रशासक (Councillors and Assessors)—ये अल्प-संख्यक अवश्य थे, परन्तु विद्या-बुद्धि में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। इसी वर्ग के लोग प्रशासन के समस्त उच्चपदों पर नियुक्त होते थे।

मेगस्थनीज का जाति-सम्बन्धी यह वर्णन नितान्त भ्रामक है। वास्तव में उसने भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए मनुष्यों को एक-एक जाति समझ लिया। उदाहरणार्थ कृषक, ग्वाले, शिकारी, शिल्पी और श्रमजीवी अलग-अलग जातियाँ न थे। वे या तो वैश्य थे या शूद्र। इसी प्रकार सैनिकों को क्षत्रिय समझना चाहिए। निरीक्षकों की नियुक्ति सम्भवतः प्रथम तीन वर्णों के मनुष्यों में से होती थी। मन्त्री और प्रशासक सामान्यतया ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे।

इन समस्त जातियों में ब्राह्मण सबसे अधिक आदरणीय समझे जाते थे। अशोक ने श्रमणों को भी ब्राह्मणों की कोटि में रख दिया था।

आश्रम-व्यवस्था—तत्कालीन भारत में वर्ण-व्यवस्था की भाँति आश्रम-व्यवस्था भी प्रतिष्ठित थी। जैसा कि पहले कहा गया है, मेगस्थनीज ने ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमों का उल्लेख किया है। उसके श्रमणों में सम्भवतः वानप्रस्थ और संन्यासी भी सम्मिलित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चतुर्वर्ण-व्यवस्था का सविस्तार वर्णन है। उसकी दृष्टि में गृहस्थाश्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। परन्तु अशोक के बौद्ध-प्रचार ने भिक्षु-जीवन को भी प्रोत्साहन दिया था।

दास-प्रथा—मेगस्थनीज कहता है कि भारत में दास-प्रथा नहीं है। परन्तु उसका यह कथन गलत है। अशोक के अभिलेखों में दासों का उल्लेख है। अर्थशास्त्र दासों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है।

विवाह—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है—(१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) गान्धर्व (६) आसुर (७) राक्षस और (८) पैशाच। इनमें अन्तिम चार प्रकार के विवाह अधर्म्य समझे जाते थे।

अशोक के अभिलेखों में इस अष्टविवाह-प्रणाली का कोई साक्ष्य नहीं मिला। हाँ, मेगस्थनीज ने परोक्ष रूप से एक-दो विवाह-प्रणालियों का उल्लेख अवश्य किया है। एक स्थान पर वह कहता है कि पिता बैल का जोड़ा लेकर अपनी पुत्री का विवाह कर देता था। सम्भवतः यह आर्ष-विवाह का उदाहरण है। इसी प्रकार जब वह यह कहता है कि विवाह का एक लक्ष्य बहुसंख्यक पुत्रों की प्राप्ति होता था तो कदाचित् वह प्राजापत्य विवाह-प्रणाली की ओर संकेत करता है।

मेगस्थनीज कहता है कि विवाह सजातीय होते थे। परन्तु ऐसा सदैव न होता था। अर्थशास्त्र से प्रकट है कि समाज में अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेगस्थनीज तथा चाणक्य दोनों ही समाज में प्रचलित बहुपत्नीकता का उल्लेख करते हैं। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि उसके स्वयं अनेक पत्नियाँ थीं। कुछ अवस्थाओं में चाणक्य सम्बन्ध-विच्छेद और पुनर्विवाह की अनुमति देता है।

स्त्री-समाज—मौर्य-काल में स्त्रियों की दशा न बहुत खराब थी और न बहुत अच्छी। अशोक की रानियाँ 'अवरोधन' में रहती थीं। अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि स्त्रियाँ अपने पति की आज्ञा के बिना घर से बाहर न निकलती थीं। इन बातों से अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः उस समय पर्दा-प्रथा का प्रारम्भ हो गया था, परन्तु अभी तक वह अधिक प्रचलित न हुआ था। मेगस्थनीज इस प्रथा का बिल्कुल उल्लेख नहीं करता।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का स्थान अवश्य हीन था। मेगस्थनीज लिखता है कि 'दार्शनिक लोग स्त्रियों को ज्ञान नहीं बताते। उन्हें यह डर रहता है कि स्त्रियाँ कहीं दुश्चरित्र न हो जायं अथवा रहस्यों को न खोल दें अथवा उत्तम दार्शनिक हो जाने पर उन्हें छोड़ न दें।'

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अन्धविश्वास अधिक प्रचलित थे। अशोक के नवें शिलालेख का कथन है कि 'रोग, विवाह, पुत्र-जन्म, परदेश-गमन आदि के अवसरों पर सन्तानवती स्त्रियाँ और पत्नियाँ अनेक प्रकार के छोटे और सारहीन मगल किया करती हैं।'

परन्तु स्त्रियों को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार भी प्राप्त थे। अपने पति के अत्याचार के विरुद्ध वे न्यायालय में जा सकती थीं। अनेक दशाओं में वे अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद भी कर सकती थीं। उन्हें पुर्नविवाह का भी अधिकार प्राप्त था। उनमें सती की प्रथा न थी। अभी तक उनमें पर्दा-प्रथा भी अधिक लोकप्रिय न हुई थी। विवाह के अवसर पर प्राप्त हुए धन और उपहारों पर पत्नी का अधिकार माना जाता था। मेगस्थनीज के वर्णन से प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। समाज में वेश्या-वृत्ति अवश्य प्रचलित थी, परन्तु कौटिल्य के विवरण से प्रकट होता है कि उस पर राज्य का पूरा नियन्त्रण था। बहुसंख्यक वेश्यायें बड़ी सुसंस्कृत और कलाविद् होती थीं।

नैतिक स्तर—सम्भवतः मौर्य-काल का नैतिक स्तर ऊँचा था। अशोक के आचारमूलक धर्म-प्रचार ने सामाजिक नैतिकता को और भी अधिक प्रतिष्ठित कर दिया था। माता-पिता की सेवा, गुरुजनों का आदर, मित्रों, सम्बन्धियों एवं पड़ोसियों के प्रति उचित बर्ताव, ब्राह्मणों एवं श्रमणों के प्रति श्रद्धा और दान आदि सामाजिक कर्तव्य समझे जाते थे। अशोक ने अपने अभिलेखों में इन सब बातों के ऊपर बड़ा जोर दिया है। तो भी यह कहना कठिन है कि उनका व्यवहार कहाँ तक होता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेगस्थनीज ने भारतीय चरित्र की बड़ी प्रशंसा की है। उसका कथन है कि 'अपने आचरण में सरल और मितव्ययी होने के कारण भारतीय बड़े सुखी हैं। यज्ञों के अतिरिक्त वे कभी मदिरा-पान नहीं करते। चोरी की घटनायें बहुत कम होती हैं। वे अपने घरों और सम्पत्ति को प्रायः असुरक्षित अवस्था में ही छोड़ जाते हैं। उनके कानूनों और अनुबन्धों की सरलता से सिद्ध होता है कि वे अदालतों में बहुत कम जाते हैं।'

अन्न-पान—मेगस्थनीज कहता है कि भारतीय एक साथ बैठ कर सामूहिक रूप से भोजन नहीं करते। वे अकेले-अकेले भोजन करते हैं। उनका भोजन का समय भी निश्चित नहीं है। उनकी जब इच्छा होती है तभी खा लेते हैं। खाने के समय भारतीय के सामने एक तिपाई रखी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का कटोरा रखा जाता है। उसमें पहले उबले हुए चावल परोसे जाते हैं और उसके पश्चात् भारतीय पद्धति पर बने हुए अनेक भोज्य पदार्थ परोसे जाते हैं।

मेगस्थनीज का यह विवरण कदाचित् किसी राजकीय अथवा धनी व्यक्ति के प्रीतिभोज का उल्लेख करता है। साधारण मनुष्य न तो सोने के कटोरे में खाता था और न उसके भोजन में अनेक भोज्य पदार्थ सम्मिलित होते थे। साधारणतया सामान्य धातु अथवा मिट्टी के बर्तन प्रयुक्त होते थे। हाँ, चावल एक लोकप्रिय भोजन था। अर्थशास्त्र 'औदनिकाः' (चावल बेचने वालों) का उल्लेख करता है। चावल के साथ रोटी का प्रयोग भी खूब होता था। अर्थशास्त्र में 'आपूपिका' (रोटी बेचने वालों) का भी नाम आता है। इसी ग्रन्थ के 'पक्वान्नपण्याः' शब्द से प्रकट होता है कि बाजारों में अन्यान्य पके हुए पदार्थ भी बिकते थे। तत्कालीन समाज में मांसाहार भी खूब प्रचलित था। अर्थशास्त्र में 'मांसपण्याः' (माँस बेचने वालों) और पक्वमांसिका (पका मांस बेचने वालों) के उल्लेख मिलते हैं। स्वयं अशोक के रन्धनागार में प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों पशु-पक्षियों का मांस पकता था। राज्य 'सून' (बूचड़खानों) पर पूरा नियंत्रण रखता था।

मेगस्थनीज कहता है कि यज्ञ के अवसरों को छोड़कर भारतीय मदिरा-पान नहीं करते थे। परन्तु उसका यह कथन गलत है। अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि समाज में मदिरा-पान काफी होता था। परन्तु राज्य के द्वारा मदिरालयों और मदिरा-विक्रय के ऊपर पूरा नियन्त्रण रहता था।

वस्त्राभरण—तत्कालीन भारतीय अपने वस्त्राभरणों एवं प्रसाधन में बड़ी रुचि रखते थे। अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के सुन्दर एवं मूल्यवान् वस्त्रों के निर्माण के प्रमाण मिलते हैं। मेगस्थनीज स्पष्टरूप से कहता है कि 'अपने सरल आचार के साथ-साथ वे (भारतीय) बारीकी और सुन्दरता के प्रेमी हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) बहुमूल्य रत्नों से युक्त होते हैं। वे अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए फूलदार वस्त्र पहनते हैं। अनुचर उनके पीछे छत्र लगाये चलते हैं। वे सुन्दरता का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने रूप को संवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।'

आमोद-प्रमोद—जनता के मनोरंजन के लिये अनेक प्रकार के खेल-तमाशे प्रचलित थे। बहुत से लोग द्यूतगृहों में जाकर जुआ खेलते थे। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर प्रेक्षागृह थे जहाँ नाटक तथा अन्य तमाशे दिखाये जाते थे। साधारण जनता के मनोरंजन के लिये नट, गायक, नर्तक, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले), वादक, सूत, ऐन्द्रजालिक, सौभिक (मदारी) और वाग्जीवक (पशु-पक्षियों की बोलियाँ बोलने वाले) आदि अपने खेल-तमाशे दिखाते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे। इन सबके नाम अर्थशास्त्र में मिलते हैं।

अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों से प्रकट होता है कि समाज और मृगया भी मनोविनोद के साधन थे। समाज में मल्लयुद्ध, पशुयुद्ध, दौड़ आदि का प्रदर्शन होता था। इन प्रदर्शनों में बहुधा हिंसा होती थी। इसी से अशोक ने समाज बन्द कर दिये थे।

मेगस्थनीज के विवरण से प्रकट होता है कि राजा भी बहुधा मृगया के लिये जाता था। इस सम्बन्ध में वह कहता है कि 'जब राजा मृगया के लिये राजप्रासाद से निकलता है तो स्त्रियों के दल उसे घेरे रहते हैं। उनके घेरे के बाहर बरछे वाले रहते हैं। उस (राजा) का मार्ग रस्से बाँध कर अलग कर दिया जाता है। इन रस्सों को लाँघने वालों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है। ढोल और झाँझ लेकर मनुष्य इस दल के आगे चलते हैं। राजा घेरे के भीतर से शिकार खेलता है और चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार खेलता है तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है।'

आर्थिक अवस्था

मौर्यकाल आर्थिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। इस समय उद्योग-धन्धों और व्यापार की जितनी उन्नति हुई वह अभूतपूर्व थी। इस उन्नति का प्रमुख कारण मौर्यों द्वारा स्थापित साम्राज्य की विशालता था। सर्वप्रथम भारत के तीन भूखण्ड—उत्तरापथ, आर्यावर्त और दक्षिणापथ—अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ एक आर्थिक इकाई के उपयोगी अंग बन गये। उत्तरापथ के बहिर्गामी स्थलीय मार्गों, आर्यावर्त की उपज, और दक्षिणापथ के बन्दरगाहों एवं खनिज पदार्थों ने मिलकर भारतवर्ष को विपुल औद्योगिक और व्यापारिक समृद्धता प्रदान की।

मौर्यकालीन भारत की सीमायें यूनानी संसार की सीमाओं से मिली हुई थीं। मिस्र, सीरिया, मेसीडोनिया, सेरीन, एपिरस, कोरिन्थ, लंका, सुवर्णभूमि, चीन आदि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देशों का भारत के साथ सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध-सम्पर्क ने भारतीय व्यापार को बड़ी प्रेरणा दी।

मौर्यों ने देश की आर्थिक व्यवस्था को संगठित करने में बड़ी योग्यता का प्रदर्शन किया। उन्होंने कुछ वस्तुओं पर राज्य का एकाधिकार स्थापित किया और अधिकांश वस्तुओं को जनता के हाथ में सौंप दिया। विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिये विदेशियों को अनेक प्रकार की सुविधायें प्रदान की गईं। सम्पूर्ण औद्योगिक एवं व्यापारिक कार्य-कलाप के नियन्त्रण और संरक्षण के लिये राज्य ने अनेक प्रकार के पदाधिकारी नियुक्त कर रखे थे। ये सड़कों का निर्माण कराते, नदियों और बन्दरगाहों को यातायात के लिये सुविधाजनक बनाते, कच्चे माल की व्यवस्था करते, उत्पादन की संख्या परिमाण और स्तर पर नियन्त्रण रखते, क्रय-विक्रय के नियमों का पालन कराते तथा करों और चुंगियों को वसूल करते थे। मौर्यकालीन-जैसी सुसंगठित आर्थिक व्यवस्था सम्भवतः तत्कालीन संसार में कहीं भी विद्यमान न थी। 6792

कृषि – मौर्य-काल में कृषि देश का प्रमुख उद्यम था। अन्य जातियों की अपेक्षा मेगस्थनीज कृषक जाति की ही सबसे अधिक संख्या बताता है। कृषकों का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता था। युद्ध-काल में भी उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचाई जाती थी। राज्य उनकी सुविधा का बड़ा ध्यान रखता था। शिकारी खेती को हानि पहुँचाने वाले पशु-पक्षियों को पकड़ते अथवा नष्ट करते रहते थे। राज्य उन्हें इस काम के लिये भत्ता देता था। स्ट्रैबो के कथन से प्रकट होता है कि राज्य नहरों के द्वारा खेतों में समान रूप से पानी पहुँचाता था। इस कार्य की देख-रेख के लिये विशेष प्रकार के पदाधिकारी नियुक्त थे। हम जानते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमी भारत में एक विशाल बाँध बनवाकर प्रसिद्ध सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। इस झील ने बहुत दिनों तक कृषकों की आवश्यकता को पूर्ण किया। अर्थशास्त्र सिंचाई के अन्य साधनों में नदी, तड़ाग, कूपादि का उल्लेख करता है। पानी निकालने के लिये डोल, चरस और एक प्रकार की वायु संचालित चक्की का भी प्रयोग किया जाता था। राज्य बाढ़, अग्नि, टिड्डी एवं अन्यान्य संकटों से खेतों की रक्षा के अनेक उपाय करता था। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिये खाद का प्रयोग किया जाता था।

मेगस्थनीज के विवरण से प्रकट होता है कि उस समय दो फसलें होती थीं। उपज में कौटिल्य गेहूँ, जौ, चना, धान, मूंग, मसूर, उड़द, सरसों, मटर, कपास, आलू, गन्ना, तरबूज, खरबूज, अंगूर, अनार, आम, जामुन, फालसा, नीबू, किशमिश आदि के नाम लेता है।

मेगस्थनीज कृषि के सम्बन्ध में लिखता है कि 'भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा और खाद्य-पदार्थों की मँहगाई भी सामान्यतया कभी नहीं हुई।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवसाय—देश में अनेक प्रकार के व्यवसाय अथवा उद्योग-धन्धे चालू थे। देश अपने धातु-कर्म के लिये प्रसिद्ध था। यहाँ खानों से सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा आदि धातुयें निकाली जाती थीं। यह व्यवसाय प्रायः राज्य स्वयं करता था। मेगस्थनीज कहता है कि 'इस देश में सोना और चाँदी बहुत होता है। ताँवा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और अन्य धातुयें भी होती हैं।' अर्थशास्त्र में धातुओं को निकालने, शुद्ध करने, मिश्रित धातुयें बनाने, गलाने, ढालने, पत्तर बनाने आदि कामों का वर्णन मिलता है। मौर्यकालीन समाज में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से आभूषण-प्रेमी थे। अतः स्वर्णकारों, मणिकारों, दन्तकारों आदि का व्यापार बड़ा समृद्ध था। लौहकार लोहे आदि धातुओं से दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार की सामग्री बनाते थे। राज्य के लिये हथियारों का निर्माण आयुधागाराध्यक्ष के निरीक्षण में होता था। मौर्य-काल के तन्तुवाय वस्त्र-निर्माण-कला में बड़े प्रवीण थे। वस्त्र बनाने के लिये देश में बड़े-बड़े कर्मान्त (कारखाने) थे। अर्थशास्त्र का कथन है कि 'जो वस्त्र बंगदेश में बनता है वह बहुत श्वेत और चिकना होता है। सुवर्णकुड्य का वस्त्र सूर्य के समान रंगवाला और मणि के समान चिकना होता है।' वस्त्र सूत, ऊन, रेशम, सन, छाल के रेशे आदि से बनते थे। मेगस्थनीज के विवरण से प्रकट होता है कि भारतवासी सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्रों के शौकीन थे। उनके वस्त्रों पर सोने-चाँदी का काम होता था। अर्थशास्त्र में चीनपट्ट का भी नाम आता है। यह चीन से आने वाला रेशमी वस्त्र होगा। इनके अतिरिक्त देश में काष्ठकार, चर्मकार, सुराकार, मालाकार, गन्धिक आदि बहुसंख्यक अन्यान्य कारीगर भी थे। राज्य को कारीगरों की सुरक्षा का पूरा ध्यान था। स्ट्रैबो के अनुसार कारीगर को अंगहीन करने वाले को मृत्युदण्ड दिया जाता था। राज्य सभी-प्रकार के व्यवसायों पर दृष्टि रखता था। उसके पदाधिकारी नाप और तौल के पैमानों और बाँटों की जाँच करते थे और कम तौलने या नापने वाले को कठोर दण्ड देते थे। मिलावट का माल बेचना अपराध समझा जाता था। क्रय-विक्रय के लिये पूर्ण नियमावली थी। कोई भी वस्तु चुंगी दिये बिना नहीं बेची जा सकती थी।

व्यापारिक यातायात के लिये देश में अनेक प्रसिद्ध मार्ग थे। इनमें से कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) पाटलिपुत्र से पश्चिमोत्तर प्रदेश को जाने वाला मार्ग।

(२) हैमव-तपथ, जो हिमालय-प्रदेश से होता हुआ जाता था।

(३) दक्षिणापथ का मार्ग, जो कौशांबी से दक्षिण-पश्चिम को जाता था।

अर्थशास्त्र, चक्रपथ (गाड़ियों के लिये मार्ग), दुर्गपथ (दुर्ग को जाने वाला मार्ग) आदि का भी उल्लेख करता है। स्ट्रैबो के विवरण से विदित होता है कि अधिकारी सार्वजनिक मार्गों की देख-रेख करते थे और दूरी प्रदर्शित करने के लिये प्रति १०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्टेडिया पर एक स्तम्भ स्थापित कर देते थे। इन व्यापारिक मार्गों से व्यापारियों के बड़े-बड़े काफिले देश और विदेश आते-जाते थे।

देश की नदियाँ भी यातायात की साधन थीं। अर्थशास्त्र प्लवः (डोंगी), क्षुद्रका नावः (छोटी नावें) और महानावः (बड़ी नावें) का उल्लेख करता है। इनके द्वारा नदी-मार्गों से सामान आता-जाता था।

देश का सामुद्रिक व्यापार भी बड़ा उन्नतिशील था। अर्थशास्त्र में संयानपथों (सामुद्रिक मार्गों) का उल्लेख हुआ है। मौर्य शासन के अन्तर्गत प्रवहणों (जहाजों) का निर्माण तथा बन्दरगाहों (पण्य पट्टन) की देख-रेख राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य था। भारतीय जहाज लाल सागर से होते हुए मिस्र पहुँचते थे। विदेशी साक्ष्यों से प्रकट होता है कि मिस्र-नरेश टालमी द्वितीय के जलूसों में भारतीय शिकारी कुत्ते, हाथी और मसाले आदि प्रदर्शित किये जाते थे। इनके अतिरिक्त भारत अपनी हाथीदाँत की सामग्री, मोती, रंग आदि भी मिस्र भेजता था। कौटिल्य सुवर्णभूमि के अगरु और चीन के चीनपट्ट का उल्लेख करता है।

देश की आर्थिक व्यवस्था को नियमित करने के लिये राज्य पण्याध्यक्ष की नियुक्ति करता था। यह बाजारों की सम्पूर्ण कार्यवाहियों के नियन्ता थे। ये वस्तुओं के स्तर, माप, तौल, मूल्य, लाभ आदि को नियन्त्रित रखते थे। चोर-बाजार और मिलावट के लिये कोई स्थान न था। स्वदेशी वस्तुओं पर केवल ५% और विदेशी वस्तुओं पर केवल १०% लाभ लिया जा सकता था। उत्पादन-स्थानों (जातिभूमि) में वस्तुओं का क्रय-विक्रय न हो सकता था। वे बाजार में आने पर ही बेची और खरीदी जा सकती थीं। हाल में एरण (जि० साग्रर) के उत्खनन से सीसे का एक बाँट मिला है, जिसकी प्रामाणिकता दर्शाने के लिए उस अंतिम मौर्यकालीन राजा इन्द्रगुप्त की मुहर लगी है।

कारीगर और व्यवसायी अपनी-अपनी संस्थाओं में संगठित थे। इन्हें संघ अथवा श्रेणी कहते थे। इनके अपने मुख्य (अध्यक्ष) थे। इन व्यावसायिक संगठनों के विधि-निषेध राज्य को भी मान्य होते थे। सम्भवतः कुछ बड़ी श्रेणियों को अपनी सेना रखने का भी अधिकार था। श्रेणियों की कार्यवाहियों एवं कार्यप्रणालियों पर भी राज्य दृष्टि रखता था।

देश के कुछ व्यापारों पर राज्य का एकाधिकार था। इनमें खानें, मुद्रा-निर्माण, हथियारों एवं जहाजों का निर्माण, तेल, सुरा और नमक का व्यापार प्रमुख थे। इस व्यापारिक एकाधिकार से राज्य को बड़ा लाभ होता होगा। अपने इस व्यापार के संचालन के लिये राज्य ने खन्यध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, आयुधाध्यक्ष, सुराध्यक्ष, लवणाध्यक्ष आदि उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति कर रखी थी।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस समय के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में निम्नलिखित नगरों और प्रदेशों के नाम प्रख्यात हैं—

काशी, कलिङ्ग और मदुरा—सूती कपड़े के लिये।

वंग, पुण्ड्रवर्धन और असम—रेशमी कपड़े के लिये।

नेपाल—ऊनी कपड़े के लिये।

मगध, पुण्ड्रवर्धन और सुवर्णकुड्य—पत्तियों और छाल के रेशों से बने हुए कपड़े के लिये।

वंग—मलमल के लिये।

पाण्ड्य देश, केरल एवं ताम्रपर्णि—मोतियों के लिये।

कोशल, कलिङ्ग, विदर्भ और काश्मीर—हीरों के लिये।

हिमालय-प्रदेश—चमड़े के लिये।

धार्मिक अवस्था

मौर्यकालीन धार्मिक अवस्था—मेगस्थनीज के विवरण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों से मौर्यकालीन धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। उस समय वैदिक धर्म भी प्रचलित था। मेगस्थनीज लिखता है कि यज्ञ के लिये मौर्य सम्राट् बाहर निकलता था। यज्ञ कराने के लिये दार्शनिकों (ब्राह्मणों) की सहायता ली जाती थी। साधारण जनता भी यज्ञ और हवन करती थी। अशोक के पूर्व हिंसात्मक यज्ञ होते थे। परन्तु अशोक के हिंसानिषेध ने उन हिंसात्मक यज्ञों को बन्द कर दिया था। मेगस्थनीज के अनुसार 'यज्ञ और श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। वे बलि के पशु को छुरी घुसेड़ कर नहीं मारते वरन् गला घोंट कर मारते हैं जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके सम्पूर्ण वस्तु भेंट में दी जाय।'

मेगस्थनीज ने देवताओं में विशेषतया शिव और कृष्ण का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ब्राह्मण-धर्म में वासुदेव-पूजा प्रतिष्ठित हो गई थी। के तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक में वासुदेव कृष्ण को विष्णु-रूप कहा गया है। डा० रायचौधरी के मतानुसार सम्भवत: बौद्ध एवं जैन धर्म का सामना करने के लिये ही ब्राह्मणधर्मावलम्बियों ने भागवतों को अपने साथ रखने का प्रयत्न किया था और उनके आराध्य देव वासुदेव को अपना एक अवतार मान लिया था। मेगस्थनीज कहता है कि जनता गंगा को पवित्र मानती है। अर्थशास्त्र के अनुसार लोग ब्रह्मा, इन्द्र, यम, जयन्त, वैजयन्त, अश्विन और श्री देवी की पूजा करते थे। निम्न कोटि के देवताओं में नाग, नारद, गालव, सम्बर, वैरोचन आदि का उल्लेख मिलता है। देश में इन देवी-देवताओं के मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण होता था। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' से प्रकट होता है कि इस काल में शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियाँ बेची जाती थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लौकिक धर्म में जनता अनेक प्रकार के मंगल करती थी। अशोक के अभिलेख से प्रकट होता है कि ये मंगल रोग, पुत्र-पुत्रियों के विवाह, पुत्र-जन्म और परदेश-गमन आदि अवसरों पर होते थे। पर्वों पर लोग तीर्थयात्रा करते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार जनता से तीर्थ-कर भी लिये जाते थे।

अशोक के अभिलेखों से प्रकट होता है कि समाज में प्रमुखतया चार धार्मिक सम्प्रदाय थे—(१) ब्राह्मण, (२) बौद्ध, (३) जैन और (४) आजीवक। समाज में आजीवक सम्प्रदाय की काफी मान्यता थी क्योंकि अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने आजीवक भिक्षुओं को रहने के लिए बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों पर क्रमशः गुफाएँ बनवाई थीं। स्वयं अशोक बौद्ध था और उसने बौद्ध धर्म को सार्वभौम धर्म बनाने का भारी प्रयत्न किया था। मौर्य सम्राट् सम्प्रति जैन धर्मावलम्बी था। उसने जैन धर्म के प्रचार के लिए उसी प्रकार प्रयत्न किये जिस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने। जैन जनश्रुति का कथन है कि उसने अनार्य-देशों में भी श्रमणों के लिये विहार बनवाये थे।

मौर्य-काल में जैन धर्म दक्षिणी भारत में गया। जैन ग्रन्थों और अभिलेखों का कथन है कि चन्द्रगुप्त मौर्य और जैन आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में बहुत से जैन धर्मावलम्बी दक्षिणी भारत चले गये थे और मैसूर के श्रवणबेलगोल नामक स्थान में उनका एक उपनिवेश-सा बस गया था। यहीं से सम्भवतः उन्होंने दक्षिणी भारत के विभिन्न प्रदेशों में अपने धर्म का प्रचार किया था।

इसी समय जो जैन भिक्षु उत्तरी भारत में रह गये थे उन्होंने एक अन्य आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में अपनी जैन संगीति की। इस संगीति ने जैन सिद्धान्तों को १२ अंगों में संगठित किया।

कुछ समय पश्चात् जब भद्रबाहु के अनुयायी दक्षिणी भारत से वापस आये तो उन्होंने देखा कि उत्तरी भारत के जैन भिक्षुओं ने नग्नता के सिद्धान्त का परित्याग करके वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया है। उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में की गई पाटलिपुत्र-संगीति के द्वारा संगठित जैन अंगों को भी मान्यता देने से इनकार कर दिया। इस प्रकार मौर्य-काल में ही जैन संघ में भेद उत्पन्न हो गया। भद्रबाहु के अनुयायी जो नग्नता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे दिगम्बर कहलाये। इसके विरोध में भद्रबाहु के अनुयायी, जो श्वेत वस्त्र धारण करने लगे, श्वेताम्बर कहलाये।

इन घटनाओं के कारण मौर्य-काल जैन धर्म के इतिहास के दृष्टिकोण से बड़ा महत्वपूर्ण है।

चाणक्य वर्णाश्रम धर्म का मानने वाला था। इसलिए उसने बौद्धों और जैनों के वर्ण-विरोधी एवम् निवृत्तिमूलक प्रचार का विरोध किया था। वह ऐसे प्रचार को उत्तरदायित्वहीन और हानिकर मानता था। यही कारण है कि उसने संसार-त्याग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के विरोध में अनेक नियम बनाये थे। उसने यह भी व्यवस्था की थी कि निवृत्ति मार्गी धर्मानुयायी नगरों के बाहर रहें।

अशोक बौद्धधर्मावलम्बी था। इसलिए उसकी दृष्टि में ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म का कोई महत्व न था। वह ब्राह्मणों और भिक्षुओं का समान आदर करता था। उसने निवास-सम्बन्धी प्रतिबन्धों को भी हटा लिया और यह आदेश जारी किया कि कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थान पर रह सकता है।

मौर्य काल में धर्म का नैतिक पक्ष भी काफी विकसित था। अशोक के धर्म-प्रचार ने इस पक्ष को और भी सबल बना दिया था। ब्राह्मणों और श्रमणों का आदर करना, माता-पिता की आज्ञा मानना, जीवों का आदर करना, सब धर्मों के प्रति उदार भाव रखना, दान देना, सत्य बोलना और आसिनव (पाप) से बचना इत्यादि तत्कालीन नैतिकता के आधार-भूत सिद्धान्त थे। मेगस्थनीज ने भी भारतवासियों के चरित्र और व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए निम्नलिखित शब्द लिखे हैं "अपने आचरण में सरल और मितव्ययी होने के कारण भारतीय काफी सुख से रहते हैं। यज्ञों के अतिरिक्त वे कभी शराब नहीं पीते। चोरी की घटनाएँ बहुत कम होती हैं। वे अपने घरों और अपनी सम्पत्ति को बहुधा अरक्षित अवस्था में ही छोड़ जाते हैं। उनके कानूनों और समझौतों की सरलता इसी बात से प्रमाणित होती है कि वे बहुत ही कम न्यायालयों की शरण लेते हैं।'

कुछ साक्ष्य मौर्यकाल के दार्शनिक पक्ष के ऊपर भी प्रकाश डालते हैं। मेगस्थनीज के अनुसार ब्राह्मण अपने अधिक समय में जन्म और पुर्नजन्म के सिद्धान्तों पर विचार किया करते थे। मेगस्थीज ने मैंडेनिस नाम के एक ब्राह्मण सन्यासी का उल्लेख किया है जिसे सिकन्दर अपने पास बुलाना चाहता था। परन्तु मैंडेनिस ने जाने से इन्कार कर दिया। उसने सिकन्दर को धमकी का उत्तर देते हुए निम्नलिखित महत्वपूर्ण शब्द कहला भेजे थे—'सिकन्दर मेरा शीश कटवा सकता है, परन्तु वह मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकता। केवल मेरा शीश जो इस समय मौन है। वह जाएगा। परन्तु मेरी आत्मा शरीर को एक जीर्णवस्त्र की भांति छोड़कर अपने स्वामी के पास चली जाएगी, जहाँ से यह (शरीर) आया है।' इस कथन से भारतीय समाज के आत्मा और शरीर सम्बन्धी विचार प्रकट होते हैं। तत्कालीन समाज में मनुष्य का सर्वोच्च धार्मिक लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना था। परन्तु साधारण जनता स्वर्ग की कामना करती थी।

शिक्षा और साहित्य

मौर्यकालीन शिक्षा और साहित्य—मौर्य काल में शिक्षा और साहित्य का स्तर काफी ऊँचा प्रतीत होता है। यूनानी लेखकों का कथन है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासन-काल में सड़कों पर दूरी-सूचक स्तम्भ गड़े होते थे। सामान्यतः जनता इन्हें पढ़ लेती थी। अशोक के समस्त शिलालेख और स्तम्भलेख साधारण जनता के पढ़ने और समझने के लिए थे। यदि जनता अशिक्षित होती तो इतना अधिक धन खर्च करके अशोक इन शिलालेखों और स्तम्भलेखों का निर्माण न करवाता। इसी आधार पर डाक्टर स्मिथ ने लिखा है कि अशोक के समय भारतवर्ष में साक्षरता की प्रतिशत दर ब्रिटिश राज्य के अनेक प्रान्तों की दर से ऊँची थी।

उच्च शिक्षा के लिए तक्षशिला मौर्य काल से पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुका था। जातकों की कथाओं से प्रकट होता है कि तत्कालीन भारत के बहुसंख्यक राजकुमार वहाँ शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। मगध के राजा बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही चिकित्साशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। कोशल-नरेश प्रसेनजित् भी वहीं पढ़ा था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी कुछ समय तक यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। तत्कालीन शिक्षा-केन्द्रों में दो प्रकार के विद्यार्थी होते थे—(१) ऐसे विद्यार्थी जो अपने अध्यापक को फीस देते थे और दिन में पढ़ते थे। इन्हें 'आचार्य-भागदायक' कहा जाता था। (२) कुछ ऐसे भी विद्यार्थी होते थे जो अपनी निर्धनता के कारण फीस नहीं दे सकते थे। ये दिन भर अपने आचार्य की सेवा करते थे और उसके बदले में रात को पढ़ते थे। ऐसे विद्यार्थियों को 'धम्मन्ते वासिक' कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च शिक्षा-केन्द्रों में शूद्रों के लिए प्रवेश निषिद्ध था। तक्षशिला के अतिरिक्त काशी और उज्जैन भी तत्कालीन भारत के बड़े शिक्षा केन्द्र थे।

इन केन्द्रों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के गुरुकुल भी शिक्षा-केन्द्र होते थे। यहाँ प्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण अपने आश्रमों अथवा निवास-स्थानों में विद्यार्थियों को अपने साथ रखकर शिक्षा देते थे। बहुत से ब्राह्मणों को राज्य की ओर से भूमि-दान दिये जाते थे। ऐसी भूमियों को 'ब्रह्मदेय' कहते थे।

बौद्धों और जैनों के विहारों में धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। यहाँ संसार-त्यागी भिक्षु-भिक्षुणियाँ अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए अपने धर्म और दर्शन का अध्ययन और मनन करते थे।

मौर्यकालीन भारत में दो लिपियाँ प्रचलित थीं—(१) पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी लिपि और (२) शेष भारत में ब्राह्मी लिपि। खरोष्ठी लिपि दायें से बायें हाथ की ओर लिखी जाती थी और ब्राह्मी लिपि इसके विपरीत बायें से दायें हाथ की ओर। कालान्तर में खरोष्ठी से फारसी लिपि और ब्राह्मी से देवनागरी लिपि का जन्म हुआ।

अशोक के लेख जनसाधारण की भाषा में लिखे गये थे। डाक्टर भंडारकर का मत है कि यह मगध की राजकीय भाषा थी। जो उस समय बिहार, उड़ीसा और मध्य-देश में प्रचलित थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मौर्य काल का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् चाणक्य था, जिसने अर्थशास्त्र की रचना की। इसी समय अशोककालीन तृतीय बौद्ध संगीति के अध्यक्ष मोगलिपुत्त तिस्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथावस्तु' की रचना की। चन्द्रगुप्त के समय प्रसिद्ध जैन आचार्य भद्रबाहु हुआ जिसने 'कल्पसूत्र' की रचना की। बिन्दुसार का मन्त्री सुबन्धु भी अपने समय का प्रसिद्ध विद्वान् था। 'वृहत् कथा कोष' में कवि नाम के एक विद्वान् का उल्लेख है। यह सम्भवतः मौर्य काल में ही हुआ। पतंजलि के महाभाष्य में अनेक विद्वानों के नाम मिलते हैं। सम्भव है इनमें से कुछ मौर्यकालीन रहे हों। कुछ विद्वानों का मत है कि रामायण और महाभारत के कुछ अंश सम्भवतः इसी समय लिखे गए। इसी समय तृतीय बौद्ध संगीति ने बौद्ध 'त्रिपिटक' का संगठन किया।

कला

वास्तुकला—मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत प्रायः सम्पूर्ण भारत आ गया था। इस साम्राज्य की सुव्यवस्था, शान्ति और साधनों ने तत्कालीन भारतीय जीवन को अनेकशः विकसित होने का अवसर दिया। परिणामतः मौर्य शासन-काल में कला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्ण उन्नति हुई।

मौर्यकालीन वास्तुकला की विशेषताएँ—मौर्यकालीन कला की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई जा सकती हैं।

(१) मौर्यकालीन इमारतों में प्रमुखतयः लकड़ी का ही प्रयोग होता था। पूर्वी भारत का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज ने भी लिखा है कि वहाँ के मकान लकड़ी के बनते थे। खुदाई में चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के राजप्रासादों के जो ध्वन्सावशेष मिले हैं वे भी इस कथन की पुष्टि करते हैं कि मौर्यकालीन भवनों की छतें और कभी-कभी अन्य अंग भी लकड़ी के बनते थे।

(२) मौर्य काल में डाट अथवा मेहराब का प्रयोग विकसित न हुआ था। ऊपर के भार को संभालने के लिए स्तम्भों का प्रयोग किया जाता था। मौर्यकालीन इमारतों में अलंकरण के रूप में स्थापत्य का अधिक प्रयोग नहीं हुआ। विभिन्न इमारतों अलंकरण के स्थान पर उपयोगिता के ऊपर अधिक जोर दिया गया है।

(३) कुछ विद्वानों का मत है कि मौर्य वास्तुकला के पीछे कोई परम्परा नहीं थी। इसका उदय सहसा मौर्य काल में हुआ। परन्तु यह मत न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। ऋग्वेद से लेकर सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य तक ईंट, मिट्टी और पत्थर अथवा लकड़ी के बने हुए मकानों का वर्णन मिलता है। डाक्टर डी० आर० भंडारकर और पर्सी ब्राऊन का मत है कि मौर्य वास्तुकला पर विदेशी प्रभाव है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मौर्यकालीन और पारसीक कलाओं में कुछ समानताएं मिलती हैं, जैसे भवनों में विशाल स्तम्भों का प्रयोग, तथा समक्ष जानवरों आदि के अलंकरण।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) मौर्यकालीन सम्राटों धर्म के संरक्षण में पनपी थी। इसलिए वह एकांगी है। उसमें सामान्य मनुष्य के जीवन की ऐसी झाँकी नहीं दिखाई देती जैसी साँची भरहुत आदि में।

मौर्य वास्तुकला के कुछ उदाहरण

यूनानी दूत मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन वास्तुकला के ऊपर कुछ प्रकाश डाला है। पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि यह नगर गंगा और सोन के संगम पर था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि सैनिक सुरक्षा के लिए नगरों को नदियों के संगम पर होना चाहिए। सम्भवतः इसी बात को दृष्टिकोण में रख कर पाटलिपुत्र की स्थापना गंगा और सोन के संगम पर हुई थी।

मेगस्थनीज के कथनानुसार पाटलिपुत्र का आकार एक समानान्तर चतुर्भुज के समान था। वह ६ मील लम्बा और १½ मील चौड़ा था। प्रायः समस्त प्रमुख नगरों की भाँति यह नगर भी लकड़ी की एक विशाल चहारदीवारी से घिरा हुआ था। इस चहारदीवारी में बहुत से छेद थे, जिनसे बाहरी शत्रुओं पर बाण-वर्षा की जा सके। इस चहारदीवारी में ५७० बुर्ज तथा ६४ फाटक थे। इस प्रकार का दुर्गीकरण हमें सिन्धु-सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत भी दिखाई देता है। इस प्राचीर के अतिरिक्त पाटलिपुत्र के चारों ओर एक गहरी खाई भी थी।

प्राचीर (चहारदीवारी) के भीतर चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद था। इसके पूर्व इतना सुन्दर और विशाल राजप्रासाद भारत में कभी न बना था। यह राजप्रासाद पूर्णतयः नष्ट हो गया है, परन्तु इसके ध्वंशावशेष पटना के बुलन्दीबाग में मिले हैं। इनसे प्रकट होता है कि यह राजप्रासाद विशेषतः लकड़ी से बना था। इस प्रासाद की काष्ठकला की डाक्टर स्पूनर ने बड़ी प्रशंसा की है।[1] राजप्रासाद का सबसे प्रमुख भाग उसका बड़ा कक्ष (Hall) था। इसकी छत स्तम्भों पर टिकी हुई थी। उन स्तम्भों पर सोने-चाँदी का काम किया गया था। इन पर बेल-बूटों और पक्षियों के चित्र थे।[2] इस प्रकार के स्तम्भों पर टिकी हुई छतों का निर्माण फारस में भी होता था। इस आधार पर पर्सी ब्राऊन का कथन है कि चन्द्रगुप्त के इस राजप्रासाद पर पारसीक प्रभाव है।

---

१. 'Those who executed them would find little indeed to learn in the field of their own art, could they return to earth today.'
—Spooner

२. 'Each of them was clasped around with vines and embossed in gold and ornamented with designs of birds and foliages in gold and silver, thus excelling in magnificence the famous royal plaisances of Susa and Ecbatna.'
—Spooner

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस राजप्रासाद में लकड़ी के जोड़ छोटी-छोटी खुटियों से बनाये गये थे। लकड़ी में यदि कहीं पर दराजें और गड्ढे रह जाते थे तो वे चूने से भर दिये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य काल में भवनों की छतें दो प्रकार की होती थीं—(१) गोलाकार बाँसों और लट्ठों से बनी हुई अर्ध गोलाकार छतें (vaulted roofs) तथा (२) सीधी शहतीरों से बनी हुई समतल छतें (flat roofs)।

अशोक का राजप्रासाद

चन्द्रगुप्त की भांति अशोक ने भी एक राजप्रासाद बनवाया था। डाक्टर स्पूनर ने पटना के पास कुमरहार नामक स्थान पर इस राजप्रासाद के ध्वंसावशेष प्राप्त किये। किसी समय यह राजप्रासाद अपनी सुन्दरता के लिए सम्पूर्ण एशिया में अद्वितीय था। इस राजप्रासाद के निर्माण के लगभग ७०० वर्ष पश्चात् आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने निम्नलिखित शब्दों में इसका उल्लेख किया—"It was made by spirits who piled up the stones, reared the walls and gates and executed the elegant carving and inlaids culpture work in a way which no human hands of this world could accomplish."

इस राजप्रासाद का भी प्रमुख अङ्ग इसका प्रधान कक्ष (Hall) था, जिसकी छत २२५ विशाल स्तम्भों पर टिकी हुई थी। यह स्तम्भ लकड़ी की आधार-पीठिकाओं पर बनाये गये थे। स्तम्भों का निर्माण पत्थर से हुआ था। इन खम्भों पर बड़ी ही सुन्दर चमकदार पालिश की गई थी। भारतवर्ष में स्तम्भों की परम्परा प्राचीन है। ऋग्वेद में १०० स्तम्भ वाले हाल का वर्णन है। पाषाण का प्रयोग इमारतों के लिए अशोक के पहले भी भारत में होता था, पर बहुत कम ऐसी इमारतें अभी तक मिली हैं। कुछ बातों में साम्य से ही अशोक के इस राजप्रासाद में विदेशी प्रभाव सिद्ध नहीं होता।

स्तूप—स्तूप का अर्थ उस कलाकृति से है जिसके भीतर किसी व्यक्ति के अवशेष संरक्षित हों। स्तूप का इतिहास बड़ा प्राचीन है। इस की भावना वैदिक साहित्य में भी मिलती है। वेदों में शव के अवशेषों के ऊपर समाधि बनाने की प्रथा का उल्लेख है। इस प्रकार की समाधि को श्मशान कहते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है कि प्राची के निवासी अपने श्मशान परिमण्डल के आकार के बनाते थे। 'महा परिनिर्वाण सूत्र' में महात्मा बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहते हैं कि 'मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे अवशेषों पर उसी प्रकार स्तूप बनवाया जिस प्रकार चक्रवर्ती राजाओं के अवशेषों पर बनते हैं।' इसी ग्रन्थ से प्रकट होता है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके अवशेषों पर तत्कालीन क्षत्रिय जातियों ने ८ स्तूप बनाये थे। परन्तु आज ये प्राप्त नहीं होते। इस कथन से सिद्ध है कि—(१) स्तूप शब्द का प्रयोग और स्तूप का निर्माण अशोक के पहले भी होता था और (२) स्तूप का निर्माण एकमात्र धार्मिक दृष्टि से नहीं वरन् आदर भावना की दृष्टि से भी होता था।

अशोक के पूर्व के स्तूप प्राप्त नहीं होते। सम्भवत: वे नष्ट हो चुके हैं। बस्ती जिला के पिप्रावा नामक स्थान में प्राप्त—अशोक कालीन स्तूप के खंडहर मिले हैं।

बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि अशोक ने ८४ हजार स्तूपों और अनेक विहारों का निर्माण कराया था, परन्तु आज इनमें से बहुत कम सुरक्षित हैं। अशोककालीन अवशिष्ट स्तूपों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) सिन्ध में मीरपुर का स्तूप (२) तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप (३) सारनाथ का स्तूप (४) बोधगया का स्तूप (५) साँची का स्तूप।

अशोक के समय तक स्तूप का आकार-प्रकार बड़ा सरल होता था। वह ईंट और मिट्टी का टीला-सा होता था। साधारणत: उसका व्यास ७० फुट होता था और उसकी ऊँचाई ३५ फुट होती थी। ये स्तूप धूप में सुखाई गई कच्ची ईंटों से बनाये जाते थे। ये ईंटें बहुत बड़ी होती थीं। साधारणतया इनकी नाप १६″×१०″×३″ मिली है। इस प्रकार के अर्धअण्डाकार टीले के नीचे किसी महापुरुष के अवशेष गाड़ जाते थे। इस टीले को 'अण्ड' कहते थे। इसकी बाहरी सतह पर मिट्टी का मोटा पलस्तर किया जाता था। पलस्तर करते समय इस सतह में बहुत से छेद छोड़ दिये जाते थे। त्यौहारों और उत्सवों के अवसर पर इन छेदों में दीपक रखे जाते थे। कभी-कभी अण्ड की इस ऊपरी सतह पर फूल-पत्तियाँ और पताकायें रखी जाती थीं। स्तूप के चारों ओर एक प्रदक्षिणा मार्ग होता था और इस मार्ग के चारों ओर एक लकड़ी की चहारदीवारी होती थी, जिसे वेदिका कहते थे। अण्ड के ऊपर एक हर्मिका होती थी और उसके भीतर एक छत्र स्थापित किया जाता था। हर्मिका और छत्र पत्थर के बने होते थे।

शुङ्ग-काल में अशोककालीन कुछ स्तूपों का आकार-प्रकार बढ़ा दिया गया। इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

मौर्यकाल के पूर्व स्थापत्य में पाषाण का प्रयोग कम मिलता है, उसका प्रचुर रूप में प्रयोग सर्वप्रथम मौर्य काल में ही हुआ। मौर्यकाल में स्थापत्य कला राजा और धर्म की छत्र-छाया में पनपी। इस युग की स्थापत्य-कृतियों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी चमकदार पालिश है। वह पालिश किस प्रकार बनाई जाती थी, यह आज अज्ञात है।

चन्द्रगुप्त मौर्य की कोई स्थापत्य कृति नहीं मिलती। स्थापत्य कृतियों के कई उदाहरण अशोक के समय के बचे हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तम्भ—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए स्तम्भों का उपयोग किया। डाक्टर स्मिथ का मत है कि अशोक के स्तम्भों की संख्या लगभग तीस थी। परन्तु अब उसके लगभग एक दर्जन स्तम्भ मिलते हैं। इनमें आठ बिना शीर्ष भाग के हैं। दो स्तम्भों (कोल्हुआ और नन्दन गढ़) के शीर्ष भाग अब भी सुरक्षित हैं। इन समस्त स्तम्भों का निर्माण या तो बौद्ध धर्म के तीर्थ स्थानों पर हुआ या तीर्थ-यात्रा के मार्गों पर।

अशोक के प्रत्येक स्तम्भ को मुख्य तीन भागों में बांटा जा सकता है—

(१) लाठ (Shaft) (२) शीर्षभाग (Capital) (३) शीर्ष भाग पर स्थित पशु।

(१) **लाठ**—यह गोलाकार होता है और हाथी की सूँड़ की भाँति ऊपर जाते हुए पतला होता जाता है। यह एक समूचे पत्थर से बनाया जाता था। साधारणतया इसकी ऊँचाई ४० फीट होती है। यह लाठ अनलंकृत होता है।

(२) **शीर्षभाग**—स्तम्भ के शीर्ष भाग में तीन अङ्ग पाये जाते हैं—

(१) उलटा कमल या घंटा (२) आधार पीठिका (abacus) (३) पशु (४) कभी-कभी पशुओं के ऊपर स्थापित धर्मचक्र।

सम्पूर्ण शीर्षभाग एक ही पत्थर का पाया जाता है। स्तम्भ का लाठ और शीर्षभाग एक ताँबे की कड़ी से जुड़े मिलते हैं। इस जोड़ में सीमेंट अथवा चूने का प्रयोग नहीं होता था।

(१) **कमल या घण्टा**—इस पर चारों ओर पंखुड़ियाँ खुदी हुई मिलती हैं। इस प्रकार का अलंकारक फारस और यूनान दोनों में मिला है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक के स्तम्भों पर पारसीक और यूनानी प्रभाव है। परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् हैवेल इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यह घण्टा नहीं वरन् उलटा कमल है। कमल बहुत दिनों से भारतीय संस्कृति का प्रतीक रहा है।

(२) **आधारपीठिका**—यह गोल अथवा चौकोर मिलती है। यह चारों ओर उभरे हुए धर्मचक्र, पशुओं और फूल-पत्तियों की आकृतियों से अलंकृत मिलती है। पशुओं में हाथी, घोड़ा, वृषभ और सिंह मिलते हैं। ये पशु बड़े सजीव और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

(३) **पशु**—आधारपीठिका के ऊपर भी यही पशु विशाल रूप में हैं। बौद्ध साहित्य में इन चारों पशुओं का विशेष महत्व है। महात्मा बुद्ध के गर्भ में आने के समय उनकी माता महामाया ने एक स्वप्न देखा था कि स्वर्ग से उतरता हुआ एक हाथी उनके उदर में प्रविष्ट होता हुआ प्रतीत हो रहा था। अतः हाथी महात्मा बुद्ध के गर्भस्थ होने की ऐतिहासिक घटना की सूचना देता है। घोड़ा महात्मा बुद्ध के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाभिनिष्क्रमण (संसार त्याग) का स्मरण दिलाता है। अपने घोड़े को साथ लेकर ही महात्मा बुद्ध ने गृह त्याग किया था। वृषभ महात्मा बुद्ध के धार्मिक और नैतिक बल की सूचना देता है। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध शाक्यसिंह कहे गये हैं। बौद्ध साहित्य में कभी-कभी ये चारों पशु चारों दिशाओं के संरक्षक भी माने गये हैं। सारनाथ के स्तम्भ के ऊपर सिंह, रामपुरवा के स्तम्भ के ऊपर वृषभ (बैल), रुम्मिन देई के स्तम्भ के ऊपर घोड़ा और संकिशा वाले के ऊपर हाथी की मूर्तियाँ मिलती हैं। विशुद्ध कला की दृष्टि से इन पशुओं की मूर्तियाँ बड़ी ही सुन्दर हैं। सारनाथ के शीर्षभाग और उसके ऊपर स्थित पशुओं की मूर्तियों की सारे संसार ने प्रशंसा की है। सारनाथ के शीर्ष भाग के विषय में मार्शल महोदय इस प्रकार लिखते हैं—"The Sarnath Capital, on the other hand, though by no means master-piece, is the product of the most developed art of which the world was cognisant in third century B. C.—the handiwork of one who had generations of artistic effort and experience behind him."

इसी प्रकार शीर्ष भाग के पशुओं की प्रशंसा करते हुए पर्सी ब्राऊन ने निम्न-लिखित शब्द लिखे हैं—"For the quality of the workmanship in their production there can be nothing but praise, the bold contours of the figures in the round, the subtle modelling of the relief and the unerring confidence of chiselling being remarkable."

स्मिथ महोदय भी अशोककालीन पशु कृतियों को देखकर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने सारनाथ की पशु मूर्तियों की निम्नलिखित शब्दों में प्रशंसा की है—"It is difficult to find in any country an example of ancient animal sculpture superior or even equal to this beautiful work of art."

(४) धर्मचक्र- सारनाथ के पशुओं के ऊपर अशोक ने धर्मचक्र स्थापित कराया था। उसने इसके द्वारा सांकेतिक भाषा में यह घोषित किया था कि धर्म चारों दिशाओं की अथवा सम्पूर्ण संसार की रक्षा कर रहा है। दूसरे शब्दों में इसके द्वारा अशोक ने धर्म-विजय की घोषणा की थी।

ओप—अशोक के समस्त स्तम्भों के ऊपर बड़ी सुन्दर और चमकदार पालिश या ओप है। फाहियान ने अशोक के स्तम्भों को देखकर कहा था कि वे शीशे की भाँति चमकते हैं। इसी प्रकार १९ वीं शताब्दी में विशप हेबर ने दिल्ली के अशोक के स्तम्भ को देखकर समझा था कि वह किसी धातु का बना हुआ है। डाक्टर स्मिथ इस

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पालिश के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—"The art of polishing on hard stone was carried to such a perfection that it is said to have become a lost art beyond modern powers."

अशोक के समस्त स्तम्भ चुनार के बलुआ पत्थर के बने थे। आज भी विद्वान् इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि इतने विशाल स्तम्भों का निर्माण और भारतवर्ष के कौने-कौने में उनका परिवहन कैसे हुआ होगा। आज के मशीन-युग में भी ये काम काफी कठिन हैं।

मौर्यकालीन गुहा-कक्ष—अशोक के समय एक आजीवक सम्प्रदाय था। बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी अशोक दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने आजीवक भिक्षुओं के रहने के लिए गया से कुछ दूरी पर बराबर पहाड़ियों पर गुहायें बनवाई थीं। इस प्रकार गुहा-कला सर्वप्रथम अशोक के समय से प्रारम्भ हुई। कालान्तर में इसका बहुत अधिक विकास हुआ। अशोक की इन गुहाओं के निर्माण में उसी कला का प्रयोग किया गया है जिसका लकड़ी के भवनों के निर्माण में होता था।

अशोक की भाँति उसके पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी पहाड़ियों पर आजीवक भिक्षुओं के लिए कुछ अन्य गुफायें बनवाईं। इन गुहाओं के भीतर की सतह बड़ी चिकनी और चमकदार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ५

शुंग-वंश

पृष्ठभूमि—वैदिक मत तथा लोकधर्मों के प्रति अशोक की अतिशय उपेक्षा तथा उसकी अहिंसामूलक नीति से देश का विचारशील वर्ग बड़ा चिन्तित हो उठा था। अशोक ने शस्त्र-बल का पूर्णरूप से परित्याग भले ही न किया हो, परन्तु उसके अहिंसाप्रधान धर्म के प्रचार ने सैनिक शक्ति का ह्रास तो कर ही दिया था। धर्म-प्रचार ने राजकोष को भी भारी क्षति पहुँचाई थी। अशोक के उत्तराधिकारियों में शालिशूक ने भी धर्म-विजय की चेष्टा की थी। उसने राज्य की रही-सही शक्ति का अपव्यय किया होगा। अशोक के उत्तराधिकारियों की निर्बलता, आन्तरिक विद्रोहों की आशंका और विदेशी आक्रमणों की सम्भावना ने जनता में भाँति-भाँति की शंकाओं को जन्म दिया होगा। जिस समय देश की संरक्षा और संस्कृति के सम्मुख भारी संकट उत्पन्न हुआ तब एक बार फिर देश के व्यवस्थाकार ब्राह्मणों ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। ब्राह्मण पहले से ही मौर्य-वंश से असन्तुष्ट थे। मौर्यवंश ने 'विधर्मों' को अपनाया था। उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की अवहेलना की थी। चन्द्रगुप्त, अशोक, सम्प्रति, शालिशूक आदि राजाओं के शासन-काल में ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण-संस्कृति को सर्वोच्च पद न मिल सका था। अतः वे इस वंश को पदच्युत करने के लिये उत्सुक थे।

मौर्य-वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ के समय तक असन्तोष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। 'हर्ष चरित' के अनुसार बृहद्रथ प्रज्ञादुर्बल (मूर्ख) था। उसकी अयोग्यता के कारण राजसभा में दलबन्दी हो गई थी। 'मालविकाग्निमित्र' से प्रकट होता है कि एक दल का नेता सेनापति पुष्यमित्र था और दूसरे दल का नेता बृहद्रथ का सचिव। इस दलबन्दी के कारण राज्य की जड़ें खोखली हो रही थीं।

जिस समय देश की ऐसी अत्यन्त दयनीय दशा थी उसी समय बैक्ट्रिया के यूनानियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी। उन्होंने उत्तरी भारत को पदाक्रान्त करते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँचने की योजना बनाई। बृहद्रथ इस महान् संकट का सामना करने के लिये नितान्त अयोग्य था। इसी भयावह परिस्थिति में मौर्य सम्राट् के ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र ने निर्णायक कदम उठाया। उसने अपने अयोग्य स्वामी की हत्या कर दी। हत्या समस्त सैनिकों के समक्ष 'परेड ग्राउण्ड' में की गई। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अपने स्वामी की हत्या करने

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के पूर्व सेनापति पुष्यमित्र मौर्य सेना को अपने पक्ष में कर चुका होगा। मगध की यह क्रान्ति एक पूर्व निर्धारित योजना के परिणामस्वरूप घटित हुई प्रतीत होती है और इसके पीछे सम्भवतः मौर्य-वंश के प्रति ब्राह्मणों की विरोधिनी प्रतिक्रिया कार्य कर रही थी।

बृहद्रथ की हत्या के पश्चात् पुष्यमित्र शुङ्ग ने परिस्थितियों का सामना किया। उसने अपार पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए न केवल पाटलिपुत्र पर वरन् प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया।

ये सारी घटनायें आगामी ब्यौरे से स्पष्ट हो जायेंगी।

मगध-क्रान्ति के साक्ष्य—अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ की हत्या में परिणत होने वाली मगध-क्रान्ति के दो प्रमुख साक्ष्य हैं—

(१) **पुराण**—पुराणों का कथन है कि सेनानी पुष्यमित्र ने बृहद्रथ का विनाश किया था।[1]

(२) **हर्षचरित**—बाण के हर्षचरित में इस घटना का कुछ अधिक ब्यौरा मिलता है। उसके अनुसार सेना का निरीक्षण कराने के बहाने अनार्य सेनानी पुष्यमित्र ने अपने प्रज्ञादुर्बल स्वामी बृहद्रथ मौर्य की हत्या की थी।[2]

पुष्यमित्र की जाति—पुष्यमित्र की जाति के विषय में कुछ मतभेद हैं। उसकी जाति के सम्बन्ध में प्रमुख मत निम्नलिखित हैं—

(१) **पारसीक**—श्री हरप्रसाद शास्त्री का मत था कि पुष्यमित्र पारसीक था, क्योंकि उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के नाम के अन्त में 'मित्र' लगा हुआ है जिससे वे फारस के प्रधान देवता मिथ् (मित्र-सूर्य) के उपासक प्रतीत होते हैं।

परन्तु इस मत को कोई स्वीकार नहीं करता। यह कोरी कल्पना के ऊपर आधारित है। स्वयं शास्त्रीजी ने भी इस मत को कुछ समय बाद छोड़ दिया था।

(२) **शूद्र**—हर्षचरित पुष्यमित्र को 'अनार्य' कहता है। इस पर कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि पुष्यमित्र शूद्र था। परन्तु यहाँ 'अनार्य' जातिसूचक नहीं है। वह एकमात्र अनार्य कर्म (दुष्कर्म) का सूचक है। पुष्यमित्र ने अपने स्वामी की हत्या की थी। इसीलिये बाण ने उसे अनार्य कहा है।

(३) **मौर्य**—दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र मौर्य था। स्पष्ट है कि यह उसके लेखक की भूल है।

---

१. "पुष्यमित्रस्तु सेनानी समुद्धृत्य बृहद्रथम्।"
२. "प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) बैम्बिक—मालविकाग्निमित्र पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को बैम्बिक-वंश का बताता है। 'बौधायन श्रौतसूत्र' से प्रकट होता है कि बैम्बिक कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण होते थे।

परोक्षरूप से 'हरिवंश' भी इसी मत की पुष्टि करता है। वह कहता है कि कश्यप गोत्र का एक औद्भिज्ज (हीन अवस्था से अकस्मात् उत्कर्ष करने वाला) सेनापति कलियुग में अश्वमेध यज्ञ का उद्धार करेगा[१]। डा० जायसवाल का कथन है कि यह उल्लेख सेनानी पुष्यमित्र का है। यह मत काफी तर्कपूर्ण है।

(५) बिम्बिसारवंशीय—कुछ विद्वानों के मतानुसार बैम्बिक-वंश बिम्बिसार-वंश से सम्बन्धित था[२]। परन्तु इसका कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

(६) शुङ्ग—पुराण पुष्यमित्र को 'शुङ्ग' कहते हैं। हर्षचरित में एक परकालीन राजा को शुङ्ग कहा गया है। सम्भवत: वह पुष्यमित्र का वंशज था। ब्राह्मण-ग्रन्थ शुङ्गों को आचार्य कहते हैं[3]। अत: वे ब्राह्मण थे।

ब्राह्मण होना निश्चित—चाहे पुष्यमित्र काश्यप वैम्बिक हो चाहे शुङ्ग, इतना निश्चित है कि वह ब्राह्मण था। इसके निम्नलिखित आधार हैं—

(१) उपर्युक्त हरिवंश का उद्धरण एक द्विज का उल्लेख करता है। यह सम्भवत: पुष्यमित्र था।

(२) मनुस्मृति की रचना पुष्यमित्र के काल में अथवा उसी के आस-पास हुई थी। इसमें मनु कहते हैं कि वेदों और शास्त्रों का ज्ञाता सेनापतित्व, राजत्व, दण्डनेतृत्व और सर्वलोकाधिपत्य का अधिकारी हो सकता है। यह उल्लेख सेनापति पुष्यमित्र की ओर संकेत करता है।[४] 'वेदशास्त्रविद्' शब्द से उसकी ब्राह्मण जाति का अनुमान किया जा सकता है।

(३) पतंजलि पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। वे अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि ब्राह्मण-राज्य सर्वोत्तम राज्य होता है। इससे भी पुष्यमित्र के ब्राह्मण होने का अनुमान किया जा सकता है।

(४) तिब्बती लेखक तारानाथ स्पष्टरूप से पुष्यमित्र को ब्राह्मण बताता है।

सेनापति अथवा राजा—पुष्यमित्र के सम्बन्ध में जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनमें उसे प्राय: सेनापति कहा गया है। उदाहरणार्थ, उसके लिये सेनापति उपाधि

---

१. "औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी कश्यपो द्विज:। अश्वमेधं तु कलियुगे पुन: प्रत्यहरिष्यति।"

२. Proc. of the Third Oriental Conference, Madras, p. 370.

३. वंश ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद्, आश्वलायन श्रौतसूत्र।

४. "सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रयोग पुराणों, मालविकाग्निमित्र, हर्षचरित और अयोध्या-अभिलेख में हुआ है। इसके साथ-साथ यह महत्व की बात है कि समस्त साक्ष्य—पुराण तथा मालविकाग्निमित्र—उसके पुत्र अग्निमित्र के लिये 'राजा' की उपाधि का प्रयोग करते हैं। इस आधार पर विल्सन, शंकर पाण्डुरंग पण्डित आदि विद्वानों ने यह अनुमान किया था कि पुष्यमित्र स्वयं राजा कभी नहीं हुआ था। उसने बृहद्रथ को मारकर उसका सिंहासन अपने पुत्र अग्निमित्र को दे दिया था। अत: अग्निमित्र को ही शुङ्ग-वंश का प्रथम राजा समझना चाहिए।

परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता—

(१) पंतजलि के महाभाष्य, कालिदास के मालविकाग्निमित्र और अयोध्या के अभिलेख से प्रकट होता है कि अश्वमेध का करने वाला स्वयं पुष्यमित्र था। अत: वही राजा होगा।

(२) पुराण और मेरुतुंग की 'स्थविरावलि' स्पष्टरूप से पुष्यमित्र को राजा बताते हैं और उसकी शासनावधि का भी उल्लेख करते हैं।

फिर उसे सेनापति क्यों कहा गया है? राजा होने के पूर्व पुष्यमित्र दीर्घकाल तक सेनापति रहा था। अत: इसी उपाधि से वह जनता में लोकप्रिय था। राजा होने के पश्चात् भी उसने अपनी इस उपाधि को जारी रखा। इसी प्रकार का उदाहरण हैदराबाद के 'निजाम' का है। हैदराबाद के शासक मुगलों के 'निजाम' थे। परन्तु स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी उन्होंने अपनी यह उपाधि जारी रखी।

पुष्यमित्र के शासन-काल की घटनायें

विदर्भ में युद्ध—हमें इस युद्ध का ज्ञान एकमात्र साक्ष्य मालविकाग्निमित्र से होता है। इस नाटक में दिये गये विवरण से निम्नलिखित ऐतिहासिक तक्ष्य निकाले जा सकते हैं—

(१) बृहद्रथ के निर्बल शासन-काल में राजसभा में दो दल हो गये थे। एक दल का नेता सेनापति पुष्यमित्र था। दूसरे दल का नेता सचिव (मन्त्री) था। दोनों एक-दूसरे के विरोधी थे।

(२) बृहद्रथ ने दोनों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की। उसने सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को विदिशा का गवर्नर बनाया। इसी प्रकार उसने अपने सचिव के सम्बन्धी यज्ञसेन को विदर्भ का गवर्नर नियुक्त किया। मालविकाग्निमित्र में यज्ञसेन को पुष्यमित्र और अग्निमित्र का स्वाभाविक शत्रु (प्रकृत्यमित्र) कहा गया है।

(३) जिस समय पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके राजसिंहासन पर अधिकार किया उस समय सचिव और उसके सम्बन्धी यज्ञसेन ने पुष्यमित्र को अपना स्वामी मानने से इन्कार कर दिया। सम्भवत: यज्ञसेन ने विदर्भ में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) परन्तु यज्ञसेन की शक्ति अधिक न थी। मालविकाग्निमित्र उसे 'अचिराधिष्ठित' एवं 'नवसंरोपणशिथिलस्तरुः' कहता है। शुङ्गों की कूटनीति ने यज्ञसेन को और भी अधिक निर्बल बना दिया। अग्निमित्र ने यज्ञसेन के एक सम्बन्धी माधवसेन को अपनी ओर मिला लिया।

(५) सम्भवतः दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। इसमें यज्ञसेन पराजित हुआ और उसके राज्य, वर्धा नदी के उत्तर का विदर्भ का भाग, शुङ्गों के अधिकार में आ गया। इस विजित प्रदेश में उन्होंने माधवसेन को गवर्नर नियुक्त किया।

यवन-आक्रमण—शुंग-शासनकाल में हुए यवन-आक्रमण के निम्नलिखित प्रमाण मिलते हैं—

(१) **पंतजलि का महाभाष्य**—यह ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' की टीका है। अतः यह भी एक व्याकरण-ग्रन्थ है। परन्तु व्याकरण के नियमों को समझाते हुए पतंजलि ने जो उदाहरण दिये हैं उनसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है।

पतंजलि ने एक स्थान पर अनद्यतन लङ् लकार को उदाहरण देकर समझाया है। इस लकार का प्रयोग उस घटना को प्रदर्शित करने के लिये होता है जिसे वक्ता ने स्वयं न देखा हो, परन्तु यदि वह चाहता तो देख सकता था।[1] उदाहरण देते हुए पतंजलि कहते हैं—

(१) 'अरुणद् यवनः साकेतम्'—यवन ने अयोध्या को घेर लिया।

(२) 'अरुणद् यवनः मध्यमिकाम्'—यवन ने मध्यमिका (चित्तौड़ के पास) को घेर लिया।

(२) **गार्गी संहिता** - इस ग्रन्थ का एक भाग 'युग पुराण' है। युग पुराण यवन-आक्रमण का कुछ अधिक विस्तार के साथ वर्णन करता है। शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

"ततः साकेतमाक्रम्य पंचाला माथुरास्तथा
यवनाश्च सुविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते
आकुलाः विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥"

इन पंक्तियों से प्रकट होता है कि यवन, पांचाल और मथुरा के लोगों के साथ कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक पहुँच गये थे और इससे लोग बहुत व्याकुल हो गए।

---

१. "परोक्षे च लोकविज्ञाने प्रयोक्तुर्दर्शनविषये।"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यही 'युग पुराण' इस यवन-आक्रमण के सम्बन्ध में आगे सूचना देता है—

"मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः
तेषां अन्योन्यसम्भावात् भविष्यति न संशयः ।
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम् ॥"

इन पंक्तियों का आशय है कि मध्यदेश में यवन ठहर न सकेंगे। उनमें तथा अन्य साथियों में पारस्परिक कलह होंगे।

(३) मालविकाग्निमित्र—कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में भी यवन-आक्रमण का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। परन्तु जब उसका घोड़ा सिन्धु नदी के तट पर पहुँचा उस समय यवनों ने उसे पकड़ लिया। घोड़े की रक्षा पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र कर रहा था। उसने यवनों से युद्ध किया और सिन्धु नदी के दक्षिण-तट पर (सिन्धोर्दक्षिणरोधसि) उन्हें पराजित किया।

(४) अपोलोडोरस—इस लेखक का कथन है कि यूनानियों ने सिकन्दर से भी अधिक लोगों को परास्त किया। विजय का अधिक श्रेय मीनेण्डर को और थोड़ा श्रेय डेमेट्रिअस को है। उन्होंने पैंटलीन (सिन्ध-डेल्टा), सेरास्टोज (सौराष्ट्र) एवं सिगर्डिस (सगरद्वीप-कच्छ) पर अधिकार कर लिया था।

(५) स्ट्रैबो—यह पहले के कथनों को विश्वसनीय नहीं समझता कि मीनेण्डर ने व्यास नदी पार की थी और वह Isamos (यमुना) तक पहुँचा था। कहीं-कहीं Isamos के स्थान पर Soamos (सोना) लिखा मिलता है।

उसके वर्णन से विदित होता है कि स्ट्रैबो के पूर्व कुछ लेखकों ने यह लिखा था कि मीनेण्डर ने व्यास नदी पार करके यमुना अथवा सोन तक आक्रमण किया था।

दूसरे स्थान पर वह लिखता है कि सिकन्दर के पश्चात् आने वाले यूनानियों ने गंगा और पाटलिपुत्र तक अभियान किया था।

(६) पेरीप्लस के लेखक का कथन है कि उसके समय (प्रथम शताब्दी) में बैरीगाजा (भँडौंच) में अपालोडोटस और मीनेण्डर की मुद्रायें प्रचलित थीं। उसने भड़ौंच में सिकन्दर के बनाये हुए शिविरों, मन्दिरों और प्राचीरों के अवशेष देखे थे।

(७) ट्रोगस—यह लेखक भारतीय विजय का श्रेय अपालोडोटस और मीनेण्डर दोनों को देता है।

(८) टालमी—यह लेखक कच्छ के समीप थिओफिला नामक नगर का उल्लेख करता है।

इन साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि—

(१) भारतवर्ष पर यवन-आक्रमण हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) उसे काफी सफलता मिली थी और उसके परिणाम-स्वरूप यूनानियों ने भारत के एक विशाल भू-प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

(३) यह यूनानी विजय उत्तरी भारत और पश्चिमी भारत दोनों में हुई थी।

परन्तु अनेक महत्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में ये साक्ष्य मौन अथवा अस्पष्ट हैं। उदाहरण के लिये इनसे यह स्पष्टतया प्रकट नहीं होता कि—

(१) यवन-आक्रमण एक हुआ था अथवा अनेक।

(२) इस आक्रमण के समय भारतवर्ष में कौन राजा राज्य कर रहा था।

(३) इस यवन-आक्रमण का नेता कौन था।

(४) इस आक्रमण का विरोध करने वाले भारतीय नरेश अथवा नरेशों को कहाँ तक सफलता मिली।

(५) मध्यदेश और पश्चिमी भारत यूनानी आधिपत्य से कैसे मुक्त हुआ।

(६) मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित सिन्धु नदी कहाँ है? इस स्थिति में समस्त विद्वानों का एक मत होना असम्भव है। अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। यहाँ हम कुछ प्रमुख मतों पर विचार करेंगे—

श्री एन० एन० घोष का मत

प्रयाग विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्राध्यापक श्री घोष ने यह मत प्रस्तुत किया था कि ये साक्ष्य एक नहीं वरन् दो यवन-आक्रमणों का उल्लेख करते हैं। दोनों आक्रमण पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन-काल में हुए थे—एक प्रारम्भिक चरण में और दूसरा अन्तिम चरण में। एक का नेता डेमेट्रिअस था और दूसरे का मीनेण्डर।

प्रथम आक्रमण—श्री घोष के मतानुसार १८४ ई० पू० में पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मारकर अपने राजवंश की स्थापना की। तभी डेमेट्रिअस ने भारत पर आक्रमण कर दिया और सम्पूर्ण उत्तरी भारत को रौंदता हुआ वह पाटलिपुत्र तक आ पहुँचा। पुष्यमित्र ने अतीव वीरता का परिचय देते हुए उसे परास्त किया और उत्तरी भारत को यूनानी आधिपत्य से मुक्त कराया।

इस आक्रमण में यूनानी हिन्दूकुश पार करके पाटलिपुत्र तक आ पहुँचे थे। अतः स्पष्ट है कि उस समय भारतीय नरेश की शक्ति बहुत कम और असंगठित थी। यह स्वाभाविक भी था। पुष्यमित्र ने हाल ही में मगध की क्रान्ति की थी। वह नया-नया राजा हुआ था और उसे अपने राज्य एवं सैन्य का संगठन करने का अभी अवसर न मिला था कि इसी बीच डेमेट्रिअस ने उस पर आक्रमण कर दिया था। अतः यूनानी आक्रमण की महान् सफलता को देखते हुए इसकी तिथि पुष्यमित्र के शासन-काल के प्रारम्भ में रखना स्वाभाविक है, जब वह नरेश अपेक्षाकृत निर्बल था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु अन्त में ब्राह्मण-नरेश सफल हुआ और उसने उत्तरी भारत से यूनानियों को खदेड़ दिया।

अपनी विजय के उपलक्ष्य में ब्राह्मण-नरेश ने अश्वमेध यज्ञ किया। पतंजलि इसी यज्ञ का उल्लेख अपने महाभाष्य में करते हैं।

द्वितीय आक्रमण—श्री घोष का मत है कि पुष्यमित्र के शासन के अन्तिम चरण में एक दूसरा यूनानी आक्रमण हुआ। मालविकाग्निमित्र में इसी दूसरे आक्रमण का वर्णन है। इसका नेता मीनेण्डर था।

परन्तु इस समय तक पुष्यमित्र बड़ा शक्तिशाली हो गया था। उसने अपनी शक्ति की घोषणा करते हुए एक दूसरा अश्वमेध यज्ञ किया था। उसका घोड़ा घूमते-घूमते सिन्धु नदी के तट पर पहुँच गया। वहाँ यवनों ने उसे पकड़ लिया। घोड़े की रक्षा पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र कर रहा था। उसने यवनों से युद्ध किया और उन्हें पराजित किया।

श्री घोष ने इस युद्ध को पुष्यमित्र के शासन-काल के अन्तिम चरण में रखा है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—

(१) यवन इस बार भारत के भीतरी प्रदेश में न घुस सके। इस आक्रमण के समय तक पुष्यमित्र ने अपनी शक्ति को संगठित कर लिया था और उसने सीमा पर ही यवनों को पराजित किया। यह संगठन और शक्ति-संवर्धन पुष्यमित्र के शासन-काल के अन्तिम भाग में ही सम्भव था, प्रारम्भ में नहीं।

(२) इस आक्रमण का सामना पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने किया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस आक्रमण के समय तक पुष्यमित्र प्रौढ़ावस्था को पार कर चुका होगा।

परन्तु श्री घोष के मत को स्वीकार करने में कुछ विशेष आपत्तियाँ प्रतीत होती हैं—

(१) किसी भी साक्ष्य से यह सिद्ध नहीं होता कि (प्रथम ?) यवन-आक्रमण पुष्यमित्र के शासन-काल में हुआ था। अब तक इस सम्बन्ध में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला है।

(अ) पतंजलि के महाभाष्य से यही निष्कर्ष निकलता है कि साकेत और मध्यमिका पर हुआ यवन-आक्रमण पतंजलि का 'दर्शन-विषय' था। वे यदि चाहते तो उसे देख सकते थे। यह आक्रमण उनके जीवन-काल में हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। वे बृहद्रथ के समकालीन भी हो सकते हैं। परन्तु ऐसा निश्चित रूप से ज्ञात नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ब) गार्गी संहिता मौर्य-सम्राट् शालिशूक के पश्चात् यवन-आक्रमण का उल्लेख करती है। यदि यह ठीक हो तो यह आक्रमण अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ के शासन-काल में हो सकता है।

(२) यदि (प्रथम ?) यवन-आक्रमण का नेता डेमेट्रिअस को माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह उत्तरी भारत में पाटलिपुत्र तक गया था। परन्तु कोई भी साक्ष्य यह सिद्ध नहीं करता कि वह कभी भी पंजाब की व्यास नदी के पूर्व में गया हो। उसकी कोई भी मुद्रा व्यास नदी के पूर्व में नहीं मिलती।

(३) मालविकाग्निमित्र के साक्ष्य पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उसमें उल्लिखित यवन-आक्रमण पुष्यमित्र के शासन-काल के अन्तिम भाग में हुआ था—

(अ) पुष्यमित्र का राज्य-विस्तार प्रारम्भ में ही सिन्धु नदी तक हो सकता था।

(ब) इस युद्ध के समय पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र की आयु लगभग २० वर्ष की रही होगी, क्योंकि मालविकाग्निमित्र में उसके लिये 'दारक' शब्द का प्रयोग हुआ है। उस समय उसके पिता अग्निमित्र की आयु लगभग ४० वर्ष की और पितामह पुष्यमित्र की आयु लगभग ६० वर्ष की होगी। पाटलिपुत्र का राजा होने के पूर्व पुष्यमित्र लगभग ३० वर्ष तक अवन्ति का गवर्नर रहा था। अतः वह लगभग ६० वर्ष की आयु में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा होगा। इस प्रकार मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित यवन-आक्रमण उसके शासन-काल के प्रारम्भ में भी रखा जा सकता है।

(४) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पुष्यमित्र ने अपना प्रथम अश्वमेध यज्ञ यवनों के विरुद्ध अपनी विजय के उपलक्ष्य में किया हो। बहुत सम्भव है कि वह यज्ञ मगध-क्रान्ति की सफलता के परिणामस्वरूप स्थापित ब्राह्मण-राज्य की घोषणा करते हुए किया गया।

टार्न महोदय का मत

टार्न महोदय ने समस्त साक्ष्यों पर विचार करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं—

(१) सारे साक्ष्य एक ही यवन-आक्रमण का उल्लेख करते है।

(२) यह आक्रमण पुष्यमित्र के शासन-काल में हुआ था।

(३) इसका नेता डेमेट्रिअस था। परन्तु वह अपने साथ अपने भाई अपालोडोटस और अपने सेनापति मीनेण्डर को लाया था।

(४) डेमेट्रिअस पंजाब में रहा, अपालोडोटस पश्चिमी भारत की विजय के लिये भेजा गया और मीनेण्डर पूर्वी भारत की विजय के लिये।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५) पंजाब-विजय के पश्चात् जब मीनेण्डर मध्य देश पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था तभी मगध की क्रान्ति हुई थी। उसके परिणामस्वरूप पुष्यमित्र को सिंहासन प्राप्त हुआ था। उसने ब्राह्मण-राज्य की घोषणा करते हुए अश्वमेध यज्ञ किया था। मालविकाग्निमित्र में इसी यज्ञ का उल्लेख है। यज्ञ का घोड़ा घूमते-घूमते सिन्धु नदी के तट पर पहुँच गया। वहाँ यूनानियों और वसुमित्र के बीच युद्ध हुआ जिसमें यूनानियों की पराजय हुई।

इस प्रारम्भिक पराजय के पश्चात् मीनेण्डर ने पूरी तैयारी की और उत्तरी भारत पर पुनः आक्रमण किया। इस बार उसे भारी सफलता मिली और वह पाटलिपुत्र तक पहुँच गया।

(६) जस्टिन के आधार पर टार्न कहते हैं कि जिस समय पाटलिपुत्र का घेरा चल रहा था उसी समय डेमेट्रिअस को सूचना मिली कि उसके गृह-राज्य बैक्ट्रिया पर एक अन्य यूनानी सरदार यूक्रेटाइडीज ने आक्रमण कर दिया है। डेमेट्रिअस ने पाटलिपुत्र का घेरा उठाने की आज्ञा दी। मीनेण्डर पाटलिपुत्र से मथुरा आ गया और डेमेट्रिअस बैक्ट्रिआ चला गया। पुष्यमित्र ने डेमेट्रिअस की इस आपदा से पूरा लाभ उठाया और उसने पाटलिपुत्र से मथुरा तक के प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया। गार्गी संहिता भी इस कथन की पुष्टि करती है। टार्न के मतानुसार इस ग्रन्थ का कथन है कि गृह-युद्ध के कारण यवन मध्यदेश में ठहर नहीं सकेंगे।

परन्तु टार्न महोदय के मत में अनेक त्रुटियाँ हैं—

(१) पहले कहा जा चुका है कि यह स्पष्ट नहीं है कि यूनानियों का सर्वप्रथम आक्रमण पुष्यमित्र के शासन-काल में हुआ था। वह बृहद्रथ के शासन-काल में भी माना जा सकता है।

(२) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अपालोडोटस और मीनेण्डर की भारत-विजय डेमेट्रिअस के नेतृत्व में हुई थी। यदि ऐसा होता तो यूनानी-रोमन लेखक इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख करते। यह भी सम्भव नहीं कि ये दोनों डेमेट्रिअस के समकालीन थे।

(३) पंजाब, पश्चिमी भारत और पूर्वी भारत की विजयें एक ही आक्रमण के परिणाम-स्वरूप हुई थीं, यह सन्देहपूर्ण है। यूनानी-रोमन साक्ष्य भारत-विजय का श्रेय डेमेट्रिअस, अपालोडोटस और मीनेण्डर को स्वतन्त्ररूप से देते हुए प्रतीत होते हैं। अतः अनुमान किया जा सकता है कि भारत पर यूनानी आक्रमण एक नहीं वरन् अनेक हुए थे और प्रत्येक का नेता अलग-अलग था।

(४) गार्गी संहिता शालिशूक के पश्चात् ही यवन-आक्रमण का वर्णन करती है। अतः इस ग्रन्थ में वर्णित आक्रमण सम्भवतः मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ के शासन-काल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ होगा।[1] फिर मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित पुष्यमित्र के शासन-काल का आक्रमण सर्वप्रथम आक्रमण कैसे हो सकता है ?

सम्भावना—(१) जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनके विवरण इतने भिन्न-भिन्न हैं कि उनके आधार पर केवल एक यवन-आक्रमण की कल्पना करना अस्वाभाविक है। उनसे तो यही ध्वनित होता है कि यवन-आक्रमणों की संख्या दो अथवा अधिक थी।

(२) सर्वप्रथम आक्रमण बृहद्रथ के शासन-काल में और अन्य पुष्यमित्र के शासन-काल या उसके बाद में हुए होंगे।

(३) गार्गी संहिता से प्रकट होता है कि प्रारम्भ में यवनों को साकेत में सफलता मिली और उन्होंने सम्भवतः पंचाल तथा मथुरा के तत्कालीन शासकों का सहयोग प्राप्त कर लिया। परन्तु पाटलिपुत्र पहुँचने के बाद इन शासकों तथा यवनों के बीच झगड़े उठ खड़े हुए। साथ ही यवनों में आपसी गृह-युद्ध भी पुष्यमित्र ने इस परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया और मध्यदेश पर पुनः अधिकार कर लिया। अधिकांश विद्वानों ने यूनानियों के गृह-युद्ध की तिथि १७१ ई० पू० के लगभग रखी है। अतः इसी समय तक मध्यदेश यूनानी आधिपत्य से मुक्त हुआ होगा। इस प्रकार १८५ ई० पू० से लेकर १७१ ई० पू० तक का काल यूनानी आक्रमणों का काल था। इस बीच किस ग्रन्थ का आक्रमण पहले रखा जाय और किसका बाद में, ये केवल अनुमान और सम्भावना की बातें हैं, निश्चित साक्ष्य की नहीं।

(४) रैप्सन के मतानुसार मीनेण्डर और यूक्रेटाइडीज की वर्गाकार ताम्र-मुद्रायें इतनी समान हैं कि वे एक ही काल और क्षेत्र में रखी जा सकती हैं[2]। अतः दोनों को समकालीन माना जा सकता है।

---

१. "At first he (Pusyamitra) led the Maurya armies against the Greeks, who advanced year after year to the very heart of the Maurya empire. After a successful campaign he returned to Pataliputra with his victorious army, and the feeble representative of Asoka on the throne accorded him a fitting reception. A camp was formed outside the city and a review was held of a large army. In the midst of the festivities an arrow struck the king on the forehead. The king expired instantly."

—H. P. Sastri, JASB, 1910, p. 261.

हम नहीं जानते कि शास्त्री जी को यह सारा विवरण कहाँ से प्राप्त हुआ है। परन्तु इतना सम्भव है कि यवन-आक्रमण बृहद्रथ के शासन-काल में हुआ हो।

२. "......are so similar in style that they may reasonably be assigned not only to the same general period, but also to the same region—a region which must have passed from one rule to the other."

—CHI, p. 551.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जस्टिन के विवरण से प्रकट होता है कि डेमेट्रिअस यूक्रेटाइडीज का समकालीन था, अतः वह मीनेण्डर का भी समकालीन हुआ। पर यह डेमेट्रिअस द्वितीय हो सकता है।

यह मत कि यूक्रेटाइडीज ने अपोलोडोटस की मुद्राओं को पुनः अंकित करके अपने नाम से चलाया था युक्ति संगत नहीं। अपोलोडोटस को डेमेट्रिअस और मीनेण्डर का समकालीन नहीं कहा जा सकता।

डेमेट्रिअस, अपोलोडोटस और मीनेण्डर तीनों एक ही वंश—यूथीडेमस-वंश—के राजकुमार हो सकते हैं। परन्तु उनके शासन-काल में अन्तर है। इनमें अपोलोडोटस की पश्चिमी भारत-विजय और मीनेण्डर की मध्य-देश-विजय को स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु वे एक ही आक्रमण अथवा एक ही नेता के अन्तर्गत की गई थीं, यह कहना ठीक नहीं है। इतना अवश्य है कि तीनों राजकुमारों में से मीनेण्डर ने सबसे अधिक विजयें कीं और केवल उसी के समय यवन-सेना पाटलिपुत्र तक पहुँच सकी।

संक्षेपिका—इस विषय पर विद्वानों के मतों का सार यह है—

(१) भण्डारकर, रायचौधरी और जायसवाल—यूनानी आक्रमण एक हुआ और उसका नेता डेमेट्रिअस था।

(२) रैप्सन और स्मिथ—यूनानी आक्रमण एक हुआ, परन्तु उसका नेता मीनेण्डर था।

(३) टार्न—यूनानी आक्रमण एक हुआ। उसका नेता डेमेट्रिअस था। वह अपने साथ अपने भाई अपोलोडोटस और अपने सेनापति मीनेण्डर को भी लाया था। डेमेट्रिअस स्वयं पंजाब में रहा। उसके भाई अपोलोडोटस ने पश्चिमी भारत की विजय की और उसके सेनापति मीनेण्डर ने मध्यदेश की।

(४) एन० एन० घोष—यूनानी आक्रमण दो हुए। 'महाभाष्य' और 'गार्गी संहिता' में प्रथम आक्रमण का उल्लेख है। इसका नेता डेमेट्रिअस था। 'मालविकाग्निमित्र' में द्वितीय आक्रमण का उल्लेख है। इसका नेता मीनेण्डर था।

परन्तु तथ्य ये हैं कि डेमेट्रिअस प्रथम ने भारत पर कोई आक्रमण नहीं किया, मीनेण्डर और अपोलोडोटस उसके समकालीन नहीं थे थे तथा भारत पर प्रमुख यवन आक्रमण मीनेण्डर के समय में हुआ।

सिन्धु नदी का समीकरण—मालविकाग्निमित्र का कथन है कि पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने यवन-सेना को सिन्धु नदी के दक्षिण-तट (सिन्धोर्दक्षिणरोधसि) पर पराजित किया था। परन्तु इस सिन्धु नदी के समीकरण के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कनिंघम, स्टेन कोनो, स्मिथ, एन० एन० घोष आदि विद्वान् इसे पंजाब की सिन्धु नहीं मानते। उनका मत है कि सिन्धु का समीकरण दो अन्य नदियों से किया जा सकता है—

(१) काली सिन्धु—जो चम्बल की सहायक नदी है और मध्यमिका (चित्तौड़ के पास) से लगभग १०० मील की दूरी पर है। यवनों ने मध्यमिका का घेरा डाला था। अतः उसी के समीप सिन्धु को मानना अधिक न्यायसंगत है।

अथवा

(२) सिन्ध—जो यमुना की सहायक नदी है। यवनों ने मथुरा पर आक्रमण किया होगा। अतः यवनों और वसुमित्र का युद्ध मथुरा की समीपवर्तिनी इसी नदी पर हुआ होगा।

अपने मत के पक्ष में ये विद्वान् निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) यूनानियों ने पंजाब से लेकर मथुरा तक अपना राज्य-विस्तार कर लिया था। अतः उनके राज्य की सीमा पर बहने वाली सिन्धु (यमुना की सहायक) नदी के किनारे ही उनके साथ वसुमित्र का युद्ध हुआ होगा।

(२) पुष्यमित्र विदिशा का राजा था। पंजाब की सिन्धु की अपेक्षा काली सिन्धु अथवा यमुना की सहायक सिन्धु विदिशा से अधिक समीप है।

(३) पंजाब की सिन्धु का दक्षिणी तट नहीं है। यहाँ ये बातें विचारणीय हैं—

(१) किसी भी साक्ष्य से यह सिद्ध नहीं होता कि पुष्यमित्र के सम्पूर्ण शासन-काल में यूनानियां का अधिकार मथुरा तक के प्रदेश पर था। यदि कुछ समय के लिये पुष्यमित्र का राज्य पंजाब की सिन्धु तक विस्तृत रहा हो, तो इसमें सन्देह नहीं।

(२) पुष्यमित्र विदिशा के साथ-साथ मगध का भी राजा था और मगध-राज्य की पश्चिमी सीमा किसी समय पंजाब की सिन्धु थी।

(३) यदि पंजाब की सिन्धु का दक्षिणी तट नहीं है तो काली सिन्धु तथा यमुना की सहायक सिन्धु का भी दक्षिणी तट नहीं है।

(४) इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि २,००० वर्ष पूर्व दक्षिण पंजाब की सिन्धु नदी में कहीं पर कोई दक्षिणी मोड़ रहा हो।

(५) यह भी सम्भव है कि 'दक्षिणी तट' से कालिदास का तात्पर्य दाहिने तट (right bank) से रहा हो, न कि दक्षिण दिशा वाले तट (southern bank) से।

मध्यमिका पर यवनों मा आक्रमण संभवत मीनेण्डर के समय में हुआ। इस बात को देखते हुए यह सभी चीन प्रतीत होता है कि कालिदास की सिन्धु काली सिंध है।

मालविकाग्निमित्र से प्रकट होता है कि विदिशा में स्थित अग्निमित्र को सिन्धु नदी के तट पर यवनों की पराजय का ज्ञान न था। उसे तो पुष्यमित्र के पत्र से अपने पुत्र की विजय का पता चला था। परन्तु इससे यह अनुमान नहीं किया जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है कि सिन्धु नदी विदिशा से काफी दूर रही होगी और वह पंजाब की सिन्धु होगी, विदिशा की समीपवर्तिनी उपर्युक्त दो नदियाँ नहीं।

दो अश्वमेध—अशोक की अहिंसावादी बौद्ध नीति ने ब्राह्मणों के यज्ञों को समाप्त कर दिया था। सम्भवतः उसकी इस नीति के विरुद्ध ब्राह्मणों में भारी असन्तोष फैला और उन्होंने पुष्यमित्र शुङ्ग के नेतृत्व में मौर्य-वंश का अन्त करने के लिये मगध-क्रान्ति का आयोजन किया था। पुष्यमित्र इसी ब्राह्मण-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप राजा हुआ था। अतः उसके लिये नितान्त स्वाभाविक था कि वह ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार की चेष्टा करता। इसी से हम देखते हैं कि उसने अपने शासन-काल में दो अश्वमेध यज्ञ किये।

(१) धनदेव का अयोध्या अभिलेख उसके द्वारा किये गये दो अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख करता है—

द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य।

(२) मालविकाग्निमित्र पुष्यमित्र के एक यज्ञ का उल्लेख करता है। अनेक विद्वानों के मतानुसार यह यज्ञ पुष्यमित्र का सर्वप्रथम यज्ञ था। इसे उसने बृहद्रथ की हत्या के पश्चात् अपने ब्राह्मण राज्य की घोषणा करते हुए किया था।

(३) पतंजलि अपने महाभाष्य में लट् लकार (present indefinite tense) को समझाते हैं। लट् लकार का प्रयोग उस घटना को प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है जो प्रारम्भ हो गई हो परन्तु समाप्त न हुई हो।[1] इसे समझाने के लिये वे उदाहरण देते हैं—

"इह पुष्यमित्रं याजयामः।"

अर्थात्

यहाँ हम पुष्यमित्र के लिये यज्ञ कर रहे हैं।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि पुष्यमित्र ने एक अश्वमेध यज्ञ किया था। उसमें स्वयं पतंजलि राजपुरोहित थे। जिस समय पतंजलि ने उसका उल्लेख किया है उस समय वह यज्ञ प्रारम्भ हो गया था परन्तु समाप्त नहीं हुआ था।

यहाँ यह महत्व की बात है कि पतंजलि ने यवन-आक्रमण को भूतकाल की घटना बताया है और अश्वमेध को वर्तमान काल की। इससे स्पष्ट है कि यह अश्वमेध यवन-आक्रमण के पश्चात् हुआ। अनेक विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र ने यह यज्ञ यवनों से पाटलिपुत्र का उद्धार कराने के पश्चात् अपनी विजय के उपलक्ष्य में किया था।

---

१. "प्रारब्धो अपरिसमाप्तश्च वर्तमानः।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) डा० जायसवाल ने हरिवंश के एक श्लोक की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसमें कहा गया है कि एक औद्भिज्ज, काश्यप ब्राह्मण सेनानी कलियुग में अश्वमेध का उद्धार करेगा।[1] डा० जायसवाल का मत है कि यह ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र था।

शातकर्णि प्रथम—रैप्सन महोदय का मत था कि सातवाहन-नरेश शातकर्णि प्रथम ने पुष्यमित्र से अवन्ति का प्रदेश छीन लिया था। अपने मत की पुष्टि में रैप्सन कुछ सातवाहन मुद्राओं को प्रस्तुत करते हैं, जो 'मालव शैली' की हैं और जिन पर 'सात' लिखा हुआ है।

परन्तु अधिकांश विद्वान् निम्नलिखित तर्कों के आधार पर रैप्सन के मत को अस्वीकार करते हैं—

(१) मेरुतुङ्ग की 'स्थविरावली' में पुष्यमित्र को अवन्ति में ३० वर्ष तक शासन करते हुए दिखाया गया है। परन्तु उसमें कहीं भी पुष्यमित्र की पराजय का उल्लेख नहीं है।

(२) उक्त शातकर्णि खारवेल का समकालीन हो सकता है, परन्तु पुष्यमित्र शुङ्ग का नहीं। संभवत: पुष्यमित्र शुङ्ग सातवाहन वंश के इस शातकर्णि से पूर्व ही मर चुका था।

अत: यदि शातकर्णि प्रथम ने अवन्ति जीता भी होगा तो पुष्यमित्र शुङ्ग से नहीं।

खारवेल—हाथीगुम्फा अभिलेख कलिङ्ग के प्रसिद्ध राजा खारवेल की कृतियों का उल्लेख करता है। इस अभिलेख का कथन है कि खारवेल ने अपने शासन के १२वें वर्ष उत्तरी भारत पर आक्रमण किया था और मगध के राजा बृहस्पतिमित्र (मागधं च राजानं बहसतिमितं) को पराजित किया था।

डा० जायसवाल ने बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र माना है। उनका कथन है कि ज्योतिष शास्त्र में बृहस्पति को पुष्य (zodiacal asterism) का नक्षत्राधिपति माना जाता है। अत: बृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र को पर्यायवाची समझना चाहिए।

परन्तु डा० जायसवाल का मत नितान्त काल्पनिक है—

(१) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पुष्यमित्र का नाम बृहस्पतिमित्र भी था।

(२) 'दिव्यावदान' पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र को पृथक्-पृथक् व्यक्ति बताता है। पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जब कि बृहस्पतिमित्र की राजधानी राजगृह बताई गई है।

---

१. "औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी काश्यपो द्विज:।
अश्वमेधं तु कलियुगे पुन: प्रत्याहरिष्यति।"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) पभोसा अभिलेख में एक बृहस्पतिमित्र का उल्लेख है। परन्तु उसमें उसे 'राजा' कहा गया है। पुष्यमित्र के लिये कहीं भी इस उपाधि का प्रयोग नहीं होता। वह सदैव सेनानी अथवा सेनापति ही कहा जाता था। पुनः, पभोसा अभिलेख के बृहस्पतिमित्र का काल पुष्यमित्र के काल से काफी बाद का है।

(४) बृहस्पतिमित्र नामक राजा की बहुत सी मुद्रायें कोसम में मिली हैं। परन्तु उसकी मुद्रायें मगध अथवा विदिशा में नहीं पाई जातीं। इससे स्पष्ट है कि यह बृहस्पतिमित्र पुष्यमित्र न था।

(५) अधिकांश विद्वान् खारवेल को ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखते हैं जबकि पुष्यमित्र का काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी था। अतः खारवेल पुष्यमित्र का समकालीन नहीं हो सकता।

ऐसी परिस्थिति में हाथीगुम्फा में उल्लिखित बृहस्पतिमित्र पुष्यमित्र नहीं, वरन् कोई अन्य व्यक्ति था। डा० बरुआ का मत है कि यह बृहस्पतिमित्र गया प्रदेश (मगध) के राजा ब्रह्ममित्र का उत्तराधिकारी था। बोधगया-वेदिका में प्राप्त एक लेख पर ब्रह्ममित्र का नाम मिलता है। कौशांबी के राजा ब्रह्ममित्र का एक सिक्का कोसम से मिला है।

स्मिथ का मत था कि खारवेल ने दो बार मगध-नरेश पुष्यमित्र पर आक्रमण किया था। पहले आक्रमण में वह पाटलिपुत्र तक पहुँच गया। पुष्यमित्र को अपनी राजधानी छोड़कर मथुरा भागना पड़ा। खारवेल ने उसका पीछा करना लाभकर न समझा और वह कलिंग वापस चला गया।

दूसरे आक्रमण में खारवेल ने अपने हाथियों की सहायता से गंगा नदी पार करके पुनः पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। इस बार पुष्यमित्र पराजित हुआ और उसे खारवेल से सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी। विजेता के हाथ मगध की प्रभूत सम्पत्ति लगी।

परन्तु अब सभी विद्वान् स्मिथ के मत को अस्वीकार करते हैं। हाथीगुम्फा अभिलेख में कहीं भी पुष्यमित्र का नाम नहीं है। पुनः खारवेल पुष्यमित्र के लगभग १२५ वर्ष पश्चात् हुआ था।

राज्य-विस्तार—अपनी उन्नति की पराकाष्ठा के समय पुष्यमित्र का राज्य विस्तृत था। निम्नलिखित साक्ष्यों के आधार पर अनुमान किया गया है कि किसी समय पंजाब और राजस्थान के भाग उसके अधीन थे :—

(१) मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि किसी समय उसका साम्राज्य सिन्धु नदी तक विस्तृत था।

(२) दिव्यावदान से विदित होता है कि उसने साकल में जाकर यह घोषणा की थी कि 'जो मुझे श्रमण का शीश देगा उसे मैं १०० दीनार दूँगा।' इस घोषणा में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्य भले ही न हो, परन्तु इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय साकल (स्यालकोट) पुष्यमित्र के अधीन था।

(३) तारानाथ का कथन है कि पुष्यमित्र ने मध्यदेश से लेकर जालंधर तक बौद्ध विहारों का नाश किया था। इस कथन को यदि ठीक मानें तो पुष्यमित्र का पंजाब पर अधिकार सिद्ध होता है।

(४) 'आर्यमंजु श्रीमूलकल्प' का कथन है कि गोमिमुख्य (गौल्मिक-मुख्य = सेनापति = पुष्यमित्र) ने पूर्व दिशा से लेकर काश्मीर की सीमा तक बौद्ध भिक्षुओं और विहारों का नाश किया था। इस कथन से भी पुष्यमित्र के राज्य की पश्चिमी सीमा पंजाब प्रतीत होती है।

कतिपय विद्वानों का कथन है कि यवन-आक्रमण के पश्चात् पंजाब और मथुरा के बीच के प्रदेश पर कुछ समय तक मीनेण्डर का अधिकार हो गया था और तब मथुरा ही पुष्यमित्र के राज्य की पश्चिमी सीमा थी। परन्तु मथुरा से मीनेण्डर के आधिपत्य-सूचक प्रमाण नहीं मिले हैं।

सभी साक्ष्य पूर्व में पाटलिपुत्र को पुष्यमित्र की राजधानी बताते हैं। दिव्यावदान का कथन है कि पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार कुक्कुटाराम को नष्ट करने की असफल चेष्टा की थी। पाटलिपुत्र के साथ-साथ कदाचित् सम्पूर्ण मगध पुष्यमित्र के अधीन था।

तारानाथ मध्यदेश को पुष्यमित्र के साम्राज्य के अन्तर्गत बताता है। यूनानी आक्रमण के पश्चात् कम से कम पाटलिपुत्र से लेकर मथुरा तक का उत्तरी भारत पुष्यमित्र के अधीन माना जा सकता है।

दक्षिण-पूर्व में कलिंग का राज्य निश्चित रूप से शुङ्ग राज्य के बाहर था। अतः पुष्यमित्र के राज्य की सीमा दक्षिण-पूर्व में कलिङ्ग राज्य की सीमा से टकराती थी।

मालविकाग्निमित्र के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि दक्षिण में पुष्यमित्र का राज्य वरदा (वर्धा) नदी तक विस्तृत था।

मेरुतुंग की 'स्थविरावली' से प्रकट होता है कि दक्षिण-पश्चिम में अवन्ति का राज्य पुष्यमित्र के अधीन था।

राज्य के प्रान्त—पुष्यमित्र ने अपने विशाल राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर रखा था। प्रत्येक प्रान्त में उसने अपना एक गवर्नर (गोप्ता) नियुक्त कर रखा था—

(१) पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र के ८ पुत्र थे। ये सब भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य करते थे।[1]

(२) 'मालविकाग्निमित्र' स्पष्टरूप से पुष्यमित्र के एक पुत्र अग्निमित्र को विदिशा का गवर्नर बताता है।

---

१. "पुष्यमित्र सुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) अयोध्या-अभिलेख में पुष्यमित्र के एक दूसरे गवर्नर धनदेव का उल्लेख हुआ है। इसके सिपुर्द कोशल प्रान्त था।

क्या पुष्यमित्र बौद्धद्रोही था ?

साक्ष्य—अनेक विद्वान् पुष्यमित्र शुङ्ग को बौद्धद्रोही मानते हैं। वे अपने मत के पक्ष में निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं—

(१) तत्कालीन परिस्थिति—पुष्यमित्र शुङ्ग जिस परिस्थिति में राजा हुआ था उसमें उसके लिये बौद्धों का दमन करना नितान्त स्वाभाविक था। मौर्यों की अब्राह्मण-नीति ने और विशेषतया अशोक की बौद्ध-नीति ने ब्राह्मणों में घोर असन्तोष उत्पन्न किया था। उन्होंने सेनापति पुष्यमित्र के नेतृत्व में देश के विरोधी तत्वों को संगठित किया और अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ के विरुद्ध क्रान्ति की। बृहद्रथ मारा गया और ब्राह्मण-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र राजा बना।

ब्राह्मण-प्रतिक्रिया को सन्तुष्ट करने के लिये पुष्यमित्र शुङ्ग ने ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण-धर्म, ब्राह्मण-साहित्य और ब्राह्मण-संस्कृति को सर्वोच्च स्थान देने का प्रयत्न किया। इसी सम्बन्ध में यदि उसने ब्राह्मण-धर्म-विरोधी बौद्धों का दमन किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) दिव्यावदान—इस ग्रन्थ के अनुसार पुष्यमित्र ने अशोक द्वारा निर्मित ८४,००० स्तूपों का विनाश करने की चेष्टा की। वह अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में स्थित बौद्ध विहार कुक्कुटाराम को नष्ट करने के लिये भी गया। परन्तु उस विहार के भीतर से भीषण सिंहनाद हुआ, जिससे डर कर वह वापस चला गया।

अब उसने पश्चिम की ओर ध्यान दिया और वहाँ के बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध विहारों का विनाश किया। इस प्रकार के विनाश-कार्य करता हुआ वह साकल पहुँचा और वहाँ पर उसने घोषणा की कि—'यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि', अर्थात् 'जो मुझे बौद्ध भिक्षु का सिर देगा उसे मैं १०० दीनार दूँगा।'

अन्त में उसे क्रमिश नामक एक यक्ष ने मार डाला।

(३) आर्यमंजुश्रीमूलकल्प—इस ग्रन्थ का कथन है कि कलियुग में गोमिमुख्य नामक राजा होगा। वह बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु होगा। पूर्व से कश्मीर की सीमा तक वह दुष्ट बौद्ध भिक्षुओं और विहारों का नाश करेगा। अन्त में वह एक यक्ष के द्वारा मारा जाएगा और अपने बन्धु-बान्धवों के साथ पाताल में जाएगा।

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प मौर्यों के तत्काल पश्चात् गोमिमुख्य का उल्लेख करता है। अतः अनेक विद्वान् इसका अभिज्ञान पुष्यमित्र के साथ करते हैं। पी० सी० बागची का मत है कि गोमिमुख्य का संस्कृत रूपान्तर गौल्मिकमुख्य (सेनापति) होगा।[1] अतः इससे पुष्यमित्र का ही बोध होता है।

१, I. H. Q. 1943.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) तारानाथ—इस लेखक का कथन है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण था और उसने मध्यदेश से जालन्धर तक बौद्ध भिक्षुओं और विहारों का विनाश किया था।

खण्डन · परन्तु इन साक्ष्यों पर विश्वास नहीं किया जा सकता—

(१) तत्कालीन परिस्थिति में भी यह आवश्यक न था कि पुष्यमित्र बौद्धों का विनाश करता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह ब्राह्मणधर्मावलम्बी था और उसने ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण धर्म, ब्राह्मण-साहित्य और ब्राह्मण-संस्कृति के पुनरुद्धार की चेष्टा की थी। परन्तु यही सब कार्य गुप्त-सम्राटों ने भी किये थे। फिर क्या वे भी बौद्ध-द्रोही थे ? पुष्यमित्र का ब्राह्मण धर्मावलम्बी होना उसके बौद्ध-द्रोह को सिद्ध नहीं कर सकता।

(२) (अ) दिव्यावदान बहुत बाद की रचना है। (ब) पुष्यमित्र के विषय में इसका ज्ञान कैसा था, इसका अनुमान इसी आधार पर किया जा सकता है कि यह उसे मौर्य बताता है। (स) पुन: इसका विवरण गल्पमात्र है। कुक्कुटाराम में सिंहनाद तथा यक्ष द्वारा पुष्यमित्र की हत्या आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनपर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। (द) इसी प्रकार यद्यपि 'दीनार' नामक मुद्रा पुष्यमित्र शुङ्ग के काल में भारत में प्रचलित न थी फिर भी दिव्यावदान पुष्यमित्र द्वारा की गई घोषणा में इसका उल्लेख करता है।

(३) (अ) आर्यमंजुश्रीमूलकल्प भी बाद की रचना है। (ख) पुन: इसमें अनेक प्रकार के अनैतिहासिक एवं कल्पित बातें भरी पड़ी हैं (स) 'गुल्ममुख्य' के विषय में इसमें जो विवरण है वह भी अनेक अंशों में अविश्वसनीय है।

(४) तारानाथ न केवल बाद का वरन् विदेशी लेखक भी है। अत: पुष्यमित्र के सम्बन्ध में इसका जो कथन है उसपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

उक्त सभी साक्ष्य एकमात्र बौद्ध हैं

उपर्युक्त साक्ष्यों के विषय में यह महत्वपूर्ण बात है कि वे सब बौद्ध हैं। किसी अन्य धर्म-ग्रन्थ अथवा स्वतन्त्र साक्ष्य में पुष्यमित्र को बौद्धद्रोही नहीं कहा गया है। इससे यह शंका होती है कि कहीं बौद्धों ने जानबूझ कर पुष्यमित्र को बदनाम करने की चेष्टा न की हो। इसका कारण भी था। पुष्यमित्र स्वयं ब्राह्मण-धर्मावलम्वी था। उसके नेतृत्व में बौद्ध धर्म के स्थान पर ब्राह्मण-धर्म की स्थापना हुई थी। उसने बौद्धों की अहिंसात्मक नीति का विरोध करते हुए यज्ञों की पुन: प्रतिष्ठा की थी। उसने बौद्धों की मान्यताओं की उपेक्षा करते हुए पुन: वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर समाज का संगठन करने का प्रयत्न किया था। अत: स्वाभाविक था कि इन सब कार्यों से बौद्ध उसके घोर विरोधी होते। ऐसी परिस्थिति में यदि उन्होंने पुष्यमित्र के ब्राह्मण-धर्मोन्नयन के कार्यों को बढ़-चढ़ा कर बौद्ध-विरोधी अथवा बौद्ध-विनाशक कार्यों के रूप में चित्रित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जो भी हो, एकमात्र बौद्ध साक्ष्यों के आधार पर हम पुष्यमित्र को बौद्धहन्ता अथवा बौद्धद्रोही नहीं मान सकते।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य साक्ष्य—कुछ विद्वानों ने तक्षशिला के बौद्ध विहारों और साँची के प्रसिद्ध स्तूप की टूट-फूट को देखकर यह अनुमान किया कि यह स्थिति पुष्यमित्र के बौद्ध-विरोधी ध्वंसात्मक कार्यों के परिणामस्वरूप हुई होगी। परन्तु यह मत नितान्त सन्देहपूर्ण है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन बौद्ध इमारतों में जो क्षति हुई है वह पुष्यमित्र के समय में ही हुई थी और इसका कारण पुष्यमित्र के ध्वंसात्मक कार्य थे।

इसके विपरीत पुष्यमित्र की धार्मिक सहिष्णुता के कुछ प्रमाण प्राप्त होते हैं—

(१) स्वयं दिव्यावदान का कथन है कि पुष्यमित्र ने कुछ बौद्ध मन्त्रियों की नियुक्ति की थी।

(२) मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था। उसकी राजसभा में भगवती कौशिकी नामक एक स्त्री रहती थी। कुछ विद्वानों के अनुसार यह बौद्ध थी।

(३) शुङ्ग-काल में ही भरहुत, बोधगया और साँची के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूपों का परिवर्धन और नवीनीकरण कराया गया था। इसी काल में भरहुत-स्तूप के प्राचीर पर 'सुगनं रजे' ('शुङ्गानां राज्ये' अर्थात् शुङ्गों के राज्य में निर्मित) लिखा मिला है। यह सम्भव है कि यह लेख पुष्यमित्र के किसी उत्तराधिकारी के शासन-काल में उत्कीर्ण कराया गया हो, परन्तु इससे शुङ्ग-काल की सहिष्णु भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। यह अनुमान करना कुछ अस्वाभाविक है कि पुष्यमित्र तो कट्टर बौद्ध-द्रोही और क्रूर बौद्धहन्ता था और उसके अन्य उत्तराधिकारी बौद्धों के प्रति नितान्त सहिष्णु थे। पुष्यमित्र के किसी भी उत्तराधिकारी में इतनी क्षमता न थी कि वह नवीन एवं मौलिक राजनीति की स्थापना करता। उन्होंने पुष्यमित्र द्वारा प्रतिपादित नीति का ही अनुकरण किया होगा।

अतः यह कथन असंगत न होगा कि पुष्यमित्र शुङ्ग ब्राह्मण धर्मावलम्बी होते हुए भी बौद्ध एवं अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था।

पुष्यमित्र की शासनावधि—चन्द्रगुप्त मौर्य ३२२ ई० पू० में राजा हुआ था। पुराणों के अनुसार उसके वंश ने कुल मिलाकर १३७ वर्ष तक शासन किया था। अतः अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ की मृत्यु ३२२–१३७ = १८५ ई० पू० हुई होगी। यही पुष्यमित्र के सिंहासनारोहण की तिथि आती है।

मत्स्यपुराण के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष तक शासन किया था। अतः उसकी मृत्यु १८५–३६ = १४९ ई० पू० के लगभग हुई होगी।

अन्य पुराण—वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण ने पुष्यमित्र का शासन-काल ६० वर्ष का बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्रथ के निर्बल शासन-काल में ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुष्यमित्र अवन्ति में प्रायः स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य कर रहा था। राजा होने के पूर्व कदाचित् २५–३० वर्ष तक वह अवन्ति में गवर्नर रहा होगा। वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण ने सम्भवतः उसके इस काल को भी उसके राजत्व-काल में जोड़ लिया है। इसी से उसकी शासनावधि ३६ वर्ष से बढ़कर ६० वर्ष हो गई।

मेरुतुङ्ग—जैन लेखक मेरुतुङ्ग की 'स्थविरावली' से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। मेरुतुङ्ग ने मौर्यों के सम्पूर्ण शासन-काल को १३७ वर्ष का नहीं वरन् १०८ वर्ष का बताया है। यहाँ भी वही लगभग ३० वर्ष का अन्तर पड़ता है।

मेरुतुङ्ग ने अवन्ति का इतिहास लिखा है। वृहद्रथ के जीवन-काल में या पहले अवन्ति प्रायः स्वतन्त्र हो गया था। वहाँ पुष्यमित्र शुङ्ग लगभग ३० वर्षों से एक स्वतन्त्र-प्राय राजा के रूप में शासन कर रहा था। अतः अवन्ति को दृष्टिकोण में रखते हुए मेरुतुङ्ग ने मौर्यों के शासन-काल से ये ३० वर्ष घटा दिये हैं।

पुष्यमित्र शुङ्ग के उत्तराधिकारी—पुराणों में पुष्यमित्र के उत्तराधिकारियों और उनके शासन-काल की सूची निम्नलिखित रूप में मिलती है—

(१) अग्निमित्र	८ वर्ष
(२) वसुज्येष्ठ (सुज्येष्ठ)	७ वर्ष
(३) वसुमित्र (सुमित्र)	१० वर्ष
(४) ओद्रक (आर्द्रक, भद्रक)	२ वर्ष
(५) पुलिण्दक	३ वर्ष
(६) घोष या घोषवसु	३ वर्ष
(७) वज्रमित्र	१७ वर्ष अथवा ६ वर्ष
(८) भाग (भागवत)	३२ वर्ष
(९) देवभूति या देवभूमि	१० वर्ष

अग्निमित्र—यह पुष्यमित्र का पुत्र था। मालविकाग्निमित्र से प्रकट होता है कि यह अपने पिता के समय विदिशा का गवर्नर था। पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन-काल में ही अग्निमित्र का पुत्र वसुभित्र युवा हो गया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि अग्निमित्र काफी बड़ी आयु में राजा हुआ होगा। अतः उसका ८ वर्ष का अल्प-कालीन शासन स्वाभाविक है।

पंचाल में कुछ ऐसी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर अग्निमित्र का नाम है। डा० जायसवाल का मत था कि ये शुङ्ग-नरेश अग्निमित्र की मुद्रायें हैं। परन्तु वास्तव में ये पंचाल के स्थानीय शासक की हैं। कौशांबी से एक दूसरे राजा अग्निमित्र के सिक्के मिले हैं।

वसुज्येष्ठ—अग्निमित्र के बाद वसुज्येष्ठ राजा हुआ। सम्भवतः यह अग्निमित्र का बड़ा पुत्र था। कौशांबी की कुछ मुद्राओं पर जेठमित्र (ज्येष्ठमित्र) नाम मिलता है। कुछ विद्वान् इसे ही वसुज्येष्ठ मानते हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वसुमित्र—वसुज्येष्ठ के पश्चात् वसुमित्र शुङ्ग-राज्य का अधिकारी हुआ। पुराण इसे वसुज्येष्ठ का पुत्र बताते हैं। परन्तु उनका यह उल्लेख ठीक नहीं। मालविकाग्निमित्र वसुमित्र को अग्निमित्र का पुत्र बताता है। अत: वसुमित्र वसुज्येष्ठ का छोटा भाई होगा।

'हर्षचरित' का कथन है कि मित्रदेव ने अग्निमित्र के पुत्र सुमित्र की हत्या कर दी थी। सम्भव है कि यह सुमित्र वसुमित्र हो। रैप्सन महोदय का अनुमान है कि मित्रदेव सुमित्र का ब्राह्मण-मन्त्री था।

ओद्रक—वसुमित्र के पश्चात् यह सिंहासन पर बैठा। इसे ओद्रक, अन्तक, भद्रक, आर्द्रक आदि नामों से पुकारा गया है।

पभोसा-अभिलेख के अनुसार राजा बृहस्पतिमित्र के मामा आषाढसेन ने उदाक के शासन के १० वें वर्ष में काश्यपीय अर्हतों के लिए एक गुहा का निर्माण कराया था। एक दूसरे पभोसा-अभिलेख में आषाढसेन को अहिच्छत्रा (उत्तरी पंचाल) का राजकुमार बताया गया है। इन दोनों अभिलेखों के आधार पर डा० जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया था कि उदाक शुङ्ग-वंश का राजा ओद्रक ही था और वह कौशाम्बी तथा पंचाल दोनों का स्वामी था। उसके सामन्तों के रूप में कौशाम्बी में बृहस्पतिमित्र और पंचाल में आषाढसेन का वंश राज्य कर रहे थे।

परन्तु यह मत नितान्त असंगत है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि उदाक कौशाम्बी का स्थानीय राजा प्रतीत होता है। पुष्यमित्र के पश्चात् कौशाम्बी और पंचाल दोनों ही शुङ्ग-साम्राज्य से निकल गये थे। उन पर किसी शुङ्ग-राजा के आधिपत्य का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इन दोनों प्रदेशों में पुराणों में कथित उक्त शुङ्ग-नरेशों की मुद्राओं के स्थान पर वहाँ के स्थानीय राजवंशों की मुद्रायें मिलती हैं।

विदिशा के गरुड़ध्वज-लेख से प्रकट होता है कि तक्षशिला के यूनानी राजा ऐण्टिअल्किडस (अंतलिखित) ने भारतीय नरेश काशिपुत्र भागभद्र की राजसभा में अपना राजदूत हेलिओडोरस भेजा था। यह 'हेलियोदोर अपने को भागवत (वैष्णव) कहता है। इससे स्पष्ट है कि इस समय तक विदेशियों का भारतीयकरण होने लगा था।

अब प्रश्न यह है कि यह भारतीय नरेश भागभद्र कौन था। इस विषय पर दो मत दिये जाते हैं—

(१) यह भागभद्र पाँचवा शुङ्ग-नरेश ओद्रक अथवा भद्रक था।

(२) यह भागभद्र नवाँ शुङ्ग-नरेश भागवत था।

दूसरा मत ठीक प्रतीत होता है, पाँचवें शासक ओद्रक का राज्य-काल केवल दो वर्ष मिलता है, जब कि राजा भागवत का ३२ वर्ष।

ओद्रक के पश्चात् क्रमश: पुलिन्दक, घोष, वज्रमित्र और भाग (भागवत) ने राज्य किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवभूति—यह शुङ्ग-वंश का अन्तिम राजा था। इसे देवभूमि भी कहा गया है। इसके मन्त्री वासुदेव ने इसकी हत्या करके अपने कण्व-वंश की नींव डाली।

पुराणों के अनुसार समस्त शुङ्ग-नरेशों ने कुल मिलाकर ११२ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार उनका शासन-काल लगभग १८५ ई० पू० से ७३ ई० पू० तक रहा।

अन्तिम शुङ्ग-नरेशों का राज्य-विस्तार—पुष्यमित्र की मृत्यु (१४९ ई० पू०) के पश्चात् उसके वंश में कोई ऐसा प्रतापी राजा न हुआ जो शुङ्ग-साम्राज्य की रक्षा कर सकता। पुराणों में पुष्यमित्र के उत्तराधिकारियों की सूची मिलती है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मगध एवं शेष उत्तरी भारत उनके हाथ से निकल गये थे और वे एक मात्र विदिशा के शासक रह गये थे। इस कथन की पुष्टि में निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) तक्षशिला के यूनानी नरेश ऐण्टिअलकिडस ने हेलिओडोरस नामक अपने राजदूत को काशिपुत्र भागभद्र की सभा में भेजा था। इस भारतीय नरेश का समीकरण शुङ्ग-वंश के नवें राजा भाग या भागवत के साथ किया जा सकता है। इस राजदूत ने विदिशा में एक गरुड़ध्वज की स्थापना कराई। यदि भागभद्र मगध का राजा होता तो यह विदेशी राजदूत विदिशा में स्तम्भ-स्थापना के लिये क्यों जाता ?

(२) भरहुत स्तम्भ-लेख में 'सुगनं रजे' लिखा हुआ है। इससे भी यही अनुमान होता है कि परकालीन शुङ्गों का राज्य भरहुत और उसके समीपवर्ती प्रदेश में ही सीमित था।

(३) उत्तरी भारत में पुराणों में उल्लिखित परकालीन शुङ्ग-नरेशों के न तो सिक्के मिलते हैं और न लेख।

(४) कौशाम्बी और पंचाल में 'मित्र' नामधारी राजाओं की मुद्रायें मिली हैं। कार्लाइल, जायसवाल, रायचौधरी आदि विद्वान् इन राजाओं को शुङ्ग-वंशीय राजा बताते हैं। परन्तु यह मत असंगत प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये पंचाल और कौशांबी के अग्निमित्र की मुद्रायें मिली हैं। क्या इनमें से कोई शुङ्ग-वंश का अग्निमित्र था ? यदि ऐसा होता तो उसकी मुद्रायें विदिशा में भी प्राप्त होतीं। इस अवस्था में एक अग्निमित्र को पंचाल का स्थानीय राजा और दूसरे को कौशांबी का मानना ही अधिक संगत है[1]। इसी प्रकार कौशाम्बी की मुद्राओं पर जिन राजाओं के नाम मिले हैं, यथा—सुदेव, बृहस्पतिमित्र, पर्वत, अश्वघोष इत्यादि वे भी पुराणों के शुङ्ग-वंशीय नरेश नहीं हो सकते। वे कौशाम्बी के स्थानीय राजा थे।

---

१. "Whether the Agnimitra, whose coins are found in north Panca'a, and who was therefore presumably king of Ahicchatra, can be identified with the Sunga king of that name is uncertain".

—Allan.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(५) पभोसा-अभिलेख का कथन है कि राजा बृहस्पतिमित्र के मामा आषाढ़सेन ने उदाक के शासन-काल के १०वें वर्ष में एक गुहा का निर्माण कराया था। बृहस्पतिमित्र की मुद्रायें कौशाम्बी में पाई गई हैं। डा० जायसवाल ने उदाक का समीकरण शुङ्ग-वंश के पाँचवें शासक ओद्रक के साथ किया और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ओद्रक के समय में शुङ्ग राज्य पंचाल से कौशाम्बी तक विस्तृत था।

परन्तु डा० जायसवाल का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराणों के शासन-क्रमों से स्पष्ट है कि शुङ्ग-वंश का पाँचवा राजा ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध में शासन करता था। परन्तु पभोसा-अभिलेख की लिपि २५ ई० पू० के पहले की नहीं हो सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि उदाक कौशाम्बी का कोई स्थानीय राजा था। आषाढ़ सेन का उक्त भानजा कौशांबी का राजा बृहस्पतिमित्र द्वितीय प्रतीत होता है जिसके सिक्के कौशांबी से बड़ी संख्या में मिले हैं।

पुष्यमित्र के पश्चात् समस्त भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। संभवतः शुङ्ग-वंश की कई शाखाएँ कौशांबी, मगध, मथुरा, पंचाल आदि पर राज्य करने लगी थीं।

शुङ्ग-काल की संस्कृति-सभ्यता—सेनापति पुष्यमित्र द्वारा शुङ्ग राजवंश की स्थापना मौर्य-वंश के विरुद्ध हुई ब्राह्मण-प्रतिक्रिया का परिणाम थी। हम देखते हैं कि अपनी संस्कृति-सभ्यता की रक्षा के लिये एवं अपनी मान्यताओं के आधार पर समाज का पुनर्निर्माण करने के लिये ब्राह्मणों ने अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्र भी धारण किये। व्यवस्थाकारों ने आपत्काल में ब्राह्मणों को सैनिक वृत्ति ग्रहण करने की अनुमति दे रखी थी। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत महाभारत-में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा आदि ने शस्त्र धारण किये थे। इसी आपद्धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने राजमुकुट धारण किया। उसके इस कार्य का परोक्षरूप से समर्थन करते हुए तत्कालीन व्यवस्थाकार मनु ने घोषित किया था—

"सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।"

अर्थात् वेदशास्त्र का ज्ञाता (ब्राह्मण) सेनापतित्व, राज्य, दण्डनेतृत्व और सर्व-लोकाधिपत्य को प्रात कर सकता है।

ब्राह्मण-राज्य की प्रशंसा पुष्यमित्र के राजपुरोहित पतंजलि ने भी की है। शुङ्ग-काल में ब्राह्मण-राज्य की जो स्थापना हुई वह अनेक शताब्दियों तक चलती रही। हम जानते हैं कि शुङ्ग-वंश के पश्चात् आने वाले कण्व और सातवाहन-वंश भी ब्राह्मण थे। शुङ्ग-वंश की भाँति उन्होंने भी, कम से कम सातवाहन वंश ने तो अवश्य ही, ब्राह्मणों के आदर्श वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना की चेष्टा की।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना—शुङ्ग-काल में चतुर्वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण को सर्वोपरि स्थान दिया गया। इसी विचारधारा को घोषित करते हुए मनु ने कहा था कि संसार में जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मण का है।[1]

अति प्राचीनकाल से सामाजिक श्रेष्ठता के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों में संघर्ष चला आ रहा था। बौद्ध ग्रन्थों ने वर्णों का नामोल्लेख करते हुए सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण का नाम लिया है। इस प्रकार उन्होंने ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को उच्चतर स्थान दिया। शुङ्ग-काल में पुनः ब्राह्मणों को सर्वोपरि स्थान दिया गया। मनु कहते हैं कि १० वर्ष का ब्राह्मण भी १०० वर्ष के राजा (सामान्यतया क्षत्रिय) की अपेक्षा अधिक आदरणीय होता है।[2]

बौद्धों ने आश्रम-व्यवस्था को अनावश्यक बताया था। उनकी दृष्टि में गृहस्थाश्रम समस्त दुःखों का मूल है। मनुष्य को शीघ्रातिशीघ्र गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने श्रमण-जीवन पर जोर दिया। श्रमण-विचारधारा के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, प्रायः अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को छोड़ कर संन्यास लेने लगे। क्षणिक भावना, दुःख और आपत्ति के प्रभाव में अनुभवहीन युवा-युवती अपने वृद्ध माता-पिता, आश्रितों आदि को असहाय छोड़कर संघ-प्रवेश करने लगे। राजदण्ड से बचने के लिये ऋणी, अभियुक्त, चोर-डाकू भी भिक्षु बनकर संघ में घुसने लगे। श्रमण-विचारधारा के इस अमर्यादित प्रसार ने समाज और राज्य के सामने एक विकट समस्या उत्पन्न कर दी। ब्राह्मण व्यवस्थाकार श्रमण-जीवन के विरोधी न थे। परन्तु उनका मत था कि इस जीवन को सामान्यतया तभी स्वीकार किया जाय जब मनुष्य प्रथम तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वाणप्रस्थ—के उत्तरदायित्वों को पूरा कर ले।

हम देखते हैं कि शुङ्ग-काल में बौद्धों के इस अमर्यादित प्रव्रज्या-प्रचार का विरोध किया गया। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में घोषित किया कि ब्राह्मण-विचारधारा और श्रमण-विचारधारा में स्थायी विरोध है।[3] तत्कालीन प्रतिनिधि ग्रंथ महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर के मुख से कहलाया गया कि यदि संन्यास से सिद्धि सम्भव होती तो पर्वत और वृक्ष सिद्धि प्राप्त कर चुके होते।

अश्वमेध की प्रतिष्ठा—अशोक ने पशु-बलि बन्द करा दी थी जिससे ब्राह्मणों के अनेक श्रौत यज्ञ समाप्त हो गये थे। शुङ्ग-काल में इन यज्ञों की पुनः प्रतिष्ठा करते हुए पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये।

---

१. "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचित् जगतीतलम्।"

२. "ब्राह्मणदशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।"

३. "ब्राह्मणश्रमणानां शाश्वतिकः विरोधः।"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्यिक उन्नति—शुङ्ग-काल साहित्यिक उन्नति का भी काल है। इस समय संस्कृत-साहित्य की विशेष उन्नति हुई।

इसी काल में संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् पतंजलि हुआ, जिसने व्याकरण का महान् ग्रन्थ 'महाभाष्य' लिखा।

हिन्दू धर्म के विस्तृत शास्त्र मनुस्मृति की रचना भी इसी समय हुई। इसके द्वारा समाज में नवीन व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

महाभारत—इस का प्रारंभिक रचना-काल ५००–४०० ई० पू० माना जाता है। परन्तु समय-समय पर इसमें संशोधन और परिवर्धन होते रहे। मैकडानल महोदय के मतानुसार यह परिवर्धन-कार्य विशेषतया ३०० ई० पू० और १०० ई० पू० के बीच में हुआ था। वर्तमान स्वरूप में सम्पूर्ण महाभारत का निर्माण २०० ई० तक पूरा हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में प्रतिष्ठित नवीन विचार-धाराओं को दृष्टि में रखते हुए शुङ्ग-काल में महाभारत का अधिकांश तैयार किया गया।

कुछ विद्वान् कालिदास को भी शुङ्ग-कालीन मानते हैं। परन्तु यह मत असंगत है। वास्तव में कालिदास गुप्त-युग में हुए।

भारतीयकरण—शुङ्ग-कालीन भारत अपनी सहिष्णुता और उदारता के लिये प्रसिद्ध है। इस समय विदेशी भी भारतीय धर्मों की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने इन्हें ग्रहण भी किया। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत इन लोगों का भारतीयकरण होने लगा। इनमें दो प्रमुख विदेशियों के उदाहरण उल्लेखनीय हैं—

(१) मीनेण्डर—यह हिन्द-यूनानी सम्राट् था। परन्तु इसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और भारतीय इतिहास में मिलिन्द के नाम से प्रख्यात हुआ।

(२) हेलिओडोरस—यह भी हिन्द-यूनानी था। इसे तक्षशिला के तत्कालीन राजा ऐण्टिअल्किडस ने शुङ्ग-नरेश भागभद्र की राजसभा में भेजा था। इस विदेशी ने भागवत धर्म स्वीकार कर लिया था और विदिशा में एक गरुड़ध्वज की स्थापना कराई थी।

इन दोनों के अतिरिक्त अन्य अनेक विदेशी लोगों ने बौद्ध तथा वैष्णव धर्म अपनाया तथा अपने नामों का भी भारतीयकरण किया।

कला की उन्नति—शुङ्ग-काल सबसे अधिक अपनी कला-सम्बन्धी उन्नति के लिये प्रख्यात है। इस कला की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) मौर्यकालीन इमारतों में लकड़ी, कच्ची ईंटों और मिट्टी का प्रयोग अधिक होता था। उदाहरण के लिये चन्द्रगुप्त और अशोक के राजप्रासाद प्रमुखतयः लकड़ी के थे। अशोक ने जो स्तूप बनवाये थे उनमें भी कच्ची ईंटों और मिट्टी का मुख्य रूप से प्रयोग हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु शुङ्ग-काल में विविध इमारतों के बनाने में पाषाण का प्रचुर प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इस काल के जो स्तूप, परिवेष्टिनी, विहार आदि पाये जाते हैं वे पाषाण-कला के उत्तम उदाहरण हैं।

(२) शुङ्गों के पूर्व कला का विषय या तो राजकीय था या धार्मिक। उदाहरण के लिये मौर्य-कलाकारों ने अपने राजाओं की अभिरुचि के अनुरूप या तो उनके प्रासाद बनाये या धम्म-प्रचार के लिये स्तूप, विहार, स्तम्भ, शिलायें और कन्दराएँ। इस प्रकार की कला लोक-जीवन से प्राय: दूर रही।

परन्तु शुङ्ग-काल की जो कलाकृतियाँ मिली हैं उन पर तत्कालीन भारत का लोक-जीवन अंकित है। इसका प्रमुख उदाहरण भरहुत का स्थापत्य है।[१] शुङ्ग-काल का लक्ष्य न तो एकांत आध्यात्मिक है और न नैतिक। उसका एकमात्र लक्ष्य मानव जीवन का ऐहिक स्वरूप है।[२]

(३) शुङ्ग-कला भारतीय कला के विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। अशोक के काल में जो स्तूप-कला प्रारम्भ हुई वह शुङ्ग-काल के भरहुत, बोधगया और साँची के स्तूपों में अधिक विकसित हुई। कालान्तर में इसी कला का पूर्ण विकसित रूप अमरावती और नागार्जुनीकोंड के स्तूपों में दिखाई देता है।

मौर्य-काल, कन्दरा-कला के जन्म के लिये प्रख्यात है। शुङ्ग-काल ने इस कला को भी आगे बढ़ाया। इस काल में निर्मित कार्ले, नासिक, भाजा और अजन्ता की कलापूर्ण गुफाएँ दर्शनीय हैं। यही कला आगे चल कर गुप्तकालीन अजन्ता, एलीफेन्टा और एलोरा की कन्दरा-कला के रूप में विकसित हुई।

शुङ्ग-काल ने अशोक के पाषाण-स्तम्भों की परम्परा को भी जारी रखा। इस काल का एक प्रसिद्ध पाषाण-स्तम्भ विदिशा में खड़ा है। यह गरुड़ध्वज है।

(४) शुङ्ग-काल तक बौद्ध धर्म मुख्यत: हीनयानी था। अत: उसकी कलाकृतियों पर कहीं भी महात्मा बुद्ध को साकार रूप में अंकित नहीं किया गया। उनकी उपस्थिति धर्मचक्र, छत्र, पदचिह्न, स्तूप आदि से प्रदर्शित की गई है।

शुंग कला के कुछ उदाहरण

भरहुत-स्तूप—जनरल कनिंघम ने भरहुत (जि० सतना, मध्य प्रदेश) में एक

---

१. "The sculptures represent the religions, faiths and beliefs, the dress, costumes and manners. We get an insight into the minds and habits of the common people of India." —R. C. Majumdar

२. "The main interest is neither spiritual nor ethical, but altogether directed to human life." —N. R. Ray

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तूप का पता लगाया। आज वह पूर्णतया नष्ट हो गया है। उसकी वेदिका और तोरणद्वार को कलकत्ता के संग्रहालय में भेज दिया गया।

पुराने भरहुत-स्तूप को अशोक ने बनवाया होगा। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी (शुङ्ग-काल) में इस स्तूप के चारों ओर पत्थर की एक वेदिका (परिवेष्टिनी) और चार फाटकों (तोरण-द्वारों) का निर्माण किया गया। परिवेष्टिनी के एक द्वार पर 'सुगनं रजे' (शुङ्गों के राज्य में) लिखा हुआ है।

भरहुत की यह वेदिका ७ फुट ऊँची है। इस पर तथा तोरणद्वारों पर अनेक जातक-कथायें और जातकों के नाम उत्कीर्ण हैं। साथ ही उन पर महात्मा बुद्ध के जन्म, महाभिनिष्क्रमण, बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि घटनाओं के दृश्य दिखाये गये हैं। इनके अतिरिक्त देवी-देवताओं, यक्ष-यक्षिणियों, साधारण जनों आदि की भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। भरहुत की यह कला पूर्णतया भारतीय है।

इन समस्त दृश्यों से तत्कालीन भारतीय जीवन की आशावादिता, उत्साह, आनन्द, धर्म, सामाजिक व्यवहार, वेश-भूषा आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

परन्तु शुद्ध कला की दृष्टि से भरहुत-स्तूप की कला में अनेक त्रुटियाँ हैं—

(१) उत्कीर्ण मूर्तियाँ वानस्पतिक शैली (plant style) की हैं। उनमें गहराई और उभार नहीं है। चित्रण में दूरी का ध्यान नहीं रखा गया।

(२) आकृतियाँ प्रायः भावशून्य और निश्चेष्ट प्रतीत होती हैं।

(३) उनके वस्त्र शरीर से चिपटे हुए हैं।

(४) कथा-चित्रण में इतना अधिक ब्यौरा दिखाया गया है कि बहुधा कथा को समझने में कठिनाई होती है।[१]

(५) कभी-कभी कलाकारों ने अपने निर्मित आकारों और जोड़ों में काष्ठ-कला की विधियों का प्रयोग किया है। यह उनके अविकसित कला-ज्ञान का परिचायक कहा जा सकता है।

बोधगया-स्तूप—इस स्तूप की भी परिवेष्टिनी सुरक्षित है। प्राचीन स्तूप नष्ट हो गया है।

---

१. "The meticulous care with which the details are exhaustively worked out has almost a disturbing effect and it is only with difficulty that an impression of the whole can be obtained".

—S. K. Saraswati

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरहुत की अपेक्षा बोधगया की कला अधिक विकसित है। उसमें जो आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं वे भावपूर्ण और सजीव हैं। मूर्तियों में गहराई और उभार भी पहले से अधिक है। कला-संयोजन में अधिक भीड़ अथवा ब्यौरा नहीं है। इससे उसमें स्पष्टता और सम्बद्धता अधिक है।[1]

साँची स्तूप—यह मध्य प्रदेश के रायसेन जिला में स्थित है। इसे अशोक ने बनवाया था। उस समय यह ईंटों और मिट्टी का साधारण टीला जैसा था।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में पाषाण के प्रयोग से इस स्तूप का आकार पहले से दुगुना कर दिया गया। अब यह ५४ फुट ऊँचा है। इसका व्यास १२० फुट है। इसमें पृथ्वी से १६ फुट ऊँचा एक चबूतरा (मेधी) भी जोड़ दिया गया। इस चबूतरे पर चढ़ने के लिये दक्षिण की ओर सीढ़ियों (सोपान) का भी निर्माण किया गया। पुरानी लकड़ी की परिवेष्ठिनी (चहार दीवारी) के स्थान पर ९ फुट ऊँची पत्थर की एक परिवेष्ठिनी बनाई गई। स्तूप के ऊपर एक वर्गाकार वेदिका बनाई गई और उसके भीतर एक हर्मिका (आधार)। इस आधार पर एक छत्रयष्टि स्थापित की गई।

लगभग ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्त में इस स्तूप की परिवेष्ठिनी में चार विशाल तोरणद्वार स्थापित किये गये। प्रत्येक तोरण पृथ्वी से ३४ फुट ऊँचा है।

इस स्तूप के अतिरिक्त यहाँ अन्य छोटे स्तूप और विहार भी निर्मित किये गये।

मुख्य स्तूप के तोरण-द्वार सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। बैशम महोदय ने निम्नलिखित शब्दों में इनका वर्णन किया है—

"The Sanchi gateways are perhaps more noteworthy for their carved ornamentation than their architecture. Each consists of two square columns, above which are three curved architraves supported by animals or dwarfs, the whole reaching some 34 feet above ground-level. The construction of these gateways, from the technical point of view, is primitive, and it has been suggested that their design is based on the log or bamboo portcullis of the ancient Indian village. The finish, on the other hand, is remarkably good, and the carvings are among the most fresh and vigorous products of the Indian Sculptor."

---

१. "Orderliness, clarity and closer organic relation take the place of the unsteady medley of forms and motifs characteristic of the Bharhut style".
—Saraswati.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साँची की वेदिका अपनी विशालता और कलात्मकता के लिये विख्यात है।[1]

वास्तुकला की दृष्टि से यह स्तूप विशेष महत्व का है। इसके कलाकारों ने काष्ठ-कला की कई प्रणालियों को अपनाया है जिससे प्रकट होता है कि प्रस्तर-वास्तुकला में अभी तक वे सिद्धहस्त न हुए थे।

परन्तु जहाँ तक स्तूप की मूर्तिकला का प्रश्न है वह उचकोटि की है। कलाकारों ने बहुसंख्यक यक्ष-यक्षिणियों, वामनों, पशु-पक्षियों, जलाशयों तथा लता-वितानों के सुन्दर दृश्य उत्कीर्ण किये हैं। कहने को तो यह स्तूप एक धार्मिक इमारत है, परन्तु इसपर जो दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं वे नागरिक और ग्राम्य जीवन की विविध झाँकी प्रस्तुत करते हैं।[2]

ये मूर्तियाँ अपनी निम्नलिखित विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध हैं--

(१) मूर्तियों में गहराई और उभार पहले से कहीं अधिक है।

(२) उनकी मुद्रायें सजीव और शरीर लचीले हैं।

(३) वस्त्र शरीर से चिपटे नहीं हैं। चुन्नटों अथवा सिलवटों के द्वारा उनमें ढीलापन और उभार दे दिया गया है।

(४) मूर्तियाँ अनेक भंगिमाओं में बनाई गई हैं।

(५) प्रकाश और छाया का उचित प्रयोग किया गया है।

(६) समूह-प्रदर्शन में मूर्तियाँ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण साँची की अलंकरण-योजना अभूतपूर्व है।[3]

फूशे, मार्शल, जिमर, ब्राउन आदि विद्वानों ने साँची के स्थापत्य की बड़ी प्रशंसा की है[4]।

अन्य कलाकृतियाँ--इस काल की अन्य कलाकृतियों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

---

१. "The railing at Sanchi, on account of the largeness of its proportions and austerity of its treatment is one of the most impressive productions in the whole range of Buddhist constructional art."
—Percy Brown

२. "The rich and aristocratic life at the court, the busy and exciting life of the city, the homely and modest country-life and the varied luxuriance of the jungle, have all been treated faithfully and exhaustively."
—Saraswati

३. "........the wonderful decorative sense of the artists with their simple and easy story-telling diction, graphic in content as well as in representation, remains unequalled in early Indian Art."
—Saraswati

४. "It was the ivory workers of Vidisa who carved, in the immediate vicinity of their town, one of the monumental gates of Sanchi".
—Foucher

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) मथुरा की यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ ।
(२) नासिक और कार्ले चैत्य तथा मूर्तियाँ ।
(३) अजन्ता का नवाँ चैत्य मंदिर ।
(४) भाजा का चैत्य तथा विहार ।
(५) विदिशा का गरुड़ध्वज ।

शुङ्ग-काल का महत्व

राजनीतिक महत्व—भारतीय इतिहास में शुङ्ग-काल का विशेष महत्व है। यदि शुङ्ग-वंश में प्रतापी पुष्यमित्र न हुआ होता तो सम्भव है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सम्पूर्ण भारत पर यूनानियों का आधिपत्य स्थापित हो जाता। पुष्यमित्र ने आश्चर्यजनक प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए प्रबल यूनानी आक्रमणों का सामना किया और उत्तरी भारत के एक विशाल भूप्रदेश को उनके आधिपत्य से बाहर रखा। यूनानियों को विवश होकर शुङ्ग-वंश के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने पड़े। तक्षशिला के यूनानी नरेश ऐण्टिअल्किडस ने शुङ्ग-नरेश भागभद्र की राजसभा में हेलिओडोरस नामक राजदूत भेजा।[1]

धार्मिक महत्व—पुष्यमित्र शुङ्ग ने ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना का प्रयत्न किया। शुङ्ग काल के पश्चात् हम देखते हैं कि ब्राह्मण-धर्म उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता गया और गुप्त-वंश के अन्तर्गत वह देश का सर्वप्रमुख धर्म हो गया[2]।

इसी काल से विदेशियों का भारतीयकरण प्रारम्भ हुआ। मीनेण्डर और हेलिओडोरस ने क्रमशः बौद्ध-धर्म और भागवत-धर्म स्वीकार करके अपने अनुगामी विदेशियों के लिये भारतीयकरण का मार्ग खोल दिया।

साहित्यिक महत्व—यह काल अपना साहित्यिक महत्व भी रखता है। इस काल की रचनायें—महाभारत का नवीन संस्करण, महाभाष्य और मनुस्मृति—भारतीय साहित्य की अमर कृतियाँ हैं।

कला-सम्बन्धी महत्व—शुङ्ग-काल ने पाषाण का प्रयोग करके कला को एक नवीन उपकरण दे दिया। इसकी सहायता से कलाकारों ने विशेषतः मूर्ति-कला को नये-

---

१. "The renewed incursions of the Yavanas, which once threatened to submerge the whole of the Madhyadesh, received a check, and the Greek dynasts of the borderland reverted to the prudent policy of their Seleukidan precursors". —H. C. Raychaudhury

२. "The memorable horse-sacrifice of Pushyamitra marked the beginning of the Brahmanical reaction, which was fully developed five centuries later in the time of Samudragupta and his successors". —V. A. Smith

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नये रूपों में प्रस्तुत किया। उन्होंने कला को शासन और धर्म की सीमाओं से बाहर निकाल कर उसे जन-जीवन से आप्लावित किया। शुङ्ग-कालीन कला मूलत: लोक-कला है। भरहुत, बोधगया और साँची के संसार-प्रसिद्ध स्तूपों पर लोक-जीवन की मनोरंजक झाँकी अंकित है।

शुङ्ग-कलाकारों ने स्तूप-कला, गुफा तथा स्तम्भ-निर्माण, मूर्ति-कला, आदि को जो रूप दिया वह उत्तरोत्तर विकसित होता गया और राजपूत-काल तक पहुँचते-पहुँचते भारत के कोने-कोने में उत्कृष्ट कला के उदाहरण खड़े हो गये।

शुङ्ग-काल की इन विभिन्न सफलताओं के कारण अनेक विद्वान् इसकी तुलना गुप्तकाल से करते हैं[1]।

---

१. "There was an outburst of activity in the domains of religion, literature and art, comparable to that of the glorious epoch of the Guptas." —Raychaudhury

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ६

हिंद-यूनानी
(Indo-Greek)

बैक्ट्रिया—सिकन्दर ने अपने भारतीय अभियान में बैक्ट्रिया में एक यूनानी उपनिवेश की स्थापना की थी। कालान्तर में इसी बैक्ट्रिया ने नवीन इतिहास का निर्माण किया। ई० पू० द्वितीय शताब्दी में यहाँ के यूनानियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और उसके कुछ भू-प्रदेश पर अपना राज्य स्थापित किया। भारत के ये यूनानी शासक इण्डो-ग्रीक कहलाये। इन्होंने भारत के किसी न किसी प्रदेश पर लगभग १५० वर्षों तक शासन किया। इस दीर्घकाल में दोनों जातियों में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

डायोडोटस प्रथम—प्रारम्भ में बैक्ट्रिया सीरिया-साम्राज्य का एक प्रान्त था। २५६ ई० पू० के लगभग बैक्ट्रिया के गवर्नर डायोडोटस प्रथम ने सीरिया के सम्राट् ऐण्टिओकस द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। डायोडोटस प्रथम ने बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र शासक के रूप में २५६ ई० पू० से २४८ ई० पू० तक शासन किया।

डायोडोटस द्वितीय—डायोडोटस प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र डायोडोटस द्वितीय २४८ ई० पू० में बैक्ट्रिया का राजा हुआ। २३५ ई० पूर्व में **यूथीडेमस** नामक सरदार इसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने बैक्ट्रिया में अपने नवीन राजवंश की स्थापना की, जो इतिहास में यूथीडेमस वंश के नाम से प्रख्यात हुआ।

ऐण्टिओकस तृतीय से युद्ध—यूथीडेमस के समय सीरिया में ऐण्टिओकस तृतीय नामक सम्राट् शासन कर रहा था। उसने बैक्ट्रिया को पुनः अपने साम्राज्य में मिलाना चाहा। पोलीबिअस लेखक के अनुसार उसने २०८ ई० पू० के लगभग बैक्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। अपनी बचत का कोई अन्य उपाय न देखकर बैक्ट्रिया के राजा यूथीडेमस ने सम्राट् को धमकी दी कि यदि बैक्ट्रिया का घेरा न उठाया गया तो वह उत्तर की बर्बर शक जाति को अपनी सहायता के लिये बुलायेगा। इस धमकी के सामने ऐण्टिओकस को झुकना पड़ा और उसने सन्धि-वार्ता चलाई। यूथीडेमस की ओर से उसके पुत्र **डेमेट्रिअस** ने सम्राट् से वार्ता की। इस वार्ता के दौरान में ऐण्टिओकस नवयुवक

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डेमेट्रिग्रस की योग्यता और व्यवहार-कुशलता से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने उसके पिता यूथीडेमस को बैक्ट्रिया का स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर लिया।

भारत पर आक्रमण—बैक्ट्रिया के झगड़े से छुटकारा पाकर ऐण्टिग्रोकस ने भारत की ओर ध्यान दिया। पोलीबिग्रस का कथन है कि ऐण्टिग्रोकस ने काकेशस पार किया और भारतवर्ष के राजा 'सोफागसेनस' से मित्रता कर ली और उससे प्रभूत धन और अनेक हाथी प्राप्त किये। यहाँ निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

(१) काकेशस कहाँ है ?
(२) सोफागसेनस कौन था ?
(३) ऐण्टिग्रोकस ने किस परिस्थिति में उसके साथ सन्धि की ?

प्रथम प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। यहाँ काकेशस से हिन्दूकुश समझना चाहिए।

द्वितीय प्रश्न के सोफागसेनस का संस्कृत रूप सुभागसेन होगा। तारानाथ ने गन्धार के एक राजा वीरसेन का उल्लेख किया है। सम्भव है कि यह सुभागसेन उसी का वंशज और उत्तराधिकारी रहा हो। डा० स्मिथ इसे काबुल घाटी का कोई सामन्त बताते हैं। परन्तु उनके मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि पोलीबिग्रस स्पष्ट रूप से सुभागसेन को भारतवर्ष का राजा बताता है।

तृतीय प्रश्न के उत्तर में टार्न महोदय कहते हैं कि ऐण्टिग्रोकस ने सुभागसेन को पराजित किया था। परन्तु यह मत नितान्त काल्पनिक है। पोलीबिग्रस के कथन में सुभागसेन की पराजय का कहीं उल्लेख नहीं है। उसके संक्षिप्त कथन से तो यही सन्देह होता है कि ऐण्टिग्रोकस को सुभागसेन के विरुद्ध सफलता नहीं मिली थी और उसने भारतीय नरेश से मैत्री-सन्धि कर ली थी। धन और हाथी उसे अपने भारतीय मित्र से उपहार-स्वरूप मिले होंगे।

यूथीडेमस का राज्य—यूथीडेमस (ई० पू० २३५-२००) एक सफल योद्धा सिद्ध हुआ। मुद्रा-साक्ष्य से प्रकट होता है कि बैक्ट्रिया के बाहर के अनेक प्रदेश भी उसके अधीन थे। उसकी मुद्रायें सोग्डिग्राना, पार्थिया के कुछ भाग, काबुल, कन्धार और सीस्तान में मिली हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने अफगानिस्तान के अधिकांश प्रदेश और ईरान के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था। गार्डनर महोदय का मत है कि यूथीडेमस की कुछ विजयें उसके पुत्र डेमेट्रिग्रस के सहयोग से हुई थीं।

यूथीडेमस और भारत—क्या यूथीडेमस ने भारतवर्ष पर भी आक्रमण किया था ?

कनिंघम आदि कुछ विद्वानों का मत था कि निम्नलिखित साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यूथीडेमस ने न केवल भारतवर्ष पर आक्रमण किया था वरन् उसके कुछ भाग पर अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया था—

(१) उसकी कुछ मुद्रायें रावलपिंडी में मिली हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) टालमी ने अपने 'भूगोल' में लिखा है कि पंजाब का साकल (स्यालकोट) नगर यूथीमीडिया कहलाता था। विद्वानों का मत है कि टालमी ने भूल से यूथीडीमिया के स्थान पर यूथीमीडिया लिख दिया है। इन विद्वानों के मतानुसार यूथीडेमस ने इस नगर की स्थापना अपनी भारत-विजय के उपलक्ष्य में की होगी।

ये दोनों तर्क नितान्त असंगत हैं—

(१) रावलपिण्डी की मुद्रायें व्यापारियों और यात्रियों के द्वारा वहाँ पहुँची होंगी। उनकी संख्या अत्यल्प है।

(२) यूथीडीमिया नगर की स्थापना यूथीडेमस ने की, इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं है। साकल की स्थिति के बारे में भी मतभेद है।

यूथीडेमस को भारत-विजेता मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यूनानी-रोमन लेखक डेमेट्रिअस, मीनेण्डर और अपोलोडोटस को तो भारत-विजय का श्रेय देते हैं, परन्तु वे इस सम्बन्ध में यूथीडेमस का उल्लेख तक नहीं करते।

अधिकांश विद्वानों के मतानुसार २०० ई० पू० के लगभग यूथीडेमस की मृत्यु हो गई।

डेमेट्रिअस प्रथम (२००-१८५ ई० पू०)

डेमेट्रिअस का स्थान—संसार के इतिहास में डेमेट्रिअस का उच्च स्थान है। वह महान् विजेताओं में समझा जाता है। भारत में यूनानी साम्राज्य-स्थापना का जो कार्य सिकन्दर नहीं कर सका था उसे उसने पूरा करने का यत्न किया। उसके बाद भारत में जिस साम्राज्य की स्थापना हुई वह लगभग १५० वर्षों तक कायम रहा। इस दीर्घकालीन यूनानी-भारतीय-सम्पर्क ने अनेक सांस्कृतिक प्रभाव उत्पन्न किये।

साक्ष्य—डेमेट्रिअस और भारत के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) महाभारत में एक यवन-शासक का नाम दत्तामित्र मिलता है। वहाँ वह सम्भवत: सौवीर (सिन्धु-घाटी का दक्षिणी भाग) का शासक माना गया है।

(२) क्रमदीश्वर का व्याकरण दत्तामित्रि नामक एक नगर का उल्लेख करता है। सम्भवत: डेमेट्रिअस ने सौवीर में इस नगर की स्थापना की थी।

(३) गार्गी संहिता में 'धर्ममीत' का उल्लेख है। डा० जायसवाल और प्रो० टार्न इसका समीकरण डेमेट्रिअस के साथ करते हैं।

(४) हाथीगुम्फा अभिलेख में 'योनराज दिमित' पढ़ा गया है। स्टेन कोनो का मत है कि यह यवनराज डेमेट्रिअस था, जो कलिङ्गराज खारवेल के आक्रमण के समय पाटलिपुत्र छोड़कर मथुरा भाग गया था। परन्तु हाथीगुम्फा अभिलेख के तत्सम्बन्धी पाठ और इसके वास्तविक अर्थ के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनः, खारवेल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। अतः वह ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के डेमेट्रिअस का समकालीन नहीं हो सकता। चन्दा महोदय का मत है कि यह दिमित कोई यूनानी राजकुमार था जो शकों के द्वारा पराजित होने पर अपना राज्य छोड़कर भागा था।

(५) विदिशा में एक मुहर मिली है[1] जिस पर ब्राह्मी लेख इस प्रकार है—

तिमित्र—दत्रिस्य—हो (ता)
प (ो) ता—मन्त्र—सजन (? इ)

डा० भण्डारकर का मत है कि यद्यपि इस मुहर का पाठ स्पष्ट नहीं है तथापि होता, पोता, मन्त्र आदि याज्ञिक शब्दों से अनुमान किया जा सकता है कि इसका सम्बन्ध किसी यज्ञशाला से है। डा० भण्डारकर के अनुसार इस मुहर के लेख का अर्थ इस प्रकार हुआ—

'दाता तिमित्र की जो होता, पोता और मन्त्र सम्बन्धियों के साथ ....'

कुछ विद्वानों ने इस मुहर के 'तिमित्र' का समीकरण डेमेट्रिअस के साथ किया है। परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इस मुहर की लिपि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की प्रतीत होती है, जब कि डेमेट्रिअस ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का था। यह सम्भव है कि इस मुहर का—तिमित्र विदिशा का कोई स्थानीय शासक हो। परन्तु इसके विषय में हमें अधिक ज्ञात नहीं है।

(६) डेमेट्रिअस की ताँबे की वर्गाकार मुद्रायें मिली हैं। इन पर अग्रभाग में यूनानी में और पृष्ठभाग में खरोष्ठी में लेख हैं। खरोष्ठी लिपि के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि ये मुद्रायें भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश के लिये बनवाई गई थीं। डा० ए० के० नारायण इन द्विलिपिक मुद्राओं को डेमेट्रिअस द्वितीय भी मानते हैं।

(७) १३ वीं शताब्दी के अंग्रेजी कवि चाउसर ने अपने ग्रन्थ 'नाइट्स टेल' में Grete Emetreus को 'The King of Inde' (भारतवर्ष का राजा) कहा है।

(८) जस्टिन (डेमेट्रिअस) को 'भारतीयों का राजा' कहता है।

(९) स्ट्रैबो भारत-विजय का श्रेय आंशिक रूप से मीनेण्डर को और आंशिक रूप से डेमेट्रिअस को देता है।

ये विवरण डेमेट्रिअस द्वितीय (ई० पू० १८०-१६५) की ओर संकेत करते हैं, न कि प्रथम की ओर।

भारत पर आक्रमण—टार्न तथा कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में भारतवर्ष पर जो यवन-आक्रमण हुआ था उसका नेता बैक्ट्रिया का राजा यही डेमेट्रिअस था। १८७ ई० पू० में मैग्नेशिआ का युद्ध हुआ। इस युद्ध के एक-दो वर्ष पश्चात् ही टार्न के अनुसार डेमेट्रिअस ने भारत पर आक्रमण किया। कुछ

---

१. A S I, 1914-15, p. 77.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्वानों के अनुसार प्रथम यवन-आक्रमण अन्तिम मौर्य-सम्राट् के अन्तिम वर्षों में हुआ होगा और इसी बीच बृहद्रथ के सेनानी पुष्यमित्र ने मगध की क्रान्ति की और वह स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठा होगा। तत्पश्चात् उसी ने यवन-आक्रमणकारियों का सामना किया होगा।

टार्न का मत

इसके विरुद्ध टार्न महोदय का मत है कि यवन-आक्रमण बृहद्रथ की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन-काल में हुआ। डेमेट्रिअस अपने भाई अपोलोडोटस और अपने सेनापति मीनेण्डर को भी लाया था।

सर्वप्रथम डेमेट्रिअस ने हिन्दूकुश और सिन्धु नदी के बीच के प्रदेश को जीता और वहाँ अपने पुत्र डेमेट्रिअस द्वितीय को गवर्नर नियुक्त किया। इस प्रदेश में अपने पिता के नाम पर प्रचलित डेमेट्रिअस द्वितीय की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं।

मीनेण्डर—डेमेट्रिअस स्वयं पंजाब में रहा। उसने व्यास नदी कभी भी पार न की। उसकी मुद्रायें इस नदी के पश्चिम में ही मिलती हैं। पंजाब में रहते हुए ही उसने शेष भारत की विजय की योजना बनाई थी। उसने अपने अधिक अनुभवी सेनापति मीनेण्डर को उत्तरी भारत की विजय के लिये भेजा।

(१) लेखक एपालोडोरस का कथन है कि डेमेट्रिअस की अपेक्षा मीनेण्डर ने अधिक प्रदेश जीते थे।

(२) ट्रोगस का कथन है कि भारत-विजय अपोलोडोटस और मीनेण्डर ने की थी।

इन दोनों कथनों को मिलाकर टार्न महोदय कहते हैं कि दोनों लेखक मीनेण्डर का नाम लेते हैं। अतः भारत की सबसे अधिक और सबसे महत्वपूर्ण विजय मीनेण्डर ने ही की होगी। यह मध्यदेश की विजय थी।

अपोलोडोटस—दक्षिण-पश्चिमी भारत की विजय के लिये डेमेट्रिअस ने अपने भाई अपोलोडोटस को भेजा था। अपने मत के पक्ष में टार्न महोदय निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) एपालोडोरस सूचित करता है कि यूनानियों ने पैटलीन (सिन्धु-डेल्टा), सौराष्ट्र और सिगर्डिस (कच्छ) पर आधिपत्य स्थापित किया था। यह अधिकार या तो अपोलोडोटस ने किया होगा या मीनेण्डर ने, क्योंकि 'पेरीप्लस' कहता है कि इन दोनों की मुद्रायें प्रथम शताब्दी में भड़ौंच (बेरीगाजा) में प्रचलित थीं। परन्तु मीनेण्डर तो उत्तरी भारत की विजय के लिये भेजा गया था। अतः अनुमान होता है कि दक्षिण-पश्चिमी भारत की विजय अपोलोडोटस ने ही की।

(२) पेरीप्लस ने भडौंच-प्रदेश में सिकन्दर द्वारा निर्मित शिविरों, पूजागृहों एवं प्राचीरों आदि के ध्वंसावशेष देखे थे। सिकन्दर कभी भी भडौंच-प्रदेश में न गया था। सम्भवतः पेरीप्लस भूल से अपोलोडोटस के स्थान पर सिकन्दर लिख गया है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) टालमी का कथन है कि कच्छ के समीप यूनानियों ने थिग्रोफिला नामक नगर बसाया था। टार्न का मत है कि थिग्रोफिला सम्भवतः डेमेट्रिग्रस की माता ग्रथवा पत्नी का नाम था। ग्रपोलोडोटस ने कच्छ-प्रदेश को जीतने के पश्चात् उसी के नाम पर इस नगर की स्थापना की थी।

टार्न के मतानुसार दक्षिण-पश्चिमी भारत की विजय के पश्चात् ग्रपोलोडोटस ने मध्यमिका पर ग्राक्रमण किया। पतंजलि ने ग्रपने महाभाष्य में इस ग्राक्रमण का उल्लेख किया है।

मध्यदेश की विजय—जिस समय मीनेण्डर ग्रपने स्वामी डेमेट्रिग्रस के साथ उत्तरी भारत की विजय की योजना बना रहा था तभी मगध में क्रान्ति हुई थी ग्रौर पुष्यमित्र शुङ्ग ने ग्रपने स्वामी बृहद्रथ की हत्या करके स्वयं ग्रपने ग्रापको मगध का राजा घोषित किया था। सत्ता-प्राप्ति के उपलक्ष्य में उसने ग्रश्वमेध यज्ञ किया था। उसका घोड़ा घूमते-घूमते सिन्धु नदी के तट पर पहुँचा था। वहाँ उसे यवनों ने पकड़ लिया था। घोड़े की रक्षा पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र कर रहा था। उसने यवनों से युद्ध किया ग्रौर उन्हें पराजित किया।

मीनेण्डर की यह पहली पराजय थी। परन्तु वह इससे हतोत्साह न हुग्रा। उसने पूरी तैयारी करके कुछ दिनों पश्चात् पुनः शुङ्ग-साम्राज्य पर ग्राक्रमण किया ग्रौर उसे रौंद डाला।

सबसे पहले मीनेण्डर ने पंजाब में साकल पर ग्रधिकार किया। 'मिलिन्दप्रश्न' में साकल को मीनेण्डर की राजधानी कहा गया है।

स्ट्रैबो का कथन है कि इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि मीनेण्डर ने व्यास नदी पार की थी ग्रौर वह यमुना (कहीं-कहीं सोन का उल्लेख है) तक पहुँच गया था। स्ट्रैबो के इस कथन से यह प्रकट होता है कि कुछ पूर्वगामी लेखकों ने निश्चितरूप से लिखा था कि मीनेण्डर ने व्यास नदी पार की थी ग्रौर वह यमुना ग्रथवा सोन तक पहुँचा था, यद्यपि स्ट्रैबो स्वयं उनके कथन पर विश्वास नहीं करता।

टार्न महोदय उन पूर्वगामी लेखकों के कथन पर विश्वास करते हैं ग्रौर कहते हैं कि पंजाब-विजय के पश्चात् मीनेण्डर ने व्यास नदी पार की थी ग्रौर वह यमुना तक पहुँचा था, क्योंकि 'गार्गी संहिता' में यवनों के मथुरा (यमुना नदी के तट पर स्थित) पर ग्राक्रमण करने का उल्लेख है। यह भी सम्भव है कि वह सम्पूर्ण उत्तरी भारत को जीतता हुग्रा पाटलिपुत्र तक पहुँच गया हो। यह नगर गंगा ग्रौर सोन के संगम पर स्थित था। कुछ लेखकों का यह विश्वास था कि मीनेण्डर सोन तक पहुँचा था। गार्गी संहिता के ग्रप्रमाणिक पाठ के ग्राधार पर टार्न का कथन है कि उत्तरी भारत में यवनों ने साकेत, पंचाल ग्रौर मथुरा पर ग्राक्रमण किया था ग्रौर वे पाटलिपुत्र तक पहुँच गये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गार्गी संहिता में 'प्राप्स्यन्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ होता है 'पहुँचेंगे' अथवा 'अधिकार कर लेंगे।' डा० जायसवाल का मत है कि उन्हें अपना घेरा उठा लेना पड़ा था। परन्तु टार्न महोदय का कथन है कि यवनों ने पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया था और इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी भारत यवनों के हाथ में चला गया। पुष्यमित्र ने विदिशा में भाग कर शरण ली। अब उसका राज्य एकमात्र विदिशा में ही रह गया।

टार्न महोदय का कहना है कि उसी समय डेमेट्रिअस को सूचना मिली कि उसके गृह-राज्य बैक्ट्रिया पर यूक्रेटाइडीज नामक एक दूसरे सरदार ने आक्रमण कर दिया है। अतः उसे पंजाब छोड़कर तत्काल बैक्ट्रिया जाना पड़ा। जाने के पूर्व उसने मीनेण्डर को भी पाटलिपुत्र छोड़कर अपने अधिक निकट मथुरा में बुला लिया। इस मत की पुष्टि गार्गी संहिता से भी होती है। इस ग्रन्थ का कथन है कि यवन मध्यदेश में अधिक समय तक न ठहर सकेंगे, उनमें पारस्परिक झगड़े होंगे।

पुष्यमित्र ने यूनानियों के इस गृह-युद्ध से पूरा लाभ उठाया। उसने पाटलिपुत्र से मथुरा तक के प्रदेश पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया और अपनी सफलता के उपलक्ष्य में द्वितीय अश्वमेध किया।

टार्न के मत की आलोचना

टार्न महोदय ने अपने मत को बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है और यवन-आक्रमण का व्यवस्थित रूप उपस्थित करने की चेष्टा की है। परन्तु अनेक स्थलों पर उन्होंने खुलकर कल्पना और अनुमान से काम लिया है। यवन-आक्रमण के ब्यौरे में जहाँ कहीं भी उन्हें रिक्त स्थान दिखाई दिया वहां तत्काल उन्होंने अपने मन से गढ़कर कोई न कोई काल्पनिक कड़ी जोड़ दी है। इस प्रकार उनके अनेक निष्कर्ष नितान्त सन्दिग्ध हैं। यहाँ हम उनके कुछ ऐसे ही सन्दिग्ध कथनों का उल्लेख करेंगे—

(१) यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण यवन-आक्रमण पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन-काल में ही हुआ, बृहद्रथ के शासन-काल में या आगे-पीछे आंशिक रूप से भी नहीं।

(२) सारे यूनानी एवं भारतीय साक्ष्य एक ही यवन-आक्रमण का उल्लेख करते हैं, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यह भी सम्भव है कि भिन्न-भिन्न कालों में यवन-आक्रमण हुए हों।

(३) किसी भी निश्चित साक्ष्य से यह सिद्ध नहीं होता कि अपोलोडोटस और मीनेण्डर क्रमशः डेमेट्रिअस के भाई और सेनापति थे और उन दोनों ने डेमेट्रिअस के नेतृत्व में अभियान किया था। वास्तव में ये दोनों डेमेट्रिअस के बाद हुए। यूनानी-रोमन लेखकों के विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि डेमेट्रिअस, अपोलोडोटस और मीनेण्डर तीनों ने अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से विजय की।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) पश्चिमी भारत की यूनानी-विजय के सम्बन्ध में एपालोडोरस और पेरीप्लस के कथन नितान्त अस्पष्ट और सन्दिग्ध हैं। सम्भवतः उनमें कोई ऐतिहासिकता नहीं है। किसी भी साक्ष्य में यह नहीं कहा गया कि किस यूनानी राजा ने किस समय पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया था। और यदि पश्चिमी भारत पर यूनानी आधिपत्य स्थापित ही हुआ था तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह आधिपत्य अपोलोडोटस ने स्थापित किया था।

(५) टार्न महोदय की यह कोरी कल्पना मात्र है कि अपोलोडोटस ने कच्छ-प्रदेश जीतने के पश्चात् वहाँ अपनी माता अथवा भाभी की स्मृति में थिओफिला नामक नगर बसाया।

(६) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि महाभाष्य में उल्लिखित मध्यमिका के आक्रमण का नेता अपोलोडोटस था।

(७) यह सिद्ध नहीं होता कि मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित यवनों का आक्रमण पहला आक्रमण था और महाभाष्य तथा गार्गी संहिता में उल्लिखित आक्रमण दूसरा। एवं दोनों आक्रमण एक ही विशाल योजना के दो अंग थे। अनेक विद्वान् मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित आक्रमण को द्वितीय आक्रमण मानते हैं और शेष दो ग्रन्थों में उल्लिखित आक्रमण को प्रथम आक्रमण। उनके अनुसार ये आक्रमण एक ही योजना के अंग न थे, वरन् दो भिन्न-भिन्न कालों में, दो भिन्न-भिन्न नेताओं के नेतृत्व में हुए थे।

(८) यूनानी-रोमन साक्ष्य मीनेण्डर को ही भारत-विजय का सबसे अधिक श्रेय देते हैं। यही सम्भव है कि जिस यूनानी आक्रमण की भारी सफलता का वर्णन भारतीय साक्ष्य करते हैं उसका नेता मीनेण्डर ही हो। यह भी सम्भव है कि उसने पंजाब से लेकर पाटलिपुत्र तक के सम्पूर्ण उत्तरी भारत को कुछ समय के लिये आक्रान्त कर दिया हो। उसकी मुद्रायें सोनीपत, मथुरा और बुन्देलखण्ड तक प्राप्त हुई हैं।

(९) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मीनेण्डर ने ये विजयें डेमेट्रिअस के सेनापति के रूप में की थीं। वास्तव में उसने ये विजयें स्वतन्त्र शासक के रूप में कीं।

(१०) गार्गी संहिता के जिस पाठ का आधार टार्न ने लिया है वह ठीक नहीं प्रतीत होता।

इन आपत्तियों के होते हुए टार्न महोदय के मत को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में यवन-आक्रमण हुआ था। सम्भव है कि एक से अधिक यवन-आक्रमण हुए हों। डा० ए० के० नारायण ने यह सिद्ध किया है कि मुख्य आक्रमण का नेता मीनेण्डर था और डेमेट्रिअस प्रथम ने भारत पर कोई आक्रमण नहीं किया।

साम्राज्य-विस्तार—डेमेट्रिअस के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा आक्सस नदी थी। उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा के विषय में तीन मत दिये जाते हैं—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) वह सिन्धु नदी तक थी
(२) वह व्यास नदी तक थी
(३) वह मथुरा तक थी
(४) वह पाटलिपुत्र तक थी ।

हम पहले ही कह चुके हैं कि यह सिद्ध नहीं होता कि डेमेट्रिग्रस प्रथम के नेतृत्व में भारत-विजय की गई। अतः डेमेट्रिग्रस के साम्राज्य की सीमायें पाटलिपुत्र अथवा मथुरा तक नहीं मानी जा सकतीं। कोई भी साक्ष्य यह नहीं बताता कि डेमेट्रिग्रस कभी भी व्यास नदी के पूर्व में गया था। उसका साम्राज्य-विस्तार पूर्व में सिन्धु नदी तक ही था।

यूक्रेटाइडीज—अपने गृह-राज्य बैक्ट्रिया के ऊपर यूक्रेटाइडीज नामक सरदार के आक्रमण की सूचना पाकर डेमेट्रिग्रस को भाग कर बैक्ट्रिया जाना पड़ा था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह यूक्रेटाइडीज कौन था। टार्न महोदय के मतानुसार यह एक साधारण व्यक्ति का पुत्र था परन्तु इसकी माता राजघराने की थी। कालान्तर में अपनी योग्यता से यूक्रेटाइडीज सीरिया के सम्राट् ऐंटिओकस चतुर्थ का सेनापति बन गया।

जस्टिन का कथन है कि यूक्रेटाइडीज बैक्ट्रिया का राजा उस समय हुआ जब मिथ्रडेटीज प्रथम पार्थिया का राजा हुआ। हम जानते हैं कि मिथ्रडेटीज प्रथम लगभग १७१ ई० पू० पार्थिया का राजा हुआ था। अतः यही बैक्ट्रिया पर यूक्रेटाइडीज के आक्रमण की तिथि हुई।

डेमेट्रिग्रस की पराजय और मृत्यु—जस्टिन का कथन है कि 'भारतीयों के राजा' डेमेट्रिग्रस ने लगभग ६० हजार सैनिकों के साथ बैक्ट्रिया में यूक्रेटाइडीज को घेर लिया। यद्यपि यूक्रेटाइडीज के पास केवल ३०० सैनिक थे फिर भी उसने डेमेट्रिग्रस को हरा दिया। बैक्ट्रिया के ऊपर यूक्रेटाइडीज का अधिकार हो गया और उसने वहाँ अपने नाम पर यूक्रेटाइडिग्रा नामक नगर की स्थापना की। यह पराजय डेमेट्रिग्रस प्रथम की न होकर द्वितीय की थी। गंधार के कुछ भाग पर उसका अधिकार था और इसीलिए जस्टिन ने उसे भारतीयों का राजा कहा।

डेमेट्रिग्रस प्रथम ने लगभग २०० ई० पू० से १८५ ई०पू० तक राज्य किया। और डेमेट्रिग्रस द्वितीय ने ई० पू० १८० से १६५ तक।

यूक्रेटाइडीज की अन्य विजयें—बैक्ट्रिया पर अधिकार करने के पश्चात् यूक्रेटाइडीज ने डेमेट्रिग्रस के साम्राज्य के अन्य प्रदेशों को भी जीता। उसकी मुद्रायें काबुल, और सीमान्त में मिली हैं। अतः ये प्रदेश भी उसके अधिकार में आ गये होंगे।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत पर आक्रमण—यूक्रेटाइडीज ने भारत पर आक्रमण किया और उसके कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं—

(१) जस्टिन का कथन है कि यूक्रेटाइडीज ने भारत पर अधिकार कर लिया था।

(२) उसकी कुछ मुद्राओं पर यूनानी और खरोष्ठी में लेख मिलते हैं। ये द्विलिपिक मुद्रायें उसके भारतीय आधिपत्य को सिद्ध करती हैं।

(३) उसकी मुद्रायें गन्धार और पश्चिमी पंजाब में मिली हैं।

इन साक्ष्यों से प्रकट होता है कि सम्भवतः यूक्रेटाइडीज ने झेलम तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया था।

इस राज्य-विस्तार में यूक्रेटाइडीज को अपने प्रतिस्पर्धी डेमेट्रिअस वंश के कुछ राजकुमारों से युद्ध करना पड़ा था। कपिशा में चाँदी की कुछ मुद्रायें मिली हैं। इन पर टार्न यूक्रेटाइडीज का नाम पढ़ते हैं। टार्न का मत है कि यूक्रेटाइडीज ने अपोलोडोटस को हराकर उसका राज्य छीन लिया था और इस युद्ध में सम्भवतः अपोलोडोटस मारा गया था। यह अपोलोडोटस सम्भवतः यूथीडेमस के वंश का था। टार्न महोदय उसे डेमेट्रिअस का भाई बताते हैं। परन्तु टार्न का यह मत भ्रमपूर्ण है।

अन्य मुद्राओं से एगाथोक्लीज, पैण्टालिअन, ऐण्टीमेकस, यूथीडेमस द्वितीय और डेमेट्रिअस द्वितीय के नाम मिलते हैं। प्रायः ये सभी यूथीडेमस वंश के थे। इनका शासन-काल ई० पूर्व १६५ तक रखा जा सकता है।

यूक्रेटाइडीज का पतन—शीघ्र ही यूक्रेटाइडीज को अनेक शत्रुओं का सामना करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप उसकी शक्ति बहुत क्षीण हो गई। ये शत्रु निम्न-लिखित थे—

(१) जस्टिन का कथन है कि सोग्दिआना के लोगों ने उसका विरोध किया। सम्भवतः ये शक थे। इनसे यूक्रेटाइडीज के साम्राज्य के लिये भारी खतरा उत्पन्न हो गया था।

(२) टार्न के मतानुसार मीनेण्डर यूक्रेटाइडीज का समकालीन था और उसने यूक्रेटाइडीज से काबुल, पश्चिमी पंजाब और गन्धार के प्रदेश छीन लिये थे। इन प्रदेशों में मीनेण्डर की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं।

(३) जस्टिन के कथन से विदित होता है कि पार्थिया-नरेश मिथ्राडेटीज प्रथम यूक्रेटाइडीज का समकालीन था। उसने भी बैक्ट्रिया-राज्य के साम्राज्य के कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार अन्त में यूक्रेटाइडीज के अधिकार में केवल बैक्ट्रिया का प्रदेश रह गया।

यूक्रेटाइडीज की मृत्यु—यूक्रेटाइडीज की मृत्यु के सम्बन्ध में दो प्रमुख मत हैं—

(१) जस्टिन के कथनानुसार यूक्रेटाइडीज के पुत्र हेलिओक्लीज ने पार्थिया-नरेश के सहयोग से अपने पिता की हत्या कर दी। यही ठीक प्रतीत होता है।

(२) टार्न महोदय जस्टिन के कथन को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार यूक्रेटाइडीज की हत्या डेमेट्रिअस प्रथम के पुत्र डेमेट्रिअस द्वितीय ने की। परन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

यूक्रेटाइडीज की मृत्यु की तिथि १५५ ई० पू० के लगभग रखी जाती है।

भारतवर्ष में दो यूनानी शाखायें—इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में दो परस्पर-विरोधी यूनानी शाखाओं का शासन प्रारम्भ हुआ। एक शाखा यूथीडेमस के वंशजों की थी और दूसरी यूक्रेटाइडीज के वंशजों की। दोनों शाखाओं के परवर्ती शासकों के क्रम, शासन-काल, घटनाओं आदि के विषय में निश्चयपूर्वक अधिक नहीं कहा जा सकता। इस अनिश्चित काल का इतिहास प्रायः मुद्राओं के ऊपर निर्भर है। कभी-कभी तो यह बताना कठिन हो जाता है कि अमुक राजा यूथीडेमस-वंश का है अथवा यूक्रेटाइडीज वंश का। ये दोनों वंश बहुधा आपस में लड़ा करते थे। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि दोनों वंशों के राज्यों के बीच की सीमा झेलम नदी थी। झेलम के पूर्व में प्रायः यूथीडेमस के वंशजों ने राज्य किया और झेलम के पश्चिम में यूक्रेटाइडीज के वंशजों ने।

मीनेण्डर

भारतीय, विशेषतया बौद्ध, इतिहास में मीनेण्डर का नाम प्रसिद्ध है। वह एक महान् विजेता, बौद्ध धर्मानुरागी, विद्याप्रेमी और कलाप्रेमी था।

इसका इतिहास निम्नलिखित साक्ष्यों से ज्ञात होता है—

(१) मुद्रायें।
(२) यूनानी-रोमन लेखक।
(३) तारानाथ।
(४) क्षेमेन्द्रकृत 'अवदानकल्पलता'।
(५) 'मिलिन्दप्रश्न'।
(६) स्याम की जनश्रुति।
(७) बजौर पात्र-लेख, इत्यादि।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिचय---पाली मिलिन्दप्रश्न का कथन है कि मिलिन्द (मीनेण्डर) अलसन्द द्वीप के कलसी ग्राम में उत्पन्न हुआ था। मिलिन्दप्रश्न में अलसन्द को साकल से २०० योजन दूर बताया गया है। परन्तु चीनी मिलिन्दप्रश्न के अनुसार वह २,००० योजन की दूरी पर था। इस अन्तर के कारण विद्वानों में अलसन्द के समीकरण के विषय में मतभेद है। अधिकांश भारतीय विद्वान् अलसन्द को हिन्दूकुश का सिकन्दरिया (Alexandria-Under the Caucasus) मानते हैं। परन्तु ग्राउस, लेवी आदि विद्वानों के अनुसार अलसन्द मिस्र का सिकन्दरिया था।

जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि मीनेण्डर एक ग्राम में उत्पन्न हुआ था। अतः वह साधारण परिवार का ही प्रतीत होता है।[1] वह यूथीडेमस-वंश का न था और एकमात्र अपनी योग्यता और वीरता के कारण राजपद पर पहुँचा था।

टार्न के मतानुसार डेमेट्रिअस ने उसे अपना सेनापति नियुक्त किया था और भारतवर्ष की सबसे महत्वपूर्ण विजय—उत्तरी भारत की विजय—का काम उसके सिपुर्द किया था, जिसे उसने बड़ी सफलता के साथ सम्पादित किया।

टार्न का पुनः कथन है कि डेमेट्रिअस और अपोलोडोटस की मृत्यु के पश्चात् यूथीडेमस-वंश में कोई भी ऐसा राजकुमार न था जो जीते हुए भारतीय राज्य को अपने आधिपत्य में रख सकता। अतः यूथीडेमस-वंश के हितों की रक्षा का भार डेमेट्रिअस के सेनापति मीनेण्डर के कन्धों पर पड़ा। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिये उसने डेमेट्रिअस की पुत्री एगाथोक्लिआ के साथ विवाह कर लिया। परन्तु टार्न महोदय का यह सम्पूर्ण मत सम्भावना ही है, निश्चित इतिहास नहीं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि—

(१) मीनेण्डर डेमेट्रिअस का सेनापति था।
(२) उसने डेमेट्रिअस की अधीनता में भारत-विजय की थी।
(३) एगाथोक्लिआ डेमेट्रिअस की पुत्री थी, और
(४) मीनेण्डर ने उसके साथ विवाह किया था।

तिथि—मीनेण्डर की तिथि के विषय में भी बड़ा मतभेद है। परन्तु रैप्सन, टार्न आदि विद्वान् उसे १५० ई० पू० के आसपास मानते हैं। इन विद्वानों के प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं—

---

१. "........whether the unknown name Kalasi be correct or not, we have the invaluable fact that Menander was born in a village. Hellenistic queens did not live in villages. Neither were Hellenistic princes born in them; consequently—and this is the point which matters—Menander was born a commoner and was not therefore a Euthydemid". —Tarn

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) मीनेण्डर और यूक्रेटाइडीज की कुछ वर्गाकार ताम्र-मुद्रायें इतनी समान हैं कि वे एक ही काल और प्रदेश की प्रतीत होती हैं।[1] डेमेट्रिअस और यूक्रेटाइडीज समकालीन थे। अतः डेमेट्रिअस और मीनेण्डर भी समकालीन होंगे।

(२) अपोलोडोटस की मुद्राओं को यूक्रेटाइडीज ने अपने नाम से पुनः प्रसारित किया था। अतः वे दोनों समकालीन हुए। इस प्रकार अपोलोडोटस, डेमेट्रिअस और मीनेण्डर सभी यूक्रेटाइडीज के समकालीन हुए।

(३) एगाथोक्लिआ और मीनेण्डर कम से कम समकालीन थे। एगाथोक्लिआ की मुद्राओं को १५० ई० पू० के लगभग हेलिओक्लीज ने अपने नाम से अंकित करके पुनः चलाया था। अतः मीनेण्डर को १५० ई० पू० के लगभग रखा जा सकता है।

कुछ विद्वानों ने मीनेण्डर को १५० ई० पू० के आस-पास मानने में निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

(१) बौद्ध जनश्रुति के अनुसार मीनेण्डर महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि से ५०० वर्ष पश्चात् हुआ था। अतः उसकी तिथि ४८३ – ५०० = १७ ई० के आसपास प्रतीत होती है।

(२) कुछ विद्वान् मीनेण्डर को स्ट्रैटो द्वितीय के पश्चात् रखते हैं। स्ट्रैटो का काल उनके द्वारा ९० ई० पू० के पश्चात् रखा जाता है। अतः मीनेण्डर ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुआ होगा।

(३) स्वात घाटी के बजौर स्थान से एक अभिलिखित पाषाण-मंजूषा मिली है। इस पर खरोष्ठी लिपि में दो लेख हैं। प्रथम लेख का कथन है कि मीनेण्डर के शासन के पाँचवें वर्ष में वियकमित्र नामक एक सरदार ने महात्मा बुद्ध के अवशेषों को सुरक्षित किया था। दूसरे लेख का कथन है कि विजयमित्र नामक एक व्यक्ति ने उन अवशेषों को पुनः सुरक्षित किया था। यह विजयमित्र अस्पवर्मा का पितामह था और अस्पवर्मा एजेज द्वितीय (पह्लव-शासक) का सामन्त था। इस ब्यौरे से विजयमित्र और एजेज द्वितीय में ३ पीढ़ियों का अन्तर हुआ। इस स्थिति में इन विद्वानों के अनुसार विजयमित्र का काल ई० पू० प्रथम शताब्दी हुआ। कुछ विद्वान् बजौर अभिलेख के वियकमित्र और विजयमित्र को एक ही व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार वियकमित्र, विजयमित्र और मीनेण्डर तीनों ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखे जा सकते हैं।

---

१. "Some of the square copper coins of Menander and Eucratides are so similar in style that they may reasonably be assigned not only to the same general period, but also to the same region—a region which must have passed from one rule to the other."
—Rapson

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये विद्वान् पुनः कहते हैं कि यदि हम विजयमित्र और वियकमित्र को एक व्यक्ति न मानें तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दोनों में लगभग ५० वर्ष का अन्तर था[1]। इस परिस्थिति में भी मीनेण्डर को ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखा जा सकता है।

परन्तु ये तीनों तर्क निर्बल हैं—

(१) बौद्ध जनश्रुति विश्वसनीय नहीं। ५०० की संख्या उसमें रूढ़-सी मिलती है।

(२) हम जानते हैं कि मीनेण्डर विशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसका शासन-काल सुख-समृद्धिपूर्ण था। इसके विरुद्ध स्ट्रैटो तक यूनानी साम्राज्य नितान्त निर्बल हो गया था। उसके विस्तार, शक्ति और समृद्धि सभी में अवनति हो गई थी। अतः इस अवनति-काल में मीनेण्डर को नहीं रखा जा सकता। वह स्ट्रैटो द्वितीय के निश्चय ही पूर्व हुआ।

(३) बजौर-अभिलेख का साक्ष्य बड़ा विवादग्रस्त है—

(अ) यह नहीं कहा जा सकता कि वियकमित्र और विजयमित्र एक ही व्यक्ति थे।

(ब) यह भी निश्चित नहीं है कि दोनों के बीच ५० वर्ष से अधिक का अन्तर न था।

(स) कुछ विद्वानों के अनुसार यह भी निर्विवाद नहीं है कि बजौर-अभिलेख का विजयमित्र अस्पवर्मा का पितामह था।

अस्तु, मीनेण्डर का शासन हम १५५ से १३० ई० पूर्व तक मान सकते हैं।

साम्राज्य-विस्तार—मीनेण्डर ने निश्चितरूप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। यूनानी-रोमन साक्ष्यों के अनुसार उसने सिकन्दर से भी अधिक राष्ट्र जीते थे।

साहित्यिक एवं मुद्रासम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने उसके साम्राज्य की सीमाओं को निम्नलिखित रूप में निश्चित किया है—

पूर्वी सीमा—स्ट्रैबो के कथन से प्रकट होता है कि उसके पूर्व कुछ लेखकों का यह विश्वास था कि मीनेण्डर यमुना (अथवा सोन) तक पहुँच गया था। अनेक विद्वानों का मत है कि गार्गी-संहिता में जिस यवन आक्रमण का उल्लेख है उसका नेता मीनेण्डर ही था। यह संभव है तो भी उसके राज्य की पूर्वी सीमा किसी समय भी पाटलिपुत्र (गंगा-सोन के संगम पर स्थित) तक नहीं मानी जा सकती।

टार्न का मत है कि जिस समय डेमेट्रिअस यूक्रेटाइडीज का सामना करने के लिये बैक्ट्रिया गया उस समय मीनेण्डर पाटलिपुत्र छोड़कर मथुरा (यमुना-तट पर

---

१. "........the difference in age between the two sets of inscriptions was probably little more than fifty years". —N. G. Majumdar

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थित) आगया। उस समय से यही नगर भारत में यूनानी राज्य की पूर्वी सीमा बना। पर कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला जिससे सिद्ध होता हो कि मथुरा पर मीनेण्डर का अधिकार था।

पश्चिमी सीमा उसका साम्राज्य बैक्ट्रिया तथा काबुल घाटी तक विस्तृत था। इस कथन के पक्ष में निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) बैक्ट्रिया, हजारा जिला और स्वात की घाटी में उसकी मुद्राओं के भाण्ड मिले हैं।

(२) बजौर से जो उक्त अभिलेख मिला है जिसमें मीनेण्डर के शासन-काल के पाँचवें वर्ष का उल्लेख है।

मध्यवर्ती प्रदेश—इन दोनों सीमाओं—पंजाब और काबुल घाटी—के बीच के अन्य प्रदेशों में भी उसके आधिपत्य के अनेक साक्ष्य मिले हैं—

(१) काबुल घाटी और हिन्दूकुश के बीच में उसकी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं।

(२) उसकी मुद्रायें गन्धार में भी मिली हैं।

(३) अधिकांश पंजाब उसके अधीन था। 'मिलिन्दप्रश्न' के अनुसार यहाँ का प्रसिद्ध नगर साकल (स्यालकोट) उसकी राजधानी थी। स्ट्रैबो के पूर्वगामी लेखकों का भी यह विश्वास था कि मीनेण्डर ने पंजाब की व्यास नदी पार की थी। इसका अर्थ है कि उसने पंजाब के अधिकांश पर अधिकार कर लिया था।

(४) सिन्ध-प्रदेश और उ० पू० बलूचिस्तान में भी उसकी मुद्रायें मिली हैं।

(५) पतंजलि ने मध्यमिका (चित्तौड़ के समीप) नगरी पर यवन-आक्रमण का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस आक्रमण का नेता मीनेण्डर था और उसने मध्यमिका पर शायद अधिकार स्थापित किया था। उसकी कुछ मुद्राओं पर ऊँट का चित्र मिलता है। पर इससे राजस्थान पर उसका आधिपत्य नहीं प्रकट होता।

दिल्ली के समीप सोनीपत में मीनेण्डर की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। उसी प्रकार कुछ सिक्के मथुरा और बुन्देलखण्ड से मिले हैं। परन्तु इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि इन क्षेत्रों पर मीनेण्डर का अधिकार था।

इस प्रकार मीनेण्डर के साम्राज्य में बैक्ट्रिया, काबुल घाटी, हिन्दूकुश-प्रदेश, गन्धार, पंजाब का पूर्वी भाग, सिन्ध दो आब तथा बलूचिस्तान का उत्तर-पूर्वी भाग सम्मिलित थे।

पेरीप्लस का कथन है कि बैरीगाजा (भड़ौंच) में अपोलोडोटस और मीनेण्डर की मुद्रायें प्रचलित थीं। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने भड़ौंच-प्रदेश को भी मीनेण्डर के साम्राज्य में माना है। परन्तु यह ठीक नहीं है।

राजधानी—मिलिन्दप्रश्न का कथन है कि मीनेण्डर के विशाल साम्राज्य की राजधानी साकल थी। इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर व्यापार-व्यवसाय का केन्द्र था। इसका निर्माण कुशल वास्तुकारों ने किया था। इसके सैकड़ों-भव्य प्रासाद

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिमालय की चोटियों की भाँति ऊँचे थे। यहाँ क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, श्रमण आदि सभी रहते थे। इस नगर में बड़े-बड़े विद्वान् आते थे। यहाँ काशी और दूर-दूर के अन्य स्थानों के बने हुए वस्त्रों की दूकानें थीं। नगर विलास-सामग्री से परिपूर्ण था। वहाँ सोने, चांदी तथा बहुमूल्य रत्नों का आधिक्य था। यह नगर उत्तरकुरु की भाँति उपजाऊ और अलसन्द की भाँति आकर्षक था।

मीनेण्डर का विद्या-प्रेम—मिलिन्दप्रश्न से प्रकट होता है कि महान् विजेता होने के साथ-साथ मीनेण्डर एक असाधारण विद्या-प्रेमी भी था। वह श्रुति, स्मृति, न्याय, वैशेषिक, गणित, संगीत और युद्ध-विद्या में पारंगत था। वादविवाद में वह अद्वितीय था।

मीनेण्डर का बौद्ध धर्म—अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि भारतीय संस्कृति ने इस विदेशी विजेता को अपना लिया था। उसका भारतीयकरण हो गया और उसने अपने यूनानीधर्म का परित्याग करके भारतीय बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। मीनेण्डर भारतवर्ष में 'मिलिन्द' बन गया।

जनश्रुति के अनुसार मीनेण्डर प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागसेन के सम्पर्क में आया और उसी के प्रभाव से उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

कुछ विद्वानों ने मीनेण्डर के बौद्ध होने में शंका की है। इनमें विशेषरूप से उल्लेखनीय टार्न महोदय हैं। वे समस्त साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मीनेण्डर को निश्चितरूप से बौद्ध नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि वह बौद्ध नहीं था। सम्भवतः उसने बौद्ध धर्म के प्रति जो आकर्षण दिखाया था उसका उद्देश्य अपनी बौद्ध प्रजा का सहयोग प्राप्त करना था। उसके राज्य में बहुसंख्यक बौद्ध थे और मीनेण्डर जानता था कि उनके सहयोग और सहायता के बिना अपनी सत्ता बनाये रखना कठिन है।[1]

मार्शल महोदय का भी मत है कि यदि मीनेण्डर ने बौद्ध धर्म का पक्ष लिया था तो उसका कारण एकमात्र राजनीतिक था।

---

१. "He had an enormous number of Buddhist subjects and he probably could not have maintained his power without their support; politically, therefore, he must have done whatever seemed advisable to ensure that support, for no other cause was open to him.........No one can prove that Menander was not a Buddhist; but his adoption as his coin-type of the one Greek deity, who was practically never equated with anything oriental, Athena, is against it, and on what is known it seems to be quite unsafe to call him a Buddhist even in the limited sense". —Tarn

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु समस्त साक्ष्यों पर विचार करने से इन विद्वानों की शंका असंगत प्रतीत होती है। मीनेण्डर उसी प्रकार बौद्ध था जिस प्रकार अशोक अथवा कनिष्क। इनका निर्णय करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) **मिलिन्द प्रश्न**—विण्टरनिज आदि विद्वानों का कथन है कि यह ग्रन्थ प्रथम शताब्दी में लिखा गया था, अतः इसका रचना-काल मीनेण्डर (१५० ई० पू०) के शासन-काल से अधिक दूर न था। इस प्रकार मीनेण्डर के इतिहास के लिये यह ग्रन्थ एक विश्वसनीय साधन माना जा सकता है।

परन्तु आज पाली में जो 'मिलिन्द प्रश्न' मिलता है उसमें प्रक्षेप (बाद को जोड़े गये भाग) बहुत हैं। आज पाली 'मिलिन्द प्रश्न' में ७ अध्याय हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि इनमें अन्तिम ४ अध्याय प्रक्षेप हैं। इस अन्तिम भाग में मिलिन्द को राजवंशीय कहा गया है, जबकि प्रथम भाग स्पष्टरूप से उसे कलसी ग्राम में उत्पन्न हुआ, अर्थात् साधारण व्यक्ति, बताता है। इसी अन्तिम भाग का कथन है कि मीनेण्डर अन्त में अर्हत् हो गया था और उसने अपने पुत्र को राजपाट सौंपकर संसार-त्याग कर दिया था। इसके विरुद्ध प्लूटार्क के कथन से प्रकट होता है कि वह कभी भी भिक्षु नहीं हुआ था। वह मृत्युपर्यन्त राजा रहा था और उसकी मृत्यु शिविर में हुई थी। टार्न का मत है कि उसकी मृत्यु के समय उसका पुत्र स्ट्रैटो प्रथम अल्पवयस्क था। अतः स्ट्रैटो ने नहीं वरन् स्ट्रैटो की माता एगाथोक्लिया ने संरक्षिका के रूप में मीनेण्डर के पश्चात् शासन किया था। इन विरोधी कथनों के अतिरिक्त 'मिलिन्द प्रश्न' के दोनों भागों की भाषा और शैली में भी अन्तर है। यह नहीं, चीनी 'मिलिन्द प्रश्न' में केवल प्रथम तीन अध्याय ही मिलते हैं। इससे यह सन्देह और भी पुष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के अन्तिम चार अध्याय प्रक्षेप हैं।

टार्न महोदय का कथन है कि मीनेण्डर के बौद्ध होने की बात 'मिलिन्द प्रश्न' के दूसरे भाग में कही गई है, प्रथम भाग में नहीं। अतः उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

'मिलिन्दप्रश्न' के कथानक से भी इस मत की पुष्टि होती है। इस कथानक का सार यह है कि मिलिन्द के हृदय में अनेक प्रकार की धार्मिक एवं दार्शनिक शंकायें उठ रही थीं। अन्त में वह प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागसेन से मिला और अपनी शंकाओं को प्रकट करते हुए उसने उससे अनेक प्रकार के प्रश्न किये। नागसेन ने उन सब प्रश्नों का उत्तर बड़े संतोषजनक रूप में दिया। उसके प्रश्नों को दृष्टिकोण में रखते हुए ही लेखक ने इस ग्रन्थ का नाम 'मिलिन्द प्रश्न' रखा। प्रश्नोत्तरों के साथ इस ग्रन्थ का विषय समाप्त हो जाता है। मीनेण्डर के बौद्ध धर्म ग्रहण करने की बात इस ग्रन्थ का विषय न रहा होगा। कम से कम ग्रन्थ के नाम से यही अनुमान होता है। अतः उसके बौद्ध धर्म में दीक्षित होने, अर्हत होने और सिंहासन-त्याग करने की बातें सम्भवतः प्रक्षेप हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार का साहित्यिक उदाहरण कालिदास के 'कुमार-सम्भवम्' से भी प्राप्त होता है। ग्रन्थ के नाम से प्रकट होता है कि उसका विषय कुमार के जन्म तक था। परन्तु आज कुमार-सम्भव की उपलब्ध प्रतियों में कुमार के जन्म के पश्चात् की भी अनेक बातें पाई जाती हैं, जो प्रक्षिप्त हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'मिलिन्द प्रश्न' का अन्तिम भाग प्रक्षेप है और वह बौद्ध भिक्षु कभी नहीं हुआ था।

परन्तु फिर भी 'मिलिन्द प्रश्न' बौद्ध धर्म के प्रति मीनेण्डर के प्रगाढ़ अनुराग को सिद्ध करता है। अपनी शंकाओं के निराकरण के पश्चात्, नागसेन के प्रभाव में, यदि वह अशोक और कनिष्क की भाँति उपासक बौद्ध हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'मिलिन्द प्रश्न' के प्रथम भाग के तीसरे अध्याय में मीनेण्डर स्वयं कहता है कि "भिक्षु होना चाहता हूँ, परन्तु मेरे शत्रुओं की संख्या इतनी अधिक है कि इच्छा रहते हुए भी मैं ऐसा नहीं कर सकता।" इस कथन के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि हो सकता है कि मीनेण्डर ने भिक्षु धर्म न स्वीकार किया हो, परन्तु वह उपासक बौद्ध हो गया हो।

(२) अवदान कल्पलता—इसकी रचना ग्यारहवीं शताब्दी के काश्मीरी विद्वान् क्षेमेन्द्र ने की थी। इसके अनुसार मीनेण्डर ने काश्मीर में एक विशाल स्तूप बनवाया था। इससे उसका बौद्ध होना प्रतीत होता है।

(३) तारानाथ—यह तिब्बती लेखक तुखार देश (बल्ख) के राजा मिनार का उल्लेख करता है जिसे धितिक नामक एक बौद्ध आचार्य ने अपने धर्म में दीक्षित किया था। मिनार का समीकरण मिलिन्द (मीनेण्डर) के साथ किया जाता है। बैक्ट्रिया का मूल-निवासी होने के कारण उसे तारानाथ ने भूल से बल्ख (तुखार देश) का राजा बताया है। सम्भव है कि धितिक भी ऐतिहासिक व्यक्ति न हो। परन्तु ये सब ब्यौरे की बातें हैं। जहाँ तक मीनेण्डर के बौद्ध होने का प्रश्न है, उसके उल्लेख में कालान्तर के लेखकों ने भी कोई भूल नहीं की है।

(४) प्लूटार्क—इस लेखक का कथन है कि मीनेण्डर की मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य के प्रमुख नगरों में उसके अवशेषों के विभाजन के लिये झगड़ा हुआ। अन्त में सभी प्रमुख नगरों ने उसके अवशेषों पर एक-एक स्तूप बनवाया।

विण्टरनिज महोदय का मत है कि अवशेष-वितरण और स्तूप-निर्माण की यह कथा महात्मा बुद्ध की जीवनी के आधार पर मीनेण्डर की जीवनी में जोड़ी गई है। सम्भव है कि यह ऐतिहासिक घटना न हो। विण्टरनिज की शंका संगत हो सकती है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि यदि मीनेण्डर बौद्ध न होता तो क्या इस प्रकार की कथा उसके साथ जोड़ी जाती? प्लूटार्क के इस कथन से कम से कम उसका बौद्ध होना सिद्ध होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टार्न महोदय यह भी कहते हैं कि स्तूप तो चक्रवर्ती राजाओं के अवशेषों के ऊपर भी बनाये जाते हैं। परन्तु इतिहास में व्यावहारिक रूप में किसी भी अबौद्ध चक्रवर्ती राजा के अवशेषों के ऊपर स्तूप बनाने का उदाहरण नहीं मिलता। स्तूप-निर्माण प्राय: बौद्धों के अवशेषों पर ही हुआ है।

प्लूटार्क अन्यत्र कहता है कि मीनेण्डर की मृत्यु शिविर में हुई थी। इससे प्रकट होता है कि उसकी मृत्यु या तो किसी सैनिक अभियान (military expedition) के समय हुई थी या किसी प्रदेश का दौरा करते समय।

प्लूटार्क के इस कथन से अधिक से अधिक यही सिद्ध होता है कि मीनेण्डर संसार-त्यागी बौद्ध भिक्षु न था और वह अन्त तक राजकाज करता रहा था। परन्तु यह साक्ष्य उसके उपासक बौद्ध होने के विरुद्ध उद्धृत नहीं किया जा सकता।

स्याम की जनश्रुति—स्याम की एक जनश्रुति है कि मीनेण्डर के गुरु नागसेन ने अपनी दैवी शक्ति से महात्मा बुद्ध की एक अमूल्य मूर्ति का निर्माण किया था। यहाँ मीनेण्डर का उल्लेख नागसेन और बुद्ध-मूर्ति के सम्बन्ध में हुआ है। अत: वह स्वयं भी बौद्ध होगा।

मुद्रायें—मीनेण्डर की चाँदी और ताँबे की कुछ मुद्राओं पर 'धार्मिकस्य' (Dikaioi) की उपाधि मिलती है। टार्न महोदय कहते हैं कि इसका अर्थ बौद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एगाथोक्लीज, हेलिओक्लीज और आर्केबिअस आदि अबौद्ध यूनानी शासकों की मुद्राओं पर भी यह उपाधि मिलती है। अत: 'धार्मिकस्य' का साधारण अर्थ 'न्याय-प्रिय' लगाना चाहिए।

मीनेण्डर की कुछ मुद्राओं के अग्रभाग पर धर्मचक्र का चिह्न मिलता है। टार्न महोदय कहते हैं कि यह सदैव बौद्ध धर्म का द्योतक नहीं है; इसे चक्रवर्ती राजा का चिह्न मानना चाहिए। यही नहीं, प्राचीन भारत की कुछ आहत मुद्राओं (punch marked coins) के ऊपर भी यह चिह्न मिलता है।

टार्न महोदय के इन कथनों में कुछ सत्य हो सकता है। परन्तु जब अन्य साक्ष्य मीनेण्डर को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में बौद्ध कहते हैं तो उनके प्रसंग में 'धार्मिक' उपाधि और 'धर्मचक्र' बौद्ध धर्म के ही सूचक होंगे।

अत: मीनेण्डर को बौद्ध स्वीकार कर लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं दिखाई देती।

बौद्ध साहित्य में मीनेण्डर को बड़ा महत्व दिया गया है—(१) मीनेण्डर और नागसेन के युग्म की कल्पना सम्भवत: अशोक और मोग्गलिपुत्र तिष्य के युग्म पर आधारित हो। (२) उसके अवशेषों के वितरण एवं उनके ऊपर स्तूप-निर्माण की कथा सम्भवत: महात्मा बुद्ध की जीवनी के आधार पर गढ़ी गई हो। (३) कदाचित मीनेण्डर की सभा के ५०० सदस्यों की कल्पना महात्मा बुद्ध के ५०० अर्हतों से प्रेरित हुई हो।

 CC-0: Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी भी अन्य धर्म का ग्रन्थ मीनेण्डर को अन्य धर्मावलम्बी नहीं बताता।

मीनेण्डर के बौद्ध होने की बात एकमात्र भारत में ही नहीं वरन् तिब्बत, चीन और स्याम तक प्रचलित थी। ऐसी सुदृढ़ और सुदीर्घ जनश्रुति पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

मीनेण्डर के पश्चात् यूथीडेमस-वंश

स्ट्रैटो प्रथम—कुछ मुद्राओं पर एगाथोक्लिआ और स्ट्रैटो इन दो के नाम मिलते हैं और कुछ पर केवल स्ट्रैटो का। टार्न महोदय का मत है कि मीनेण्डर की मृत्यु (लगभग १३० ई० पू०) के समय उसका पुत्र स्ट्रैटो प्रथम अल्पवयस्क था। अतः मीनेण्डर की पत्नी एगाथोक्लिआ ने अपने पुत्र की संरक्षिका के रूप में कुछ समय तक राज्य किया। जब स्ट्रैटो प्रथम वयस्क हो गया तब वह स्वयं राज्य करने लगा।

स्ट्रैटो प्रथम की पराजय—कुछ मुद्राओं पर एगाथोक्लिआ और स्ट्रैटो के नाम मिलते हैं। कुछ मुद्राओं पर केवल एगाथोक्लिआ का, जो उसके संरक्षिका रहने के काल के हैं।

टार्न महोदय का मत है कि हेलिओक्लीज यूक्रेटाइडीज का पुत्र था और उसने स्ट्रैटो पर आक्रमण करके उसे पराजित किया था तथा उसकी मुद्राओं को अपने नाम से प्रसारित करवाया था। परन्तु यह मत युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता।

हेलिओक्लीज की मुद्रायें काबुल से लेकर झेलम तक मिलती हैं। यह सम्पूर्ण प्रदेश मीनेण्डर के अधीन था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि स्ट्रैटो प्रथम की पराजय के पश्चात यह प्रदेश यूथीडेमस-वंश के हाथ से निकल गया था और साम्राज्य के केवल पूर्वी भाग पर स्ट्रैटो का अधिकार रह गया था। इसके बाद लगभग १५ वर्षों तक उसे राजच्युत रहना पड़ा। फिर कोई पाँच साल के लिए वह पुनः शासक रहा।

सिंध और बलूचिस्तान के ऊपर स्ट्रैटो प्रथम के अधिकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

स्ट्रैटो द्वितीय—७५ ई० पू० के लगभग स्ट्रैटो प्रथम की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र स्ट्रैटो द्वितीय सिंहासन पर बैठा। कुछ मुद्राओं पर स्ट्रैटो प्रथम और स्ट्रैटो द्वितीय दोनों के चित्र मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ समय तक स्ट्रैटो द्वितीय ने अपने पिता स्ट्रैटो प्रथम के साथ शासन किया।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन—स्ट्रैटो द्वितीय का काल अनेक भारतीय जातियों की स्वतन्त्रता के सफल आन्दोलन का काल था। इस काल में पंजाब और उत्तरी राजस्थान के अनेक भारतीय शासकों ने अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित की।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मथुरा मे लेकर रावी नदी तक के प्रदेश में आर्जुनायन, औदुम्बर, कुणिन्द आदि जातियों की स्वतन्त्र सत्ता के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रदेश में इनकी ई० पू० प्रथम शताब्दी की मुद्रायें मिली हैं।

यूथीडेमस-वंश के अन्तिम राजा—स्ट्रैटो द्वितीय का राज्य केवल रावी और झेलम नदियों के बीच में ही रह गया था।

इस प्रदेश में इस वंश के कुछ अन्य शासकों ने भी राज्य किया। यहाँ इनकी मुद्रायें मिली हैं। इन राजाओं में डायोनिसस, जोइलस, अपोलोफेनस, निसिअस, अपोलोडोटस और हिपास्ट्रेटस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये यूथोडेमस-वंश के ही थे, इस बात के दो प्रमुख साक्ष्य हैं—

(१) इनकी मुद्रायें प्रायः रावी और झेलम के बीच के प्रदेश में पाई गई हैं। यह प्रदेश स्ट्रैटो द्वितीय के अधिकार में था।

(२) इनकी मुद्रायें डिमेट्रिअस की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं।

इनमें अपोलोडोटस (सम्भवतः ११५-६५ ई० पू०) की मुद्राएँ बड़ी संख्या में भारत में मिली हैं।

यूथीडेमस-वंश का पतन—ई० पू० प्रथम शती के अंत में शकों का उदय हुआ और उन्होंने रहे-सहे यूनानी राज्य का विनाश कर दिया। यूक्रेटाइडीज और यूथीडेमस वंशों के राजा अपनी पारस्परिक शत्रुता के कारण सम्मिलित रूप से शकों का सामना न कर सके और उन दोनों के ही राज्यों को शकों ने छीन लिया।

सर्वप्रमुख शक-नरेश मौएस ने यूक्रेटाइडीज-वंश के प्रदेश छीने और उसके उत्तराधिकारी एजेज प्रथम ने यूथीडेमस-वंश के प्रदेश।

यूथीडेमस-वंश के अन्तिम दो राजा फिलावसेनस और हिपास्ट्रेटस थे। द्वितीय की मुद्राओं पर एजेज प्रथम का नाम मिलता है। इससे प्रकट होता है कि उसने इसे पराजित किया और उसकी मुद्राओं को अपने नाम से चलाया।

एजेज प्रथम को ७३ ई० पू० के लगभग रखा जाता है। अतः यही काल यूथीडेमस-वंश का अन्तिम काल था।

यूक्रेटाइडीज-वंश

हेलिओक्लीज—१५५ ई० पू० के लगभग यूक्रेटाइडीज की हत्या कर दी गई। यह हत्यारा कौन था, इस बात पर मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार यूक्रेटाइडीज की हत्या उसके पुत्र हेलिओक्लीज (प्रथम) ने की थी। सम्भवतः पार्थिअन लोगों का भी इसमें कुछ हाथ था।

हेलिओक्लीज के समय शकों ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया और उसका अधिकांश छीन लिया। कुछ विद्वानों के अनुसार बैक्ट्रिया से यूनानियों को निकालने का काम यू-ची जाति ने किया और कुछ के अनुसार शक और यू-ची दोनों ने।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेलिम्रोक्लीज की कुछ मुद्राओं पर उसकी पत्नी लावडकी की आकृति भी पति के साथ मिलती है। इन मुद्राओं को यूक्रेटाइडीज ने अपने पुत्र के विवाहोपलक्ष्य में जारी किया। कुछ विद्वानों का यह अनुमान कि हेलिम्रोक्लीज तथा लावडकी यूक्रेटाइडीज के पिता-माता थे, ठीक नहीं।

इस वंश के जिन अन्य शासकों के नाम मुद्राओं आदि के आधार पर ज्ञात हुए हैं वे ये हैं—यूक्रेटाइडीज द्वितीय, अर्केबिअस, ऐंटिअल्किडस, अर्मिटस, हेलिम्रोक्लीज द्वितीय, टेलीफस तथा हर्मिअस।

ऐण्टिअल्किडस—परन्तु हेलिम्रोक्लीज के पश्चात् यूक्रेटाइडीज-वंश का इतिहास अधिक निश्चित नहीं है।

विदिशा के गरुड़ध्वज-लेख में एक यूनानी महाराज अन्तलिकित का नाम मिलता है। इसने महाराज काशीपुत्र भागभद्र के शासन-काल के १४ वें वर्ष में उस भारतीय नरेश की सभा में तक्षशिला-निवासी हेलिम्रोदोर (हेलिम्रोडोरस) को भेजा था।

विद्वान् इस अन्तलिकित का समीकरण यूनानी राजा ऐण्टिअल्किडस के साथ करते हैं। मुद्राओं की समता के आधार पर टार्न महोदय का कथन है कि यह हेलिम्रोक्लीज का उत्तराधिकारी था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। मुद्रा-साक्ष्य से प्रकट होता है कि इसका राज्य झेलम से हिन्दूकुश तक था। इसकी कुछ मुद्रायें बैक्ट्रिया-शैली की हैं। पर इससे यह कहना ठीक नहीं कि बैक्ट्रिया का कुछ भाग भी इसके अधीन था।

ऐण्टिअल्किडस ने भागभद्र से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये थे। यह भागभद्र शुङ्ग-वंश का नवाँ शासक ज्ञात होता है। सम्भव है कि अपोलोडोटस शकों और यूचिओं के बढ़ते हुए खतरे के विरुद्ध ऐण्टिअल्किडस ने भारतीय नरेश से मित्रता की।

इस समय तक यूनानी भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गये थे। ऐण्टिअल्किडस का राजदूत हेलिम्रोडोरस अपने को 'भागवत' कहता है।

लिसिअस—कुछ मुद्राओं से लिसिअस नामक एक अन्य यूनानी राजा का पता चलता है। इसकी मुद्रायें डेमेट्रिअस की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। अतः यह यूथीडेमश-वंश का प्रतीत होता है।

टार्न महोदय का अनुमान है कि सम्भवतः शकों और यूचिओं से अपनी रक्षा के लिये दोनों यूनानी राजवंशों ने इस समय अपने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर मित्रता कर ली थी और दोनों एक-दूसरे की सहायता से शासन करते थे। परन्तु इस के पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते।

विभाजन और पतन—ऐण्टिअल्किडस के पश्चात् यूक्रेटाइडीज-वंश के झगड़े और बढ़ गये। उनका राज्य अनेक छोटे-छोटे प्रदेशों में विभक्त हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्वी गन्धार में ऐण्टिअल्किडस के अतिरिक्त अर्केविअस, अमिटस आदि राजाओं ने राज्य किया। वहाँ इनकी कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। कुछ समय पश्चात् पूर्वी गन्धार पर शक-नरेश मौएस ने अपना अधिकार कर लिया।

पश्चिमी गन्धार में यूनानी शासन का अन्त या तो मौएस ने किया या उसके उत्तराधिकारी एजेज प्रथम ने।

कपिशा-काबुल-प्रदेश में अन्तिम यूनानी राजा हर्मिअस था। इसका अन्त पह्लवों ने तथा कुषाणों के सरदार कुजुल ने किया।

हिन्द-यूनानी आक्रमण का प्रभाव

अशोक के मौर्य-साम्राज्य के विशृंखलित होने के पश्चात् भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग यूनानियों के अधिकार में किस प्रकार चला गया, इसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। काबुल-घाटी, सिन्धु-घाटी तथा उसके कुछ पूर्व तक यूनानी लगभग १५० वर्षों तक शासन करते रहे। इस दीर्घकालीन शासन ने अनेक सांस्कृतिक प्रभाव उत्पन्न किये। यह यूनानी शासन इतिहास में इण्डोयूनानी शासन के नाम से प्रख्यात है और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सिकन्दर के आक्रमण की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है।

साहित्य—अनेक विद्वानों का मत है कि भारतवासियों ने यूनानियों से वार्तालाप की शैली सीखी और इसी शैली में उन्होंने 'मिलिन्द-प्रश्न' नामक अपने बौद्ध ग्रन्थ की रचना की। परन्तु यह मत नितान्त असंगत है। वार्तालाप की शैली भारतवर्ष में इस यूनानी-सम्पर्क के परिणामस्वरूप नहीं आई। वह तो भारतवर्ष में ऋग्वैदिक काल से विद्यमान थी। ऋग्वैद में इस शैली के अनेक संवाद मिलते हैं।

वेबर महोदय का मत था कि भारतवर्ष में नाटकों का उदय भी यूनानी नाटकों के आधार पर हुआ। उनका यह मत दोनों नाटकों की कुछ समताओं के ऊपर आधारित था। परन्तु यहाँ याद रखना चाहिए कि भारतीय और यूनानी नाटकों में समताओं की अपेक्षा असमताएँ अधिक हैं। 'यवनिका' के आधार पर ही कोई तथ्य नहीं निकलता। भारतीय नाटक में परदे को 'यवनिका' कहते हैं। परन्तु यह महत्व की बात है कि यूनानी रंगमंच पर परदे का प्रयोग होता ही न था। अनेक विद्वानों का मत है कि भारतीय परदे का नाम यवनिका इसलिए पड़ा क्योंकि वह किसी यूनानी पदार्थ की सहायता से बनता था।

इसी प्रकार याकोवी महोदय का यह मत भी असंगत है कि भारतीय दोहा का उदय यूनानियों के हेक्जामीटर (hexameter) के आधार पर हुआ। कीथ महोदय

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने इस बात का खण्डन करते हुए कहा है कि भारतवर्ष में दोहा यूनानी आक्रमण के पूर्व भी प्रचलित था।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि भारतवासी बहुत बड़ी संख्या में यूनानी भाषा समझते थे और वे भारतीय रंगमंचों पर खेले जाने वाले यूनानी नाटकों को देखते थे। यह कथन भी असंगत प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि भारतवर्ष में यूनानी साम्राज्य के प्रमुख नगरों में यूनानी रंगशालाएं रही हों और उनमें यूनानी जनता, पदाधिकारियों और यूनानी शासकों के मनोरंजन के लिए विशेषतः यूनानी नाटक खेले जाते हों। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बहुसंख्यक भारतीय भी उन नाटकों को देखते और समझते थे। भारतवर्ष में १५० वर्ष के यूनानी शासन में कोई भी अभिलेख यूनानी भाषा में नहीं मिला है। अधिकांश यूनानी मुद्राओं पर यूनानी लिपि के अतिरिक्त भारतीय लिपि खरोष्ठी या ब्राह्मी का प्रयोग किया गया है। इन बातों से अनुमान होता है कि अधिकांश भारतवासी यूनानी भाषा और यूनानी लिपि नहीं समझते थे।

दूसरी शताब्दी में सन्त क्रिसतोम ने लिखा कि भारतवासी यूनानी प्रसिद्ध कवि होमर के काव्य गाते थे और उन्होंने अपनी भाषा में उनका अनुवाद कर लिया था। सन्त क्रिसतोम का यह कथन होमर के महाकाव्यों, इलियड और ओडिसी और भारतीय महाकाव्यों, रामायण तथा महाभारत, के कथानकों की कुछ समताओं पर निर्भर है। परन्तु यह समता आकस्मिक है।

टार्न महोदय के इस कथन में कुछ सत्य हो सकता है कि दोनों जातियों ने एक-दूसरे की भाषा के कुछ शब्द अपना लिये थे। उदाहरण के लिए यूनानी भाषा से होरा (घंटा), कलम, पुस्तक, फलक, सुरंग, कोण आदि शब्द संस्कृत भाषा में आ गये हैं। इसी प्रकार यूनानियों ने संस्कृत भाषा के शर्करा, कर्पास, वैदूर्य आदि कुछ शब्द ग्रहण कर लिये।

विज्ञान—यूनानी विज्ञान में काफी बढ़े-चढ़े थे। 'वृहत्कथा मंजरी' के अनुसार यवन वायुयानों का निर्माण करना जानते थे। कहते हैं कि कनिष्क ने एक यूनानी वास्तुकार अगेसिलॉस की सहायता से कुछ भवन बनवाये थे। यूनानियों के ज्ञान के कारण महाभारत उन्हें सर्वज्ञ कहता है। यूनानियों के इस ज्ञान-विज्ञान से भारतीय थोड़ा-बहुत अवश्य प्रभावित हुए होंगे।

ज्योतिष शास्त्र- इस क्षेत्र में भारतवासी निश्चित रूप से यूनानियों के ऋणी हैं। वराहमिहिर का कथन है कि यद्यपि यूनानी म्लेच्छ हैं तथापि ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता होने के कारण वे ऋषियों की भाँति पूजनीय हैं। भारत के मुख्य ज्योतिष-सिद्धान्तों में से दो सिद्धान्तों के नाम पौलस और रोमक हैं। इन नामों से ही प्रकट होता है कि ये यूनान और रोम से प्रभावित हैं। यह माना जाता है कि भारतीय ज्योतिष के अनेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शब्द यूनानी भाषा से लिये गये हैं। भारतीय सम्वत्सर भी यूनानी पंचाङ्ग से प्रभावित बताये जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ग्रहों की स्थिति से मनुष्य के भाग्य की भविष्यवाणी करने की पद्धति भी यूनान से आई।

चिकित्सा शास्त्र—फोगल नामक विद्वान् का मत था कि चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में भी भारतीय यूनानियों के ऋणी हैं। चरक और हिपोक्रेटीज द्वारा बनाये गये चिकित्सकों के बहुत से आचार-नियम एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। दोनों देशों की चिकित्सा पद्धतियाँ भी अनेक स्थानों पर मिलती-जुलती हैं। परन्तु ये समताएँ आकस्मिक भी हो सकती हैं।

कला—कला के क्षेत्र में यूनानियों का प्रभाव निश्चित है। तक्षशिला, मथुरा आदि की कलाकृतियों में इस प्रभाव के प्रमाण उपलब्ध हैं। गंधार कला का उदय ही यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था।

मुद्रा निर्माण कला—यूनानियों के सम्पर्क में आने से पूर्व भारतीय मुद्राएँ असुन्दर और प्रायः लेखहीन होती थीं। यूनानियों की मुद्राओं को देख कर भारतीयों ने अधिक कलापूर्ण और लेखयुक्त मुद्राएँ बनाईं।

धर्म—प्लूटार्क का कथन है कि कुछ भारतीय यूनानी देवी-देवताओं की पूजा करते थे। यूनानी मुद्राओं पर अनेक देवी-देवताओं के चित्र मिलते हैं। इससे अनुमान होता है कि भारतीय लोग यूनानी देवी-देवताओं से थोड़ा-बहुत परिचित अवश्य रहे होंगे। परन्तु भारतवर्ष में यूनानी देवी-देवताओं की पूजा का पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत भारतीय भागवत या वैष्णव तथा बौद्ध धर्मों ने यूनानियों को प्रभावित किया था। यूनानी सम्राट् मीनेण्डर बौद्ध हो गया था। हेलियोडोरस नामक यूनानी राजदूत भागवत धर्म का अनुयायी बन गया था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि भारतवर्ष के जैन, वैशेषिक आदि दर्शन यूनानी दर्शन से प्रभावित हुए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ७

भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था

(लगभग २०० ई० पू०—लगभग २५ ई० पू०)

पतनोन्मुख दो राजवंश—ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी दो शक्तिशाली राजवंशों के उदय के लिये प्रख्यात है। इनमें एक राजवंश था शुङ्गों का, जिसकी स्थापना पुष्यमित्र ने की थी और दूसरा था हिन्द-यूनानियों का, जिसने डेमेट्रिअस, मीनेण्डर तथा अपोलोडोटस के शासन-कालों में विशेष उन्नति की थी।

परन्तु शीघ्र ही दोनों राजवंश पतनोन्मुख होगये। १४९ ई० पू० के लगभग पुष्यमित्र शुंग की मृत्यु होगई। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में कोई ऐसा शक्तिशाली राजा न हुआ जो अपने वंश के साम्राज्य को सुरक्षित रख सकता। अतः पुष्यमित्र के पश्चात् ही शुंग-वंश का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और वह उत्तर भारत के कई केन्द्रों में बँट गया।

यही हाल हिन्द-यूनानी राजवंश का हुआ। १७० ई० पू० के लगभग इण्डो-यूनानियों का गृह-युद्ध हुआ जिससे उनके शासन की एकता समाप्त हो गई। इस तिथि के पश्चात् हिन्द-यूनानियों के दो वंशों—यूथीडेमस-वंश और यूक्रेटाइडीज-वंश—ने समानान्तर रूप से अलग-अलग राज्य करना प्रारम्भ किया। इनके वंशज प्रायः आपस में लड़ते रहे।

१८५ ई० पू० के लगभग डेमेट्रिअस प्रथम की मृत्यु हो गई और १५५ ई० पू० के लगभग यूक्रेटाइडीज की। भारत में अन्तिम शक्तिशाली इण्डो-यूनानी सम्राट् मीनेण्डर हुआ। १३० ई० पू० के लगभग इसकी भी मृत्यु होगई। इन तीनों सम्राटों के पश्चात् हिन्द-यूनानी-वंश में कोई भी ऐसा प्रतापी राजा न हुआ जो भारत में अपने वंश के प्राचीन गौरव को कायम रख सकता। सामान्यतया यूक्रेटाइडीज-वंश झेलम नदी के पश्चिम में और यूथीडेमस-वंश इस नदी के पूर्व में शासन करता था। परन्तु इनकी पारस्परिक कलह, अनेक भारतीय वंशों के स्वतन्त्रता-आन्दोलन और नवीन-वंशों—शकों, पह्लवों और यूचियों—के उदय ने प्रथम शताब्दी ई० पूर्व तक आते-आते हिन्द-यूनानी राजवंश को समाप्त प्रायः कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातीय राज्य (Tribal States)[1]

शुङ्गों और यूनानियों की निर्बलता से लाभ उठाकर पंजाब, राजस्थान और गंगा-यमुना के दोआब में अनेक छोटे-छोटे जातीय राज्यों (tribal states) की स्थापना हुई। इनमें कुछ गणतन्त्रात्मक थे और कुछ राजतन्त्रात्मक। कई राज्य अशोक की मृत्यु के बाद ही स्वतन्त्र सत्ता वाले हो गए थे।

शिवि—ई० पू० द्वितीय शताब्दी की कुछ मुद्राओं पर 'मझमिकाय-शिबि-जानपदस' शब्द लिखे मिलते हैं। इनसे प्रकट होता है कि मध्यमिका (चित्तौड़ के समीप) में शिवि जाति ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था।

अग्रेय—इन्होंने पंजाब के अग्रोदक नामक नगर में अपने जनपद की स्थापना की। कुछ मुद्राओं पर 'अगोदका अगाच जनपद' लिखा हुआ मिलता है।

राजन्य—इनकी मुद्रायें पंजाब के होशियारपुर जिले में प्राप्त हुई हैं। इन पर 'रजञ जनपदस' उत्कीर्ण है।

त्रिगर्त—ई० पू० द्वितीय शताब्दी की कुछ मुद्राओं पर 'त्रकत जनपदस' लिखा है। यह राज्य जालन्धर-प्रदेश में था।

उदेहकि—ई० पू० द्वितीय शताब्दी की कुछ मुद्राओं पर 'उदेहकि' लिखा है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह राज्य कहाँ था।

वटस्वक— सम्भवतः यह राज्य तक्षशिला में था, क्योंकि वटस्वक नाम की कुछ मुद्रायें वहाँ मिली हैं। ये ई० पू० द्वितीय शताब्दी की प्रतीत होती हैं।

मालव—रैढ की खुदाई में एक मुहर मिली है। इस पर 'मालव जनपदस' लिखा है। यह ई० पू० द्वितीय या प्रथम शताब्दी की है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय मालव जाति का पूर्वी राजस्थान में एक स्वतन्त्र राज्य था।

आर्जुनायन—मुद्राओं पर 'आर्जुनायनानां जय' लिखा है। लिपि के देखने से प्रकट होता है कि ये ईसा पूर्व १०० के लगभग की हैं। अनुमानतः इसी काल में आर्जुनायनों ने दिल्ली-जैपुर-आगरा प्रदेश में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी।

औदुम्बर—ई० पू० प्रथम शताब्दी की मुद्राओं से औदुम्बर-राज्य के ४ राजाओं के नाम मिलते हैं—(१) शिवदास, (२) रुद्रदास, (३) महादेव और (४) धरघोष। इनकी मुद्रायें होशियारपुर, ज्वालामुखी और पठानकोट के प्रदेशों में मिली हैं। औदुम्बरों की कुछ मुद्रायें यूनानी शासकों की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने पुष्यमित्र के पश्चात् ही अपनी स्वतन्त्रता घोषित की होगी। औदुंबरों के राजा रुद्रवर्मा तथा आर्यमित्र आदि कई मित्र शासकों के सिक्के भी मिले हैं।

कुणिन्द— इनका राज्य व्यास और सतलज नदियों के बीच का उत्तरी प्रदेश था। इनकी मुद्रायें मिली हैं जो ई० पू० प्रथम शताब्दी की हैं। कुछ मुद्राएँ ई० दूसरी-तीसरी शती की हैं।

---

१. देखिए परिशिष्ट।

CC-0 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये राज्य पंजाब और राजस्थान के थे और प्रमुखतया गणतन्त्रात्मक थे। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित महत्वपूर्ण स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। ये राजतन्त्रात्मक थे—

मथुरा – मुद्राओं से प्रकट होता है कि यहाँ ई० पू० तीसरी शताब्दी के अन्त से लेकर ई० पू० प्रथम शताब्दी या इसके बाद तक भारतीय नरेशों ने राज्य किया। इन राजाओं में गोमित्र, ब्रह्ममित्र, दृढ़मित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, रामदत्त, कामदत्त, उत्तमदत्त, बलभूति आदि के नाम मिलते हैं।

पंचाल—यहाँ वंगपाल, दमगुत आदि शासकों के बाद 'मित्र' नामधारी एक राजवंश ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। मुद्राओं से इस वंश के अनेक राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं। इनकी राजधानी अहिच्छत्रा थी।

कौशाम्बी—मगध साम्राज्य के पतन के पश्चात् कौशाम्बी भी स्वतन्त्र हो गया। यहाँ से प्राप्त बहुसंख्यक मुद्राओं से इस राज्य के अनेक राजाओं के नाम ज्ञात हुए हैं यथा—अग्रराज, बृहस्पतिमित्र, पर्वत, अश्वघोष, आदि।

कोशल — धनदेव के अयोध्या-अभिलेख से प्रकट होता है कि पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन-काल में कोशल शुङ्गों के अधीन था। परन्तु पुष्यमित्र की मृत्यु के पश्चात् वह स्वतन्त्र हो गया। वहाँ अनेक राजाओं की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं।

कुछ अन्य साक्ष्यों के आधार पर निम्नलिखित प्रदेशों के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है —

कलिङ्ग —अशोक के पश्चात् कलिङ्ग का इतिहास अस्पष्ट है। सम्भवतः उत्तर-कालीन मौर्यों के निर्बल शासन-काल में वह स्वतन्त्र हो गया था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह पुष्यमित्र के अधीन था।

कलिङ्ग के विषय में हमें हाथीगुम्फा अभिलेख से जानकारी प्राप्त होती है। इससे प्रकट होता है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में कलिंग में खारवेल नामक एक अत्यन्त प्रतापी राजा का उदय हुआ था। उसने आस-पास के अनेक प्रदेशों को जीता। पुष्यमित्र शुङ्ग के पश्चात् बहुत दिनों तक उत्तरी भारत में भी कोई शक्तिशाली राजा न हुआ। उतरी भारत की तत्कालीन निर्बलता से लाभ उठाकर खारवेल ने दो बार मगध पर आक्रमण किया और वहाँ से प्रभूत सम्पत्ति लेकर वह अपने राज्य वापस लौटा।

मगध—हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि खारवेल के आक्रमण के समय मगध में बृहस्पतिमित्र का राज्य था। बोधगया में कुछ अभिलेख मिले हैं। उनमें एक राजा ब्रह्ममित्र का नाम मिलता है। डा० बरुआ का मत है कि बृहस्पतिमित्र इसी ब्रह्ममित्र का उत्तराधिकारी था। बृहस्पतिमित्र (द्वितीय) की बहुसंख्यक मुद्रायें कौशाम्बी में मिली हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दोनों बृहस्पतिमित्र एक ही व्यक्ति थे या पृथक्-पृथक्। यह सम्भव है कि कौशांबी-नरेश बृहस्पतिमित्र का शासन मगध तक फैला रहा हो। हमारे मतानुसार उक्त ब्रह्ममित्र कौशांबी का राजा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्यमिका—ई० पू० प्रथम शताब्दी के घोसुण्डी अभिलेख से पता चलता है कि राजस्थान के चित्तौड़ प्रदेश में सर्वतात नामक एक राजा का उदय हुआ था। उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया था। यह यज्ञ किसी महत्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में किया गया होगा।

दक्षिण—संभवतः सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद ही तेलंगाना क्षेत्र तथा वर्तमान महाराष्ट्र का उत्तर-पूर्वी भाग मौर्य आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गए। हैदराबाद के समीप से तथा नेवासा (जि० अहमदनगर) से कुछ ऐसी मुद्रायें मिली हैं जिन पर 'रञो सातवाहनस' लिखा है। इस राजवंश का प्रारंभिक नाम 'सातवाहन' था। बाद में वह अन्ध्र या आन्ध्रवंश कहलाया।

कण्व-वंश

अन्तिम शुङ्ग-नरेश देवभूति नितान्त अयोग्य सिद्ध हुआ। वायु पुराण उसे 'व्यसनी' बताता है। हर्षचरित उसे 'अतिस्त्रीप्रसंगरत' कहता है।

उसकी अप्रियता से लाभ उठाकर उसके महत्वाकांक्षी ब्राह्मण अमात्य वसुदेव कण्व ने ७३ ई० पू० के लगभग उसकी हत्या कर दी।[१] हर्षचरित का कथन है कि अमात्य वसुदेव ने रानी के वेश में देवभूति की दासी की पुत्री के द्वारा उसकी हत्या कराई थी।[२]

पुराणों में कण्व-वंश के राजाओं एवं प्रत्येक के शासन-काल का उल्लेख निम्नलिखित रूप में हुआ है—

(१) वसुदेव—९ वर्ष (२) भूमिमित्र—१४ वर्ष

(३) नारायण—१२ वर्ष (४) सुशर्मा—१० वर्ष

इस प्रकार सबने मिलाकर ४५ वर्ष तक शासन किया। पुराण इनका शासन धर्मानुकूल बताते हैं। इससे कल्पना की जा सकती है कि शुङ्ग-वंश की भाँति कण्व-वंश भी ब्राह्मण-धर्मावलम्बी था।

इस वंश का अन्तिम राजा सुशर्मा अन्ध्रजातीय सिन्धुक या सिमुक के द्वारा मारा गया। इस प्रकार (७३–४५) २८ ई० पू० के लगभग कण्व-वंश का अन्त हो गया।

सम्भवतः कण्व-राजाओं का राज्य कौशांबी और उसके समीपवर्ती प्रदेश तक ही सीमित था। शुंगों की तरह उनकी सत्ता व्यापक नहीं रही।

कण्वों के पश्चात् राजसत्ता दक्षिणी भारत के एक प्रमुख राजवंश—आन्ध्र अथवा सातवाहन—के हाथ में चली गई।

---

१. "देवभूतिं तु शुङ्गराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयं अवनीं भोक्ष्यति।"

२. "अतिस्त्रीप्रसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत्।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ८

सातवाहन-वंश

नवीन राज्यों का उदय—शुंग-शासक पुष्यमित्र की मृत्यु के बाद का कुछ काल भारतीय इतिहास में राजनीतिक अस्थिरता का काल है। शुङ्गों और हिन्द-यूनानियों के साम्राज्यों के विघटन के पश्चात् दीर्घकाल तक भारत छोटे-छोटे अनेक राज्यों में विभक्त रहा। इनमें से किसी में भी इतनी शक्ति न थी कि भारत अथवा उसके अधिकांश को राजनीतिक एकता के सूत्र में पुनः बाँध सकता।

मौर्य साम्राज्य के विच्छिन्न होने के बाद भारतीय रंगमंच पर उल्लेखनीय चार नवीन राजवंशों का उदय हुआ। ये थे—(१) सातवाहन, (२) शक, (३) पह्लव और (४) कुषाण। इन्होंने प्रभूत पराक्रम का परिचय देते हुए अपने-अपने साम्राज्यों की स्थापना की चेष्टा की।

यहाँ हम सर्वप्रथम सातवाहन-वंश का उल्लेख करेंगे जिसने पश्चिमी और दक्षिणी भारत के अधिकांश भू-भाग को राजनीतिक एकता देते हुए अपने साम्राज्य की स्थापना की।

कण्वों और शेष शुङ्गों का नाश—पुराणों से विदित होता है कि आन्ध्र जाति के सिन्धुक ने काण्वायन सुशर्मा और शेष शुङ्गों का विनाश करके उनके राज्यों पर अधिकार कर लिया।[1]

सुशर्मा कण्व-वंश का अन्तिम राजा था। आन्ध्र-जातीय सिन्धुक ने इसका तो नाश किया ही, साथ में शेष शुङ्गों का भी नाश कर दिया। इससे प्रतीत होता है कि प्रमुख राजसत्ता के हाथ से निकल जाने के पश्चात् भी शुङ्गवंशीय राजकुमार उत्तर भारत के कुछ स्थानों में शासन कर रहे थे। आन्ध्रों द्वारा आयोजित क्रान्ति में उनका भी उन्मूलन हो गया।

डॉ० अल्तेकर पुराणों के इस कथन पर विश्वास नहीं करते कि सिन्धुक ने कण्वों का विनाश किया था। उनका प्रमुख तर्क यह है कि कण्व-वंश एक शक्तिशाली वंश

१—"काण्वायनमथोद्धृत्य सुशर्माणं प्रसह्य तं। शुङ्गानां चैव यच्छिष्टं क्षपयित्वा वलं तदा।"
सिन्धुको ह्यन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्॥ —वायु पुराण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था और उसका राज्य विदिशा से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। फिर सिन्धुक-जैसा एक सामान्य शक्ति का व्यक्ति उस वंश का नाश कैसे कर सकता था।

परन्तु डा० अल्तेकर का तर्क असंगत है। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कण्वों का राज्य पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। वे कौशांबी तथा उसके आस-पास के क्षेत्र के ही शासक थे।

सम्भव है कि सिन्धुक अन्तिम कण्व-नरेश सुशर्मा का सेनापति अथवा सामन्त शासक रहा हो। जिस प्रकार सेनापति पुष्यमित्र ने अपने स्वामी बृहद्रथ मौर्य की हत्या की थी, जिस प्रकार अमात्य कण्व वसुदेव ने अपने स्वामी शुङ्ग देवभूति का वध किया था, उसी प्रकार सम्भवतः सिन्धुक ने अपने स्वामी सुशर्मा कण्व की हत्या करके अपनी सत्ता की स्थापना की। यह भी संभव है कि वह दक्षिण की ओर से उत्तर आया हो।

नवीन वंश का वास्तविक नाम—इस नवीन राजवंश के वास्तविक नाम के विषय में मतभेद है—

(१) पुराणों में इसे अन्ध्र या आन्ध्र कहा गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इन्हें अनार्य बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुण्ड्रों, शबरों और पुलिन्दों की भाँति आन्ध्रों को भी अनार्य कहा गया है।

परन्तु हम आगे देखेंगे कि यह वंश अनार्य नहीं, आर्य ब्राह्मण-वंश था। प्रश्न उठता है कि पुराण इसे 'आन्ध्र' क्यों कहते हैं? अधिकांश विद्वानों का मत है कि जब शकों से पराजित होने के कारण इस वंश के हाथ से महाराष्ट्र और पश्चिमी एवं मध्य-भारत का बड़ा भाग निकल गया तब यह भाग कर कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच के प्रदेश में बस गया। यह प्रदेश प्राचीन काल में अन्ध्र देश के नाम से सम्बोधित होता था। अन्ध्र देश में रहने के कारण ही यह वंश 'आन्ध्र' कहलाया। वास्तव में यह उसका जातीय नाम न था।

(२) इस वंश का जातीय नाम 'सातवाहन' था। इस वंश के राजा अपने लेखों और मुद्राओं में इसी नाम का प्रयोग करते थे। साहित्य में यह वंश 'शालिवाहन' नामान्तर से भी पुकारा गया है।

सातवाहन-वंश की जाति—सातवाहनों की जाति का प्रश्न अब भी विवादग्रस्त है। इस विषय पर तीन मत विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) अनार्य—कुछ विद्वान् सातवाहनों को अनार्य मानते हैं। अपने पक्ष में वे निम्नलिखित साक्ष्य उद्धृत करते हैं—

(क) पुराण सातवाहनों को आन्ध्र-जातीय कहते हैं।

(ख) सातवाहन-वंश के अनेक राजाओं के नाम अनार्य प्रतीत होते हैं—यथा, सिमुक, हाल, पुलुमावी इत्यादि।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ग) अनेक सातवाहन राजाओं के नाम उनकी माताओं के नाम पर रखे गये थे—जैसे गौतमीपुत्र, वाशिष्ठीपुत्र, इत्यादि। इनसे अनुमान किया जा सकता है कि उनका समाज मातृप्रधान समाज की अनेक विशेषतायें रखता था। मातृप्रधान समाज अनार्यों की देन थी। इसके विरुद्ध आर्यों का समाज पितृप्रधान था।

(घ) सातवाहनों ने अनार्य शकों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये थे। उदाहरणार्थ, एक सातवाहन-नरेश (सम्भवतः वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के भाई) ने शक-महाक्षत्रप रुद्रदामा की पुत्री के साथ विवाह किया था।

परन्तु ये सारे तर्क असंगत हैं—

(क) पुराणों ने सातवाहनों को अन्ध्र या आन्ध्र इसलिये कहा कि वे कालान्तर में अन्ध्र देश में रहने लगे थे। वे आन्ध्र जाति के नहीं वरन् कुछ समय के लिये अन्ध्र-देश के निवासी थे। 'बृहद्देशी' नामक संगीत-ग्रन्थ में दो रागिनियों का उल्लेख है—आन्ध्री और सातवाहनी। यदि सातवाहन और आन्ध्र में कुछ अन्तर न होता तो इन दो रागिनियों का अलग-अलग उल्लेख न होता।

(ख) दक्षिणी भारत में आर्यों और अनार्यों की संस्कृतियों का जो सम्मिश्रण हुआ था उसके परिणामस्वरूप यदि आर्यों में कुछ अनार्य नामों का प्रचलन हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। एकमात्र कुछ नामों के आधार पर किसी जाति को अनार्य नहीं कहा जा सकता।

(ग) माताओं के नामों के आधार पर रखे गये पुत्रों के नाम उनकी माताओं की विद्वत्ता अथवा महत्ता की सूचना देते हैं। सातवाहनों का स्त्री-समाज बड़ा उन्नत प्रतीत होता है। नागनिका-जैसी सातवाहन-नारियों ने शासन-संचालन तक किया था। माताओं के गौरव की सूचना देते हुए सातवाहन राजाओं को गौतमी का पुत्र, वाशिष्ठी का पुत्र आदि कहा गया है। इससे सातवाहन-समाज अनार्य-समाज की भाँति मातृप्रधान नहीं कहा जा सकता।

(घ) अन्तर्जातीय विवाह तत्कालीन भारतीय संस्कृति के उदार दृष्टिकोण का ही परिचय देते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी राजकुमारी के साथ विवाह किया था। परन्तु इस आधार पर मौर्य-वंश को कोई अनार्य नहीं कहता।

(२) अब्राह्मण—कुछ विद्वानों का मत है कि सातवाहन आर्य भले ही रहे हों, परन्तु वे ब्राह्मण नहीं थे। अपने मत की पुष्टि में वे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(क) नासिक के एक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'एकबम्हण' कहा गया है। डा० भण्डारकर के मतानुसार इस शब्द के प्रयोग मात्र से वह ब्राह्मणजातीय सिद्ध नहीं होता। इस शब्द का तात्पर्य 'एकब्रह्मण्य' (ब्राह्मणों का सहायक अथवा पोषक) है। इसी प्रकार भगवानलाल इन्द्रजी 'एकब्राह्मण' से एकमात्र साधु पुरुष (holy

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

man) का अर्थ निकालते हैं। इस प्रकार गौतमीपुत्र शातकर्णि को ब्राह्मणेतर जाति का भी माना जा सकता है।

(ख) नासिक अभिलेख में गौतमी पुत्र शातकर्णि की माता गौतमी बलश्री को राजर्षिवधू कहा गया है। डा० भण्डारकर का कथन है कि यदि वह ब्राह्मणी होती तो उसे ब्रह्मर्षिवधू कहा जाता।

(ग) गौतमीपुत्र और वाशिष्ठीपुत्र नाम ब्राह्मणों के गोत्रों - गौतम और वशिष्ठ— पर रखे गये हैं। परन्तु इनसे उन राजाओं का ब्राह्मण होना सिद्ध नहीं होता। डा० भण्डारकर का मत है कि तत्कालीन भारत में अब्राह्मण लोग याज्ञिक कार्यों में अपने ब्राह्मण पुरोहितों के गोत्रों को धारण कर सकते थे।

(घ) नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र की तुलना राम, केशव, अर्जुन और भीम से की गई है। ये सब क्षत्रिय थे। अतः सम्भव है कि गौतमीपुत्र भी क्षत्रिय हो।

परन्तु इन सभी तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—

(क) 'एकब्राह्मण' का सामान्य और स्वाभाविक अर्थ ब्राह्मणजातीय से ही है।

(ख) कभी-कभी ब्राह्मणों के लिये भी 'राजर्षि' शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, पुराणों में ब्राह्मण दधीचि को राजर्षि कहा गया है।

(ग) अब्राह्मणों को ब्राह्मण पुरोहितों के गोत्रों के धारण करने का अधिकार अवश्य था। परन्तु इस सुविधा का प्रयोग क्षत्रियों के अतिरिक्त और किसी भी वर्ण ने स्यात् नहीं किया। नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'खतियदपमानमदनस' कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि वह स्वयं क्षत्रिय नहीं था। अतः वह ब्राह्मण ही सिद्ध होता है।

(घ) नासिक अभिलेख में वीरता में समानता दिखाई गई है, जाति में नहीं।

(३) ब्राह्मण—सेनार, ब्यूलर आदि अधिकांश विद्वानों ने सातवाहनों को ब्राह्मण ही माना है—

(१) नासिक के अभिलेख का उल्लेख किया जा चुका है। इसमें गौतमीपुत्र शातकर्णि को स्पष्टतया 'ब्राह्मण' कहा गया है।

(२) इसी अभिलेख में प्रयुक्त 'खतियदपमानमदनस' से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि गौतमीपुत्र ब्राह्मण होगा। मौर्य-क्षत्रियों के विरुद्ध शुङ्गों के नेतृत्व में ब्राह्मणों की जो प्रतिक्रिया हुई थी उसका प्रभाव कण्वों और सातवाहनों के काल में भी चल रहा था।

(३) गौतमीपुत्र और वाशिष्ठीपुत्र के नाम ब्राह्मण गोत्रों—गौतम, वशिष्ठ---पर रखे गये हैं। अतः वे ब्राह्मण थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(४) नासिक अभिलेख गौतमीपुत्र को धर्मग्रन्थों में पारंगत (आगमानां निलयस्य) बताता है। इसी लेख का पुनः कथन है कि उसने वर्णसंकरता को रोका था (विनिवर्तित चातुर्वर्णसंकरस्य)।

इन उल्लेखों से यही अनुमान होता है कि गौतमीपुत्र ने पुष्यमित्र की ब्राह्मण-परम्परा को बनाये रखा था। पुष्यमित्र को भी मनुस्मृति परोक्षरूप से 'वेदशास्त्रविद्' कहती है। उसने भी वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना की भारी चेष्टा की थी। इन आधारों पर यह अनुमान किया जा सकता है कि पुष्यमित्र की भाँति गौतमीपुत्र शातकर्णि भी ब्राह्मण था और शुङ्ग-शासकों ने ब्राह्मण धर्म, ब्राह्मण-वर्ण और ब्राह्मण-संस्कृति की गौरव-प्रतिष्ठा का जो प्रयत्न किया था वह सातवाहन-काल में भी जारी रहा।

डा० रायचौधरी का मत—हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि सातवाहनों में ब्राह्मणों और नागों का सम्मिश्रण था। अपने पक्ष में वे दो तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) अनेक सातवाहनों के नाम 'नागों' पर हैं, जैसे—नागानिका, स्कन्दनाग-शातक आदि।

(२) 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' नामक ग्रन्थ सालिवाहन (सातवाहन) को ब्राह्मण और नाग की सन्तान बताता है।

सातवाहनों का उदय-स्थान—इस प्रश्न पर भी मतभेद है कि सातवाहनों का उदय किस प्रदेश में हुआ था। इस विषय पर निम्नलिखित मत दिये जाते हैं—

(१) आन्ध्र देश—रैप्सन, बार्नेट, जायसवाल, प्रभाकर शास्त्री आदि विद्वानों के मतानुसार सातवाहनों का उदय कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित आन्ध्र देश में हुआ था। इनका प्रमुख तर्क यह है कि पुराण सातवाहनों को अन्ध्र या आन्ध्र कहते हैं।

परन्तु इस मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि प्रारम्भिक सातवाहन-नरेशों के अभिलेख अथवा सिक्के आन्ध्र देश में नहीं मिलते। सर्व प्रथम सातवाहनों के २४ वें राजा वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी ने ही आन्ध्र देश पर शासन किया था।

आन्ध्र देश में स्थित अमरावती स्तूप पर ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक के अभिलेख मिले हैं। परन्तु उनमें कहीं भी सातवाहनों का नाम नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शकों द्वारा महाराष्ट्र और पश्चिमी प्रदेशों से निकाले जाने के पश्चात् ही सातवाहन आन्ध्र देश में गये थे। उक्त आन्ध्र देश उनका उदय-स्थान न था।

(२) बेलारी—डा० सुक्थंकर का मत है कि आन्ध्रों का उदय मद्रास के बेलारी जिले में हुआ था। वहाँ दो अभिलेख मिले हैं—म्याकडोनि अभिलेख और हीरहडगल्लि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ताम्रपत्र-अभिलेख। इनमें इस प्रदेश को क्रमशः 'सातवाहनिहार' और 'साताहनि-रट्ठ' कहा गया है।

परन्तु बेलारी जिले में भी सातवाहनों के प्रारम्भिक लेख और सिक्के नहीं मिलते। सम्भवतः तेलंगाना और महाराष्ट्र छोड़ने के पश्चात् ही सातवाहन यहाँ आये होंगे।

(३) बरार—मीराशी महोदय ने विदर्भ या बरार को सातवाहनों का मूल-स्थान माना था। इसका प्रमुख आधार यह था कि बरार के अकोला जिले में तरहला नामक स्थान पर सातवाहनों की मुद्रायें मिली थीं।

परन्तु मीराशी महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि तरहला की मुद्रानिधि में तेइसवें सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के पूर्व की मुद्रायें नहीं मिलतीं। तेलंगाना क्षेत्र में प्राचीनतम् सातवाहन-मुद्राएँ मिलने के बाद मीराशीजी ने अपना यह मत बदल दिया।

(४) मध्य देश के दक्षिण में—डा० रायचौधरी ने मध्य देश के दक्षिणी भाग को सातवाहनों का निवास स्थान माना है। उनका प्रमुख तर्क यह है कि 'विनयपिटक' में वहाँ के एक नगर का नाम 'सेतकन्निक' मिलता है।

परन्तु एक मात्र इसी आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना कठिन है।

महाराष्ट्र—अधिकांश विद्वान् उपर्युक्त मतों को स्वीकार नहीं करते। वे महाराष्ट्र को सातवाहनों के उदय का प्रदेश मानते हैं। इसका विशेष कारण यह कि सातवाहनों के अधिकांश लेख, गुहायें और सिक्के महाराष्ट्र और उसके समीपवर्ती प्रदेश में ही प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, सातवाहन-वंश के दूसरे राजा कृष्ण का लेख नासिक में मिला है। तीसरे सातवाहन-नरेश शातकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका का एक लेख नानाघाट में उपलब्ध हुआ है। एक अन्य सातवाहन-नरेश शातकर्णि (सम्भवतः शातकर्णि प्रथम) का लेख सांची (पूर्वी मालवा) में मिला है। 'सात' और सातकर्णि वाली मुद्रायें मालवा-शैली अथवा पश्चिमी भारत की शैली की हैं। सातवाहन-काल की बनी हुई अनेक गुहायें नासिक, कार्ले, भाजा आदि में मिली हैं। इन सब साक्ष्यों से सातवाहनों का उदय-स्थान महाराष्ट्र अथवा पश्चिमी भारत प्रतीत होता है। इस मत के पक्ष में कुछ अन्य प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं—

(१) हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिङ्ग के राजा खारवेल ने पश्चिम की ओर आक्रमण करके सातवाहन-नरेश शातकर्णि (प्रथम) को पराजित किया था। अतः सातवाहनों का राज्य पश्चिम में स्थित मालवा या महाराष्ट्र में होगा। इस शातकर्णि को आन्ध्र देश का राजा नहीं माना जा सकता, क्योंकि आन्ध्र देश कलिङ्ग के दक्षिण में था।

(२) नानाघाट अभिलेख से विदित होता है कि शातकर्णि ने महारठियों की राजकुमारी नागनिका से विवाह किया था। ये महारठी पश्चिम के ही निवासी थे और इनका उल्लेख भी पश्चिमी अभिलेखों में ही हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) नासिक के अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधीनस्थ अनेक प्रदेशों के नाम दिये गये हैं। इनमें कहीं भी आन्ध्र देश का नाम नहीं है।

(४) टालमी (१५० ई० के लगभग) के लेख से प्रकट होता है कि वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी की राजधानी प्रतिष्ठान थी। सम्भवत: यह राजधानी पुलमावी के पूर्ववर्ती अनेक राजाओंकी भी थी, क्योंकि जैन साहित्य भी प्रतिष्ठान को शालिवाहनों का नगर बताता है।

(५) सातवाहनों के अभिलेख भी महाराष्ट्री प्राकृत में हैं।

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर सातवाहनों का प्राचीन स्थान महाराष्ट्र में सिद्ध होता है।

तेलंगाना— हाल में हैदराबाद तथा उसके समीप कोंडापुर नामक स्थान से कुछ ऐसी ताम्रमुद्राएँ मिली हैं जिन पर राजा सातवाहन का नाम लिखा है। डा० मीराशी इस राजा का समय ई० पू० तीसरी शती मानते हैं। ऐसी मुद्राएँ महाराष्ट्र के नेवासा स्थान से भी मिली हैं। इससे प्रतीत होता है कि सातवाहनों का मूल स्थान तेलंगाना था। वहाँ से वे महाराष्ट्र गए होंगे।

सातवाहन-वंश की शाखायें—पुराणों में सातवाहन-राजाओं की संख्या एवं उनके सामूहिक शासन-काल के सम्बन्ध में दो प्रमुख परम्परायें मिलती हैं।

वायुपुराण के अनुसार कुल १९ राजा हुए जिन्होंने लगभग ३०० वर्षों तक राज्य किया।

इसके विरुद्ध मत्स्यपुराण सातवाहन-राजाओं की संख्या ३० और उनके शासन-काल को लगभग ४६० वर्ष का बताता है।

इन उल्लेखों से यह अनुमान किया जा सकता है कि सातवाहन वंश की अनेक शाखायें थीं—एक मूल शाखा और कुछ उपशाखायें। मूल शाखा में १९ राजा हुए होंगे, जिन्होंने ३०० वर्षों तक शासन किया होगा। वायुपुराण केवल इसी शाखा का उल्लेख करता है।

मत्स्य पुराण ने मूल-शाखा के इन १९ राजाओं के साथ सम्भवत: कुछ उपशाखाओं के राजाओं को भी जोड़ दिया है। इसी से उसकी सूची में ३० राजा मिलते हैं। उनका शासन-काल भी बढ़ कर लगभग ४६० वर्ष हो गया है।

सातवाहनों की कुछ उपशाखायें अवश्य थीं। उदाहरण के लिये 'काव्यमीमांसा' कुन्तल के सातवाहनों का उल्लेख करती है। कुछ अभिलेखों में भी इस शाखा का उल्लेख हुआ है।

उदय-काल—सातवाहनों के उदय-काल के सम्बन्ध में दो प्रमुख मत हैं—

(१) स्मिथ, रैप्सन, नीलकण्ठ शास्त्री, जायसवाल, मीराशी आदि के मतानुसार सातवाहनों का उदय अशोक की मृत्यु के कुछ ही समय पश्चात् ई० पू० तृतीय शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ था। इन विद्वानों का तर्क है कि सातवाहन-वंश का अन्त २३० ई० के लगभग हुआ। मत्स्य पुराण के अनुसार इस वंश के ३० शासकों ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुल मिलाकर ४६० वर्ष शासन किया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस वंश का उदय २३० ई०—४६० = २३० ई० पू० के लगभग हुआ होगा।

(२) परन्तु डा० रायचौधरी, डा० डी० सी० सरकार, प्रो० घोष आदि विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि मत्स्य पुराण आदि में ४६० वर्षों का शासन-काल मूल शाखा एवं कुछ उपशाखाओं के सातवाहन-नरेशों का सम्मिलित-काल है। मूल शाखा ने लगभग ३०० वर्षों तक ही शासन किया। वायु पुराण सातवाहनों के शासन-काल को ३०० वर्षों का ही बताता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका उदय २३० ई०—३०० = ७० ई० पू० के लगभग हुआ। वायुपुराण की एक प्रति में सातवाहनों का शासन-काल केवल २७२½ वर्ष बताया गया है। इससे उनका उदय-काल ४२ ई० पू० के लगभग आता है। सारांशतः ये विद्वान् सातवाहनों के उदय-काल को ई० पू० प्रथम शताब्दी के लगभग मध्य में रखते हैं।

इस मत के पक्ष में कुछ अन्य तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(अ) शुङ्ग-वंश ने १८५ ई० पू० के लगभग शासन आरम्भ किया। इसने कुल ११२ वर्ष तक शासन किया। अतः इसका अन्त और कण्व-वंश का उदय (१८५–११२) ७३ ई० पू० के लगभग हुआ। कण्व वंश का कुल शासन-काल ४५ वर्ष का था। अतः इसका अन्त और सातवाहन-वंश का उदय ७३ – ४५ = २८ ई० पू० के लगभग हुआ।

(आ) चन्दा महोदय के अनुसार सिमुक की पुत्रवधू नागनिका के नासिक अभिलेख की लिपि ई० पू० प्रथम शताब्दी की है। अतः स्वयं सिमुक को ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य में रखा जा सकता है।

(इ) हेलिओडोरस का विदिशा स्तम्भ-लेख ९५ ई० पू० के कुछ पहले स्थापित कराया गया था। लिपि के आधार पर नागनिका का नानाघाट अभिलेख विदिशा स्तम्भ-लेख से पूर्व का प्रतीत होता है। अतः नागनिका के श्वसुर सिमुक का काल ५० ई० पू० के लगभग सरलतापूर्वक रखा जा सकता है।

(ई) हाथीगुम्फा अभिलेख ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण का है। इस अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिङ्ग के राजा खारवेल ने सातवाहन-नरेश शातकर्णि (प्रथम्) को पराजित किया था। इस आधार पर शातकर्णि का काल भी ई० पू० प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण हुआ। इसी के आस-पास सिमुक भी हुआ।

परन्तु पुराणों एवं नवीन मुद्राओं के आधार पर पहला मत ठीक लगता है। सातवाहनों का उदय दक्षिण में ई० पू० तीसरी श० के अन्त में हुआ होगा। उत्तर की ओर सिमुक ने अपनी सत्ता बहुत बाद में स्थापित की।

आन्ध्रभृत्य—पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र अथवा आन्ध्रभृत्य कहा गया है। डा० सुक्थंकर के मतानुसार आन्ध्रभृत्य में तत्पुरुष समास है और इसका अर्थ है 'आन्ध्रों के भृत्य' (नौकर)। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते। उनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार 'आन्ध्रभृत्य' में कर्मधारय समास है और इसका अर्थ है 'आन्ध्र (अर्थात् सातवाहन) जो (पहिले किसी के) भृत्य थे।' मत्स्य पुराण में उत्तर में सातवाहन-वंश के संस्थापक सिमुक को भृत्य कहा गया है जिसने कण्व सुशर्मा का नाश किया था। सम्भवतः सिमुक कण्व-नरेश सुशर्मा का सामन्त अथवा सेनापति था। पुराणों ने सातवाहनों को 'आन्ध्र' क्यों कहा, इस प्रश्न पर हम पहले विचार कर चुके हैं।

सातवाहन और उत्तरी भारत—कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सातवाहनों का राज्य केवल दक्षिणी भारत में ही सीमित न था, उत्तरी भारत का भी एक विशाल प्रदेश उनके अधीन था। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं डा० दांडेकर और डा० जायसवाल। इनके मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(१) पुराणों का कथन है कि 'आन्ध्रजातीय सिन्धुक यह वसुन्धरा प्राप्त करेगा।' पुराण शुङ्गों और कण्वों का वर्णन मगध-नरेश के रूप में ही करते हैं। उनके पश्चात् ही वे आन्ध्रों का उल्लेख करते हैं। अतः उनमें उल्लिखित 'वसुन्धरा' का अर्थ मगध है।

(२) प्रयाग से ७ मील की दूरी पर भीटा नामक स्थान पर सातवाहनों की एक मुद्रा मिली है। इसके आधार पर डा० दाण्डेकर उन्हें उत्तरी भारत का भी नरेश मानते हैं।

(३) इसी प्रकार की एक सातवाहन-मुद्रा डा० जायसवाल को नालन्दा में प्राप्त हुई थी। इसके आधार पर वे भी सातवाहनों को मगध का स्वामी मानते हैं।

इन तर्कों के विपक्ष में इस प्रकार कहा जाता है—

(१) उत्तरकालीन शुङ्गों और कण्वों का राज्य केवल विदिशा में ही सीमित था। कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर उन्हें मगध का शासक कहा जा सके। अतः पुराणों में उल्लिखित 'वसुन्धरा' का अर्थ मगध से नहीं, वरन् सम्भवतः विदिशा अथवा महाराष्ट्र के कुछ भाग से ही है।

(२) एक मुद्रा के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तर प्रदेश सातवाहनों के अधिकार में था। वह मुद्रा किसी यात्री के द्वारा भी भीटा पहुँच सकती थी।

(३) डा० जायसवाल ने नालन्दा की जिस मुद्रा का उल्लेख किया है उसके आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक है।

विपक्ष की पहली दलील भ्रामक है। उत्तरकालीन शुङ्गों और कण्वों का राज्य विदिशा या महाराष्ट्र में नहीं रहा। पुराणों के कथनानुसार यही ठीक प्रतीत होता है कि मगध या वत्स पर उनका अधिकार था। सिमुक ने अन्तिम कण्व राजा को परास्त कर वहाँ अपनी क्षणिक सत्ता स्थापित की होगी। पर शीघ्र ही उसे भंग कर मालवा और उत्तरी महाराष्ट्र की ओर आना पड़ा होगा। कुछ अन्य बातों से भी यह प्रकट होता है कि सातवाहनों का राज्य उत्तरी भारत में न था—

(१) उनके अधिकांश अभिलेख और सिक्के दक्षिण, मध्य और पश्चिम भारत में ही पाये गये हैं; उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रांतों में नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) उनके अभिलेखों में दक्षिण, मध्य एवं पश्चिम भारत के प्रदेशों, स्थानों एवं तीर्थों के नाम मिलते हैं। परन्तु कहीं भी उत्तरी भारत के उल्लेख नहीं मिलते।

(३) हाथीगुम्फा अभिलेख सातवाहनकालीन है। उससे या अन्य महत्वपूर्ण लेखों से भी यह प्रकट नहीं होता कि उत्तरी भारत में सातवाहनों का राज्य था।

(४) सातवाहनों को 'त्रिसमुद्राधिपति' कहा गया है, जिसका अर्थ सामान्यतया 'दक्षिणापथपति' होता है। जिस नरेश के अधीन उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत दोनों होते थे उसके लिये 'चतुःसमुद्राधिपति' अथवा इसी प्रकार की अन्य संज्ञा का प्रयोग होता था।

(५) उत्तर भारत में ई० पूर्व प्रथम शती से लेकर ई० तीसरी शती तक मित्र राजाओं, शकों, कुषाणों, मघों, नागों आदि का शासन रहा। इनके अभिलेखों, मुद्राओं आदि से भी पता चलता है कि उत्तरी-भारत के किसी भी भाग पर सातवाहनों का राज्य न था।

सातवाहन-नरेश

सिमुक—पुराण-सूचियों में इसका नाम पहला है। पुराणों के अनुसार इसने कण्वों एवं शेष शुङ्गों का विनाश करके 'वसुन्धरा' प्राप्त की थी। पुराणों में इसके अनेक नाम मिलते हैं, जैसे—सिन्धुक, सिमुक, शिशुक, शिप्रक इत्यादि। पुराण इसे 'भृत्य' कहते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह कण्वों या सातवाहनों का अधीनस्थ था। कुछ विद्वानों के मतानुसार उसने मौर्यों के विरुद्ध विद्रोह करके २३० ई० पू० के लगभग सिंहासन प्राप्त किया था। परन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराणों का स्पष्ट कथन है कि सिन्धुक ने कण्वों और शेष शुङ्गों का विनाश करके 'वसुन्धरा' को प्राप्त किया। वे इस सम्बन्ध में मौर्यों का उल्लेख नहीं करते।

कोंडापुर तथा नेवासा से प्राप्त ताम्र-मुद्राओं पर 'रञो सिरि सात (याद) वाहनस' लिखा हुआ है। प्रो० मिराशी का मत है कि मुद्रा की लिपि अशोककालीन-सी है। उनके अनुसार इसी राजा को सातवाहन-वंश का संस्थापक मानना चाहिए। अतः सातवाहनों का उदय-काल ई० पू० तीसरी शताब्दी का अन्त प्रतीत होता है।

मुद्रा-लेख की तिथि पर मतभेद है। नेवासा की मुद्राओं पर के लेख को ई० पू० दूसरी या प्रथम शती का माना जाता है। यह भी अनुमान है कि ये सिक्के सातवाहन वंश के कई शासकों ने विभिन्न समयों में जारी किए होंगे। जो भी हो, तेलंगाना-प्रांतक उक्त सिक्कों का राजा सातवाहन ही इस वंश का प्रथम राजा ठहरता है, न कि सिमुक कुछ लोग राजा सातवाहन और सिमुक को एक ही मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं लेखों में 'सिमुक' नाम ही मिलता है, 'राजा सातवाहन' कहीं नहीं।

सिमुक का शासन-काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य में रखा जाता है। पुराणों के अनुसार उसने २३ वर्ष तक शासन किया था। डा० रायचौधरी के अनुसार उसने लगभग ६० ई० पू० से ३७ ई० पू० तक शासन किया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृष्ण—सिमुक के पश्चात् उसका भाई कृष्ण सिंहासन पर बैठा। डा० दिनेशचन्द्र सरकार का अनुमान है कि वह सिमुक का पुत्र था। नासिक के एक अभिलेख में 'सातवाहन-कुल के कन्हराज' का नाम मिलता है। यह सम्भवतः कृष्ण ही था। इस साक्ष्य से यह भी विदित होता है कि महाराष्ट्र का नासिक-प्रदेश ई० पू० प्रथम शती के मध्य से ही सातवाहनों के अधीन था।

कृष्ण ने लगभग ३७ ई० पू० से २७ ई० पूर्व तक शासन किया।

शातकर्णि प्रथम—कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शातकर्णि प्रथम राजा हुआ। वह तत्कालीन भारत का एक पराक्रमी राजा सिद्ध हुआ। उसका इतिहास निम्नलिखित साक्ष्यों से ज्ञात होता है—

(१) नानाघाट अभिलेख—पूना के पास इस लेख को शातकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका ने उत्कीर्ण कराया था। लेखानुसार वह अंगीय वंश के महारठी त्रनकयिरो की पुत्री थी। सम्भवतः यह एक राजनीतिक विवाह था। पश्चिम के शक्तिशाली महारठियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके शातकर्णि ने अपनी स्थिति और भी अधिक दृढ़ कर ली होगी।

नानाघाट-अभिलेख शातकर्णि को 'सिमुकसातवाहनस वंसवधनस' (सिमुक-सातवाहन-वंश को बढ़ाने वाला) कहता है। इसमें सिमुक का तो नाम है, परन्तु कृष्ण का नहीं। इससे कुछ विद्वानों ने यह कल्पना की है कि कदाचित् शातकर्णि सिमुक का पुत्र था। परन्तु यह मत असंगत प्रतीत होता है। सिमुक को सातवाहन-वंश की प्रमुख शाखा का संस्थापक कह सकते हैं। अतः शातकर्णि का वंश 'सिमुक-सातवाहन-वंश' कहा गया है। पुराणों का स्पष्ट कथन है कि शातकर्णि कृष्ण का पुत्र था।

इस अभिलेख में शातकर्णि को दक्षिणापथपति कहा गया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि शातकर्णि सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का स्वामी था। यहाँ 'दक्षिणापथ' का सीमित अर्थ है और इससे एकमात्र महाराष्ट्र अथ। अधिकांश महाराष्ट्र और मालवा के कुछ भाग का ही बोध होता है।

अभिलेख शातकर्णि को 'शूर', 'वीर' आदि विशेषणों से भी विभूषित करता है। इन सब उल्लेखों से अनुमान लगाया जा सकता है कि शातकर्णि ने अपने वंश के राज्य का अभूतपूर्व विस्तार किया होगा।

इसी अभिलेख से प्रकट होता है कि शातकर्णि ने राजसूय, अश्वमेध एवं अन्य अनेक वैदिक यज्ञ किये थे। इन अवसरों पर शातकर्णि ने गौओं, घोड़ों, हाथिओं, ग्रामों एवं सुवर्ण आदि का दान किया। डा० दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि एक अश्वमेध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यज्ञ नागनिका ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् किया था। परन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। नानाघाट अभिलेख में इस यज्ञ के सम्बन्ध में 'रायस' शब्द मिलता है। इससे अनुमान होता है कि यह यज्ञ राजा के जीवन-काल में ही हुआ था।

(२) साँची अभिलेख—यह अभिलेख एक 'राजन् श्री शातकर्णि' का उल्लेख करता है। मार्शल महोदय ने इस मत को अस्वीकार किया था। उनका प्रमुख तर्क यह था कि शातकर्णि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के खारवेल का समकालीन था। परन्तु ई० पू० द्वितीय शताब्दी में साँची शुङ्गों के अधीन था। अतः वह शातकर्णि के अधिकार में कैसे हो सकता है ?

मार्शल महोदय का तर्क नितान्त असंगत है। अब अधिकांश विद्वान् खारवेल को ई० पू० द्वितीय शताब्दी में नहीं वरन् ई० पू० प्रथम् शताब्दी के अन्तिम चरण में रखते हैं। इस स्थिति में अनेक विद्वान् साँची अभिलेख के शासक श्री शातकर्णि को सातवाहन-वंश का शातकर्णि प्रथम ही मानते हैं। शातकर्णि प्रथम की मालवा-शैली की मुद्राओं से भी साँची उसके अधिकार में प्रतीत होता है।

(३) हाथीगुम्फा अभिलेख—इस अभिलेख का कथन है कि कलिङ्ग-नरेश खारवेल ने शातकर्णि को पराजित किया था। सम्भवतः शातकर्णि के राज्य की सीमा कलिङ्ग-राज्य से मिली हुई थी। अतः दोनों महत्वाकांक्षी राज्यों के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था।

(४) पेरीप्लस—यह ग्रन्थ 'elder Saraganus' का उल्लेख करता है। उसके शासन-काल में कल्याण विदेशी व्यापार का केन्द्र था। प्रायः सभी विद्वान् elder Saraganus का समीकरण शातकर्णि प्रथम के साथ करते हैं।

(५) वीरचरित—इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठान के राजा शातकर्णि का उल्लेख है। अधिकांश विद्वान् इसे शातकर्णि प्रथम मानते हैं।

(६) मुद्रायें—कुछ मुद्राओं पर 'सिरि सात' लिखा मिलता है। कुछ अन्य मुद्राओं पर 'सातकर्णि' नाम मिलता है। अनेक विद्वान् इन मुद्राओं को शातकर्णि प्रथम की मुद्रायें मानते हैं। प्रथम कोटि की मुद्रायें मालवा-शैली की और द्वितीय कोटि की पश्चिमी भारत-शैली की हैं। इनके आधार पर मालवा और पश्चिमी भारत का कुछ प्रदेश शातकर्णि प्रथम के अधीन प्रतीत होता है।

राज्य-विस्तार—शातकर्णि के राज्य के अन्तर्गत महाराष्ट्र का अधिकांश, उत्तरी कोंकण और मालवा के प्रदेश थे। इस राज्य-विस्तार के लिये शातकर्णि को अनेक युद्ध करने पड़े होंगे, जिनमें सम्भवतः उसे अपने सम्बन्धी महारठियों से पर्याप्त सहायता मिली होगी।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके राज्य की राजधानी प्रतिष्ठान थी। शातकर्णि ने लगभग २७ ई० पू० से १७ ई० पू० तक शासन किया। उसके जीवन-काल में सातवाहन-वंश दक्षिण भारत का सर्वशक्तिशाली राजवंश हो गया।[1]

शातकर्णि के उत्तराधिकारी—शातकर्णि प्रथम की मृत्यु के समय उसके दोनों पुत्रों—शक्तिश्री और वेदश्री—की आयु बहुत छोटी थी। अतः उनकी माता नागनिका ने कुछ समय तक उनकी संरक्षिका के रूप में शासन किया।

इन दो राजकुमारों के पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक सातवाहन-वंश का इतिहास महत्वहीन रहा। सातवाहनों के लिये यह अवनति-काल था। पुराण इस काल के अनेक सातवाहन-राजाओं के नाम लेते हैं। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे सब सातवाहनों की सिमुक-शाखा के ही राजा थे अथवा उनकी उपशाखाओं के भी। उदाहरण के लिये पुराणों में उल्लिखित कुन्तल-शातकर्णि और हाल उपशाखाओं के राजा प्रतीत होते हैं। यही बात आपीलक नामक एक अन्य राजा के विषय में भी कही जा सकती है। इस राजा का ज्ञान हमें एक मुद्रा से होता है। पेरीप्लस एक अन्य सातवाहन-नरेश Sandares का नाम लेता है। इसका समीकरण सुन्दर शातकर्णि के साथ किया जा सकता है।

मैम्बेरस का उदय—'पेरीप्लस' का लेखक सूचित करता है कि उसके समय में (६० ई०–८० ई०) कल्याण का बन्दरगाह अरक्षित हो गया था। वहाँ आने वाले यूनानी जहाजों को पकड़ कर बहुधा भडौंच (बैरीगाजा) ले जाया जाता था।

पेरीप्लस के वर्णन से प्रकट होता है कि उस समय भडौंच-प्रदेश, गुजरात, काठियावाड़ और राजपूताना के कुछ भाग पर मैम्बेरस नामक राजा का अधिकार था।[2] इसकी राजधानी मीननगर थी। मैम्बेरस का नाम अन्यत्र नहीं मिलता। परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि वह शक-नरेश था और उसने सातवाहन-राज्य के उत्तर में अपना राज्य स्थापित किया था। उसके छापों से सातवाहनों के प्रधान व्यापारिक केन्द्र कल्याण को भारी क्षति पहुँच रही थी और वह विदेशी व्यापार के लिये अरक्षित हो गया था। संभवतः इसी काल से शक-सातवाहन-संघर्ष का आरम्भ होता है।

---

१. "Satakarni seems to have been the first prince to raise the Satavahanas to the position of paramount sovereigns of Trans-Vindhyan India. Thus arose the first great empire in the Godavari valley which rivalled in extent and power the Sunga empire in the Ganges valley and the Greek empire in the Land of the Five Rivers". —Dr. Raychaudhuri

२. "Beyond the gulf of Baraka (Dwarika ?) is that of Barygaza and the coast of the country of Ariaca (Gujrat) which is the beginning of the kingdom of Mambarus and of all India. That part of it lying inland and adjoining Scythia is called Abria and the coast is called Syastrene (Surashtra)". —Periplus.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षहरात-वंश—एक नया संकट—मैम्बेरस और उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हमें विशेष ज्ञात नहीं है। परन्तु अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि ई० प्रथम शताब्दी के अन्तिम भाग में पश्चिमी भारत में एक नवीन राजवंश का उदय हुआ था। यह क्षहरात-वंश था। सातवाहनों के लिये यह एक नया संकट था। कुछ विद्वानों का मत है कि क्षहरात-नरेश उत्तरी भारत के परम शक्तिशाली कुषाण-सम्राटों के सामन्त थे। कुछ समय के लिये क्षहरातों ने सातवाहनों को पराजित करके उनसे अनेक प्रदेश छीन लिये।

इन क्षहरातों का सर्वप्रथम राजा भूमक था। इसका शासन-काल १०० ई० के आस-पास रखा जा सकता है। उसकी मुद्रायें गुजरात, काठियावाड़ और मालवा में पाई गई हैं। अभिलेखों से पता चलता है कि उसके राज्य में महाराष्ट्र का कुछ प्रदेश (पूना-प्रदेश), उत्तरी कोंकण और मध्य प्रदेश तथा राजपूताना का कुछ भाग सम्मिलित थे। इनमें से अनेक प्रदेश भूमक अथवा उसके पूर्वगामी क्षहरात-नरेशों ने मैम्बेरस तथा शातकर्णि प्रथम के निर्बल उत्तराधिकारियों से छीने होंगे।

भूमक के पश्चात् ११९ ई० के आस-पास नहपान नामक क्षहरात-नरेश सिंहासन पर बैठा। मुद्राओं और अभिलेखों से पता चलता है कि उसका राज्य गुजरात, काठियावाड़, मालवा, अपरान्त, महाराष्ट्र और राजपूताना के कुछ भाग में था। इनमें से कुछ प्रदेश उसने निश्चित रूप से सातवाहनों से छीने होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षहरात-नरेशों, भूमक और नहपान, के उदय के परिणामस्वरूप सातवाहनों की शक्ति को बड़ा धक्का लगा और उनके हाथ से अनेक प्रदेश निकल गये।

गौतमीपुत्र शातकर्णि—परन्तु क्षहरातों की सत्ता अधिक समय तक सुरक्षित न रह सकी। शीघ्र ही सातवाहन-वंश में एक महान् पराक्रमी नरेश का उदय हुआ, जिसने क्षहरातों को पराजित करके अपने वंश के विलुप्त गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की। यह सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि था।

पुराणों से प्रकट होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि सातवाहन-वंश का तेइसवाँ राजा था। किसी-किसी पुराण में उसे इक्कीसवाँ राजा बताया गया है। यह गौतमी बलश्री का पुत्र था।

गौतमीपुत्र शातकर्णि के इतिहास जानने के निम्नलिखित साधन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) **वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का नासिक अभिलेख**—इस अभिलेख को गौतमीपुत्र शातकर्णि के पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने अपने शासन के १९ वें वर्ष में उत्कीर्ण कराया था। इसमें वासिष्ठीपुत्र ने अपने स्वर्गीय पिता के महत्वपूर्ण कार्यों और गुणों का उल्लेख किया है। दुब्रिया महोदय का मत है कि यह अभिलेख गौतमीपुत्र की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मृत्यु पर उसकी जीवित माता गौतमी बलश्री द्वारा प्रशस्ति के रूप में खुदवाया गया था।

(२) गौतमीपुत्र के अभिलेख—गौतमीपुत्र शातकर्णि के स्वयं अपने भी अभिलेख मिले हैं। इनमें नासिक और कार्ले के अभिलेख विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनसे गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन की तिथियों, राज्य-विस्तार आदि पर प्रकाश पड़ता है।

(३) नहपान और ऋषभदात के अभिलेख—क्षहरात-वंश का राजा नहपान और उसका दामाद ऋषभदात गौतमीपुत्र शातकर्णि के समकालीन थे। अतः उनके अनेक लेख भी गौतमीपुत्र के शासन-काल की घटनाओं के अध्ययन के लिये आवश्यक हैं।

(४) मुद्रायें—गौतमीपुत्र शातकर्णि और नहपान दोनों की बहुसंख्यक मुद्रायें मिली हैं। इनसे अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गये हैं।

हम इन्हीं साधनों के आधार पर निर्मित गौतमीपुत्र शातकर्णि का इतिहास यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

विजयें—वासिष्ठीपुत्र पुलमावी के नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि की विजयों का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि उसने बहुत से राजाओं को अपनी आज्ञा मानने के लिये विवश किया था;[1] वह कभी भी पराजित न हुआ था[2] और उसने युद्धों में अनेक शत्रु-संघों को परास्त किया था।[3]

पराजित शत्रु—नासिक अभिलेख निम्नलिखित पराजित शत्रुओं के नाम भी लेता है—

(१) गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षत्रियों के दर्प और मान का नाश कर दिया था।[4] डा० भण्डारकर का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस लेख में उल्लिखित 'खतिय' शब्द से यूनानियों द्वारा वर्णित जैक्थ्राय (Xathroi) जाति का बोध होता है। वास्तव में 'खतिय' का स्वाभाविक और सामान्य संस्कृत रूपान्तर 'क्षत्रिय' ही है। सम्भवतः गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने समकालीन कुछ क्षत्रिय राजाओं को परास्त किया होगा। यह भी सम्भव है कि इन शब्दों से ब्राह्मण-क्षत्रिय-प्रतिद्वन्द्विता का बोध होता हो। कदाचित् ब्राह्मण सातवाहनों की राज्य-स्थापना और ब्राह्मणधर्मावलम्बी नीति के कारण 'क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन' हुआ होगा।

(२) गौतमीपुत्र शातकर्णि के अन्य शत्रुओं में शक, यवन (हिन्द-यूनानी) और पह्लव थे। नासिक अभिलेख का कथन है कि गौतमीपुत्र ने इनका नाश कर

---

१. 'सवराजलोकमण्डलयतिगहीतसासनस'।
२. 'अपराजितविजयपताकः।'
३. 'अनेकसमरावजितसतुसघस।'
४. 'खतियदपमानमदनस।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया था ।[1] गौतमीपुत्र ने शकों के अतिरिक्त हिन्द-यूनानियों और पह्लवों का भी दमन किया था, इसका कोई अन्य साक्ष्य नहीं मिलता । सम्भवत: क्षहरात शकों की सेना में हिन्द-यूनानी और पह्लव भी मौजूद थे । अत: शकों की पराजय उनकी भी पराजय मानी गई होगी ।

(३) नासिक अभिलेख का पुन: कथन है कि गौतमीपुत्र ने क्षहरातों का समूल नाश कर दिया ।[2] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्षहरातों का राजा नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि का समकालीन था । उसने गौतमीपुत्र के पूर्वजों की निर्बलता से लाभ उठाकर सातवाहन-राज्य के अनेक प्रदेशों को छीन लिया था । गौतमीपुत्र ने उसे पराजित किया और उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया । सम्भवत: नहपान युद्ध में मारा भी गया । उसकी पराजय के पश्चात् क्षहरात वंश का अन्त हो गया । नहपान के किसी भी उत्तराधिकारी के शासन का साक्ष्य प्राप्त नहीं होता । अत: नासिक अभिलेख का यह कथन कि गौतमीपुत्र ने क्षहरातवंश को निरवशेष कर दिया, पूर्ण सत्य है । नहपान का समकालीन शासक उसका जामाता उषवदात दूसरे वंश का था ।

जोगलथम्भी मुद्रा-निधि—नासिक जिले में जोगलथम्भी नामक स्थान है । वहाँ एक महत्वपूर्ण मुद्रा-भाण्ड प्राप्त हुआ है, जिसमें १३,२५० सिक्के मिले हैं ।

इस मुद्रा-भाण्ड से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती है—

(१) इसमें नहपान के नाम की लगभग एक तिहाई मुद्रायें हैं ।

(२) उसकी शेष मुद्राओं पर गौतमीपुत्र का नाम अंकित है ।

(३) पुनरंकित मुद्राओं पर नहपान के अतिरिक्त किसी अन्य नरेश का नाम नहीं है, जिसे उसके वंश का कहा जा सके ।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नहपान और गौतमीपुत्र समकालीन थे । उनके बीच में कोई अन्य शासक नहीं हुआ तथा गौतमीपुत्र ने नहपान को पराजित करके उसकी मुद्राओं को अपने नाम से चलाया ।

नहपान की पराजय का साक्ष्य इस बात से भी मिलता है कि १२४ ई० के पश्चात् उसका अथवा उसके उत्तराधिकारी का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं होता । इस प्रकार गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा नहपान के पराजय की तिथि १२४ ई० के आस-पास रखी जा सकती है ।

नासिक अभिलेख द्वारा पुष्टि—नासिक अभिलेख में निम्नलिखित ऐसे प्रदेशों के नाम दिये हुए हैं जो गौतमीपुत्र के अधीन थे—

(१) असिक (महाराष्ट्र के पूर्व में कृष्णा का तटीय प्रदेश)

---

१. 'सकयवनपह्लवनिसूदनस ।'
२. 'खखरातवंसनिरवसेसकरस ।'

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) असक या अश्मक (महाराष्ट्र के पूर्व में गोदावरी का तटीय प्रदेश)
(३) मूलक (प्रतिष्ठान के आस-पास का प्रदेश)
(४) सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़)
(५) कुकुर (उत्तरी काठियावाड़)
(६) अपरान्त (उत्तरी कोंकण)
(७) अनूप (नर्मदा नदी पर माहिष्मती का प्रदेश)
(८) विदर्भ (बरार)
(९) आकर (पूर्वी मालवा)
(१०) अवन्ति (पश्चिमी मालवा)

इनमें सुराष्ट्र, अपरान्त, अनूप, आकर और अवन्ति पर पहले नहपान का अधिकार था। अतः नहपान की पराजय के पश्चात् ही ये प्रदेश गौतमीपुत्र के हाथ में आये होंगे।

यश-प्रतिष्ठा—अपनी इन विजयों के परिणामस्वरूप गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने वंश की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनःस्थापना कर दी। इसी से नासिक अभिलेख उसे 'सातवाहन कुल के यश की पुनः प्रतिष्ठा करने वाला' कहता है।[1] उसके महान् शौर्य को दृष्टि में रखते हुए ही यह अभिलेख उसकी तुलना राम, केशव, अर्जुन और भीमसेन से करता है।

नहपान और गौतमीपुत्र—स्मिथ, भण्डारकर और नीलकण्ठ शास्त्री आदि विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते कि नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णि समकालीन थे। इनके तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि नहपान की तिथियाँ—४१, ४२, ४५ और ४६—विक्रम सम्वत् की हैं। अतः नहपात ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ था, जब कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ईसा की द्वितीय शताब्दी का शासक था।

(२) गौतमीपुत्र के शासन के १८ वें वर्ष के एक नासिक अभिलेख से प्रकट होता है कि 'उसभदत्त' ने कुछ भूमि दान दी थी। नीलकण्ठ शास्त्री और भण्डारकर महोदयों का कथन है कि यह दानदाता नहपान का दामाद उषवदात न था। यह समान नामधारी कोई अन्य व्यक्ति था।

(३) डा० स्मिथ का मत है कि जोगलथम्भी मुद्राभाण्ड से यह सिद्ध नहीं होता कि नहपान गौतमीपुत्र का समकालीन था और गौतमीपुत्र ने उसे पराजित किया था। नहपान की मुद्रायें गौतमीपुत्र के पूर्व से ही चल रही थीं। गौतमीपुत्र ने अपने शासन-काल में भी उन्हें मान्यता दी और कुछ पर अपना नाम अंकित करा दिया।

---

१. 'सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु ये तर्क निर्बल हैं—

(१) अधिकांश विद्वान् नहपान की तिथियों को शक संवत् की तिथियाँ मानते हैं। अतः वह ईसा की द्वितीय शताब्दी का सिद्ध होता है।

(२) हम किसी अन्य उल्लेखनीय उषवदात से परिचित नहीं हैं।

(३) गौतमीपुत्र क्षहरात-वंश का समूल नाश करने वाला कहा गया है। उसने उन प्रदेशों पर राज्य किया जो किसी समय क्षहरात-नरेश नहपान के अधीन थे। नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि का समकालीन था। इन मान्यताओं की पृष्ठभूमि पर जोगलथम्भी मुद्राभाण्ड यही सिद्ध करता है कि गौतमीपुत्र ने नहपान को पराजित किया था।

द्विराज्य—डा० आर० जी० भण्डारकर ने यह मत प्रतिपादित किया था कि कुछ समय के लिये गौतमीपुत्र शातकर्णि और वासिष्ठीपुत्र पुलमावी ने साथ-साथ राज्य किया था। गौतमीपुत्र की राजधानी वेनुकाकट थी और वासिष्ठीपुत्र की राजधानी प्रतिष्ठान। इनका प्रमुख तर्क यह था कि वासिष्ठीपुत्र पुलुवामी के नासिक अभिलेख में गौतम बलश्री का उल्लेख गौतमीपुत्र की माता और वासिष्ठीपुत्र की पितामही दोनों रूपों में किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय दोनों ही शासन कर रहे थे।

परन्तु भण्डारकर महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता—

(१) गौतमी बलश्री को माता और पितामही दोनों नामों से पुकारने का अर्थ यह नहीं है कि उसका पुत्र और पौत्र दोनों साथ-साथ शासन कर रहे थे।

(२) एक अभिलेख से प्रकट होता है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने अपने पिता के पुण्य के लिये एक गुहा का दान किया था। इससे अनुमान होता है कि गौतमीपुत्र मर चुका था।

(३) गौतमीपुत्र की मुद्राओं से प्रकट होता है कि वह एकमात्र वेनुकाकट का ही राजा न था वरन् पश्चिमी भारत भी उसके अधीन था।

(४) टालमी ने एकमात्र 'सिरो पोलेमाय' (श्री पुलुमावी) का उल्लेख किया है। यदि उसके साथ उसका पिता गौतमीपुत्र राज्य करता होता तो वह दोनों के सम्मिलित राज्य का उल्लेख करता।

गौतमीपुत्र के अन्य गुण—गौतमीपुत्र एक महान् विजेता था। उसने अपने समय के अनेक राजवंशों को परास्त किया और अपने वंश के विलुप्त गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की। यदि वह न होता तो सम्भव है कि अधिकांश दक्षिणी भारत पर शकों का राज्य स्थापित हो जाता।

फिर भी वह व्यर्थ में हिंसा न करता था। अपराधी शत्रुओं के प्रति हिंसा करने में भी उसे अरुचि थी।[1]

---

१. 'कितापराधे पिसतुजने अपाणहिसारुचिस।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह एक आदर्श शासक था। उसे अपनी प्रजा के सुख-दुःख का सदैव ध्यान रहता था।[1] उनके मनोरंजन और सामूहिक खान-पान के लिये वह बहुधा उत्सव और समाज करता था।[2]

गौतमीपुत्र विजेता और लोक-कल्याणकारी शासक होने के साथ ही विद्वान् भी था। नासिक अभिलेख में उसे धर्मशास्त्रों का पण्डित बताया गया है।[3]

वह ब्राह्मण-धर्मावलम्बी था। उसे 'एकब्राह्मण' कहा गया है। उसने वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना करते हुए वर्णसंकरता को रोका।[4] उसका शासन 'द्विजों' और 'अवर' जातियों, दोनों के लिये कल्याणकारी था।

शासन-काल—जुन्नार अभिलेख में नहपान के शासन की अन्तिम तिथि ४६ मिलती है। अधिकांश विद्वान् इसे शक संवत् की तिथि मानते हैं। अतः नहपान ने ४६+७८=१२४ ई० तक शासन किया होगा। सम्भवतः इसी तिथि के आस-पास गौतमीपुत्र शातकर्णि ने महाराष्ट्र पर अपना अधिकार कर लिया। गौतमीपुत्र ने कदाचित् अपने शासन के १८ वें वर्ष महाराष्ट्र-विजय की होगी, क्योंकि महाराष्ट्र में उसका सर्वप्रथम लेख (नासिक अभिलेख) उसके शासन के १८ वें वर्ष का ही है। दूसरे शब्दों में गौतमीपुत्र १२४ ई० के पूर्व १८ वर्ष शासन कर चुका था। अतः वह १२४ – १८ = १०६ ई० में सिंहासन पर बैठा होगा।

एक दूसरे नासिक अभिलेख से पता चलता है कि गौतमीपुत्र ने कम से कम २४ वर्ष तक शासन किया। अतः उसकी मृत्यु १०६+२४=१३० ई० के लगभग हुई होगी। इस प्रकार गौतमीपुत्र का शासन-काल लगभग १०६ ई० से १३० ई० तक रखा जा सकता है।

कार्दमक वंश का उदय—एक नवीन संकट—गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु के कुछ ही दिनों पश्चात् सातवाहन-साम्राज्य के सामने एक नवीन संकट उपस्थित हुआ। यह संकट था कार्दमक-वंश का उदय। यह वंश भी शकों का था। इसका संस्थापक चष्टन था। अनेक विद्वानों का मत है कि क्षहरातों की भाँति कार्दमक भी कुषाणों के सामन्त थे और क्षहरातों के पतन के पश्चात् कुषाणों ने उन्हें पश्चिमी भारत में अपने खोए हुए प्रदेशों को सातवाहनों से पुनः छीनने के लिये भेजा था। कार्दमक-नरेशों, चष्टन और उसके पौत्र रुद्रदामा प्रथम, के आक्रमणों ने सातवाहन-साम्राज्य को भारी हानि पहुँचाई। सम्भवतः उन्होंने गौतमीपुत्र शातकर्णि के पुत्र और उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को पराजित करके सातवाहन-साम्राज्य के अनेक प्रदेश छीन लिये।

---

१. 'पोरजननिविसेससमसुखदुखस।'
२. 'उसवसमाजकारकस।'
३. 'आगमान निलयस।'
४. 'विनिवतितचातुवणसकरस।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी—लगभग १३० ई० में गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु के पश्चात् वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी सातवाहन-साम्राज्य का स्वामी हुआ। पुराण इसे पुलोमा और टालमी 'सिरो पोलेमाय' (श्री पुलुमावी) के नाम से पुकारते हैं।

पराजय—आन्ध्री अभिलेख से अनुमान किया जा सकता है कि १३० ई० के लगभग ही उज्जैन में शकों के कार्दमकवंशीय नरेश चष्टन का उदय हुआ। निम्नलिखित साक्ष्यों से अनुमान किया जा सकता है कि चष्टन और उसके परम शक्तिशाली पौत्र रुद्रदामा प्रथम ने वासिष्ठीपुत्र को पराजित किया और उसके साम्राज्य के उत्तरी प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया—

(१) सातवाहन-नरेशों का प्रमुख मुद्रा-चिह्न पर्वत या चैत्य था। चष्टन की कुछ मुद्राओं पर भी यही चिह्न मिलता है। इससे अनुमान होता है कि उसने सातवाहन-साम्राज्य के कुछ प्रदेशों को जीत लिया था और वहाँ की लोकप्रिय मुद्रा के आधार पर अपनी मुद्रा का निर्माण कराया था।

(२) चष्टन की कुछ मुद्रायें काठियावाड़ और गुजरात में मिली हैं। उसके पुत्र जयदामा की कुछ मुद्रायें पुष्कर (अजमेर) में मिली हैं। इनसे अनुमान किया जा सकता है कि इन प्रदेशों को चष्टन ने वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी से छीना होगा।

(३) हम पहले ही कह चुके हैं कि मालवा गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधीन था। परन्तु टालमी चष्टन (Tiastanes) को मालवा में स्थित उज्जैन (Ozene) का शासक बताता है। स्पष्ट है कि उसने वासिष्ठीपुत्र को पराजित करके ही मालवा पर अपना अधिकार किया होगा।

(४) १५० ई० के जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि अन्य प्रदेशों के अतिरिक्त आकर (पूर्वी मालवा), अनूप (माँधाता-प्रदेश), सुराष्ट्र (काठियावाड़), कुकुर (सिन्धु और पारियात्र के बीच का प्रदेश) और अपरान्त (उत्तरी कोंकण) के ऊपर भी रुद्रदामा का अधिकार था। ये प्रदेश किसी समय गौतमीपुत्र शातकर्णि के साम्राज्य में थे। अतः वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को पराजित करके ही उसने इन प्रदेशों पर अधिकार किया होगा।

यही नहीं, जूनागढ़ अभिलेख सातवाहन-नरेश की पराजय का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करता है। उसका कथन है कि महाक्षत्रप रुद्रदामा ने दक्षिणापथ के राजा शातकर्णि को दो बार पराजित किया, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसका विनाश नहीं किया।

यह शातकर्णि राजा कौन था, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। रैप्सन आदि अनेक विद्वानों ने उसका समीकरण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के साथ किया है। शातकर्णि सातवाहनों का वंशगत नाम था। अनेक सातवाहन-राजा सामान्यरूप से शातकर्णि कहे जाते थे। उक्त जूनागढ़-लेख की 'दक्षिणापथ-पति' उपाधि कुछ संकेत देती है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नासिक अभिलेख में वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के लिये 'दक्षिणापथेश्वर' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। सातवाहन-नरेशों में वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी निश्चयपूर्वक आन्ध्र-देश का भी स्वामी था। आन्ध्र-देश में उसकी मुद्रायें मिली हैं। इसी भूभाग से म्याकडोनि अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें पुलुमावी का नाम मिलता है। सुक्थंकर महोदय इस पुलुमावी का समीकरण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के साथ करते हैं। यदि यह समीकरण ठीक है तो आन्ध्र-देश पर वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के अधिकार का एक अन्य प्रमाण प्राप्त होता है। अतः उसके लिये 'दक्षिणापथपति' की उपाधि अधिक उपयुक्त है। अपनी पराजयों के पश्चात् पुलुमावी के साम्राज्य के उत्तरी प्रदेश उसके हाथ से निकल गये थे। अतः अब वह विशेषरूप से 'दक्षिणापथ' का ही राजा था।

अब प्रश्न यह होता है कि रुद्रदामा प्रथम और वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी में कौन-सा निकट सम्बन्ध था। इस प्रश्न पर कन्हेरी अभिलेख से प्रकाश पड़ता है। इस लेख की लिपि जूनागढ़-लेख की लिपि से मिलती-जुलती है। इस लेख के अनुसार वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि ने महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री के साथ विवाह किया था। रैप्सन महोदय के अनुसार रुद्र का समीकरण रुद्रदामा प्रथम से और वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि का समीकरण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी से करना चाहिए। यदि यह समीकरण ठीक है तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रदामा ने अपने दामाद वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को दो बार पराजित तो किया, परन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसका विनाश नहीं किया। वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने रुद्रदामा की पुत्री के साथ विवाह करके अपने साम्राज्य के कुछ प्रदेशों को बचा लिया।[1] इस पराजय के पश्चात् भी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के हाथ में महाराष्ट्र और विदर्भ के प्रदेश बने रहे। रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख में इन प्रदेशों का उल्लेख नहीं है। इसके विरुद्ध महाराष्ट्र में पुलुमावी के अभिलेख मिले हैं तथा विदर्भ में उसकी मुद्रायें।

जूनागढ़ की तिथि ७२ शक संवत् अर्थात् १५० ई० है। अतः इस तिथि के कुछ पूर्व वासिष्ठीपुत्र पराजित हुआ होगा। दूसरा मत यह है कि पराजित व्यक्ति पुलुमावी का भाई शातकर्णि होगा और उसी को रुद्रदामा की पुत्री ब्याही होगी।

आन्ध्र-देश पर प्रभुत्व—आन्ध्र-देश के तेलंगाना क्षेत्र से प्राप्त राजा सातवाहन की मुद्राओं की चर्चा पहले की जा चुकी है। संभव है कि सातवाहनों का अधिकार इस क्षेत्र पर बराबर बना रहा हो। आन्ध्र-देश पर पुलुमावी के अधिकार के निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) नासिक अभिलेख में उसकी 'दक्षिणापथेश्वर' उपाधि।

(२) अमरावती में उसके शासन-काल का एक अभिलेख।

---

१. "The Satavahanas appear to have made an attempt to save a few of the conquered provinces by contracting a matrimonial alliance with Karddamaka Sakas." —D. C. Sircar

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) आन्ध्र-प्रदेश में प्राप्त उसकी मुद्रायें ।

(४) कोरोमण्डल-तट में प्राप्त उसकी मुद्रायें ।

इन सब बातों से प्रकट होता है कि आन्ध्र-देश और सम्भवतः उसके समीप का कुछ अन्य भाग पुलुमावी के अधीन था । इस प्रकार यद्यपि उसके साम्राज्य के कुछ उत्तरी प्रदेश उसके हाथ से निकल गये, परन्तु दक्षिणी भारत का अधिकांश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था ।

राज्य-विस्तार—इस प्रकार वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के अधिकार में महाराष्ट्र, विदर्भ, आन्ध्र-देश और सम्भवतः कोरोमण्डल-तट का कुछ प्रदेश सम्मिलित था । इस राज्य की राजधानी प्रतिष्ठान थी । टालमी उसे प्रतिष्ठान का राजा बताता है ।

शासन-काल—गौतमीपुत्र के शासन की अन्तिम तिथि १३० ई० थी । यही वासिष्ठीपुत्र के सिंहासनारोहण की तिथि होगी । कार्ले अभिलेख से प्रकट होता है कि उसने कम से कम २४ वर्ष तक राज्य किया था । अतः उसका शासन-काल १५० ई० तक अवश्य रहा होगा ।

यदि हम पुराणों के कथन पर विश्वास करें तो उसने २८-२९ वर्ष तक शासन किया । इस प्रकार उसका शासन-काल लगभग १५९ ई० तक रहा ।

शिवश्री शातकर्णि—पुराणों के अनुसार वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के पश्चात् शिवश्री शातकर्णि राजा हुआ । उसने सम्भवतः १५९ ई० से लेकर १६५ ई० तक शासन किया । आन्ध्र-देश से प्राप्त कुछ मुद्राओं पर वासिष्ठीपुत्र शिवश्री शातकर्णि का नाम मिलता है । सम्भवतः वह पुराणों का शिवश्री शातकर्णि ही है ।

यह राजा भी महाक्षत्रप रुद्रदामा प्रथम का समकालीन था । परन्तु दोनों में संघर्ष हुआ अथवा नहीं और यदि हुआ भी तो उसका क्या परिणाम हुआ, इन सब प्रश्नों का उत्तर हमें प्राप्त नहीं होता । इतना अवश्य है कि शिवश्री शातकर्णि शकों से अपने पूर्वजों के प्राचीन प्रदेशों को छीन न सका ।

शिवस्कन्द शातकर्णि—पुराणों का कथन है कि शिवश्री शातकर्णि के पश्चात् शिवस्कन्द शातकर्णि सातवाहन राज्य का अधिकारी हुआ । उसके शासन की प्रमुख घटना १७० ई० के लगभग शक-नरेश महाक्षत्रप रुद्रदामा प्रथम की मृत्यु है । परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसकी मृत्यु से लाभ उठाकर शिवस्कन्द शातकर्णि ने सातवाहन राज्य के खोये हुए प्रदेशों को पुनः हस्तगत करने का प्रयत्न किया हो ।

शिवस्कन्द शातकर्णि ने लगभग १६५ ई० से १७४ ई० तक शासन किया ।

यज्ञश्री शातकर्णि—१७४ ई० के लगभग सातवाहन वंश में एक अन्य पराक्रमी राजा का उदय हुआ । यह यज्ञश्री शातकर्णि था । इसने अपने भुजबल से अपने वंश के परम्परागत वैरी शकों को पराजित किया और उनसे अपने पूर्वजों के अनेक प्रदेशों को पुनः छीन लिया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यज्ञश्री शातकर्णि को तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से काफी सहायता मिली। महाक्षत्रप रुद्रदामा प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र दामजद प्रथम सिंहासन पर बैठा। परन्तु ७-८ वर्ष के अल्पकालीन शासन के पश्चात् १७८ ई० के लगभग उसकी भी मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् दामजद के पुत्र जीवदामा और भाई रुद्रसिंह प्रथम में उत्तराधिकार का युद्ध हुआ। यह युद्ध अनेक वर्षों तक चलता रहा और बीच-बीच में दोनों पक्षों को सफलता और असफलता मिलती रही। इसी बीच ईश्वरदत्त नामक एक आभीर राजा का उदय हुआ। उसने भी शकों के पारस्परिक झगड़ों का लाभ उठाकर थोड़े समय के लिये सत्ता अपने हाथ में ले ली।

शकों की इस दुरावस्था से यज्ञश्री शातकर्णि ने भी पूरा लाभ उठाया। कन्हेरी में उसके शासन के १६ वें वर्ष का एक अभिलेख मिला है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस समय (१७४+१६=१९० ई०) तक यज्ञश्री शातकर्णि ने शकों से अपरान्त छीन लिया था। सोपारा (अपरान्त में) प्राप्त उसकी मुद्रायें भी उसकी अपरान्त-विजय का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। ये मुद्रायें रुद्रदामा प्रथम की मुद्राओं के अनुकरण पर बनाई गई थीं।

यज्ञश्री की मुद्रायें गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी और पश्चिमी मालवा तथा दक्षिणी मध्यप्रदेश में भी प्राप्त हुई हैं। इन में से अधिकांश प्रदेशों को उसने शकों से ही छीना होगा।

आन्ध्र-देश भी उसके साम्राज्य में था। वहाँ उसकी मुद्रायें प्रचर संख्या में उपलब्ध हुई हैं।

उसकी कुछ मुद्राओं पर दो मस्तूलों का जहाज और उज्जैन-चिह्न उत्कीर्ण हैं। इनसे यह अनुमान किया जाता है कि यज्ञश्री शातकर्णि ने कोई समुद्री प्रदेश भी जीता होगा। यह भी सम्भव है कि ये मुद्रायें उसके राज्य की व्यापारिक उन्नति का बोध कराती हैं।

पुराणों के अनुसार यज्ञश्री शातकर्णि ने २९ वर्ष तक शासन किया। अतः उसकी मृत्यु १७४+२९=२०३ ई० के आस-पास हुई होगी।

पतन—यज्ञश्री शातकर्णि सातवाहन-वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा था। उसके पश्चात् क्रमशः विजय, श्रीचन्द्र और पुलुमावी ने शासन किया। परन्तु ये निर्बल शासक थे। इनके समय में सातवाहन राज्य केवल आन्ध्र-देश में ही रह गया। महाराष्ट्र के बड़े भाग पर आभीरों ने अधिकार कर लिया था। कन्नड-प्रदेश में चुटु सातकर्णि-वंश ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि सातवाहनों की अवनत अवस्था से शकों ने भी कोई लाभ उठाया। वे स्वयं शक्तिहीन हो गये थे और दक्षिण की ओर अपना प्रसार करने में वे अब असमर्थ थे।

तीसरी शताब्दी के मध्य तक आते-आते इक्ष्वाकुओं ने पूर्वी दक्षिणापथ से सातवाहन-सत्ता का अन्त कर दिया। कुछ समय पश्चात् इक्ष्वाकु-वंश के स्थान पर पल्लव-वंश का उदय हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहन काल की संस्कृति

सामाजिक अवस्था—शुङ्गों की भाँति सातवाहन भी ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे और उन्होंने भी ब्राह्मणवर्ण, ब्राह्मणधर्म और ब्राह्मण संस्कृति की प्रतिष्ठा की चेष्टा की। एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि को एकब्राह्मण (सबसे महत्वपूर्ण ब्राह्मण) कहा गया है। उसने समाज में प्रचलित अन्तरजातीय विवाहों एवम् वर्णसंकरता को भी रोकने का प्रयत्न किया। अशोक की नीति के परिणामस्वरूप उत्सव और समाज बन्द हो गये थे। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने उनकी फिर से प्रतिष्ठा की। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुधा अपनी-अपनी सामाजिक श्रेष्ठता प्रकट करने के यत्न करते थे। कभी-कभी उनमें द्वेष-भावना भी रहती थी। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने ब्राह्मणवर्ण की महत्ता को स्थापित करते हुए प्रतिस्पर्धी क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन किया। एक अभिलेख में उसके लिए 'क्षत्रियदर्पमानमर्दनस्य'—जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के अतिरिक्त बहुसंख्यक हीन जातियाँ भी थीं। इन्हें अवर जातियाँ कहते थे। सातवाहन राजा यद्यपि ब्राह्मण थे तथापि अवर जातियों के प्रति भी उनका दृष्टिकोण उदार और सहिष्णु था। गौतमीपुत्र शातकर्णि को द्विज और अवर जातियों के कुटुम्बों का वर्धन करने वाला बताया गया है।

इस समय यद्यपि सजाति-विवाह अच्छे समझे जाते थे, परन्तु अन्तरजाति विवाह भी होते थे। सातवाहन-वंश के राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी या उसके भाई ने शक-नरेश रुद्रदामा प्रथम की पुत्री के साथ विवाह किया था।

सातवाहन काल में नारी समाज की दशा पर्याप्त अच्छी थी। उनकी सामाजिक महत्ता का प्रमाण यह है कि उस काल में बहुधा पुत्रों के नाम माताओं के नाम पर रखे जाते थे, जैसे गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र। उस समय स्त्रियों को राजनीतिक और धार्मिक अधिकार भी प्राप्त थे। अपने पति शातकर्णि प्रथम की मृत्यु के पश्चात् नागनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्रों के नाम से शासन-संचालन किया था। इस रानी ने अपने पति के साथ अश्वमेध यज्ञ भी किये थे।

राजनीतिक अवस्था—सातवाहन-काल में राज्य का प्रमुख एक ही व्यक्ति अथवा राजा होता था। उसकी योग्यता पर शासन-सूत्र की सफलता या विफलता निर्भर रहती थी। गौतमीपुत्र शातकर्णि एक महान् विजेता के साथ-साथ कुशल राजनीतिज्ञ तथा शासक भी था। प्रायः राजा का पुत्र ही उसका उत्तराधिकार ग्रहण करता था। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था प्रजा का पालन करना और उसकी सुख-सुविधा के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करना।

राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख में मन्त्रि-परिषद् का वर्णन मिलता है। मन्त्रियों की दो कोटियाँ

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थीं। इनमें सचिव और अमात्य प्रमुख थे। सचिव भी दो प्रकार के होते थे—मति-सचिव और कर्म-सचिव। और भी बहुत से उच्च-पद हुआ करते थे। ये पद प्रायः राजवंशियों तथा उनके सम्बन्धियों को ही प्राप्त होते थे। शक-प्रणाली में भी महाक्षत्रप के साथ एक क्षत्रप की नियुक्ति होती थी। बहुधा वह महाक्षत्रप का पुत्र ही हुआ करता था। इस प्रकार क्षत्रप के रूप में राजकुमार को राजकार्य में अच्छा अनुभव प्राप्त हो जाता था। सम्भव है सातवाहनों पर भी इस व्यवस्था का प्रभाव पड़ा हो। उत्तराधिकार ग्रहण करने से पूर्व राजकुमार को कुछ विद्याओं में निपुण होना पड़ता था। इसकी पुष्टि खारवेल और रुद्रदामा के उदाहरणों से होती है।

सम्पूर्ण राज्य में बहुसंख्यक नगर और ग्राम होते थे। नगरों और ग्रामों में राजनीतिक संस्थाएँ होती थीं। सम्भव है कि वे आजकल के म्युनिसिपल बोर्ड और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की भाँति स्वायत्त शासन चलाती थीं। इस स्वायत्त शासन की इकाइयों के व्यय की पूर्ति के साधन मुख्यतः विभिन्न प्रकार के कर थे।

धार्मिक अवस्था—शुङ्ग काल की भाँति सातवाहन काल भी ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा का युग था। इसे यज्ञों के पुनरुद्धार का युग भी कहा जा सकता है। इस समय अश्वमेध, राजसूय, आप्तोर्याम, अग्न्याधेय आदि के उल्लेख मिलते हैं।

इस काल में ब्राह्मण धर्म के साथ वैष्णव और शैव धर्म का खूब प्रचार था। सातवाहन काल में विष्णुपालित, विष्णुदत्त, गोपाल आदि नामों से वैष्णवता का आभास मिलता है। शिव पूजा, यक्ष-यक्षी पूजा और नाग पूजा का प्रचलन था। यात्राओं में ब्राह्मणों को दान देने का प्रचार विदेशियों में भी होने लगा था। अनेक विदेशियों ने अपना भारतीयकरण कर लिया था। बहुत से यवनों के नाम भारतीयों-जैसे मिलते हैं। अनेक विदेशी बौद्ध हो गये थे। कार्ले अभिलेख में दो यवनों के नाम सिंहध्वज और धर्म मिलते हैं; ये बौद्ध थे। कुछ यवन बौद्धों के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि ब्राह्मण धर्म की भाँति बौद्ध धर्म भी काफी प्रतिष्ठा को प्राप्त था। दानी पुरुष इस काल में भी घोड़ों, गायों, सोना, वस्त्राभरण और भूमि-दान के अतिरिक्त गुहाएँ, चैत्य तथा विहारों का निर्माण कराते थे। इससे इस काल की सामाजिक शक्ति, उदारता तथा दूसरों के प्रति सहिष्णुता का पता चलता है। कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं जिससे धार्मिक कट्टरता प्रतीत होती हो।

आर्थिक अवस्था—भारतीय समाज की दशा सन्तोषप्रद थी। कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योग-धन्धे भी उन्नति कर रहे थे। कृषक के लिए हलकि शब्द का प्रयोग किया जाता था। इससे सिद्ध होता है कि सम्भवतया खेती, हल और बैल की सहायता से ही की जाती थी। अन्य उद्योगों में स्वर्णकार, वर्धकि (बढ़ई), लोहकर्मिक (लोहार), धान्यिक (अनाज के व्यापारी), कुम्भकार, मालाकार (माली), गंधिक (इत्र का काम करने वाले), सार्थवाह (व्यापारी) आदि के उद्यमों का उल्लेख मिलता है। अनेक व्यवसायिकों के संगठन अथवा संघ बने हुए थे। उनके कार्य-संचालन के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्होंने अलग अपने-अपने विधि-निषेध बना रखे थे। ये श्रेणी या निकाय कहलाते थे। इन निकायों में कुछ आधुनिक बैंकों का भी कार्य करते थे। लोग उनमें धन जमा करते और उसके बदले में उन्हें ब्याज प्राप्त होता था। उषवदात ने दो कोलिक (जुलाहे) के निगमों में धन जमा किया था। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण मिलते हैं।

व्यापार की दशा इस समय बड़ी अच्छी थी। 'पेरीप्लस' के कथनानुसार भड़ौंच, कल्याण और सोपारा भारत के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इनसे बड़े रूप में देश का व्यापार होता था। देश के अन्दर बड़ी संख्या में व्यापारिक केन्द्र थे, जिनमें नासिक, उज्जैन, कौशांबी, प्रतिष्ठान, धान्यकटक, करहाटक आदि नगर प्रमुख थे। ये नगर सड़कों द्वारा एक-दूसरे से जुड़े थे। व्यापार में मुद्राओं का प्रचलन था। सोने की सुवर्ण नामक मुद्रा चाँदी के ३५ कार्षापण के बराबर होती थी। पण्या कार्षापण चाँदी अथवा ताँबे की धातु के होथे थे। व्याज का समाज में प्रचलन था। ऋषभदत्त के धन पर विभिन्न निकायों से मिलने वाली ब्याज दर १२ प्रतिशत और १० प्रतिशत कही गई है। 6792

साहित्य और कला—सातवाहन काल में प्राकृत भाषा का विकास अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँच गया था। इस काल के जितने भी अभिलेख उपलब्ध हुए हैं वे अधिकांश इसी भाषा में लिखे गये हैं। महाकवि हाल ने अपना 'गाथा सप्तशती' नामक ग्रन्थ प्राकृत ही में लिखा है। इसी समय दूसरे प्रसिद्ध कवि गुणाढ्य हुए, जिनका ग्रन्थ 'वृहत् कथा' पैशाची भाषा का ग्रन्थ है। इस युग में वास्तु और मूर्तिकला का प्रचुर उन्मेष हुआ। साँची-स्तूत की वेदिका और उसके अत्यन्त कलापूर्ण तोरण-द्वारों का निर्माण इसी काल में निष्पन्न हुआ। अमरावती, नागार्जुनीकुण्ड आदि के स्तूप तथा बहुसंख्यक प्रतिमाएँ और नासिक, कार्ले, भाजा, पित्तलखोरा के गुहागृह एवं मूर्तियाँ सातवाहन-युग की मूल्यवान कृतियाँ हैं।

कलिंग-नरेश खारवेल

कलिङ्ग—प्राचीन कलिङ्ग में वर्तमान पुरी और गंजाम के जिले तथा कुछ समीपवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिङ्ग का क्या हुआ। अधिकांश विद्वानों का मत है कि मौर्य-साम्राज्य के अन्य दूरस्थ प्रदेशों की भाँति कलिङ्ग भी अशोक के पश्चात् पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। कुछ समय पश्चात् वहाँ एक नवीन राजवंश का उदय हुआ जो इतिहास में चेदि-वंश अथवा महामेघवाहन वंश के नाम से प्रख्यात है। इस नवीन वंश का प्रारम्भिक इतिहास अज्ञात है। परन्तु ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के एक अभिलेख—**हाथीगुम्फा लेख**—से इस वंश के सबसे अधिक शक्तिशाली राजा खारवेल का विवरण प्राप्त होता है।

महामेघवाहन-वंश—हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि यह वंश चेदि-वंश भी कहलाता था। यह सूर्यवंशी वसु से उद्भूत था। इस वंश का ऐतिहासिक संस्थापक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्भवत: महामेघवाहन था। डा० बरुआ ने इस वंश का समीकरण पुराणों में उल्लिखित मेघ-वंश के साथ किया है। सम्भवत: इस वंश के कुछ राजाओं ने सामन्त-शासकों के रूप में राज्य प्रारम्भ किया था। इस वंश का सर्वप्रथम स्वतन्त्र सत्ताधारी राजा खारवेल हुआ।

खारवेल—हाथीगुम्फा अभिलेख से विदित होता है कि सिंहासन पर बैठने के पूर्व खारवेल को उच्च कोटि की शिक्षा दी गई थी। वह रूप (मुद्रा), गणना (लेखा-जोखा), व्यवहार-विधि (प्रशासकीय एवं कानूनी प्रणालियों) आदि का ज्ञाता था। १५ वर्ष की आयु में वह 'युवराज' नियुक्त किया गया। ९ वर्ष तक उसने युवराज के रूप में शासन-संचालन में पूरी सहायता दी।

२५ वर्ष की आयु में खारवेल राजा हुआ और उसने 'महराजा' की उपाधि धारण की।

खारवेल बड़ा योग्य और महत्वाकांक्षी राजा सिद्ध हुआ। अपने शासन के प्रथम वर्ष में उसने अपनी राजधानी कलिङ्ग में अनेक निर्माण-कार्य किये। उसने टूटे-फूटे द्वारों, दीवारों और किलों की मरम्मत कराई तथा अनेक सरोवरों का निर्माण कराया। यही नहीं, उसने ३५ लाख मुद्राओं का व्यय करते हुए अपनी प्रजा के मनोरंजन की व्यवस्था की।

उसके शासन के दूसरे वर्ष से युद्ध-काल प्रारम्भ हुआ। उसने शातकर्णि की परवाह किये बिना (अचिन्तयित्वा) अपनी एक सेना पश्चिम में कृष्णवेणा नदी पर स्थित असिकनगर में भेजी। कुछ विद्वान असिकनगर को ऋषिकनगर अथवा मुसिकनगर पढ़ते हैं। इसी प्रकार कृष्णवेणा को कुछ विद्वान् वैनगंगा और कुछ लोग कृष्णा नदी मानते हैं। शातकर्णि को सातवाहन-नरेश शातकर्णि प्रथम समझना चाहिए। सम्भवत: कृष्णवेणा नदी की घाटी में स्थित असिकनगर सातवाहनों के प्रभाव में था। खारवेल ने इस प्रभाव को नष्ट करते हुए उस प्रदेश को अपने प्रभुत्व में कर लिया। यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि खारवेल और शातकर्णि का युद्ध हुआ था अथवा नहीं। जो भी हो, अपने अभियान से लौटने पर खारवेल ने अपनी राजधानी में आमोद-प्रमोद का आयोजन किया।

चौथे वर्ष खारवेल ने भोजकों और राष्ट्रिकों के ऊपर आक्रमण करके उन्हें अपने अधीन किया। यह पश्चिमी भारत की विजय थी।

पाँचवें वर्ष उसने तनसुलि से लेकर अपनी राजधानी तक एक नहर का विस्तार करवाया। इस नहर को ३०० वर्ष पूर्व नन्दराज ने बनवाया था।

डा० जायसवाल के मतानुसार खारवेल ने राजसूय यज्ञ भी किया था। परन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० बरुआ ने 'राजसूय' शब्द के स्थान पर 'राजश्रियं' पढ़ा है और यह अर्थ प्रतिपादित किया है कि यहाँ राजा की समृद्धि का तात्पर्य है।

अपने शासन के आठवें वर्ष खारवेल ने मगध पर आक्रमण किया। उसकी सेनाओं ने गोरथगिरि (बराबर पहाड़ी पर स्थित एक दुर्ग) को नष्ट कर मगध की राजधानी राजगृह को घेर लिया। इसी स्थान पर हाथीगुम्फा अभिलेख संभवत: किसी यवनराज का उल्लेख करता है जो मथुरा चला गया था ? परन्तु अभिलेख का यह अंश बहुत टूटा-फूटा है। अत: न तो यवनराज का नाम स्पष्टरूप से पढ़ा जा सकता है और न सम्पूर्ण पंक्ति का आशय ही समझ में आता है। कुछ विद्वान् यहाँ दिमित (डेमेट्रिअस) का नाम पढ़ते हैं और कहते हैं कि खारवेल के आक्रमण के परिणामस्वरूप डेमेट्रिअस मगध छोड़कर मथुरा भाग गया था। परन्तु यह पाठ और आशय दोनों ही नितान्त सन्दिग्ध हैं।

नवें वर्ष खारवेल ने एक 'महाविजय प्रासाद' का निर्माण कराया।

दसवें वर्ष उसने भारतवर्ष (उत्तरी भारत) पर आक्रमण किया। परन्तु इस आक्रमण का ब्यौरा नहीं मिलता।

ग्यारहवें वर्ष खारवेल ने दक्षिणी भारत में पिथुण्ड नगर को ध्वस्त कर दिया। तत्पश्चात् उसने धुर दक्षिण के पाण्ड्य-देश पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा द्वारा भेजे गये मणि-मुक्ताओं के उपहार को स्वीकार किया।

अपने शासन के बारहवें वर्ष उसने पुन: उत्तरी भारत की ओर ध्यान दिया। उसके आक्रमण ने मगध की जनता में भय का संचार कर दिया। उसने अपनी सेना के हाथी-घोड़ों को गंगा में स्नान कराया। मगध-नरेश बृहस्पतिमित्र ने उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया। वापस जाते समय खारवेल अंग और मगध की विपुल सम्पत्ति ले गया। वह अपने साथ तीर्थंकर की वह मूर्ति भी ले गया जिसे नन्दराज कलिङ्ग से उठा लाया था। डा० जायसवाल ने बृहस्पतिमित्र का समीकरण पुष्यमित्र शुङ्ग के साथ किया है, जो ठीक नहीं। यह संभवत: कौशांबी का राजा बृहस्पतिमित्र द्वितीय था, जिसकी मुद्राएँ बड़ी संख्या में मिली हैं।

खारवेल ने कलिङ्ग में एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराया। 'ब्रह्माण्ड पुराण' की एक उड़िया प्रति से प्रकट होता है कि खारवेल ने भुवनेश्वर में एक मन्दिर का निर्माण कराया था। यह ग्रन्थ खारवेल द्वारा किये गये नेपाल पर आक्रमण का भी उल्लेख करता है। परन्तु यह साक्ष्य नितान्त सन्दिग्ध है।

हाथीगुम्फा अभिलेख खारवेल के शासन के १३ वें वर्ष तक का ही वर्णन करता है। उसके पश्चात् खारवेल का क्या हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवत: १३ वें वर्ष के आस-पास ही खारवेल की मृत्यु हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंचपुरी के गुहा-लेख कलिङ्ग के एक अन्य राजा (कलिङ्गाधिपति) वक्रदेवश्री का उल्लेख करते हैं। परन्तु खारवेल और इस राजा के बीच क्या सम्बन्ध था, यह आज भी अज्ञात है।

खारवेल एक महान् विजेता था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी अनेक विजयों ने कलिङ्ग का राज्य-विस्तार नहीं किया। उसने विभिन्न प्रदेशों पर विजय प्राप्त की, उनसे कर वसूल किया, परन्तु उन्हें अपने राज्य में नहीं मिलाया।

खारवेल के अनवरत युद्धों और निर्माण-कार्यों ने राजकोष को भारी हानि पहुँचाई होगी और कलिङ्ग—जैसे छोटे राज्य की आर्थिक अवस्था असन्तोषजनक हो गई होगी। इस कारण से भी कलिङ्ग का राज्य चिरस्थायी न हो सका।

खारवेल योद्धा और विजेता तो था ही, वह विद्वान, कला-प्रेमी और लोकरंजक शासक भी था। उसके रूप, गणना और व्यवहार-विधि के ज्ञान का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसने समय-समय पर अपने राज्य में उत्सव और समाज किये। इनमें 'नृत्य गीतवादित्र' को भी खूब स्थान दिया गया। उसने अपनी राजधानी में द्वारों, प्राचीरों, दुर्गों, उपवनों और तटाकों का निर्माण कराया था। उसने इतिहास-प्रसिद्ध नहर का विस्तार किया और एक महाविजयप्रासाद बनवाया।

वह स्वयं जैन था। उसने उदयगिरि पर जैन भिक्षुओं के निवास के लिये गुहायें बनवाईं। सम्भवतः उसने जैनियों के लिये एक विशाल सभा-भवन का भी निर्माण कराया। यह भवन अपने स्तम्भों और स्थापत्य के लिये प्रसिद्ध था। डा० जायसवाल के मतानुसार खारवेल ने एक जैन संगीति भी की थी। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। जैन धर्मावलम्बी होने के कारण ही खारवेल मगध से जिन-मूर्ति को वापस ले गया।

परन्तु जैन खारवेल दूसरे धर्मों के प्रति पूर्ण सहिष्णु था। वह सब धर्मों का आदर करता था।[1] उसने सभी देवताओं के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था।[2]

खारवेल की तिथि—खारवेल की तिथि के विषय में बड़ा विवाद रहा है। परन्तु अब अधिकांश विद्वान् उसे ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में मानते हैं। इस मत के पक्ष में कुछ साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) हाथीगुम्फा अभिलेख की लिपि बेसनगर स्तम्भ-लेख की लिपि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी के अन्तिम वर्षों की) के बाद की है। अतः यह लेख ई० पू० प्रथम शताब्दी का होगा।

---

१. 'सर्वपासण्डपूजक'
२. 'सर्वदेवायतनसाकारकारक।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) हाथीगुम्फा अभिलेख के व, म, प, ह आदि कुछ अक्षरों के आकार-प्रकार को देखकर डा० दिनेशचन्द्र सरकार ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यह लेख ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ पूर्व का प्रतीत होता है। अतः इसे ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखा जा सकता है।

(३) खारवेल और शातकर्णि प्रथम समकालीन थे। शातकर्णि को ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में रखा जाता है। अतः यही काल खारवेल का भी हुआ।

(४) खारवेल के ३०० वर्ष पूर्व नन्दराज कलिङ्ग गया था। यह सम्भवतः महापद्मनन्द था। इसका काल ई० पू० चौथी शताब्दी है। अतः खारवेल का काल ई० पू० प्रथम शताब्दी हुआ।

(५) हाथीगुम्फा लेख में जिस वृहस्पतिमित्र का नाम आया है उसका अभिज्ञान उस वृहस्पतिमित्र से किया जा सकता है जिसकी बहुसंख्यक मुद्राएँ कौशांबी और उसके आस-पास से मिली हैं संभव है कि कुछ समय तक उसका प्रभुत्व मगध पर भी रहा हो। उसके सिक्कों पर के लेख की लिपि ई० पू० प्रथम शती की है। इस आधार पर खारवेल का भी यही समय ठहरता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ९

शक और पह्लव वंश

मध्य एशिया की जातियाँ—ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में मध्य एशिया में अनेक बर्बर अथवा अर्ध-बर्बर जातियाँ रहती थीं। इनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) हूँग-नू (हूण)—यह मंगोलिया और उत्तर-पश्चिमी चीन में रहती थी।

(२) यू-ची—यह प्रारम्भ में दक्षिण-पश्चिमी गोबी-प्रदेश में रहती थी।

(३) शक—ई० पू० ५०० के लगभग इस जाति का निवास-स्थान सरदरिया प्रदेश था। फारस-नरेश दारा के कुछ अभिलेखों में इस जाति को पर-सुग्दम (सोग्डिआना के पार रहने वाली) कहा गया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय यह जाति इसी प्रदेश में रहती थी। चीनी इतिहासकारों ने भी इस जाति का मूल निवास स्थान सरदरिया का प्रदेश ही बताया है।

टामस महोदय का मत है कि शकों की एक शाखा अति प्राचीन काल से सीस्तान (पूर्वी ईरान) में भी रहती थी और उसी को पारसीक अभिलेखों में 'शक-हौमवक' के नाम से पुकारा गया है। टामस महोदय के मतानुसार सीस्तान की इसी शक शाखा को यूनानियों ने अमिर्गिआइ सिथिअन (Amyrgioi Scythians) के नाम से पुकारा है।[1]

सम्भवतः सीस्तान या शकस्तान से सबसे पहले शकों की एक धारा सिन्धु नदी की घाटी होकर दक्षिण में सौराष्ट्र और फिर उज्जैन पहुँची। कनिंघम का भी ऐसा मत है। रामायण, महाभारत, महाभाष्य, मार्कण्डेय पुराण, कालकाचार्य-कथानक आदि ग्रन्थों में शकों के जो उल्लेख आए हैं वे इसी शाखा के हैं। हाल में उज्जैन से प्राप्त मुद्राओं से भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. Thomas, JRAS, 1906, P. 216.

२०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम—भारतीय साहित्य में इस जाति के लिये साधारणतया शक नाम दिया गया है। चीनी ग्रन्थों में इसे 'सइ' (Sai) कहा गया है। ये ग्रन्थ शक राजाओं को सइ-वैंग (Sai-wang) कहते हैं। स्ट्रैबो और ट्रोगस ने उन्हें सरौकाय (Saraucae) अथवा सकरौलि (Sakarauli) के नाम से पुकारा है। अनेक भारतीय ग्रन्थों और अभिलेखों में शक तथा कुषाण नरेश 'शक-मुरुण्ड' नाम से प्रख्यात हैं। जैन ग्रन्थ कालकाचार्य-कथानक में शक-नरेश को 'शाहि' कहा गया है।

विशेषताएँ—शक जाति स्वभावतः खानाबदोश थी। वह अपने पशुओं के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमा करती थी। बहुधा उसका उद्यम लूट-मार था। शक अच्छे योद्धा होते थे। घुड़सवारी और धनुर्विद्या में वे बड़े निपुण थे।

'हरिवंश' का कथन है कि वे अपना आधा सिर मुड़वाते थे। उनकी साधारण पोशाक बूट, पायजामा और ऊँची एवं नुकीली टोपी होती थी।

मध्य एशिया में हलचल—ई० पू० द्वितीय शताब्दी में मध्य एशिया में भारी राजनीतिक हलचल हुई। इसका प्रमुख कारण उस प्रदेश में रहने वाली जातियों का पारस्परिक संघर्ष था।

यूचियों की पराजय—१७६ ई० पू० के लगभग मंगोलिया और उत्तर-पश्चिमी चीन में रहने वाली हूँग-नू जाति बड़ी शक्तिशाली होगई थी। परन्तु चीनी सम्राट् चिनशीह ह्वांग टी (२४७-२१० ई० पू०) ने उसे अपने साम्राज्य में घुसने न दिया। अतः उसने पश्चिम की ओर अपना विस्तार करना प्रारम्भ किया। उसके सम्राट् माओतुन (२०६-१७४ ई० पू०) ने दक्षिण-पश्चिमी गोबी-प्रदेश में रहने वाली यूची नामक एक अन्य पड़ोसी जाति पर आक्रमण कर दिया और उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया।

माओतुन की मृत्यु के पश्चात् १७४ ई० पू० उसका उत्तराधिकारी लाओ-शंग हूँग-नू जाति का शासक हुआ। उसने पुनः यूचियों पर आक्रमण किया और उनके राजा को मार डाला। उसके कपाल का उसने जलपात्र बनवाया। यूची-प्रदेश पर हूँग-नूँ जाति का अधिकार हो गया।

शकों की पराजय—अपने प्रदेश के हाथ से निकल जाने पर यूची जाति को नये प्रदेश की खोज की चिन्ता हुई। उसकी एक शाखा दक्षिण की ओर नान-शान के पहाड़ी प्रदेश में बस गई। यह छोटी यूची (Siao Yueh-chi) के नाम से प्रख्यात हुई। यूचिओं की एक अन्य शाखा सरदरिया प्रदेश में पहुँची। उसने वहाँ के शकों को पराजित करके उनके राज्य को छीन लिया। यह शाखा बड़ी यूची (Ta Yueh-chi) के नाम से प्रख्यात हुई।

शकों का बैक्ट्रिया में आगमन—अब पराजित शकों को नये प्रदेशों की खोज में आगे बढ़ना पड़ा। उन्होंने सर दरिया पार की और बैक्ट्रिया पर अधिकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर लिया। शकों द्वारा बैक्ट्रिया (Ta-hsia) की विजय का उल्लेख चीनी ग्रन्थों में भी हुआ है।[1] स्ट्रैबो और ट्रोगस के कथन से भी यही प्रतीत होता है कि बैक्ट्रिया में यूनानी राज्य का अन्त करने वाले शक ही थे। बैक्ट्रिया का पराजित यूनानी नरेश कौन था, इसके सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। टार्न महोदय का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि बैक्ट्रिया में यूनानी-राज्य का अन्त करने वाले यूची थे, शक नहीं।[2] वास्तव में यूची जाति ने काबुल घाटी और उसके आगे अपना अधिकार पह्लवों को प स्त करने के बाद जमाया।

शकों का बैक्ट्रिया से निष्कासन—यूची जाति अधिक समय तक अपने जीते हुए शक-प्रदेश में न रह सकी। बात यह हुई कि इस जाति ने एक अन्य पड़ोसी जाति वू-सुन पर भी आक्रमण किया था और उसके राजा को मार डाला था। उस राजा के अल्पवयस्क पुत्र ने हूँग-नू जाति की शरण ली और उसी के पास रहते हुए वह युवा हुआ। अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये उसने हूँग-नू जाति की सहायता से यूची जाति पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त किया। यूची जाति के हाथ से शक-प्रदेश (सर-क्षेत्र) जाता रहा। अब उसने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया और शकों को पराजित करके उनसे बैक्ट्रिया छीन लिया।

शकों का किपिन पर अधिकार—इस प्रकार शकों को पहले सरदरिया का प्रदेश और फिर बैक्ट्रिया छोड़ना पड़ा। चीनी ग्रन्थों के अनुसार अब वे दक्षिण की ओर बढ़े और उन्होंने 'किपिन' पर अधिकार कर लिया।

किपिन के समीकरण के विषय में मतभेद है। स्टेन कोनो और रायचौधरी के अनुसार यह कापिश प्रदेश था। टार्न महोदय और लोहाइजन इसे काबुल-प्रदेश मानते हैं। उनका मत सबसे अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है।

शक और पार्थिया—शकों ने अपने अभियान-मार्ग पर पार्थिया पर भी आक्रमण किये। ये आक्रमण पार्थिया-नरेशों फ्राटेस द्वितीय (१३८–१२८ ई० पू०) और अर्टाबेनस प्रथम (१२८–१२३ ई० पू०) के शासन-काल में हुए। शक-आक्रमणों को रोकने में इन दोनों नरेशों ने अपने प्राण खोये। शकों ने सीस्तान पर सुदृढ़ अधिकार कर लिया।

---

१. "Formerly when the Hiung-nu conquered the Ta Yueh-chi, the latter migrated to the west and subjugated the Ta-hsia, whereupon the Sai-wang went to the South and ruled over Kipin"
—Chien han shu

२. Tarn, The Greeks in Bactria and India, p. 262.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अटबिनस प्रथम के पश्चात् मिथ्रडेटस द्वितीय सिंहासन पर बैठा। वह एक पराक्रमी शासक सिद्ध हुआ। उसने शकों को पराजित किया और उनसे सीस्तान छीन लिया।

भारत में प्रवेश—अब शकों ने भारत की ओर अभियान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत में अनेक शाखाओं और कम से कम दो पृथक् मार्गों से प्रविष्ट हुए। उनकी एक शाखा हिन्दूकुश के उत्तरी मार्ग से आकर दक्षिण की ओर आई और दूसरी प्रमुख शाखा पूर्वी ईरान के दक्षिणी मार्ग का अनुसरण करती हुई सिन्ध में प्रविष्ट हुई। वहाँ से वह सौराष्ट्र, गुजरात और मालवा में पहुँची।

शकों की इन शाखाओं ने भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये। यहाँ हम प्रमुख शाखाओं का उल्लेख करेंगे।

तक्षशिला की शक-शाखा

मौएस—मार्शल महोदय ने तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त मुद्राओं के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया कि तक्षशिला की शक-शाखा का सर्वप्रथम राजा मौएस था। तक्षशिला-अभिलेख में 'मोग' नाम आया है, जो इसी राजा का सूचक है।

जाति—मौएस की कुछ मुद्रायें पार्थिया की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। कुछ पर पार्थिया-नरेशों के समान विरुद उत्कीर्ण कराये गये थे। इन आधारों पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि मौएस पार्थिअन था।

परन्तु यह अनुमान असंगत है कि मौएस केवल पार्थिया के सम्पर्क में आया अथवा वह कुछ समय के लिये पार्थिया-नरेश के अधीन सामन्त रह चुका था जिस से उसकी मुद्राओं पर पार्थिया का प्रभाव दिखाई देता है।

अधिकांश विद्वान् मौएस को शक मानते हैं। एरिअन के अनुसार सिकन्दर के विरुद्ध गौगमेला के युद्ध में शकों की एक टुकड़ी भी लड़ी थी। इस टुकड़ी का सेनापति मावेसेज था। यह नाम मौएस से मिलता-जुलता है। अतः नाम की समता के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि मौएस भी शक था।

सामन्त—डा० अल्तेकर का मत है कि मौएस प्रारम्भ में पार्थिया के अधीन सामन्त था। उनके मत के दो आधार हैं—

(१) जैसा कि अभी कहा गया है, मौएस की कुछ मुद्रायें पार्थिया की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं।

(२) उसकी कुछ मुद्राओं पर एकमात्र 'राजा' की छोटी उपाधि मिलती है।

डा० अल्तेकर का यह मत ठीक हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिथ्रडेटस द्वितीय के उत्तराधिकारियों की निर्बलता से लाभ उठाकर पार्थिया के सामन्तों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने अपनी-अपनी स्वतन्त्रता को घोषित करना प्रारम्भ कर दिया था। इन्हीं सामान्तों में कदाचित् मौएस भी था, जिसने बाद में एक स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य किया। लोहाइजेन का यह मत ठीक नहीं कि मौएस पह्लव था।

राज्य-विस्तार—मौएस का राज्य काफी विस्तृत था। अनेक साक्ष्यों से उसकी सीमायें निर्धारित की जा सकती हैं—

(१) प्राचीन काल में तक्षशिला पूर्वी गन्धार की राजधानी थी। इसलिये तक्षशिला के उक्त ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि उसके राज्य में पूर्वी गन्धार अवश्य था। यह प्रदेश उसने यूक्रेटाइडीज-वंश से छीना होगा।

(२) उसकी मुद्रायें पश्चिमी गंधार के यूक्रेटाइडीज-वंश के यूनानी शासकों की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। इनसे अनुमान किया जाता है कि पश्चिमी गंधार पर भी उसने अधिकार कर लिया था।

(३) मानसेरा और शाहदौर अभिलेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हजारा प्रदेश का भाग भी मौएस के अधीन था।

कुछ विद्वान् कुछ अन्य प्रदेशों को भी मौएस के राज्य के अन्तर्गत रखते हैं। उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(क) मौएस की कुछ मुद्रायें कापिश-शैली की हैं।[1] इन्हें देखकर टार्न महोदय ने यह अनुमान किया है कि कापिश-प्रदेश (काफिरिस्तान) पर मौएस का अधिकार था। परन्तु यह मत सन्दिग्ध कहा जाता है। कापिश प्रदेश की मुद्रायें मौएस के राज्य में भी आई होंगी। सम्भवत: उन्हीं को देखकर उसने अपनी कुछ मुद्रायें कापिश-शैली की बनवाई होंगी।

पुन: यदि कापिश-प्रदेश पर मौएस का अधिकार होता तो वहाँ उसकी मुद्रायें अवश्य मिलतीं। परन्तु यह महत्वपूर्ण बात है कि कापिश-प्रदेश में मौएस की मुद्राएँ प्राप्त नहीं हुई हैं।

(ख) मौएस की कुछ मुद्रायें पुष्करावती-शैली की हैं।[2] प्राचीन काल में पुष्करावती पश्चिमी गन्धार की राजधानी थी। अत: रैप्सन महोदय का मत है कि पश्चिमी गन्धार मौएस के अधीन था।

इन मुद्राओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि पश्चिमी गंधार का कुछ भाग उसके अधिकार में था। पूर्व में सिंधु-झेलम दोआब का बड़ा क्षेत्र उसके राज्य के अंतर्गत था।

---

१. कापिश शैली की मुद्राओं पर सिंहासन पर बैठा हुआ जिअस देवता दिखाया जाता था और सूँड उठाये हुए हाथी का शीर्ष होता था।

२. इन पर आर्टेमिस और वृषभ का चित्र होता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ग) स्टेन कोनो का मत है कि मथुरा सिंह-शीर्ष लेख में 'मुकि' नाम मिलता है। कुछ लोग 'मुकि' का समीकरण मौएस से करते हैं और मथुरा को भी मौएस के अधिकार में मानते हैं।

परन्तु यह मत असंगत है। 'मुकि' का पाठ और समीकरण दोनों सन्देहपूर्ण हैं। पुनः, मथुरा में एक दूसरी शक-शाखा के राज्य के प्रमाण मिलते हैं।

(घ) 'कालकाचार्यकथानक' और 'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक ग्रन्थों से पता चलता है कि शकों ने उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल को पराजित करके मालवा पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय पश्चात् राजा विक्रमादित्य ने उन्हें मालवा से निकाल भगाया। टार्न महोदय का मत है कि इस मालवा-विजय का श्रेय मौएस को था।

परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन ग्रन्थों का कथन कहाँ तक सत्य है। पुनः मौएस द्वारा मालवा-विजय का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

सामुद्रिक विजय—मौएस ने अपनी कुछ मुद्राओं पर पोसीडन का चित्र उत्कीर्ण कराया था। यह समुद्र का देवता था। अतः टार्न महोदय ने यह अनुमान किया है कि सम्भवतः मौएस ने यूनानियों को किसी सामुद्रिक युद्ध में पराजित किया था। परन्तु यह मत एकमात्र कल्पना पर निर्भर है।

मौएस के क्षत्रप—तक्षशिला के ताम्रपत्र से प्रकट होना है कि मौएस के सामन्त के रूप में चुक्ष-प्रदेश (तक्षशिला के समीप चच) में लियक कुसुलक और उसके बाद उसका पुत्र महादानपति पतिक शासन कर रहे थे।

मानसेरा अभिलेख में भी लियक का नाम मिलता है। डा० रायचौधरी तक्षशिला और मानसेरा के लेखों के लियक को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

मथुरा सिंहशीर्ष-लेख में महाक्षत्रप पतिक का नाम मिलता है। मार्शल और स्टेन कोनो के मतानुसार तक्षशिला और मथुरा के लेखों में उल्लिखित पतिक एक ही व्यक्ति थे। अभिसार या हजारा में दमिजद नामक क्षत्रप था।

मौएस का शासन-काल—तक्षशिला के उपर्युक्त ताम्रपत्र में 'महाराज महन्त' मोग का उल्लेख है। इस अभिलेख की तिथि ७८ है। अनेक विद्वान् मोग का समीकरण मौएस के साथ करते हैं और ७८ तिथि को विक्रम संवत् की तिथि मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। यह तिथि प्राचीन शक संवत् की है और तदनुसार उक्त लेख (१५५–७८) ७७ ई० पूर्व का हुआ।

कुछ विद्वान मैरा अभिलेख में 'मोअ' नाम पढ़ते हैं और उसका समीकरण 'मोग' के साथ करते हैं। इस अभिलेख की तिथि ५८ है। इस का समय (१५५–५८) ९७ ई० पूर्व हुआ।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर मौएस का समय ई० पू० १०० से ई० पू० ७५ तक माना जा सकता है।

पह्लवों का प्रसार

एजेज प्रथम—मुद्राओं से प्रकट होता है कि मौएस का उत्तराधिकारी एजेज (प्रथम) था। परन्तु इन दोनों का कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। यह धारणा ठीक नहीं कि एजेज मौएस का वंशज था। सम्भवतः मौएस के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध न था और वह एकमात्र अपनी विजयों के द्वारा मौएस के राज्य का उत्तराधिकारी बना। अब यह माना जाने लगा है कि एजेज शक न था, बल्कि पह्लव था।

मुद्रा-साक्ष्य से प्रकट होता है कि जिस प्रकार गन्धार में एजेज (प्रथम) मौएस का उत्तराधिकारी हुआ उसी प्रकार सीस्तान में पह्लव-नरेश वोनोन्स का उत्तराधिकारी स्पैलिरिश हुआ।

कुछ मुद्राओं के ऊपर स्पैलिरिश और एजेज दोनों के नाम मिलते हैं—यूनानी लिपि में स्पैलिरिश का और खरोष्ठी लिपि में एजेज का।

इन मुद्राओं के आधार पर विद्वानों ने दो प्रमुख निष्कर्ष निकाले हैं—

(१) कुछ के अनुसार एजेज स्पैलिरिश का पुत्र था। अतः स्पैलिरिश की भाँति वह भी पह्लव था।

(२) एजेज स्पैलिरिश का पुत्र न था, परन्तु उसने स्पैलिरिश के अधीन शासन अवश्य किया।

इनमें से प्रथम मत को अब अधिकांश विद्वान् स्वीकार करते हैं। टामस महोदय का मत है कि 'एजेज' नाम शक प्रतीत होता है। रैप्सन, मार्शल, गार्डनर, टार्न आदि विद्वान् भी एजेज को शक ही मानते हैं। उनका कहना है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि एजेज स्पैलिरिश का पुत्र था। वे मुद्राओं की समानता के आधार पर एजेज को मौएस का ही वंशज मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता।

दूसरा मत नितान्त सन्दिग्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ मुद्राओं पर एजेज और स्पैलिरिश दोनों के नाम हैं। अभी तक कोई ऐसा सुदृढ़ प्रमाण नहीं मिला है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि एजेज किसी अन्य वंशी स्पैलिरिश के अधीन रहा हो। यही युक्त संगत है कि एक वंश के, अत्यन्त निकट सम्बन्धी होने के कारण दोनों ने अपनी सम्मिलित मुद्रायें चलाईं।

निम्नलिखित साक्ष्यों से प्रकट होता है कि एजेज नाम के दो शासक हुए—

दो एजेज—(१) कुछ मुद्राओं पर अग्रभाग पर यूनानी लिपि में अय (एजेज) का नाम है तथा पृष्ठभाग पर खरोष्ठी लिपि में अयिलिश (एजिलिसेज) का।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) कुछ अन्य मुद्राओं पर नामों का क्रम उलटा है। उनके अग्रभाग पर यूनानी लिपि में एजिलिसेज का नाम है और पृष्ठभाग पर खरोष्ठी लिपि में एजेज का। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एजेज दो हुए—एजेज प्रथम और एजेज द्वितीय। प्रथम शासक के अधीन कुछ समय तक एजिलिसेज ने राज्य किया। इसीसे स्वामी का नाम यूनानी में और अधीन राजा का नाम खरोष्ठी में मिलता है।

एजेज की मृत्यु के पश्चात् एजिलिसेज राजा हुआ और उसने एजेज द्वितीय को अपना सहयोगी शासक बनाया। उसकी मुद्राओं पर उसका नाम यूनानी लिपि में है और एजेज द्वितीय का नाम खरोष्ठी लिपि में।

दो एजेज को सिद्ध करने के लिये कुछ अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं—

(३) एजेज नामांकित मुद्रायें उत्खनन से एक ही सतह पर नहीं मिली हैं, वे दो भिन्न-भिन्न सतहों से प्राप्त हुई हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वे एक एजेज की नहीं वरन् दो एजेज की हैं।

(४) एजेज की मुद्रायें दो प्रकार की हैं। शैली के अन्तर के अतिरिक्त उनमें लिपि का भी अन्तर दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, कुछ मुद्राओं पर खरोष्ठी का अक्षर 'स' अन्य मुद्राओं पर अंकित 'स' अक्षर से बहुत-कुछ भिन्न है। इनसे अनुमान होता है कि वे दो एजेज राजाओं की मुद्रायें हैं।

(५) एजेज नाम वाली मुद्राओं के साथ भिन्न-भिन्न कालों के अनेक राजाओं की मुद्रायें मिलती हैं। कुछ मुद्राओं पर अन्य सहयोगी राजाओं के नाम भी अंकित हैं। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि एजेज एक नहीं दो थे।

(६) एजेज नामांकित मुद्रायें संख्या में इतनी अधिक हैं कि वे एक एजेज की नहीं प्रतीत होतीं।

ऊपर बताया गया है कि स्पैलिरिश की कुछ मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर खरोष्ठी-लिपि में एजेज का भी नाम मिलता है। इससे प्रकट होता है कि एजेज ने स्पैलिरिश के सहयोगी के रूप में शासन किया था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि स्पैलिरिश के बाद सीस्तान पर एजेज का अधिकार रहा या नहीं।

एजेज की कुछ मुद्रायें मीनेण्डर की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि एजेज ने मीनेण्डर के राज्य के उस प्रदेश पर अधिकार किया होगा जहाँ ये मुद्रायें निर्मित होती थीं। कुछ विद्वानों के अनुसार वह प्रदेश काबुल की घाटी था और कुछ के अनुसार पंजाब का स्यालकोट-प्रदेश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एजेज की कुछ मुद्रायें जलालाबाद में भी मिलती हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने पश्चिमी गन्धार पर अधिकार कर लिया था। यह प्रदेश उसने यूनानी-वंश से छीना होगा।

एजेज प्रथम का राज्य-विस्तार—एजेज का नाम पूर्वी पंजाब के हिन्द-यूनानी राजा हिपोस्ट्रेटस की मुद्राओं पर मिलता है। इससे प्रकट होता है कि उसने हिपोस्ट्रेटस से पूर्वी पंजाब छीन लिया होगा।

उपाधि—एजेज प्रथम एक शक्तिशाली राजा था। उसने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से लाभ उठाकर अपनी सत्ता का संगठन किया और अनेक प्रदेशों की विजय की। अपनी शक्ति का परिचय देते हुए उसने 'महाराज राज-राज महान्' की उपाधि धारण की।

एजिलिसेज—जैसा कहा जा चुका है, एजिलिसेज ने कुछ समय तक एजेज प्रथम के अधीन शासन किया था। परन्तु एजेज प्रथम की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयं राजा बन गया और उसने एजेज द्वितीय को अपना सहयोगी नियुक्त किया।

स्टेन कोनो ने यह मत प्रतिपादित किया था कि एजेज और एजिलिसेज वास्तव में एक ही राजा के नाम थे। परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ही मुद्रा पर राजा के दो पृथक्-पृथक् नामों का होना नितान्त अस्वाभाविक है।

कुछ विद्वानों ने दो एजिलिसेज और एक एजेज की कल्पना की थी। उनके मतानुसार एजिलिसेज प्रथम स्वतन्त्र शासक था और एजेज उसके अधीन सहयोगी था। कालान्तर में एजिलिसेज द्वितीय हुआ। उसने एक अधीन सहयोगी के रूप में एजेज के साथ शासन किया।

इस मत का यह अर्थ हुआ कि एजिलिसेज पहले हुआ और एजेज बाद में। परन्तु मार्शल महोदय द्वारा तक्षशिला की खुदाई से यह स्पष्ट हो गया है कि एजेज प्रथम एजिलिसेज से पहले हुआ था और दूसरा एजेज उसके बाद।

राज्य-विस्तार—एजिलिसेज की कुछ मुद्राओं पर सिंहासन पर बैठे हुए अथवा वीर भाव में खड़े हुए जिअस देवता का चित्र है। मार्शल महोदय का मत है कि ये मुद्रायें कापिश शैली की हैं। अतः काबुल घाटी पर एजिलिसेज का अधिकार था। परन्तु यह मत नितान्त सन्दिग्ध है, क्योंकि काबुल घाटी में एजिलिसेज की मुद्रायें नहीं मिलतीं।

(२) उसकी कुछ मुद्राओं पर बैठे हुए हेराक्लीज का चित्र है। यह शैली दक्षिणी अफगानिस्तान में विशेष प्रचलित थी। अतः कुछ विद्वानों के अनुसार यह प्रदेश एजिलिसेज के अधीन था। परन्तु यह मत भी सन्देह-पूर्ण है, क्योंकि यहाँ उसकी मुद्रायें नहीं मिलतीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) एजिलिसेज की मुद्रायें बलूचिस्तान में मिली हैं। अतः सम्भवतः यह प्रदेश उसके अधीन होगा।

(४) सम्भवतः पूर्वी पंजाब और पश्चिमी गंधार पूर्ववत् एजिलिसेज के अधीन रहे।

एजेज द्वितीय—एजिलिसेज के पश्चात् एजेज द्वितीय राजा हुआ। वह एक निर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसी के समय में अथवा उसके कुछ पश्चात् उसके वंश का पतन प्रारंभ हो गया। इस पतन के दो प्रमुख कारण थे—(१) सामन्तों की स्वतन्त्रता और (२) पह्लव-नरेश गोण्डोफर्नेस का उदय। सामन्त शासकों की स्वतन्त्रता की चेष्टा का कम से कम एक उदाहरण अस्पवर्मन् का है। उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। सम्भवतः उसे सन्तुष्ट करने के लिये एजेज ने अपनी कतिपय मुद्राओं पर उसका भी नाम अंकित कराना प्रारम्भ किया।

गोण्डोफर्नेस का उदय—यह एक शक्तिशाली पह्लव-नरेश था। इसके उदय से पह्लव-शक्ति बहुत बढ़ गई। सम्भवतः इसने एजेज द्वितीय के राज्य के अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। मुद्राओं से प्रकट होता है कि अस्पवर्मन् जो पहले एजेज के अधीन था, कालान्तर में गोण्डोफर्नेस के अधीन हो गया।

तख्तेबाही अभिलेख गोण्डोफर्नेस के समय का है। इसकी तिथि १०३ है। यदि इसे पुराने शक-संवत् का समय माना जाए तो इस लेख का समय ५२ ई० पू० हुआ।

मौएस की अन्तिम तिथि लगभग ई० पू० ७५ है। गोण्डोफर्नेस की अन्तिम तिथि ४५ ई० पू० मानी जाती है। अतः एजेज प्रथम, एजिलिसेज और एजेज द्वितीय को इन दोनों तिथियों के बीच में ही रखा जा सकता है।

क्षत्रपों के वंश

शकों ने क्षत्रप शासन-प्रणाली का प्रारम्भ किया। क्षत्रप का साधारण अर्थ है 'गवर्नर'। शक-नरेशों ने अपने राज्य के विभिन्न प्रदेशों में अपने क्षत्रप नियुक्त किये थे। कालान्तर में अनेक क्षत्रप-वंश शक्तिशाली हो गये और उन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न भागों में अपने स्वतन्त्र अथवा अर्ध स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की।

पंजाब के क्षत्रप-वंश

अनेक साक्ष्यों से पंजाब के तीन क्षत्रप-वंशों के नाम विदित होते हैं—

(१) कुसुलक-वंश—७८ तिथि के तक्षशिला ताम्रपत्र-अभिलेख से प्रकट होता है कि कुसुलक नामक एक क्षत्रप चुक्ष-प्रदेश में तक्षशिला के शक-नरेश मौएस की अधीनता में शासन कर रहा था। इसी अभिलेख में कुसुलक के पुत्र पतिक का भी नाम मिलता है, जो अपने पिता की अधीनता में महादानपति था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुसुलक की मृत्यु ७७ ई० पूर्व के बाद हुई होगी। उसके पश्चात् उसका पुत्र पतिक चुक्ष का शासक हुआ। उसने महाक्षत्रप उपाधि धारण की और अपने नाम के सिक्के जारी किए। इससे पतिक की स्वतन्त्र सत्ता का पता चलता है।

(२) मणिगुल-वंश—कुछ मुद्राओं पर मणिगुल और उसके पुत्र जिहोणिक के नाम मिलते हैं।

१९१ तिथि के एक तक्षशिला-अभिलेख में भी जिहोणिक का नाम मिलता है। यह चुक्ष का क्षत्रप था। कुछ विद्वान् १९१ को पुराने शक सम्वत् (१५५ ई० पू०) की तिथि मानते हैं। इस मत के अनुसार जिहोणिक की तिथि १९१–१५५ = ३६ ई० हुई। इन विद्वानों का कथन है कि सम्भवतः कुसुलक और पतिक के पश्चात् चुक्ष में मणिगुल और जिहोणिक के एक नवीन क्षत्रप-वंश की स्थापना हुई। इन्होंने कदाचित् गोण्डोफर्नेस की मृत्यु के पश्चात् तक्षशिला में स्वतन्त्र रूप से शासन किया। कालान्तर में कुषाणों ने इन्हें अपने अधीन कर लिया।

परन्तु अनेक विद्वान् मुद्राओं के जिहोणिक और तक्षशिला-अभिलेख के जिहोणिक को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार मुद्राओं का जिहोणिक पुष्कलावती में एजेज द्वितीय के अधीन गवर्नर था, जब कि तक्षशिला लेख का जिहोणिक तक्षशिला-प्रदेश का स्वतन्त्र-शासक था और उसका काल मुद्राओं के जिहोणिक से लगभग २० वर्ष बाद था। लोहाइजेन के अनुसार जिहोणिक कुषाणों का क्षत्रप था और विम के बाद वह कुछ दिन स्वतन्त्र शासक रहा।

(३) अस्पवर्मन्-वंश—क्षत्रप अस्प (अश्व) वर्मा इन्द्रवर्मा का पुत्र था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह पहले शक-नरेश एजेज द्वितीय के अधीन शासक था। परन्तु बाद में उसने पह्लव-नरेश गोण्डोफर्नेस की अधीनता स्वीकार कर ली।

मथुरा के क्षत्रप

स्टेन कोनो और टार्न आदि कुछ विद्वानों का मत है कि मथुरा का क्षत्रप-वंश मालवा से आया था। हो सकता है कि मालवा के उस प्राचीन शक वंश से उसका कुछ सम्बन्ध रहा हो जिसकी कुछ मुद्राएँ हाल में वहाँ से मिली हैं।

हगान और हगामश—मथुरा में प्राप्त मुद्राओं से पता चलता है कि हगान और हगामश मथुरा के क्षत्रप थे। कुछ सिक्कों से पता चलता है कि इन्होंने सम्मिलित रूप से कुछ समय तक शासन किया।

राजुवुल—मथुरा के क्षत्रप-वंश को स्वतन्त्रता दिलाने का कार्य सम्भवतः राजुवुल ने ही किया। इस मत की पुष्टि दो साक्ष्यों से होती है—

(१) मथुरा सिंह-शीर्ष अभिलेख—इसमें राजुवुल के लिये महाक्षत्रप की स्वतन्त्रतासूचक उपाधि का प्रयोग किया गया है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) मुद्रायें—इन पर उसे 'राजराज' कहा गया है।

राज्य-विस्तार—कदाचित् उसने मथुरा के मित्रवंशी हिन्दू राजाओं का दमन किया था। उसकी मुद्राओं पर मथुरा के हिन्दू राजाओं की मुद्राओं का प्रभाव है।

उसकी कुछ मुद्रायें हिन्द-यूनानी राजाओं, स्ट्रैटो प्रथम और द्वितीय, की मुद्राओं से मिलती हैं। इस समानता के आधार पर डी० सी० सरकार ने यह अनुमान किया है कि राजुवुल ने हिन्द-यूनानियों से पूर्वी पंजाब छीन लिया था।

इस प्रकार राजुवुल का राज्य पूर्वी पंजाब से मथुरा तक विस्तृत था।

खरोस्ट—मथुरा सिंह-शीर्ष अभिलेख में क्षत्रप खरोस्ट का नाम मिलता है। कुछ मुद्राओं पर भी इसका नाम पढ़ा गया है। परन्तु किसी भी साक्ष्य में इसे महाक्षत्रप नहीं कहा गया है। इससे अनुमान होता है कि वह राजुवुल के अधीन क्षत्रप था और उसी के जीवन-काल में उसकी मृत्यु हो गई थी। इस प्रकार उसे स्वतन्त्र शासक (महाक्षत्रप) बनने का कभी अवसर न मिला।

खरोस्ट और राजुवुल का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, इस प्रश्न पर विद्वानों ने अनेक मत दिये हैं। स्टेन कोनो के अनुसार खरोस्ट राजुवुल का श्वसुर था। फ्लीट उसे राजुवुल का दौहित्र (पुत्री का पुत्र) बताते हैं।

शोडास—राजुवुल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शोडास महाक्षत्रप हुआ। वह अपने पिता के जीवन-काल में क्षत्रप रह चुका था। मथुरा सिंह-शीर्ष अभिलेख में उसे क्षत्रप कहा गया है। कालान्तर में अमोहिनी आयागपट्ट अभिलेख उसके लिये महाक्षत्रप की उपाधि का प्रयोग करता है।

अमोहिनी अभिलेख की तिथि ७२ है। स्टेन कोनो के मतानुसार यह विक्रम संवत् की तिथि है। परन्तु वास्तव में यह तिथि प्राचीन शक-संवत् (प्रारम्भ १५५ ई० पू०) की है। उसके अनुसार यह अभिलेख ८३ ई० पू० का हुआ।

राज्य-विस्तार—शोडास की बहुत-सी मुद्रायें एवं अभिलेख एकमात्र मथुरा में ही प्राप्त होते हैं। इससे प्रकट है कि उसका आधिपत्य केवल मथुरा-प्रदेश पर ही था।

पतन—शोडास के बाद मथुरा पर उसके वंश का शासन रहा, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। संभवतः ई० पूर्व ५७ के लगभग इस वंश का अन्त हो गया और मथुरा के स्थानीय हिन्दू शासकों का यहाँ राज्य रहा। ईस्वी प्रथम शती के मध्य में मथुरा पर कुषाणों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कनिष्क के समय का एक अभिलेख सारनाथ में मिला है। इसमें उसके महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्फर के नाम मिलते हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि ये राजुवुल के वंशज थे। परन्तु इसके कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिमी भारत के शक-वंश

प्राचीन शक—मालूम होता है कि मौर्य साम्राज्य के अन्त के बाद बलोचिस्तान-सिंध की ओर से कुछ शक लोग सुराष्ट्र और मालवा में आ बसे। तत्कालीन परिस्थितियों से लाभ उठाकर कुछ ने यहाँ अपनी शासन-सत्ता जमा ली। हाल में उज्जैन-विदिशा से हमुगम, वलाक, हउमश आदि नामों से अंकित कुछ ताम्रमुद्राएँ मिली हैं, जो इन्हीं शकों की प्रतीत होती हैं। लिपि के आधार पर इनका समय ई० पू० दूसरी शती है।

क्षहरात-वंश

ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में पश्चिमी भारत में एक नवीन शक-वंश का उदय हुआ। यह क्षहरात-वंश कहलाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वंश उत्तरी भारत से पश्चिमी भारत में गया। इस मत के निम्नलिखित आधार बताये जा सकते हैं—

(१) क्षहरात-नरेश भूमक ने उत्तर के शक-नरेश एजेज प्रथम की मुद्राओं की भाँति अपनी मुद्राओं पर भी चक्र, वज्र, बाण आदि के चित्र उत्कीर्ण कराये।

(२) क्षत्रप-नरेशों ने अपनी मुद्राओं पर उत्तर की खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया है। इनके पूर्ववर्ती पश्चिमी शकों की उक्त मुद्राओं पर ब्राह्मी मिलती है।

अनेक विद्वानों का मत है कि उत्तर में पह्लवों से पराजित होने के पश्चात् यह वंश भाग कर पश्चिमी भारत में आया था।

रैप्सन महोदय क्षहरात-वंश को पह्लव मानते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने उनके मत को अस्वीकार करते हुए क्षहरातों को शक माना है। डा० रायचौधरी के अनुसार क्षहरात शकजातीय करताइ (Kartai) थे, जिनका उल्लेख टालमी ने किया है।

रैप्सन, भण्डारकर आदि कुछ विद्वानों का मत है कि क्षहरात-वंश उत्तर के कुषाणों के अधीन था। अपने मत के पक्ष में वे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) क्षहरात-वंश के राजाओं, भूमक और नहपान, के लिये अधीनतासूचक क्षत्रप की उपाधि का प्रयोग हुआ है। नहपान के अन्तिम अभिलेख में ही उसके लिये 'महाक्षत्रप' की उपाधि का प्रयोग हुआ है।

(२) क्षहरात राजाओं ने अपने अभिलेखों में शक-सम्वत् का प्रयोग किया है। यह शक-सम्वत् कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि (७८ ई०) से प्रारम्भ हुआ था।

(३) क्षहरातों ने अपनी स्वर्ण मुद्रा नहीं चलाई थी। परन्तु एक नासिक-अभिलेख से विदित होता है कि उनके राज्य में स्वर्ण मुद्रा (सुवर्ण) प्रचलित थी। सम्भवतः यह कुषाणों की मुद्रा थी।

परन्तु क्षहरातों को कुषाणों के अधीन मानने में निम्नलिखित कठिनाइयाँ भी उपस्थित होती हैं—

(१) क्षहरातों के किसी अभिलेख में कुषाणों का नाम नहीं मिलता।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) क्षहरात-राज्य में कुषाण-राजाओं की यथेष्ट मुद्रायें प्राप्त नहीं होतीं।

(३) भूमक और नहपान ने अपने नाम से मुद्रायें चलाई थीं। इनसे वे स्वतन्त्र शासक प्रतीत होते हैं। कुषाणों के एक अन्य क्षत्रप सोटर मेगस ने भी अपनी मुद्राएँ चलाईं।

अतः क्षहरात-कुषाण-सम्बन्ध के विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

भूमक – भूमक का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। इसका इतिहास एकमात्र उसकी मुद्राओं पर आधारित है। ये मुद्रायें ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों लिपियों में हैं। खरोष्ठी के प्रयोग से डी० सी० सरकार ने यह अनुमान लगाया है कि भूमक के राज्य में उत्तर-पश्चिम के भी कुछ प्रदेश—पश्चिमी राजपूताना और सिन्ध—सम्मिलित थे।

भूमक की मुद्रायें काठियावाड़, गुजरात, मालवा और अजमेर में प्राप्त हुई हैं। 'पेरीप्लस' के विवरण से प्रकट होता है कि लगभग प्रथम शताब्दी के मध्य में काठियावाड़, गुजरात और सम्भवतः राजपूताना के कुछ भाग पर मैंम्बेरस नामक एक शक-नरेश का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमक ने मैम्बेरस अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी से काठियावाड़, गुजरात और राजपूताना का कुछ प्रदेश छीना। जहाँ तक मालवा का प्रश्न है, इसे सम्भवतः उसने सातवाहनों से छीना।

भूमक की मुद्राओं पर एक मात्र क्षत्रप की उपाधि मिलती है। कुछ विद्वान् उसे कुषाणों का सामन्त मानते हैं। परन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

भूमक का शासन-काल १०० ईसवी के आस-पास रखा जाता है।

नहपान – भूमक के पश्चात् नहपान राजा हुआ। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दोनों का सम्बन्ध क्या था। मुद्राओं के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों के बीच अधिक काल का अन्तर न था।

इसके शासन की मुद्रायें और अभिलेख दोनों मिले हैं। जैन साहित्य ने भी नरवाहन अथवा नववाहन के नाम से इसका उल्लेख किया है। कुछ विद्वान् 'पेरीप्लस' द्वारा उल्लिखित मैम्बेरस को 'नैम्बेरस' पढ़ते हैं और उसका समीकरण नहपान के साथ करते हैं। परन्तु यह मान्य नहीं ठहरता।

उपाधियाँ—भूमक की भाँति नहपान को भी प्रायः सभी अभिलेखों में क्षत्रप कहा गया है। उसका केवल एक अभिलेख ऐसा है जो उसे महाक्षत्रप कहता है। यह अभिलेख उसके शासन-काल के अन्तिम वर्ष (१२४ ई०) का है। इन उपाधियों के अतिरिक्त उसके लिये 'राजा' उपाधि का भी प्रयोग किया गया है।

विजयें—नहपान भूमक से भी अधिक महत्वाकांक्षी और प्रतापी सिद्ध हुआ। उसके समय में शक-सातवाहन-युद्ध अधिक भयंकर हो गया। इस युद्ध में सातवाहन बुरी तरह पराजित हुए और उनके राज्य के अनेक प्रदेशों पर नहपान का अधिकार हो गया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहपान के दामाद ऋषभदत्त (उषवदात) के अभिलेखों में प्रभास (काठियावाड़), दशपुर (पश्चिमी मालवा), भृगुकच्छ (भड़ौंच), दामन, शूर्पारक (सोपारा), पारद (सूरत जिला) और पुष्कर (अजमेर) आदि स्थानों के नाम मिलते हैं। ऋषभदत्त और नहपान के अभिलेख महाराष्ट्र में प्राप्त हुए हैं। नहपान की मुद्रायें अजमेर, काठियावाड़, गुजरात और महाराष्ट्र में मिली हैं। इन समस्त साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि नहपान का अधिकार काठियावाड़, गुजरात, मालवा, अपरान्त, महाराष्ट्र के कुछ भाग और अजमेर पर था। इनमें मालवा, अपरान्त और महाराष्ट्र उसने सातवाहनों से छीने थे। उस समय सम्भवतः सातवाहन भाग कर आन्ध्रदेश की ओर चले गये थे।

मालवों का दमन—नासिक के एक गुहा-लेख से विदित होता है कि मालव लोगों से उत्तमभद्र नामक एक अन्य जन के लिये खतरा उत्पन्न हो गया था। नहपान ने उत्तमभद्रों की सहायता करने के लिये अपने दामाद ऋषभदत्त को उधर भेजा। उसने मालवों को पराजित किया।

मालव लोग एक प्राचीन गण थे। वे राजपूताना के जयपुर-प्रदेश में रहते थे। सम्भवतः शकों ने उन्हें अपने अधीन कर लिया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय मालवों ने नहपान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था और उसके सहायक उत्तमभद्रों को भी परेशान कर रखा था। परन्तु ऋषभदत्त की सैनिक कार्यवाही ने उनका दमन कर दिया।

नहपान का शासन-काल—नहपान के शासन-काल के सम्बन्ध में निम्नलिखित साक्ष्य मिलते हैं—

(१) **हरिवंश**—इस ग्रन्थ के अनुसार नरवाहन (नहपान) ने ४२ वर्ष तक शासन किया। परन्तु इस कथन की पुष्टि नहीं होती।

(२) **अभिलेख**—नहपान के दामाद ऋषभदत्त के अभिलेखों में ४१, ४२ और ४५ तिथियाँ मिलती हैं और नहपान के मन्त्री आर्यमन् के अभिलेख में ४६ तिथि मिलती है। रैप्सन और भण्डारकर के मत का समर्थन करते हुए अधिकांश विद्वान् इन तिथियों को शक सम्वत् की तिथियाँ मानते हैं। अतः नहपान के शासन-काल की प्रथम तिथि ४१+७८=११९ ई० और अन्तिम तिथि ४६+७८=१२४ ई० हुई।

क्षहरातों का पतन—१२४ ई० के पश्चात् नहपान की मुद्रायें और लेख प्राप्त नहीं होते। नहपान के पश्चात् पश्चिमी भारत में किसी अन्य क्षहरात-नरेश का नाम नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जा सकता है कि नहपान क्षहरातों का अन्तिम शासक था। लगभग १२४ ई० या इसके शीघ्र बाद क्षहरात-वंश का पतन हो गया।

इस पतन का कारण सातवाहन-वंश के परम प्रतापी राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि का उदय था। उसे 'खखरातवसनिरवसेसकरस' (क्षहरात-वंश का समूल नाश करने वाला) 'सकयवनपह्लवनिसूदनस' (शकों, यवनों और पह्लवों का नाश करने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाला) तथा 'सातवाहनयस-पतिथापनकरस' (सातवाहनों के यश की पुनः प्रतिष्ठा करने वाला) कहा गया है।

इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने परम्परागत शत्रु शक-क्षहरातों को पराजित करके उनका नाश कर दिया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि की विजय के पक्ष में निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) जोगलथम्भी मुद्राभाण्ड—इसमें नहपान की बहुसंख्यक मुद्राओं पर शातकर्णि का नाम अंकित मिलता है। स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान को पराजित करके उसकी मुद्राओं को अपने नाम से प्रचारित किया था। डी० सी० सरकार के अनुसार विजयी गौतमीपुत्र ने नहपान के कोष पर अधिकार कर लिया था।

(२) वेनकट (नासिक जिला) के एक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि के विजयी सैनिक शिविर का उल्लेख है, जहाँ से उसने अपने शासन के १८ वें वर्ष एक दान की घोषणा की थी।

नासिक में यह सैनिक अभियान क्षहरातों के विरुद्ध किया गया होगा।

(३) नासिक अभिलेख से प्रकट होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधीन सुराष्ट्र (काठियावाड़), अपरान्त (उत्तरी कोंकण), अनूप (नर्मदा पर माहिष्मती-प्रदेश), आकर (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के प्रदेश भी थे। हम पहले कह चुके हैं कि ये समस्त प्रदेश नहपान के अधीन थे। अतः उसे पराजित करके ही गौतमीपुत्र ने इन प्रदेशों को हस्तगत किया होगा।

सम्भवतः गौतमीपुत्र के विरुद्ध युद्ध करते हुए नहपान मारा गया। उसकी मृत्यु से १२४ ई० के लगभग क्षहरात-वंश का अन्त हो गया।

चष्टन-वंश

पश्चिमी क्षत्रप—क्षहरात-वंश के पतन के पश्चात् कुछ ही वर्षों में पश्चिमी भारत में एक अन्य शक-राजवंश का उदय हुआ। इस नए-वंश का संस्थापक चष्टन था। उसने उज्जैन और काठियावाड़ में अपने राज्य की स्थापना की थी। इस वंश के राजा महाक्षत्रप रुद्रदामा प्रथम की पुत्री अपने को कार्द्दमकवंशीय कहती है। ईरान में कार्द्दम नामक एक नदी है। इस आधार पर कुछ विद्वान् चष्टन के वंश को ईरानी शक मानते हैं।

सिल्वाँ लेवी और स्टेन कोनो के अनुसार चष्टन-वंश क्षहरात वंश ही था। उनके मत का प्रमुख आधार यह है कि चष्टन के पिता का नाम य्समोतिक था। सिथियन भाषा में 'य्समो' का अर्थ भूमि है। अतः उनके अनुसार य्समोतिक और क्षहरात-वंश के राजा भूमक एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु जैसा कि डा० रायचौधरी ने कहा है, यह मत नितान्त काल्पनिक है। नाम की समता के आधार पर दो व्यक्ति एक ही नहीं माने जा सकते। उदाहरण के लिये कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त नामों का अर्थ एक ही है। परन्तु वे दो पृथक्-पृथक् राजा थे। इसी प्रकार भूमक और य्समोतिक दो नितान्त भिन्न व्यक्ति थे। नहपान और चष्टन की मुद्राओं की समानता को देखते हुए अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों वंश सम्भवत: एक-दूसरे से सम्बन्धित थे।

चष्टन-वंश और कुषाण-वंश—कुछ विद्वानों का मत है कि क्षहरात-वंश और चष्टन-वंश, दोनों कुषाणों के अधीन थे। अपने मत के पक्ष में ये विद्वान् कहते हैं कि मथुरा में कुषाण-नरेश हुविष्क के देवकुल से 'षस्तन' नामधारी एक मूर्ति मिली है। सम्भवत: यह चष्टन की मूर्ति है। इसके अतिरिक्त चष्टन-वंश के राजाओं ने उत्तरी भारत में प्रचलित क्षत्रप की उपाधि और खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग किया था। अत: वे उत्तरी भारत की किसी सत्ता के अधीन थे। सम्भवत: यह सत्ता कुषाणों की थी।

यदि इस मूर्त्ति को चष्टन की मान भी लिया जाए तो भी उससे उक्त निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। क्षत्रप की उपाधि और खरोष्ठी लिपि का प्रयोग यही सिद्ध करता है कि चष्टन-वंश उत्तरी शकों से सम्बन्धित था। चष्टन-वंश के किसी भी राजा के अभिलेख में कुषाणों का उल्लेख नहीं है। इस वंश के राजाओं ने प्राय: स्वतन्त्र रूप से अपनी मुद्राओं का निर्माण किया था। अत: अधिकांश विद्वान् इस वंश को एक स्वतन्त्र शक-वंश मानते हैं।

चष्टन—कच्छ में प्राप्त अन्धौ अभिलेख से विदित होता है कि चष्टन य्समोतिक का पुत्र था। इस अभिलेख में य्समोतिक के साथ 'राजा' की उपाधि नहीं मिलती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह एक साधारण व्यक्ति था और इस वंश का सर्वप्रथम राजा उसका पुत्र चष्टन ही था, क्योंकि उसी के नाम के साथ सर्वप्रथम 'राजा' की उपाधि का प्रयोग हुआ है।

अन्धौ अभिलेख का निम्नलिखित कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

'राज्ञः चष्टनस य्समोतिकपुत्रस राज्ञः रुद्रदामस जयदामपुत्रस वर्षे द्विपंचाशे।'

अर्थात् य्समोतिक के पुत्र राजा चष्टन और जयदामा के पुत्र राजा रुद्रदामा के समय, ५२ वें वर्ष में।

इस पंक्ति से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

(१) चष्टन-वंश के चार व्यक्तियों के नाम—

य्समोतिक, चष्टन, जयदामा और रुद्रदामा।

(२) इनमें य्समोतिक और जयदामा के साथ राजा की उपाधि नहीं है। परन्तु चष्टन और रुद्रदामा को राजा कहा गया है। य्समोतिक चष्टन का पिता था,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु उसके समय तक यह वंश राजवंश न हुआ था। ध्समोतिक एक साधारण व्यक्ति था। इसी से उसके नाम के साथ राजा की उपाधि नहीं मिलती।

जयदामा के साथ भी राजा की उपाधि नहीं मिलती। उसकी मुद्राओं पर भी एकमात्र 'क्षत्रप' की उपाधि मिलती है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह राजा अथवा महाक्षत्रप कभी नहीं हुआ था। सम्भवतः वह अपने पिता के जीवन-काल में ही मर गया था।

(३) यह पंक्ति चष्टन और रुद्रदामा के (शासन के) ५२ वें वर्ष का उल्लेख करती है। इससे प्रकट होता है कि दोनों ने सम्मिलित रूप से शासन किया था। बात यह थी कि प्रारम्भ में चष्टन राजा हुआ और उसने अपने पुत्र जयदामा को अपने अधीन क्षत्रप नियुक्त किया। कुछ समय पश्चात् जयदामा की मृत्यु हो गई। अतः चष्टन ने अपने पौत्र रुद्रदामा को अपना क्षत्रप नियुक्त किया। चष्टन की मृत्यु के पश्चात् रुद्रदामा स्वयं महाक्षत्रप बना।

(४) अन्धौ अभिलेख की ५२ तिथि शक-सम्वत् की तिथि प्रतीत होती है। यह ५२+७८=१३० ई० के बराबर हुई। इस तिथि तक जयदामा मर गया था। इस तिथि में चष्टन और रुद्रदामा को शासन करते हुए बताया गया है।

राज्य-विस्तार—चष्टन एक वीर योद्धा था। उसने सातवाहन-राज्य के अनेक प्रदेश छीन लिये। टालमी 'ओजेन' को 'टिआस्टेनेस' की राजधानी बताता है। यहाँ ओजेन से उज्जैन और टिआस्टेनेस से चष्टन समझना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि चष्टन ने उज्जैन (मालवा) को सातवाहनों से छीना होगा। चष्टन की कुछ मुद्राओं पर सातवाहनों का पर्वत-चिह्न मिलता है। इससे भी अनुमान होता है कि उसने सातवाहनों के कुछ प्रदेश जीते होंगे।

चष्टन की मुद्रायें मालवा, गुजरात और काठियावाड़ में मिली हैं। अतः ये प्रदेश उसके राज्य में होंगे।

अन्धौ अभिलेख से कच्छ-प्रदेश भी उसके अधिकार में रहा प्रतीत होता है।

चष्टन के पुत्र जयदामा की कुछ मुद्रायें पुष्कर (अजमेर) में मिली हैं। अतः वह प्रदेश भी चष्टन के अधिकार में रहा होगा।

जयदामा—चष्टन ने अपने पुत्र जयदामा को अपना क्षत्रप नियुक्त किया था। जयदामा की मुद्राओं पर 'क्षत्रप' और 'स्वामी' की उपाधियाँ मिलती हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जयदामा अपने पिता के जीवन-काल में ही मर गया था। इसी से उसे राजा बनने का अवसर न मिला। अन्धौ अभिलेख में उसके लिये 'राजा' की उपाधि नहीं मिलती। इसी प्रकार मुद्राओं पर उसके लिये 'महाक्षत्रप' की उपाधि का प्रयोग नहीं मिलता।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्यूलर और भण्डारकर महोदय ने जयदामा के साथ 'राजा' अथवा 'महाक्षत्रप' की उपाधि का प्रयोग न होने का दूसरा कारण बताया है। उनका कथन है कि जयदामा के समय सातवाहनों ने शकों के सारे राज्य पर अधिकार कर लिया। अतः जयदामा केवल एक अधीन अथवा छोटा राजा—क्षत्रप—रह गया था। अपने मत के पक्ष में ये विद्वान् जूनागढ़ के अभिलेख को उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि रुद्रदामा ने 'महाक्षत्रप' की उपाधि को स्वयं प्राप्त किया था।[1] इस कथन का यही अर्थ हो सकता है कि उसके पिता जयदामा के समय इस उपाधि का प्रयोग बन्द हो गया था।

परन्तु अधिकांश विद्वान् ब्यूलर और भण्डारकर महोदयों से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि सातवाहनों की विजयों के परिणामस्वरूप जयदामा का पद एक अधीन सामन्त की भाँति हो गया था। चष्टन और रुद्रदामा के शासन-काल के साक्ष्यों से ऐसी किसी परिस्थिति का संकेत नहीं मिलता। जूनागढ़-अभिलेख का यह कथन कि रुद्रदामा ने स्वयं 'महाक्षत्रप' का पद प्राप्त किया था, केवल काव्यात्मक है। इसका आशय केवल उसकी विजयों एवं राज्य-विस्तार के महत्व को प्रदर्शित करना था।

रुद्रदामा प्रथम—अन्धौ अभिलेख से प्रकट होता है कि १३० ई० में चष्टन और रुद्रदामा दोनों राज्य कर रहे थे। उस समय चष्टन महाक्षत्रप रहा होगा और रुद्रदामा क्षत्रप। कुछ विद्वानों का मत है कि अन्धौ अभिलेख में दोनों के लिए समान उपाधि 'राजा' का प्रयोग किया गया है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि १३० ई० में रुद्रदामा अधीन क्षत्रप न था वरन् वह अपने पितामह चष्टन के समान ही सर्वाधिकारपूर्ण शासक था। यदि यह मत ठीक है तो अन्धौ अभिलेख द्वैराज्य (दो राजाओं का सम्मिलित राज्य) का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'अर्थशास्त्र' द्वैराज्य-शासन-तन्त्र का उल्लेख करता है।

जो भी हो, इतना निश्चित है कि चष्टन की मृत्यु के पश्चात् रुद्रदामा अवश्य ही सर्वाधिकारपूर्ण राजा अथवा महाक्षत्रप हुआ था। उसकी ताम्र-मुद्राओं पर 'महाक्षत्रप' की उपाधि मिलती है। उन पर उसे 'जयदामसपुत्रस' अथवा 'जयदाम-पुत्रस' कहा गया है।

राज्य-विस्तार—सौराष्ट्र के जूनागढ़ नामक स्थान से रुद्रदामा का एक महत्वपूर्ण अभिलेख मिला है, जो शुद्ध संस्कृत में लिखा है। इसकी तिथि ७२ (१५० ई०) है। उस समय रुद्रदामा एकाधिकारी के रूप में राज्य कर रहा था।

---

१. "स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्नः।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह अभिलेख रुद्रदामा को निम्नलिखित प्रदेशों का 'पति' (स्वामी) बताता है—

(१) आकर (पूर्वी मालवा)
(२) अवन्ति (पश्चिमी मालवा)
(३) अनूपनिवृत (माहिष्मती-प्रदेश)
(४) आनर्त (द्वारका-प्रदेश)
(५) सुराष्ट्र (काठियावाड़)
(६) स्वभ्र (साबरमती-प्रदेश)
(७) मरु (मारवाड़)
(८) कच्छ
(९) सिन्धु (सिन्धु घाटी के दक्षिणी भाग का पश्चिमी प्रदेश)
(१०) सौवीर (सिन्धु घाटी के दक्षिणी भाग का पूर्वी प्रदेश)
(११) कुकुर (सिन्धु और पारियात्र पर्वत के बीच का प्रदेश)
(१२) अपरान्त (उत्तरी कोंकण)
(१३) निषद (पश्चिमी विन्ध्य-प्रदेश)
(१४) कुछ अन्य प्रदेश।

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के नासिक अभिलेख से पता चलता है कि इनमें से आकर, अनूपनिवृत, सुराष्ट्र, कुकुर और अपरान्त के प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधीन थे। अतः स्पष्ट है कि इन प्रदेशों को रुद्रदामा ने गौतमीपुत्र शातकर्णि के किसी उत्तराधिकारी से छीना।

यह पराजित सातवाहन-नरेश कौन था? रुद्रदामा का जूनागढ़ अभिलेख ही इस प्रश्न के उत्तर पर प्रकाश डालता है। इस अभिलेख का कथन है कि रुद्रदामा ने दक्षिणापथ के राजा शातकर्णि को दो बार पराजित किया, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसका विनाश नहीं किया।[1]

अब प्रश्न यह होता है कि यह दक्षिणापथ-नरेश शातकर्णि कौन था।

(१) डा० भण्डारकर का मत है कि यह गौतमीपुत्र शातकर्णि था। परन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णि सम्भवतः चष्टन का समकालीन था। यदि हम डा० भण्डारकर के मत को स्वीकार करें तो इसका अर्थ यह हुआ कि रुद्रदामा ने चष्टन के क्षत्रप के रूप में शातकर्णि को पराजित किया था। परन्तु यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। जूनागढ़ अभिलेख में रुद्रदामा को महाक्षत्रप कहा गया है। महाक्षत्रप के रूप

१. "दक्षिणापथपतेस्सातकर्णेर्द्विरपि नीर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धा (वि) दूर (त) या अनुत्सादनात्प्राप्तयशसा।"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में रुद्रदामा गौतमीपुत्र का नहीं वरन् उसके किसी उत्तराधिकारी का समकालीन माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन-काल की घटनाओं का उल्लेख है। उसमें कहीं पर भी उसकी पराजय का संकेत नहीं मिलता। उसमें तो उसे क्षहरातों, शकों, यवनों और पह्लवों का विजेता कहा गया है।

डा० भण्डारकर के मत के विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि पश्चिमी भारत का राजा था। संभवतः इसी हेतु उसे दक्षिणापथेश्वर नहीं कहा गया।

अतः जूनागढ़ अभिलेख के शातकर्णि का समीकरण गौतमीपुत्र शातकर्णि के साथ नहीं किया जा सकता।

(२) रैप्सन महोदय के अनुसार पराजित शातकर्णि से वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का आशय समझना चाहिए। वे अपने मत की पुष्टि में ये तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(क) वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को रुद्रदामा का समकालीन माना जा सकता है।

(ख) सर्वप्रथम वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के लिये ही नासिक-अभिलेख में 'दक्षिणापथेश्वर' की उपाधि का प्रयोग किया गया है।

(ग) 'सातकर्णि' शब्द सभी सातवाहन-नरेशों का वंशगत नाम था। सम्भवतः किसी भी सातवाहन-नरेश को 'सातकर्णि' कहा जा सकता था। अतः वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को भी केवल सातकर्णि के वंशगत नाम से पुकारा गया है।

इस विषय में कन्हेरी अभिलेख का साक्ष्य दिया जा सकता है। इसका कथन है कि वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि ने महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री के साथ विवाह किया था। यह वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का भाई प्रतीत होता है और महाक्षत्रप रुद्र रुद्रदामा प्रथम। कन्हेरी अभिलेख और जूनागढ़ अभिलेख की मिलती-जुलती लिपि से भी यही मत पुष्ट होता है। पुलुमावी की मृत्यु के तुरन्त बाद ही उसके छोटे भाई शातकर्णि को रुद्रदामा ने परास्त किया होगा। रुद्रदामा की पुत्री का विवाह इस शातकर्णि के साथ बहुत पहले सम्पन्न हो चुका होगा। डा० रायचौधरी जूनागढ़-लेख में उल्लिखित शातकर्णि को पुलमावी का बड़ा भाई मानते हैं।

शातकर्णि नामधारी अनेक सातवाहन-शासकों की मुद्रायें मिली हैं। कुछ मुद्राएँ उक्त शातकर्णि की मानी जाती हैं।

विजयी होने के पश्चात् रुद्रदामा ने सातवाहनों के सम्पूर्ण राज्य पर अपना अधिकार नहीं किया। सम्भवतः उसने महाराष्ट्र को उन के अधिकार में ही रहने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया। सातवाहनों ने प्रतापी शक नरेश रुद्रदामा के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके दूरदर्शिता का परिचय दिया था।[1]

अन्य युद्ध—सुइ विहार अभिलेख से प्रकट होता है कि सिन्धु-सौवीर (सिन्धु घाटी का दक्षिणी भाग) भी रुद्रदामा के राज्य में था। कुछ विद्वानों के अनुसार रुद्रदामा ने यह प्रदेश कनिष्क के किसी उत्तराधिकारी से छीना था।

इन विद्वानों का मत है कि रुद्रदामा ने सिन्धु-सौवीर-प्रदेश को ही कुषाणों से न छीना था वरन् उसने कुषाण-राज्य के पंजाब-प्रदेश पर भी आक्रमण किया था। इस समय दक्षिणी पंजाब में यौधेय नामक जाति रहती थी। कुछ समय तक वह कुषाणों के अधीन थी। सम्भवतः इस समय यह जाति अधिक शक्तिशाली और स्वतन्त्रप्राय हो गई थी। समस्त क्षत्रिय इसे 'वीर' जाति के नाम से पुकारते थे। अतः यह गर्वोन्नत हो गई थी। रुद्रदामा ने उस पर आक्रमण करके उसे पराजित किया।[2]

जो विद्वान् पश्चिमी शकों को कुषाणों का सामन्त मानते हैं उनका मत है कि रुद्रदामा ने कुषाणों के अधीन शासक के रूप में ही ये सारी विजयें की थीं। परन्तु जूनागढ़-अभिलेख में कहीं पर भी कुषाणों का उल्लेख नहीं है। इस अभिलेख में रुद्रदामा का वर्णन एक स्वतन्त्र शासक के रूप में हुआ है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि कभी चष्टन वंश कुषाणों के अधीन रहा भी होगा तो वह रुद्रदामा के समय अवश्य स्वतन्त्र हो गया होगा।

साम्राज्य—इस प्रकार रुद्रदामा ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यह साम्राज्य सिन्ध से उत्तरी कोंकण तक और मालवा से अरब सागर तक विस्तृत था।

सम्भवतः यह साम्राज्य अनेक प्रदेशों में विभक्त था। प्रत्येक प्रदेश के शासन-संचालन के लिये रुद्रदामा ने गवर्नर नियुक्त किये थे। जूनागढ़-अभिलेख से उसके एक गवर्नर सुविशाख का नाम विदित होता है। यह काठियावाड़ में शासन करता था।

केन्द्रीय शासन-संचालन के लिये भी उसने अनेक मन्त्री नियुक्त किये थे। ये मतिसचिव (councillors) और कर्मसचिव (executive officers) कहलाते थे।

---

१. "The Satavahanas appear to have made an attempt to save a few of the conquered provinces by contracting a matrimonial alliance with the Karddamaka Sakas." —Dr. D. C. Sirkar

२ "सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्द जा (तो) त्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य गुण—रुद्रदामा एक वीर योद्धा एवं विजेता था। वह विविध प्रकार की युद्ध-विद्या में पारंगत था।[1]

साथ ही वह एक प्रगाढ़ विद्वान् था। जूनागढ़ अभिलेख इस शासक के शब्द (व्याकरण), अर्थ (राजनीति), गान्धर्व (संगीत) और न्याय आदि के ज्ञान की प्रशंसा करता है।[2] उसने अनेक गद्य-पद्य-काव्यों की रचना की थी।[3]

उसका कोष सम्पन्न था। उसने वैध रूप से एकत्र किये बलि, शुल्क और भाग से अपने कोष को कनक (सोना), रजत (चाँदी), वज्र (हीरा), वैदूर्य रत्न आदि से परिपूर्ण कर रखा था।[4]

वह एक लोकोपकारी शासक था। उसके समय में प्रसिद्ध सुदर्शन झील का बाँध टूट गया था। इससे कृषकों को भारी कष्ट होने लगा। अतः रुद्रदामा ने अपने गवर्नर सुविशाख द्वारा उस झील की मरम्मत कराई। इसके लिये उसे बहुत अधिक धन खर्च करना पड़ा। फिर भी उसने जनता से अवैध कर, बेगार अथवा दान नहीं लिया। उसने सारा धन अपने निजी कोष से खर्च किया।[5]

रुद्रदामा प्रथम के उत्तराधिकारी

दामघ्सद प्रथम—यह रुद्रदामा प्रथम का पुत्र था। अपने पिता के शासन-काल में वह क्षत्रप रह चुका था। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह महाक्षत्रप बना। उसका नाम दामजश्री भी मिलता है।

जीवदामा और रुद्रसिंह प्रथम—दामघ्सद प्रथम की मृत्यु के पश्चात् १७८ ई० से लेकर १९७ ई० तक शक-राज्य में बड़ी अशान्ति रही। इस बीच दामघ्सद प्रथम के पुत्र जीवदामा को अपने चाचा रुद्रसिंह प्रथम से युद्ध करना पड़ा। इसमें कभी एक की और कभी दूसरे की विजय हुई। इसी अशान्तिपूर्ण काल में दो आभीर नेताओं—**रुद्रभूति और ईश्वरदत्त**—ने शक-राज्य पर आक्रमण करके क्रमशः कुछ काल के लिये उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

रुद्रसेन प्रथम—१९८ ई० के लगभग जीवदामा की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् रुद्रसिंह प्रथम का पुत्र रुद्रसेन प्रथम महाक्षत्रप हुआ। उसने लगभग २२२ ई० तक शासन किया।

---

१ "तुरग गज रथ चर्य्यासिचर्म नियुद्धाद्या ......ति परबललाघव सौष्ठवक्रियेण।"

२ "शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारण-धारण-विज्ञान-प्रयोगावाप्त विपुलकीर्तिना।"

३ "गद्यपद्य प्रमाणमानोन्मान स्वरगतिवर्ण सार सत्वादिभिः।"

४ "यथाव प्राप्तैः बलिशुल्कभागैः कनक रजत वज्र वैडूर्य रत्नोपचय विष्यन्दमान कोशेन।"

५ "अपीडयित्वा करविष्टिप्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात् कोशातमहता धनौघेन अनतिमहता च कालेन त्रिगुणदृढ़तर विस्तारायामं सेतुं विधाय।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संघदामा—रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् उसका भाई संघदामा सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में मालवों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। २२६ ई० के नन्दसा-अभिलेख से प्रकट होता है कि मालवों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपलक्ष्य में उनके नेता सोम ने एक यज्ञ किया था।

अन्य नरेश—संघदामा के पश्चात् इस वंश में दामसेन, रुद्रसेन द्वितीय आदि शासक हुए। उनके उत्तराधिकारी अनेक शक-नरेश हुए। परन्तु वे प्रायः महत्वहीन सिद्ध हुए। अनेक विद्वानों का मत है कि इसी काल में सासानी नरेशों—बर्हरान द्वितीय (२९३ ई०) और शापुर द्वितीय (३०९)—ने शक-राज्य पर आक्रमण किये और उन्होंने शकस्थान तथा कुछ अन्य प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

शक-वंश का अन्तिम राजा रुद्रसिंह तृतीय था। इसे पराजित करके चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शक-राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

शकों का प्रभाव

यूनानियों के पतन के पश्चात् जिस दूसरी महत्वपूर्ण विदेशी जाति ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और यहाँ के अनेक क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लिया वह शक जाति थी। इसकी अनेक शाखाएँ थीं, जिन्होंने काश्मीर, गंधार, पंजाब, उत्तरी भारत, महाराष्ट्र, काठियावाड़ और गुजरात पर दीर्घकाल तक शासन किया। इस काल में शक भारतीयों और भारतीय संस्कृति के घनिष्ट सम्पर्क में आये। इस सम्पर्क से अनेक प्रभाव उत्पन्न हुए।

भारतीयकरण—अन्य विदेशी जातियों की भांति कालान्तर में शकों का भी भारतीयकरण हो गया। बहुत से शकों ने भारतीय नाम धारण किये—जैसे, जयदामा रुद्रदामा, सिंहदामा, रुद्रसेन इत्यादि। बहुतों ने भारतीय धर्मों को भी स्वीकार कर लिया। महाराष्ट्र के शक राजा नहपान का दामाद ऋषभदत्त ब्राह्मणों और बौद्धों दोनों का समान रूप से आदर करता था। वह दशपुर, गोवरधन, पुष्कर आदि हिन्दू तीर्थों में गया। वहाँ उसने स्नान किया तथा ब्राह्मणों और भिक्षुओं को दान दिये। शकों के शासन-काल में तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन, विदिशा आदि नगर धर्म और कला के बड़े केन्द्र बन गए थे। बौद्ध, भागवत, शैव और जैन धर्मों का विकास हो रहा था। इस काल में इन धर्मों के अनेक स्तूपों, मन्दिरों एवं प्रतिमाओं का निर्माण हुआ।

शकों और भारतीयों के बीच अन्तरजातीय विवाहों के भी उदाहरण मिलते हैं। सातवाहन वंश के भारतीय राजा ने शक नरेश रुद्रदामा प्रथम की कन्या के साथ विवाह किया था। इक्ष्वाकु वंश के राजा वीरपुरुषदत्त ने शक कन्या रुद्रभट्टारिका के साथ विवाह किया।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाभारत का कथन है कि शक जाति प्रारम्भ में क्षत्रिय थी, परन्तु वाद में ब्राह्मण धर्म के सम्पर्क से अलग हो जाने के कारण वह शूद्र हो गई। पतंजलि के अनुसार शक शूद्र थे परन्तु वे अछूत नहीं थे। इन कथनों से अनुमान होता है कि ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने शकों को अपनी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत लेने का प्रयत्न किया था। महाभारत का उल्लेख है कि शकद्वीप में वर्णव्यवस्था प्रचलित थी।

संस्कृत भाषा—बहुत से शकों ने संस्कृत भाषा को अपनी राजकीय भाषा बनाया। रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़-अभिलेख विशुद्ध संस्कृत भाषा में है। रुद्रदामा के कई उत्तराधिकारियों ने भी अपने अभिलेख तथा मुद्रा-लेख संस्कृत भाषा में लिखवाये।

शकों के शासन-काल में उज्जयिनी नगरी संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र थी। वहाँ संस्कृत नाटक का विकास हुआ।

संगीत—सम्भवतयः शक संगीत-प्रेमी भी थे। 'बृहद्देशी' नामक संगीत ग्रन्थ में 'शकमिश्रित' और 'शकाक्ष्य' नामक रागिनियों का उल्लेख है। स्यात् इन रागिनियों का उदय शक-प्रभाव से ही हुआ।

आर्थिक उन्नति—शकों का शासन-काल भारत की आर्थिक उन्नति के लिए विशेष प्रसिद्ध है। इस समय पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, वैशाली, श्रावस्ती, मथुरा, भड़ोंच, उज्जैन, कल्याण, सोपारा, प्रतिष्ठान और तेर इत्यादि नगर व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। स्थल-मार्गों के द्वारा ये नगर एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। पेरीप्लस नामक ग्रंथ का कथन है कि भारतवर्ष से मोती, हाथीदांत की वस्तुएँ, सूती वस्त्र और मसाले इत्यादि विदेशों को भेजे जाते थे। विदेशों से भारत में आने वाली सामग्री में सोना, चांदी के बरतन और विविध प्रकार की शरावें उल्लेखनीय हैं।

इसी समय भारतवर्ष ने चीन और मध्य एशिया के साथ अ ना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। पूर्वी द्वीपसमूहों, तथा हिन्द चीन के देशों में भारतीय उपनिवेश स्थापना का कार्य भी शक-शासनकाल में बहुत बढ़ा।

पह्लव (Parthians)

पह्लवों के इतिहास की सम्यक् रूपरेखा निश्चित करना कठिन है। उनके इतिहास का ज्ञान हमें कुछ साहित्यिक उद्धरणों, अभिलेखों और मुद्राओं के द्वारा होता है। उनके राजाओं का क्रम, शासन-काल, राज्य-विस्तार आदि सभी विवादग्रस्त हैं। पह्लवों और शकों का इतिहास इतना घुला-मिला है कि बहुधा यह बताना कठिन हो जाता है कि कौन-सा राजा शक है और कौन-सा पह्लव।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वोनोन्स—रैप्सन के मतानुसार यह पह्लव-नरेश पूर्वी ईरान का शासक था। सम्भवतः यह शक-नरेश मौएस का समकालीन था। इसकी कुछ मुद्रायें यूक्रेटाइडीज-वंश की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। इस आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसने यूक्रेटाइडीज-वंश से कुछ प्रदेश छीन लिये होंगे।

वोनोन्स एक शक्तिशाली राजा था। अराकोशिया और सीस्तान निश्चित रूप से उसके अधीन थे। उसने प्रतापी यूनानी-शक शासकों—जैसी उपाधि धारण की थी। उसके राज्य के विभिन्न प्रदेशों में उसके गवर्नर नियुक्त थे। इसकी मुद्राओं पर जिन प्रमुख गवर्नरों के नाम मिलते हैं वे हैं—(१) स्पैलहोर और (२) स्पलगदम।

स्पैलिरिश—यह वोनोन्स के वंश का था। कुछ मुद्राओं पर यूनानी लिपि में स्पैलिरिश का और खरोष्ठी लिपि में एजेज का नाम मिलता है। इस आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि पहले एजेज (प्रथम) स्पैलिरिशि के अधीन शासन करता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि एजेज शक नहीं, पह्लव शासक था। स्पैलिरिश की कुछ मुद्राओं पर स्पलगदम का नाम मिलता है, जिसका नाम वोनोन्स की मुद्राओं पर भी है।

एजेज प्रथम के स्वतन्त्र-शासन तथा उसके अधिन एजिलाइजेज का उल्लेख किया जा चुका है। बाद में एजिलाइजेज स्वतन्त्र राजा हुआ और उसके अधीन एजेज द्वितीय हुआ। तदनन्तर एजेज द्वितीय स्वतन्त्र शासक हुआ। उसका उत्तराधिकारी आर्थेग्नस हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि एजेज द्वितीय के पश्चात् तक्षशिला में पह्लव-सत्ता का ह्रास हो गया। एजेज द्वितीय की मुद्रायें कला की दृष्टि से हीन हैं।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस समय उसके राज्य में कोई भारी भूकम्प अथवा महामारी आदि का प्रकोप हुआ जिसके परिणामस्वरूप राज्य की टकसाल और उसके प्रसिद्ध मुद्राकार सभी नष्ट हो गये।[2]

गोण्डोफर्नेस—यह पह्लव-वंश का सबसे शक्तिशाली और प्रसिद्ध राजा सिद्ध हुआ। १०३ तिथि के तख्ते-बाही अभिलेख में इसका नाम गुदुह्वर मिलता है। यह तिथि प्राचीन शक संवत् की मानी जाती है। इससे प्रकट होता है कि (१५५–१०३) ५२ ई० पू० में पेशावर-प्रदेश गोण्डोफर्नेस के अधीन था।

---

१. "Azes II 's currency suffered a sudden and surprising eclipse. The design deteriorated and the workmanship came to a very low ebb"

२. "Some local catastrophe, such as an earthquake or plague, which had wiped out the mint and its skilled engravers" —Marshall

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ मुद्राओं पर आर्थेग्नस और गोण्डोफर्नेस दोनों के नाम मिलते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गोण्डोफर्नेस प्रारम्भ में पह्लव-नरेश आर्थेग्नस की अधीनता में शासन करता था और कालान्तर में उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। गोण्डोफर्नेस की कुछ मुद्रायें आर्थेग्नस की मुद्राओं के समान हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि गोण्डोफर्नेस ने पूर्वी ईरान पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।[१]

पार्थिया-नरेशों ओरेडस प्रथम (५८ ई० पू०) और आर्टबिनस तृतीय (१०-४० ई०) की कुछ मुद्राओं पर गोण्डोफर्नेस का एक विशेष प्रकार का चिह्न (Gondophernes symbol) अंकित मिलता है। इस आधार पर रैप्सन और मार्शल ने यह कल्पना की है कि पार्थिया-साम्राज्य का सीस्तान और कुछ अन्य भाग भी गोण्डोफर्नेस ने अपने अधीन कर लिया था।

उसकी कुछ मुद्रायें काबुल घाटी के बेग्राम आदि स्थानों में प्राप्त हुई हैं। चीनी लेखक फान-ये का भी कथन है कि काबुल पर पार्थिया का अधिकार हो गया था। अतः अनेक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गोण्डोफर्नेस ने ही काबुल घाटी के अन्तिम यूनानी नरेश हर्मियस का विनाश करके उस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित किया था। काबुल घाटी की कुछ मुद्राओं पर यूनानी नरेश हर्मियस और कुषाण-नरेश कुजुल कैडफिसेस दोनों के नाम मिलते हैं। उक्त विद्वानों का मत है कि इन दोनों नरेशों ने पह्लव-नरेश गोण्डोफर्नेस का सामना करने के लिये आपस में सन्धि कर ली थी। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। यह मत अत्यन्त विवादास्पद है।

गोण्डोफर्नेस की शक-शैली की मुद्राओं को देख कर यह अनुमान होता है कि उसने शकों से पश्चिमी पंजाब छीन लिया था।

मार्शल महोदय ने 'पेरीप्लस' के कथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि बेरीगाजा-प्रदेश और सुराष्ट्र सैण्डनेस (Sandanes) नामक शासक के अधीन थे। मार्शल सैण्डनेस का समीकरण गोण्डोफर्नेस के गवर्नर सपेदन (Sapedanes) से करते हैं और इस आधार पर यह मत प्रस्तुत करते हैं कि कच्छ और काठियावाड़ भी गोण्डो-फर्नेस के अधीन थे।

परन्तु हम पहले कह चुके हैं कि सैण्डनेस अथवा सैण्डरेस सुन्दर शातकर्णि नामक सातवाहन-नरेश था। पुनः 'पेरीप्लस' के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बेरीगाजा प्रदेश और सुराष्ट्र सैण्डनेस के अधीन नहीं, वरन् मैम्बेरस नामक एक शक-नरेश के अधीन थे। इस प्रकार मार्शल महोदय का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि

१. The Age of Imperial Unity, p. 128.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कच्छ और काठियावाड़ गोण्डोफर्नेस के अधिकार में थे। उसके उत्तराधिकारियों ने शकों से ये प्रदेश लिए होंगे।

समस्त साक्ष्यों की विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोण्डोफर्नेस के राज्य में सीस्तान के पश्चिम में पार्थिया-साम्राज्य का कुछ भाग, सीस्तान, काबुल घाटी, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और पश्चिमी पंजाब सम्मिलित थे।

गोण्डोफर्नेस ने शासन-संचालन के लिये राज्य के विभिन्न प्रदेशों में अपने गवर्नर नियुक्त कर रखे थे। इनमें से कुछ के नाम भी उपलब्ध हुए हैं—

(१) उसका गवर्नर अस्पवर्मा सम्भवतः स्वात घाटी का प्रशासक था। वह पहले एजेज द्वितीय का गवर्नर था। बाद में उसने गोण्डोफर्नेस की अधीनता स्वीकार कर ली।

(२) उसका भतीजा ऐब्डगैसस कदाचित् पूर्वी ईरान में गवर्नर था।

(३) मार्शल महोदय के अनुसार जिम्रानिसेस चुक्ष-प्रदेश में गोण्डोफर्नेस का गवर्नर था। कुछ मुद्राओं पर भी इस गवर्नर का नाम—जिहुनिग्र—मिलता है। तक्षशिला के १९१ तिथि के एक अभिलेख में भी जिहोणिक का नाम है। टार्न महोदय इसे गोण्डोफर्नेस का भतीजा और गवर्नर बताते हैं। लोहाइजन के अनुसार वह विम-कैड्फाइसेस का उत्तराधिकारी कुषाण-शासक था।

(४) कुछ मुद्राओं पर गोण्डोफर्नेस के साथ-साथ सपेदन (Sapedanes) और सतवस्त्र (Satavastra) के भी नाम मिलते हैं। ये शायद तक्षशिला में गोण्डोफर्नेस के गवर्नर थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोण्डोफर्नेस के गवर्नर अपने-अपने प्रदेशों में प्रायः पूर्ण स्वतन्त्र थे। वे नाममात्र को ही गोण्डोफर्नेस के अधीन थे। यही कारण है कि सपेदन और सतवस्त्र नामक गवर्नरों ने 'महाराज राजराज'—जैसी बड़ी उपाधि धारण की थी।[1] अनुमान किया जा सकता है कि गोण्डोफर्नेस की मृत्यु के पश्चात् ही इन शक्तिशाली गवर्नरों ने अपनी पूरी स्वतन्त्रता घोषित कर दी होगी।

ईसाई जनश्रुति से प्रकट होता है कि सेण्ट टामस ने २९ ई० अथवा ३३ ई० के लगभग भारतीय नरेश गुदनफर को ईसाई बना लिया था। अनेक विद्वान् गुदनफर को गोण्डोफर्नेस मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। ईसाई जनश्रुति की ऐतिहासिकता के बारे में भी सन्देह है।

---

१. "The title is only one degree inferior to the most lofty title assumed by Gondophernes, viz., 'Great King, Supreme King of Kings.' Such a style can only mean that even in the reign of Gondophernes, the allegiance of the governors to the suzerain was becoming only nominal."
—Rapson

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोण्डोफर्नेस का उल्लेख करने वाले तख्ते-वाही अभिलेख की तिथि ५२ ई० पू० के बराबर है। यह अभिलेख गोण्डोफर्नेस के शासन के २६ वें वर्ष का है। अतः वह ५२+२६=७८ ई० पू० में सिंहासनसीन हुआ होगा।

फिलास्ट्रेटस का कथन है कि गोण्डोफर्नेस ने बर्बर जातियों का सामना करने के लिये बर्बर मनुष्यों की सहायता ली थी। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय पह्लव-राज्य पर कुषाणों के आक्रमण होने लगे थे। बैक्ट्रिया पर अधिकार करने के पश्चात् वे काबुल घाटी की ओर बढ़ रहे थे। कालान्तर में इन्हीं कुषाणों ने पह्लवों का अन्त कर दिया।

गोण्डोफर्नेस के पश्चात् पह्लवों में कोई भी ऐसा योग्य शासक न हुआ जो भारत में अपने पूर्वजों के राज्य की रक्षा करता। उनके पारस्परिक झगड़ों के कारण भी पह्लव-शक्ति को काफी क्षति पहुँची। 'पेरीप्लस' पह्लवों की इस पारस्परिक कलह का उल्लेख करता है।[१]

लोहाइजन का कथन है कि गोण्डोफर्नेस के पश्चात् उसका भतीजा ऐब्डगेसस राजा हुआ। उनके अनुसार इस शासक ने लगभग पाँच वर्ष (ई० पू० २०–१५) शासन किया। यह समय कुछ पहले हो सकता है।

ऐब्डगेसस के पश्चात् पकोरस राजा हुआ। इसकी मुद्रायें सीस्तान-शैली की हैं। इसकी कुछ मुद्रायें तक्षशिला में भी पाई गई हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि पकोरस सीस्तान और पंजाब दोनों का शासक था।

पकोरस के पश्चात् पह्लव-राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया, जहाँ छोटे-छोटे शासक कुछ समय तक राज्य करते रहे। आपसी झगड़ों तथा बढ़ती हुई कुषाण-शक्ति के कारण पह्लवों के प्रभुत्व की समाप्ति हो गई।

पह्लव-वंश की निर्बलता से लाभ उठाकर कुषाणों ने उनके राज्य पर आक्रमण किया और धीरे-धीरे उस पर अधिकार कर लिया। १२२ तिथि (३३ ई० पू०) के पंजतर अभिलेख से प्रकट होता है कि इस तिथि तक उन्होंने काबुल घाटी पर अधिकार कर लिया था और पंजतर-प्रदेश तक अपनी सत्ता का विस्तार कर लिया था। १३६ तिथि (१९ ई० पू०) के तक्षशिला-अभिलेख से विदित होता है कि इस तिथि तक तक्षशिला भी उनके अधिकार में आ गया था। विम कैड्फिसेस और कनिष्क के नेतृत्व में कुषाणों ने भारतवर्ष में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

---

१. "Before it (Barbaricum) there lies a small island and inland behind it is the metropolis of Scythia, Minnagara; it is subject to Parthian princes who are constantly driving each other out"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १०

कुषाण-वंश

यू-ची—पहले कहा जा चुका है कि यू-ची जाति दक्षिण-पश्चिमी गोबी प्रदेश में रहती थी। अपने पड़ोस में बसने वाली हूँग-नू (हूण) नामक एक अन्य जाति से इसकी घोर शत्रुता थी। हूँग-नू के राजा माओतुन (२०९-१७४ ई० पू०) ने यू-ची जाति को पराजित किया। माओतुन के उत्तराधिकारी लाओ-शंग (१७४-१६० ई० पू०) ने पुनः यू-ची पर आक्रमण किया, उसके राजा को मार डाला तथा उसके कपाल से जल-पात्र बनवाया। यू-ची राज्य पर हूँग-नू का अधिकार हो गया। पराजित यू-ची जाति की एक शाखा नये प्रदेश की खोज में नान-शान के पर्वतीय प्रदेश में जा बसी और सिआओ यू-ची (छोटी यू-ची) कहलाई। यू-ची जाति की दूसरी शाखा सर दरिया (जैक्सर्टेस) के प्रदेश में प्रविष्ट हुई। उसने वहाँ के शकों को पराजित किया और उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। यह यूची शाखा तायू-ची (बड़ी यू-ची) कहलाई। सर दरिया-प्रदेश के हाथ से निकल जाने पर शकों ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया और वहाँ के यूनानियों को पराजित करके उस पर अधिकार कर लिया।

यूचियों ने वू-सुन नामक एक अन्य जाति से भी युद्ध किया और उसके राजा को मार डाला। मृतक राजा के अल्पवयस्क पुत्र ने हूँग-नू राज्य में शरण ली। युवा होने पर उसने लगभग १४० ई० पू० हूँग-नू जाति की सहायता से यू-ची जाति पर आक्रमण किया और उसे पराजित करके सर दरिया-प्रदेश पर अधिकार कर लिया। अब यू-ची जाति ता हिया (बैक्ट्रिया) में आई और वहाँ के शकों को पराजित करके उसने उस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। चिएन हान शू (History of the First Han Dynasty) नामक चीनी ग्रन्थ में इन घटनाओं का विवरण मिलता है।[1]

शीघ्र ही यू-ची जाति ने अपने सम्पूर्ण राज्य को निम्नलिखित ५ राज्यों में विभक्त कर दिया—

(१) हिऊमी (Hieou-mi)

---

१. "Formerly when the Hiung-nu conquered the Ta yueh-chih the latter migrated to the west and subjugated the Ta-hia whereupon the Sai-wang went to the South and ruled over Kipin"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) चाउग्रांग-मी (Chouang-mi)

(३) कोइ-चाउग्राँग (Kouei-chouang)—कुषाण

(४) ही-तुम (Hi-tum)

(५) ताउ-मी (Tou-mi)—कुछ चीनी ग्रन्थों में ताउ-मी के स्थान पर काग्रो-फू (Kao-fou) का नाम मिलता है। परन्तु अधिकांश विद्वान् ताउ-मी पाठ को ही प्रामाणिक मानते हैं।

यू-ची जाति ने शासन के लिए इन पाँचों राज्यों में एक-एक राजा नियुक्त किया। इस विभाजन से अनुमान किया जा सकता है कि यू-ची जाति में ५ शाखायें थीं और बैक्ट्रिया-विजय के कुछ समय पश्चात् प्रत्येक यू-ची शाखा का एक-एक राज्य था।

कुछ विद्वानों का मत है कि ये पाँचों राज्य बैक्ट्रिया में ही थे। परन्तु यह मत असंगत प्रतीत होता है। सम्भवतः यू-ची जाति ने बैक्ट्रिया के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रदेशों की भी विजय की थी और तत्पश्चात् ही अपना राज्य-विभाजन किया था। मार्क्वा (Marquart) ने यू-ची जाति के उपर्युक्त पाँचों राज्यों का समीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—

(१) हिऊमी = वाकहान

(२) चाउग्रांग-मी = चितराल

(३) कोइ-चाउग्रांग = गन्धार

(४) ही-तुन = परवान

(५) ताउ-मी = काबुल के समीप का कोई प्रदेश।

कुजुल कैड्फिसेस—कुजुल कैड्फिसेस कुषाणों का सर्वप्रथम राजा प्रतीत होता है। चीनी ग्रन्थों में उसे कीयू-सीयू-किश्रो (Kieou-tsicou-kio) कहा गया है। सुविधा के लिये उसे कैड्फिसेस प्रथम भी कहा जाता है। वह यूचियों के कुषाण-राज्य (Kouei-chouang) का सरदार (Hi-hous) था। उसने अन्य चार राज्यों पर आक्रमण करके उन्हें अपने अधीन कर लिया और 'राजा' (wang) की उपाधि धारण की। इस प्रकार यू-ची जाति की समस्त शाखायें एक राजनीतिक सूत्र में बँध गईं। यूचियों का इतिहास 'कुषाणों' का इतिहास बन गया।

पार्थिया से युद्ध—कैड्फिसेस प्रथम को अपने राज्य-विस्तार के लिये उस समय की एक दूसरी शक्ति—पार्थिया-राज्य—से युद्ध करना पड़ा। 'हाउ-हान-शू' नामक चीनी ग्रन्थ का कथन है कि उसने आन-सी पर आक्रमण किया और काग्रो-फू, पू-टा और कि-पिन पर पूर्णरूप से अधिकार कर लिया। इन प्रदेशों का समीकरण इस प्रकार किया जाता है—

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रान-सी = पार्थिया
काग्रो-फू = काबुल
पू-ता = ग्रराकोशिया
किपिन = हिन्दूकुश के दक्षिण का कुछ भाग

ऐसा प्रतीत होता है कि कैड्फिसेस प्रथम ने पल्लव-नरेश गोण्डोफर्नेस की मृत्यु के पश्चात् उसके किसी निर्बल उत्तराधिकारी के विरुद्ध सफलता प्राप्त की थी।

काबुल घाटी पर ग्रधिकार—कुछ ऐसी मुद्रायें मिली हैं जिनके ग्रग्रभाग पर काबुल घाटी के हिन्द-यूनानी शासक हर्मियस का नाम है ग्रौर पृष्ठभाग पर कुजुल कैड्फिसेस का। इन मुद्राग्रों के ग्राधार पर विद्वानों ने विभिन्न मत निर्धारित किए हैं—

(१) प्रारम्भ में कैड्फिसेस प्रथम हर्मियस के ग्रधीन सामन्त था। कालान्तर में हर्मियस की स्वाभाविक मृत्यु पर ग्रथवा उसे पराजित करके कैड्फिसेस प्रथम स्वयं राजा बन गया।

(२) कैड्फिसेस प्रथम ग्रौर हर्मियस दोनों स्वतन्त्र शासक थे। दोनों ने ग्रापस में मित्रता स्थापित कर रखी थी। हर्मियस ने कैड्फिसेस को यूची जाति की ग्रन्य चार शाखाग्रों के दमन करने में सहायता दी थी। इसी प्रकार कैड्फिसेस प्रथम ने हर्मियस को पल्लवों (Parthians) के विरुद्ध सहायता दी थी। ग्रपने मैत्री-सम्बन्धों को घोषित करते हुए दोनों ने सम्मिलित मुद्रायें चलाईं।

(३) टार्न इन सम्मिलित मुद्राग्रों को प्रचार-मुद्रा (propaganda coinage) कहते हैं। इस विद्वान् के ग्रनुसार हर्मियस का शासन कुजूल से पहले ही समाप्त हो गया था। कालान्तर में कुजूल ने काबुल-घाटी पर ग्रधिकार कर लिया। वहाँ की यूनानी जनता को सन्तुष्ट करने के लिये ही उसने उनके पुराने राजा हर्मियस के नाम के साथ ग्रपनी मुद्रायें चलाईं।

टार्न के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि तिथि-क्रम के दृष्टिकोण से कुजूल हर्मियस का समकालीन माना जा सकता है।

गन्धार— कुछ विद्वानों के ग्रनुसार गन्धार भी कुजूल के ग्रधीन था। इस मत के पुष्ट प्रमाण मिले हैं—

(१) तक्षशिला सिल्वर स्क्राल ग्रभिलेख पर १३६ तिथि ग्रंकित है। इसमें एक कुषाण-नरेश महाराज राजाधिराज देवपुत्र का उल्लेख है। ग्रनेक विद्वानों के ग्रनुसार सम्भवतः यह राजा कुजूल ही था। ग्रतः गन्धार उसके ग्रधीन होगा।

(२) सिरकप (तक्षशिला) में कुजूल की मुद्रायें मिली हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य-विस्तार—उपर्युक्त समस्त साक्ष्यों पर विचार करने से प्रकट होता है कि कुजूल का राज्य आक्सस नदी से तक्षशिला तक विस्तृत था। इस राज्य में बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान और गंधार का अधिकांश प्रदेश सम्मिलित था। यह समस्त राज्य उसने पह्लवों, शकों और हिन्द-यूनानियों से जीता था।

उपाधियाँ—कुजूल के पूर्वकालीन यूची नरेश एकमात्र 'ही-हाउ' अथवा 'यवुग' के नाम से सम्बोधित होते थे। प्रारम्भ में कुजूल की भी यही उपाधियाँ थीं। परन्तु बाद में उसने अपनी शक्ति और समृद्धि की सूचना देते हुए 'महाराज राजातिराज' की अधिक गौरवमयी उपाधि धारण की।

मुद्रायें—कुजूल ने एकमात्र ताँबे की मुद्रायें चलाई थीं। उन पर लेख यूनानी और खरोष्ठी दोनों लिपियों में हैं। कुछ मुद्राओं पर रोम-नरेश अगस्टस के समान चेहरा अंकित है। इससे प्रकट होता है कि कुजूल की मुद्राओं पर कुछ रोमन प्रभाव था।

धर्म—कुजूल की कुछ मुद्राओं पर 'सत्यधर्मस्थित' की उपाधि मिलती है। कुछ विद्वानों का मत है कि यहाँ धर्म का अर्थ बौद्ध-धर्म से है। यदि ऐसा है तो कुजूल को बौद्ध-धर्मावलम्बी माना जा सकता है।

तिथि—पंजतर-अभिलेख में एक कुषाण-नरेश 'महाराज' का उल्लेख मिलता है। इस लेख की तिथि १२२ है, जो प्राचीन शक सम्वत् की तिथि है। अतः यह १५५ − १२२ = ३३ ई० पू० के बराबर हुई। अधिकांश विद्वान् इस अभिलेख में उल्लिखित कुषाण-नरेश को कुजूल कैड्फिसेस मानते हैं।

चीनी साक्ष्यों से विदित होता है कि कुजूल ८० वर्ष से भी अधिक आयु तक जीवित रहा था।

विम कैड्फिसेस

कुजूल कैड्फिसेस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र विम कैड्फिसेस राजा हुआ। इसे कैड्फिसेस द्वितीय भी कहते हैं। चीनी ग्रन्थों में इसे येन-काओ-चेन (Yen-kao-chen) कहा गया है।

भारत-विजय—विम कैड्फिसेस अपने पिता कुजूल से भी बड़ा विजेता सिद्ध हुआ। उसने अपने पैतृक राज्य को सिन्धु नदी के पूर्व में विस्तृत किया। उसकी भारत-विजय के अनेक प्रमाण मिलते हैं—

(१) 'हाउ हान शू' नामक चीनी ग्रन्थ का कथन है कि उसने 'तिएन-चू' (Tien-chu) की विजय की और उस पर शासन करने के लिये अपना गवर्नर नियुक्त किया। अब यू-ची की शक्ति बहुत बढ़ गई। उसके शासक को कुषाण-राजा (Kuei-shung King) कहा जाने लगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिएन-चू का अभिप्राय भारत से है। भारत का कितना प्रदेश विम के अधीन था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु कुछ अन्य साक्ष्यों से विदित होता है कि उत्तरी भारत में गंधार और पूर्वी पंजाब के प्रदेश विम के अधीन थे। इसके अतिरिक्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश का भी कुछ भाग उसके अधिकार में रहा प्रतीत होता है। विम के समय में तक्षशिला के पुराने नगर सिरकप की बर्बादी हुई और नया नगर सिरसुख आबाद किया गया।

(२) लद्दाख के खलत्से नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में इस शासक का नाम मिलता है। यह लेख १८७ तिथि (३२ ई०) का है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने लद्दाख की विजय की थी।

(३) पंजाब में विम की मुद्रायें बड़ी संख्या में मिली हैं। संभवतः यह सम्पूर्ण प्रदेश भी उसके अधीन था।

(४) मथुरा के समीप माँट में कुषाणों का एक देवकुल था। वहाँ से अन्य अनेक प्रतिमाओं के साथ विम कैड्फिसेस तथा कनिष्क की अभिलिखित मूर्तियाँ मिली हैं। विम की प्रतिमा पर उपाधियों सहित उसका नाम महाराज 'राजातिराज देवपुत्र कुषनपुत्र षहि (शाहि) वेम तक्षम' लिखा है। मथुरा में विम की मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि संभवतः विम ही पहला कुषाण सम्राट् था जिसने मथुरा को जीता। विम के प्रतिमा-लेख के आधार पर फोगल ने यह अनुमान किया था कि 'वमतक्षम' नाम का एक अन्य कुषाण-राजा हुआ। परन्तु यह ठीक नहीं। विम के उत्तराधिकारी कनिष्क के शासन-काल के दूसरे वर्ष का एक लेख कौशाम्बी (प्रयाग) में और तीसरे वर्ष का एक लेख सारनाथ (वाराणसी) में प्राप्त हुआ है। इन प्रारम्भिक लेखों के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि उत्तर प्रदेश को विम ने जीता होगा और कनिष्क ने उसे विम से उत्तराधिकार के रूप में पाया होगा। परन्तु, जैसा आगे दिखाया जाएगा, यह मत युक्तिसंगत नहीं। विम का अधिकार पूर्वी उत्तर प्रदेश पर कभी नहीं था। उसकी कुछ मुद्रायें बिहार प्रांत में बक्सर में प्राप्त हुई हैं। परन्तु उनके आधार पर यह नहीं कह सकते कि बक्सर तक का क्षेत्र विम के अधिकार में था। विम को एक विस्तृत साम्राज्य का अधिकारी मानते हुए भी हम स्मिथ की इस धारणा[1] से सहमत नहीं कि विम का शासन भारत में बनारस तक फैला था।

---

१. "The Indian dominions of Kadphises II certainly extended to the Ganges, and probably at least as far as Benares. His empire extended westward to the frontiers of Parthia, and included the whole of the countries now known as Afghanistan, Afghan Turkistan, Bukhara and parts of Russian Turkistan"

—Smith, JRAS, 1903 p. 31

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपाधियाँ—विम अपने समय का एक अत्यन्त प्रभावशाली नरेश था। उसने अपनी शक्ति और प्रभाव के अनुरूप 'महाराज, राजाधिराज, सर्वलोकेश्वर' आदि विरुद धारण किये, जो उसकी मुद्राओं पर लिखे मिलते हैं।

धर्म—विम शैव प्रतीत होता है। उसकी मुद्राओं पर उसके लिये 'माहेश्वर' की उपाधि मिलती है तथा उन पर शिव, नन्दी, त्रिशूल और परशु के चित्र भी अंकित हैं।

मुद्रायें—विम ने ताँबे और काँसे की मुद्राओं के साथ-साथ सोने की भी मुद्रायें निर्मित कराईं। भारत में स्वर्ण-मुद्रायें चलाने वाला वह सर्वप्रथम शासक था। विम के समय में कुषाण-साम्राज्य का रोम साम्राज्य और चीन से व्यापार बहुत बढ़ गया था। इसके परिणाम-स्वरूप कुषाण-साम्राज्य में प्रचुर मात्रा में विदेशी सोना आने लगा था। बढ़ते हुए व्यापार की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए विम ने स्वर्ण-मुद्राओं का निर्माण कराना प्रारम्भ किया।

विम की मुद्राओं पर दो लिपियों में लेख हैं—यूनानी और खरोष्ठी।

तिथि—स्टेन कोनो और मार्शल ने यह मत प्रतिपादित किया था कि ७८ ई० में विम कैड्फिसेस ने एक नया संवत् चलाया था, जो शक संवत् के नाम से प्रख्यात हुआ। परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। विम की मुद्राओं एवं उसके अभिलेखों में कहीं भी इस तिथि से गणना नहीं हुई है। वास्तव में ७८ ई० का शक सम्वत् कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि से प्रारम्भ हुआ। ७८ ई० के पहले विम के शासन का अन्त हो गया होगा। उसके शासन का प्रारम्भ कब हुआ, यह बताना कठिन है।

चीनी ग्रन्थों से प्रकट होता है कि कुजूल ८० वर्ष की आयु में मरा था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसके पुत्र विम का शासन अल्पकालीन होगा। हो सकता है कि कनिष्क के राज्यारोहण से काफी पहले विम की मृत्यु हो गई हो और बीच के काल में किसी अन्य ने शासन किया हो।

सोटर मेगस—कुछ मुद्राओं पर सोटर मेगस का नाम मिलता है। विद्वानों में इस बात पर बड़ा विवाद है कि ये मुद्रायें किस कुषाण-नरेश की हैं। बैंकोफर आदि विद्वान् सोटर मेगस का समीकरण विम कैड्फिसेस के साथ करते हैं, क्योंकि इन मुद्राओं की बनावट और उन पर अंकित उपाधियाँ विम कैड्फिसेस की मुद्राओं की बनावट और उपाधियों से मिलती-जुलती हैं। विम की मुद्राओं की भाँति सोटर मेगस की मुद्रायें भी काबुल घाटी से लेकर उत्तर प्रदेश तक प्राप्त हुई हैं।

परन्तु इस मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सोटर मेगस की मुद्रायें एकमात्र ताँबे की हैं, जब कि विम कैड्फिसेस ने सोने की भी मुद्राओं का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्माण पर्याप्त संख्या में कराया था। यदि सोटर मेगस नाम वाली मुद्राओं को विम ने निर्मित कराया होता तो उन पर 'सोटर मेगस' की उपाधि के साथ-साथ अपना नाम भी अंकित कराता।

कोनो, लोहाइजन आदि विद्वानों के मतानुसार सोटर मेगस विम के अधीन गवर्नर था।[१] 'हाउ-हान-शू' नामक चीनी ग्रन्थ से प्रकट होता है कि विम ने अपने जीते हुए भारतीय प्रदेश पर शासन करने के लिये एक गवर्नर नियुक्त किया था। सम्भवत: उसी गवर्नर ने 'सोटर मेगस' की उपाधि से ये मुद्रायें चलाईं।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सोटर मेगस विम के अधीन गवर्नर अवश्य था, परन्तु उसने अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी होगी और तत्पश्चात् इन मुद्राओं को निर्मित कराया होगा। इन विद्वानों का यह भी कथन है कि १३६ तिथि के तक्षशिला-अभिलेख में जिस 'महरजस रजतिरजस देवपुत्रस कुषनस' का उल्लेख है वह यही सोटर मेगस होगा।

सोटर मेगस को विम का गवर्नर कहा जा सकता है। परन्तु विम के विरुद्ध उसने स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी, इसका कोई प्रमाण नहीं है। यदि सोटर मेगस एक स्वतन्त्र राजा होता तो वह सोने की मुद्राओं का भी निर्माण कराता और अपनी मुद्राओं पर अपना नाम अवश्य अंकित कराता। १३६ तिथि का तक्षशिला-अभिलेख सोटर मेगस का उल्लेख करता है, यह अनुमान भ्रामक है।

कनिष्क प्रथम

मुद्रा-साक्ष्य से प्रकट होता है कि विम कैड्फिसेस के पश्चात् कनिष्क सिंहासन पर बैठा। मार्शल का अनुमान है कि इन दोनों राजाओं के बीच कुछ दशकों का अन्तर था और यह काल कुषाणों के लिये अवनति और अव्यवस्था का काल था। इसी समय में सोटर मेगस आदि कुषाण-गवर्नर सम्भवत: अपने स्वामियों के नाम पर भारत में राज्य करते रहे होंगे।[२]

डा० लोहाइजन का मत है कि विम और कनिष्क प्रथम के बीच अंतरिम काल में जिहोणिक नामक महाक्षत्रप ने भारत में कुषाण-शासन चलाया। उनके अनुसार

---

१. कोनो, कार्पस, भूमिका, पृ० ६६।

२. "Vima's reign may have lasted into the opening years of the second century A. D., after which I surmise that there was an interval of a couple of decades or so before Kanishka succeeded him. During this interval there seems to have been some disintegration of the Kushan power, but it is possible that one or more Viceroys under the name of Soter Megas continued to rule in India on behalf of a Kushan overlord"

—Marshall, Taxila, p. 69 f

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विम भारत में नहीं रहता था और यहाँ उसका शासन-कार्य गवर्नर द्वारा चलाया जाता था।

अन्य विद्वान् विम और कनिष्क के बीच किसी अन्तराल को नहीं मानते और न यह स्वीकार करते हैं कि विम के पश्चात् जिहोणिक या किसी अन्य व्यक्ति ने कुषाण-शासन चलाया। उनके अनुसार ७८ ई० के लगभग विम की मृत्यु के तत्काल पश्चात् कनिष्क राजा हुआ। परन्तु तिथिक्रम को देखते हुए यह ठीक नहीं जान पड़ता कि विम की मृत्यु ७८ ई० में हुई। विम और कनिष्क के बीच अवश्य कुछ अन्तराल रहा। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कनिष्क और विम में क्या सम्बन्ध था। कुछ विद्वानों के अनुसार वह विम का प्रशासक था, जिसने अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। परन्तु इस मत के पक्ष में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। यह भी सम्भव है कि वह विम का वंशज हो। इस मत के पक्ष में मथुरा में एक ही स्थान पर प्राप्त विम और कनिष्क की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। ये दोनों एक ही देवकुल में प्राप्त हुई हैं। इस देवकुल की मरम्मत हुविष्क के समय में कराई गई। अतः अनुमान किया जा सकता है कि विम और हुविष्क एक ही कुल के थे। हुविष्क सम्भवतः कनिष्क का पुत्र था।

स्टेन कोनो कुजुल और विम को तो यूचियों की बड़ी शाखा का मानते हैं, पर कनिष्क को उनकी छोटी शाखा का राजा बताते हैं। परन्तु यह असंगत है, क्योंकि चीनी ग्रन्थ स्पष्ट रूप से कनिष्क को भी यूचियों की बड़ी शाखा का वंशज कहते हैं।

कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि

कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि विवादग्रस्त है। विद्वानों ने इस विषय पर विभिन्न मत प्रकट किये हैं। यहाँ हम इन मतों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मत—सर्वप्रथम कनिंघम महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया था कि कनिष्क ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का राजा था और उसने ५८ ई० पू० के विक्रम सम्वत् की स्थापना की। कालान्तर में फ्लीट और कैनेडी ने भी इस मत को स्वीकार कर लिया।

सिल्वाँ लेवी कनिष्क को ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के अन्त और ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में रखते हैं।

परन्तु इन विद्वानों के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। कनिष्क को ५८ ई० पू० अथवा उसके आस-पास रखने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दोनों कैड्फिसेस ने कनिष्क के बाद शासन किया, परन्तु मार्शल ने तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त सामग्री के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि कनिष्क निश्चित रूप से दोनों कैड्फिसेस के बाद का शासक था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चीनी ग्रन्थों की विवेचना से स्पष्ट प्रकट होता है कि कैड्फिसेस प्रथम ने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में शासन किया था। उसके पश्चात् कैड्फिसेस द्वितीय ने शासन किया। अतः कनिष्क को ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्त में अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी के पहले नहीं रखा जा सकता।

यदि हम कनिष्क की सुवर्ण मुद्राओं का निरीक्षण करें तो विदित होगा कि उन पर रोमन-सम्राट् टाइटस की मुद्राओं का प्रभाव है। इस सम्राट् का शासन-काल ७९ से ८१ ई० तक माना जाता है। अतः कनिष्क को इन्हीं तिथियों के आस-पास रख सकते हैं।

(२) द्वितीय शताब्दी का मत—अनेक विद्वानों ने कनिष्क को द्वितीय शताब्दी के भिन्न-भिन्न कालों में रखा है। कोनो का पहला मत था कि कनिष्क १२५ ई० के पश्चात् सिंहासनासीन हुआ और उसने १२८-९ ई० में कनिष्क-सम्वत् प्रारम्भ किया। बाद में उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि कनिष्क लगभग २०० ई० में गद्दी पर बैठा।

स्मिथ उसे १२० और १६० ई० के बीच में रखते हैं।

मार्शल के मतानुसार कनिष्क का समय १२५ ई० के पश्चात् रखा जा सकता है।

घिर्शमान का विश्वास है कि कनिष्क ने १४४ ई० से शासन प्रारम्भ किया।

इस द्वितीय शताब्दी के मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) चीनी ग्रन्थ हाउ-हान-शू का विवरण २५ ई० से १२५ ई० तक का है। यह ग्रन्थ दोनों कैड्फिसेस का तो उल्लेख करता है, परन्तु कनिष्क का नहीं। इससे प्रकट होता है कि कनिष्क १२५ ई० के पश्चात् हुआ।

परन्तु यह भी सम्भव है कि उक्त चीनी ग्रन्थ में कनिष्क का उल्लेख न होना केवल आकस्मिक हो।

(२) चीनी ग्रन्थों का कथन है कि सेनापति पान-चाओ ने ७३ ई० से १०२ ई० तक पश्चिम के अनेक प्रदेशों को जीत कर उन्हें चीनी साम्राज्य के अधीन कर दिया था। फिर इसी काल में और इसी पश्चिमी प्रदेश में कनिष्क कैसे विजय प्राप्त कर सकता था ? हुएन-सांग के विवरण से प्रकट होता है कि कनिष्क ने मध्य एशिया के कुछ प्रदेश जीते थे और चीनी साम्राज्य के अधीनस्थ एक राज्य को अपने राजकुमार अथवा राजकुमारों को बंधक के रूप में कनिष्क के पास भेजना पड़ा था।

चीनी ग्रन्थों और हुएन-सांग के विवरण के आधार पर अनेक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि एक ही समय में मध्य-एशिया में दो विजेता नहीं हो सकते। अतः कनिष्क की तिथि पान-चाओ की तिथि (१०२ ई०) के पश्चात् ही हो सकती है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु यदि हम दोनों साक्ष्यों पर विचार करें तो उनमें कोई विरोध नहीं दिखाई देता। चीनी ग्रन्थों से प्रकट होता है कि ७३ ई० में पान-चाग्रो ने काशगर के राजा को सिंहासन से उतार कर किसी दूसरे व्यक्ति को राजा बनाया। पदच्युत राजा ने यू-ची राजा से सहायता माँगी। सम्भवतः यह यू-ची राजा विम कैड्फिसेस था। ऐसा प्रतीत होता है कि पान-चाग्रो ने यू-ची नरेश के पास उपहारादि भेज कर उसे ग्रपने पक्ष में रखा।

७३ ई० से लेकर ९० ई० तक मध्य एशिया पर पान-चाग्रो का ही बोलबाला रहा। इस बीच कनिष्क ने उस प्रदेश में कोई हस्तक्षेप न किया।

परन्तु चीनी ग्रन्थों से प्रकट होता है कि ९० ई० के लगभग यू-ची नरेश ग्रौर पान-चाग्रो के सम्बन्ध बिगड़ गये। उस समय कनिष्क ने मध्य एशिया पर ग्रपना विस्तार करना चाहा। चीनी सम्राट् के साथ ग्रपनी समता घोषित करते हुए कनिष्क ने ग्रपने राजदूत द्वारा यह प्रस्ताव भेजा कि वह चीनी राजकुमारी के साथ विवाह करना चाहता है। पान-चाग्रो ने इसे ग्रपमानजनक समझा। ग्रतः उसने कनिष्क के राजदूत को सम्राट् के पास न जाने दिया ग्रौर उसे बीच से ही वापस कर दिया। इस पर कनिष्क ने ७०,००० ग्रश्वारोहियों के साथ ग्रपने सेनापति को चीन पर ग्राक्रमण के लिये भेजा। परन्तु दुरूह मार्ग को पार करने में सैन्य-शक्ति क्षीण हो गई। सुंग-लिंग (Tsung-ling) पर्वत को पार करके कनिष्क की सेना जब खोतन पहुँची तब पान-चाग्रो ने उसे बुरी तरह पराजित किया। चीनी ग्रन्थों के ग्रनुसार कनिष्क को यह स्वीकार करना पड़ा कि वह प्रति वर्ष चीनी सम्राट् को कर देगा।

इस चीनी विवरण से स्पष्ट होता है कि कनिष्क की उक्त पराजय ९० ई० के लगभग हुई।

कनिष्क की इस हार का उल्लेख भारतीय ग्रनुश्रुति में भी मिलता है। इसके ग्रनुसार कनिष्क कहता था कि उसने तीनों दिशाग्रों को ग्रपने ग्रधीन कर लिया, परन्तु उत्तर उसके ग्रधीन नही हो सका।

परन्तु मध्य एशिया में चीनी प्रभुता ग्रधिक समय तक न रह सकी। ९० ई० के कुछ समय पश्चात् ही कनिष्क ने मध्य एशिया पर पुनः ग्राक्रमण किया। हुएन-सांग के विवरण से प्रकट होता है कि इस बार कनिष्क की विजय हुई। उसने मध्य एशिया के किसी चीनी राज्य को बन्धक के रूप में ग्रपना राजकुमार भेजने के लिये विवश किया। चीनी ग्रन्थों ने कनिष्क के इस द्वितीय ग्राक्रमण ग्रौर उसकी सफलता का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि कनिष्क की यह विजय सम्भवतः ग्रल्पकालीन थी। कुछ समय पश्चात् मध्य एशिया का जीता हुग्रा प्रदेश कदाचित् कनिष्क के हाथ से निकल गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार हम देखते हैं कि कनिष्क को पान-चाओ (७३–१०२ ई०) का समकालीन मानने में कठिनाई नहीं है।

(३) तिब्बती ग्रन्थों से प्रकट होता है कि कनिष्क १२० ई० के लगभग शासन कर रहा था। अतः वह द्वितीय शताब्दी का राजा हुआ।

परन्तु तिब्बती ग्रन्थों के कनिष्क को सम्राट् कनिष्क प्रथम नहीं, कनिष्क द्वितीय माना जाता है। ११९ ई० के आरा अभिलेख में इसे वजेष्क (वासिष्क ?) का पुत्र कहा गया है।

(४) यदि कनिष्क ने ही ७८ ई० का सम्वत् चलाया था तो वह 'शक-सम्वत्' क्यों कहलाया, कुषाण-सम्वत् क्यों नहीं ?

उक्त कथन में विशेष बल नहीं है। कुषाणों और शकों के प्रदेश वस्तुतः एक ही थे। कुषाणों को भी मूलतः सिथियन या शक माना जाता है। भारतीय साहित्य और अभिलेखों में उनके लिए 'शक', 'शाहि', 'शाहानुशाहि' आदि नामों का प्रयोग मिलता है। दोनों में रक्त-सम्बन्ध था। शकों की अनेक शाखाओं ने ७८ ई० के कनिष्क-सम्वत् का प्रयोग किया। इन सब बातों के आधार पर प्राचीन भारत में कनिष्क द्वारा प्रारम्भ सम्वत् शक-सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(५) चीनी ग्रन्थों का कथन है कि यू-ची नरेश पो-टिआओ (Po-tiao) ने २३० ई० में चीन में अपना एक राजदूत भेजा। पो-टिआओ कुषाण-नरेश वासुदेव प्रथम था, जिसकी तिथियाँ शक संवत् ६७ से ९८ तक मिलती हैं। यदि वासुदेव प्रथम ने अपना दूत अपने राज्य के अन्तिम दिनों में भेजा तो इस घटना की तिथि कनिष्क से लगभग १०० वर्ष बाद ठहरती है। इस प्रकार कनिष्क प्रथम का समय १३० ई० (२३०–१००) हुआ।

परन्तु यह धारणा भ्रांत है। जैसा लोहाइजन[1] आदि विद्वानों की मान्यता है, पो-टिआओ का समकालीन कुषाण राजा द्वितीय (कनिष्क तृतीय का उत्तराधिकारी) था, न कि वासुदेव प्रथम।

(६) वी-लिओ (Wei-lio) नामक चीनी ग्रन्थ में २३९ ई० तक का इतिहास मिलता है। इस ग्रन्थ से प्रकट होता है कि २३९ ई० तक यू-ची नरेशों के अधीन किपिन (हिन्दूकुश के दक्षिणी कुछ जिले), ताहिया (बैक्ट्रिया), काओ-फू (काबुल) और तिएन-चाउ (भारत—सम्भवतः पंजाब) के प्रदेश थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि २३९ ई० के लगभग भी यू-ची वंश शक्तिशाली था। अतः उसका प्रभुत्व लगभग १०० वर्ष पूर्व अर्थात् १३९ ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ।

यह तर्क युक्तिसंगत नहीं। हम जानते हैं कि वासुदेव प्रथम की मृत्यु (लगभग १८० ई०) के पश्चात् कुषाणों का अवनति-काल प्रारम्भ होता है। उत्तरी भारत पर

१—लोहाइजन, दि सिथियन पीरियड, पृ० ३१८–१९।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके आधिपत्य की समाप्ति हो गई। परन्तु इस अवनति-काल में भी अनेक कुषाण नरेशों के हाथ में पंजाब और अफगानिस्तान के कुछ प्रदेश रहे। उक्त चीनी ग्रन्थ में दिये गये विवरण के आधार पर यह न समझना चाहिए कि २३९ ई० का समय कुषाणों का समृद्धिकाल था और वह वासुदेव प्रथम का शासन-काल था। वास्तव में यह राज्य-विस्तार वासुदेव प्रथम के लगभग ६० वर्ष पश्चात् का है।

द्वितीय शताब्दी के मत के विरोध में एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

यदि कनिष्क को १२५ ई० के आस-पास का शासक मान लें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस तिथि के लगभग कनिष्क का सिन्धु-सौवीर (आधुनिक सिन्ध प्रांत) पर अधिकार था। परन्तु जूनागढ़ अभिलेख से प्रकट होता है कि इसी काल में सिन्धु-सौवीर पर शक रुद्रदामा प्रथम का आधिपत्य था।

(३) तीसरी शताब्दी का मत—रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार कनिष्क २४८ ई० में सिंहासन पर बैठा और उसने उसी वर्ष से प्रारम्भ होने वाले त्रैकूटक-कलचुरि-चेदि सम्वत् की स्थापना की।

आर० जी० भण्डारकर का मत था कि कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि २८७ ई० है।

परन्तु तीसरी शताब्दी के इन मतों को ठीक नहीं माना जा सकता—

तिब्बती साक्ष्य से प्रकट होता है कि कनिष्क खोतन के राजा विजयकीर्ति का समकालीन था। विजयकीर्ति ने १२० ई० के लगभग शासन किया, अतः उसका समकालीन कनिष्क तीसरी शताब्दी में कैसे हो सकता है?

चीनी साक्ष्य से प्रकट होता है कि आन-शीह-काओ (१४८-१७० ई०) ने संघरक्ष-कृत 'मार्ग भूमि सूत्र' का अनुवाद किया था। संघरक्ष कनिष्क का समकालीन था। अतः कनिष्क भी १७० ई० के पूर्व ही हुआ होगा।

हम जानते हैं कि वासुदेव प्रथम के शासन का अन्त कनिष्क के लगभग १०० वर्ष पश्चात् हुआ। अभिलेखों से प्रकट होता है कि मथुरा वासुदेव के अधीन था। अब यदि हम यह स्वीकार कर लें कि कनिष्क तीसरी शताब्दी में सिंहासासीन हुआ था तो यह भी मानना पड़ेगा कि चौथी शताब्दी में वासुदेव मथुरा का राजा था। परन्तु ऐसा नहीं है। ३५० ई० के लगभग हम वहाँ कुषाण-शासन का कोई प्रमाण नहीं पाते।

प्रथम शताब्दी का मत—वैडेल, फोगल, स्टाइन, रैप्सन, टामस, रायचौधरी, आर० डी० बनर्जी, अल्तेकर, लोहाइजन आदि विद्वानों ने कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि को प्रथम शताब्दी (अधिकांशतः ७८ ई०) में रखा है। यही मत सबसे अधिक मान्य प्रतीत होता है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) प्राचीन शक संवत् के पूर्वोक्त लेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि कनिष्क ने ७८ ई० के लगभग राज्य प्रारंभ किया।

(२) तक्षशिला में की गई खुदाई के आधार पर मार्शल ने यह सिद्ध कर दिया है कि कनिष्क दोनों कैड्फिसेस के पश्चात् ही राजा हुआ उनके पूर्व नहीं।

(३) चीनी साहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कनिष्क ७८ ई० के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ।

कुषाण-नरेशों के शासन की तिथियाँ शक-संवत् के वर्षों में निम्नलिखित रूप में अभिलेखों से प्राप्त हुई हैं—

कनिष्क	— १ से २३ तक
वासिष्क	—२४ से २८ तक
हुविष्क	—२८ से ६० तक
वासुदेव प्रथम	—६४ से ९८ तक

इन तिथियों को देखने से प्रकट होता है कि ये उसी संवत् की तिथियाँ हैं जिसे कनिष्क ने ७८ ई० में प्रारम्भ किया था।

कनिष्क के प्रमुख युद्ध

पार्थिया—कुषाण-साम्राज्य की सीमा पश्चिम में पार्थिया-साम्राज्य से टकराती थी। एरिआना-प्रदेश, जो किसी समय पार्थिया के अधीन था, अब कुषाणों के हाथ में था। बैक्ट्रिया-प्रदेश के स्वामी होने के कारण कुषाण-शासक मध्य एशिया के व्यापारिक मार्गों पर नियन्त्रण रख सकते थे। उनके इस राजनीतिक और व्यापारिक प्रभुत्व से पार्थिया के शक्ति-प्रसार में बाधा पड़ रही थी। अतः पह्लवों तथा कुषाणों में शत्रुता का बढ़ना स्वाभाविक था। चीनी साक्ष्य से प्रकट होता है कि 'नान-सी' के राजा ने देवपुत्र कनिष्क पर आक्रमण किया, परन्तु कनिष्क ने उसे बुरी तरह पराजित किया। यहाँ 'नान-सी' का अभिप्राय पार्थिया से है। उस समय पार्थिया की शक्ति ह्रास पर थी। कुषाणों की बढ़ती हुई शक्ति से उसे और भी धक्का लगा।

चीन—कनिष्क के समय चीन एक शक्तिशाली देश था। वहाँ साम्राज्यवादी हान-वंश का राज्य था। उसके सेनापति पान-चाओ ने ७३ और ९४ ई० के बीच मध्य एशिया में चीनी साम्राज्य का विस्तार किया। उसने खोतन के राजवंश को चीनी सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया और काशगर के पुराने राजा को सिंहासन से हटाकर एक नवीन व्यक्ति को राजा बनाया। उसने कुचा, काराशहर आदि प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार चीनी तुर्किस्तान उसके साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चीनी तुर्किस्तान की सीमा काश्मीर से मिली हुई थी और काश्मीर कुषाणों के अधीन था। अतः उत्तर-पश्चिम में चीनी विस्तार ने कुषाण साम्राज्य के लिये एक खतरा उत्पन्न कर दिया। इस खतरे को दूर करने के लिये कुषाणों ने भी चीनी तुर्किस्तान में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा। चीनी साक्ष्यों से प्रकट होता है कि ७३ ई० में जब पान-चाओ ने काशगर के पुराने राजा को पदच्युत करके उसके स्थान पर अपने पक्षपाती को वहाँ का राजा बनाया तो उस पदच्युत राजा ने यू-ची नरेश से सहायता माँगी। परन्तु पान-चाओ ने यू-ची नरेश को उपहारादि देकर अपनी ओर मिलाये रखा।

कनिष्क ने सिंहासन पर बैठते ही उत्तर-पश्चिम के चीनी खतरे की ओर ध्यान दिया। चीनी ग्रन्थों का कथन है कि कनिष्क ने चीनी राजकुमारी के साथ विवाह करने की माँग की। उसके प्रस्ताव को लेकर जब उसका राजदूत चीनी सम्राट् के पास जा रहा था तो उसे पान-चाओ ने मार्ग में ही रोक दिया, क्योंकि उसने कनिष्क के प्रस्ताव को अपमानजनक समझा। कनिष्क के राजदूत को वापस जाना पड़ा। पान-चाओ के इस कार्य से कनिष्क बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने ७० हजार घुड़सवारों के साथ अपने सेनापति को चीन पर आक्रमण करने के लिये भेजा। परन्तु इस सेना को दुरूह मार्ग की कठिनाइयों से भारी क्षति हुई। जब वह सुंग-लिङ्ग पर्वत पार करके खोतन-प्रदेश में प्रविष्ट हुई तो पान चाओ ने उसे पूर्णतया परास्त कर दिया। चीनी ग्रन्थों का कथन है कि पराजित कनिष्क ने चीनी सम्राट् हो-ती को प्रति वर्ष कर देना स्वीकार किया।

कनिष्क की पराजय का यह उल्लेख एक जनश्रुति में भी हुआ है। इसके अनुसार कनिष्क कहता है कि 'मैंने तीनों दिशाओं को अधीन कर लिया है। समस्त मनुष्यों ने मेरी शरण ली है। केवल उत्तर ने आत्म-समर्पण नहीं किया है।'[1]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महत्वाकांक्षी कनिष्क अधिक समय तक शान्त न बैठ सका। कुछ वर्षों के पश्चात् उसने चीनी तुर्किस्तान पर पुनः आक्रमण किया और इस बार उसे सफलता मिली। इस विषय पर हुएन-सांग के विवरण से प्रकाश पड़ता है। इस विवरण से पता चलता है कि गन्धार-नरेश कनिष्क ने आस-पास के सभी पड़ोसी प्रदेशों को जीत लिया था। उसका साम्राज्य सुंग-लिङ्ग पर्वत के पूर्व में भी था। पीली नदी के पश्चिम के प्रदेश में रहने वाली जातियों ने उसकी शक्ति से भयभीत होकर उसके पास राजकुमारों को बंधक रूप में भेजा। कनिष्क ने उन बंधकों के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया और उनके रहने के लिये ग्रीष्म और शीत ऋतु के अनुकूल अलग-अलग निवास-स्थान बनवाये।

---

१. 'I have subjugated three regions, all men have taken refuge with me, the region of the north alone has not come to make its submission' —Legends of Kaniska's Death

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहाँ सुंग-लिङ्ग पर्वत के पूर्व के प्रदेश का अभिप्राय चीनी तुर्किस्तान से है। इसी में यारकन्द, खोतन और काशगर के प्रदेश थे। हुएन-साग के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अपनी प्रथम पराजय के पश्चात् कनिष्क ने चीनी तुर्किस्तान पर द्वितीय आक्रमण किया और यारकन्द, खोतन और काशगर पर अधिकार स्थापित कर लिया।

परन्तु हुएन-सांग के विवरण के अतिरिक्त किसी भी अन्य चीनी ग्रन्थ में कनिष्क के इस द्वितीय एवं सफल आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता है। इस आधार पर टामस महोदय चीन के विरुद्ध कुषाण-नरेश की विजय पर विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि सम्भवतः जो बन्धक कुषाण-नरेश के पास आये थे वे पराजित चीनी सम्राट् अथवा चीन के किसी अधीनस्थ राज्य के राजकुमार न थे। वे तारिम-प्रदेश के राजा थे, जो चीनी साम्राज्य की विस्तारकारिणी नीति से भयभीत होकर स्वेच्छापूर्वक कुषाण-नरेश की शरण में आये थे।

मध्य एशिया—कनिष्क ने, कम से कम कुछ समय के लिये, मध्य एशिया के यारकन्द, खोतन और काशगर प्रदेशों को चीनी साम्राज्य से छीन लिया।

बैक्ट्रिया—बैक्ट्रिया का राज्य कनिष्क के अधिकार में था। इसे उसने अपने पूर्वजों से प्राप्त किया था। एक खोतनी पाण्डुलिपि से प्रकट होता है कि 'चन्द्र कनिष्क' बहलक (बैक्ट्रिया) का भी राजा था।

रोम-साम्राज्य—इस समय रोम-साम्राज्य उन्नति पर था। यह साम्राज्य पार्थिया का विरोधी था। कनिष्क ने पार्थिया के विरुद्ध रोम-साम्राज्य के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। कुषाण शासन-काल में रोम-साम्राज्य और भारत के बीच प्रणिधि-वर्ग का आदान-प्रदान होता रहा।

कनिष्क का साम्राज्य

कनिष्क एक महान् विजेता एवं साम्राज्यवादी था। उसने कुषाणों के एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जो तत्कालीन अन्य तीन साम्राज्यों—पार्थिया, चीन और रोम की महत्ता को चुनौती देने लगा।

अफगानिस्तान—अफगानिस्तान का एक बड़ा भाग कनिष्क के अधिकार में था। हुविष्क का एक अभिलेख वार्दक (काबुल) में मिला है। सम्भवतः इस प्रदेश को हुविष्क ने स्वयं नहीं जीता, बल्कि उत्तराधिकार रूप में उसे कनिष्क से प्राप्त किया।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त—अभिलेखों से प्रकट होता है कि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त भी कनिष्क के अधीन था। इस प्रदेश का प्रमुख नगर पुरुषपुर (पेशावर) कनिष्क की राजधानी था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गन्धार और काश्मीर—हुएनसांग के विवरण, राजतरंगिणी तथा चीनी ग्रन्थों से पता चलता है कि गन्धार और काश्मीर कनिष्क के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इन प्रदेशों में उसके सिक्के तथा तत्कालीन कला-कृतियों के अवशेष मिले हैं।

पंजाब और सिन्ध—पंजाब और सिन्ध का उत्तरी प्रदेश कनिष्क के अधिकार में था। सुइ विहार स्थान में प्राप्त अभिलेख से सिन्ध के उत्तरी भाग पर कनिष्क का अधिकार सिद्ध होता है।

उत्तर प्रदेश—तिब्बती ग्रन्थों का कथन है कि कनिष्क ने भारत पर आक्रमण किया था और 'सोकेद' के राजा को पराजित किया था। प्रायः 'सोकेद' से साकेत (अयोध्या) समझा जाता है। पर सम्भव है कि यह साकल अथवा सुकेत का परिचायक हो जो पंजाब में हैं।

कौशाम्बी, सारनाथ और श्रावस्ती से कनिष्क के समय के अभिलेख तथा मूर्तियों की प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले तथा अन्य स्थानों से कनिष्क की बहुसंख्यक मुद्रायें मिली हैं।

इनके आधार पर विद्वानों की प्रायः यह मान्यता है कि मथुरा के अतिरिक्त पूर्वी उत्तर प्रदेश भी कनिष्क के साम्राज्य में सम्मिलित था। परन्तु यह मत ठीक नहीं। मथुरा कला की जो बुद्ध प्रतिमाएँ कौशाम्बी, सारनाथ, श्रावस्ती आदि स्थानों में मिली हैं वे मथुरा से वहाँ भेजी गई थीं। सिक्कों की प्राप्ति से पूर्वी उत्तर प्रदेश पर कनिष्क का अधिकार नहीं सिद्ध होता।

यहाँ ईस्वी दूसरी शती के प्रसिद्ध लेखक टॉलमी का विवरण भी विचारणीय है। उसके अनुसार कैस्पीरैआॅइ (Kaspeiraioi) या कुषाणों का शासन पूर्वी पंजाब से मथुरा तक फैला हुआ था तथा इस राज्य के पश्चिम का भू-भाग अनेक छोटे राज्यों में विभक्त था।

टॉलमी का यह विवरण ई० १३० और १४० के बीच में लिखा गया। हो सकता है कि इसका स्रोत कनिष्ककालीन लेखक रहे हों।

पूर्वी भारत—'कल्पनामण्डिटीका' नामक ग्रन्थ के चीनी अनुवाद से प्रकट होता है कि कनिष्क ने 'तुंग-तिएन-चाउ' (पूर्वी भारत) की विजय की थी। परन्तु यह विवादास्पद है कि इस शब्द से पूर्वी भारत का कौन-सा भाग अभिप्रेत है।

'धर्मपिटक सम्प्रदायनिदान सूत्र' से प्रकट होता है कि देवपुत्र ने होआ-चू (पाटलिपुत्र) पर आक्रमण किया था। पराजित पाटलिपुत्र-नरेश से कनिष्क ने ९ लाख स्वर्ण-मुद्रायें मांगीं। इस धन-राशि के स्थान पर उस राजा ने कनिष्क को महात्मा बुद्ध का प्राचीन भिक्षा-पात्र आदि समर्पित किया। बिहार प्रांत के कुछ भागों से कनिष्क की मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं। परन्तु इन बातों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि बिहार कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बंगाल के मिदनापुर जिले में तमलुक नामक स्थान पर कनिष्क की एक ताम्र-मुद्रा मिली थी। उसके वंशज वासुदेव प्रथम की भी कुछ मुद्रायें बंगाल में मिली हैं। इन आधारों पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बंगाल भी कनिष्क के अधीन था। परन्तु एकमात्र ५–६ मुद्राओं के आधार पर निकाला गया यह निष्कर्ष भ्रामक है।

एक खोतनी पाण्डुलिपि में कनिष्क का नाम 'चन्द्र कनिष्क' मिलता है। इस आधार पर डा० मजूमदार ने यह मत प्रतिपादित किया है कि मेहरौली स्तम्भ-लेख का 'श्रीचन्द्र' कनिष्क ही था और उसने बंगाल से लेकर वाह्लीक-प्रदेश तक की दिग्विजय की थी।

परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मेहरौली स्तम्भ-लेख की लिपि कनिष्क-कालीन लिपि के बहुत बाद की है। इसके अतिरिक्त कनिष्क बौद्ध था, जब कि मेहरौली स्तम्भ-लेख का चन्द्र वैष्णव था।

उड़ीसा – राखालदास बनर्जी के अनुसार उड़ीसा के कुछ ग्रन्थों में किसी प्राचीन आक्रमण का उल्लेख है। उनका अनुमान है कि यह आक्रमण कुषाणों का हो सकता है। उड़ीसा में कुछ कुषाण-मुद्रायें भी मिली हैं।

परन्तु ये दोनों साक्ष्य निर्बल हैं। उड़ीसा के ये ग्रन्थ बहुत बाद के हैं; इनका संकलन मुगल-काल में हुआ। अतः कुषाणकालीन घटनाओं के लिये ये विश्वसनीय नहीं हो सकते। जहाँ तक मुद्राओं का प्रश्न है, वे व्यापारियों या यात्रियों द्वारा उड़ीसा में पहुँची होंगी।

मध्य प्रदेश — साँची (पूर्वी मालवा) से मथुरा-कला की कुछ बौद्ध मूर्तियाँ कुषाण राजाओं के नामांकित लेखों सहित मिली हैं। कनिष्क तथा उसके कई उत्तराधिकारियों की मुद्रायें बिलासपुर एवं कुछ अन्य स्थानों पर मिली हैं। परन्तु इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वी मालवा या छत्तीसगढ़ कुषाणों के अधिकार में रहा। साँची एक प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र था। कौशाम्बी, सारनाथ, श्रावस्ती आदि स्थानों की तरह साँची में भी मथुरा की कुछ मूर्तियाँ भेजी गई होंगी।

पश्चिमी भारत—रैप्सन आदि कुछ विद्वानों के मतानुसार पश्चिमी भारत का क्षहरात-वंश कुषाणों के अधीन था, और उसके क्षहरात भूमक तथा नहपान कुषाणों के सामन्तों के रूप में गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना और महाराष्ट्र पर शासन करते थे।

क्षहरात-वंश के पश्चात् पश्चिमी भारत में कार्दमक-वंश का उदय हुआ। कुछ विद्वान् इस वंश को भी कुषाणों के अधीन बताते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रश्न पर हम पहले विचार कर चुके हैं। पश्चिमी भारत के इन दोनों वंशों—क्षहरात और कार्दमक—को निश्चित रूप से कुषाणों के अधीन सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

लेवी महोदय ने 'पेरीप्लस' में उल्लिखित 'सैण्डनीज' का समीकरण चन्द्र अथवा चन्द्रकनिष्क के साथ किया है और इस आधार पर पश्चिमी भारत तथा दक्षिणापथ के उत्तर-पश्चिमी कुछ भाग को कनिष्क के अधीन बताया है। परन्तु यह मत भ्रान्त है। इस भूभाग पर कुषाणों का कभी अधिकार नहीं रहा।

निष्कर्ष—उपलब्ध साक्ष्यों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कनिष्क का राज्य मध्य एशिया से मथुरा प्रदेश तक विस्तृत था। मथुरा के पूर्व या दक्षिण में कनिष्क ने साम्राज्यवृद्धि के लिए प्रयत्न किया होगा। परन्तु उसका या उसके उत्तराधिकारियों का मथुरा के आगे कभी स्थायी अधिकार रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

कनिष्क के इस विशाल साम्राज्य की कई राजधानियाँ थीं। उत्तर-पश्चिम में पुरुषपुर (पेशावर) तथा पूर्व में मथुरा दो प्रमुख राजनीतिक केन्द्र थे।

कुछ विद्वानों का यह अनुमान कि तत्कालीन भारत के अनेक राजवंश—यथा, कौशाम्बी, अयोध्या आदि—कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत सामन्त-राजवंशों के रूप में थे, ठीक नहीं कहा जा सकता। कौशाम्बी के मित्र एवं मघ शासकों के अनेक अभिलेख मिले हैं। परन्तु कहीं भी इस बात का आभास नहीं मिलता कि कौशाम्बी का कोई स्वतन्त्र शासक कुषाणों की अधीनता में रहा हो। यही बात अन्य स्वतन्त्र राज्यों के विषय में कही जा सकती है।

खरपल्लान तथा वनस्पर—कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष के सारनाथ-अभिलेख में महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्पर के नाम मिलते हैं। सम्भवतः ये मथुरा के शोडास-वंशीय शक थे और कनिष्क की ओर से मथुरा प्रदेश के प्रशासक थे।

वासिष्क (१०२—१०६ ई०)—कनिष्क के बाद वासिष्क कुषाण-साम्राज्य का अधिकारी हुआ। इसके समय के दो लेख क्रमशः चौबीसवें और अट्ठाइसवें शक-वर्ष के मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इसने १०२ से १०६ ई० तक राज्य किया। पहला लेख मथुरा नगर के सामने यमुना पार ईसापुर नामक गाँव से मिला है, जिसमें मथुरा के कुछ ब्राह्मणों द्वारा द्वादशरात्र नामक वैदिक यज्ञ करने का उल्लेख है। आरा से प्राप्त एक दूसरे लेख में कनिष्क द्वितीय के पिता वाझेष्क (वासिष्क) का नाम आया है। वासिष्क के कोई सिक्के नहीं मिले हैं। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में जुष्कपुर नामक नगर बसाने वाले राजा जुष्क का नाम मिलता है। यह नाम वासिष्क का द्योतक है। इस ग्रन्थ में कनिष्क और हुविष्क का भी उल्लेख है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुविष्क (१०६-१३८ ई०)—यह सम्भवत: वासिष्क का छोटा भाई था और उसके बाद कुषाण साम्राज्य का शासक हुआ। उसके राज्य-काल के लेख २८ वें वर्ष से लेकर ६० वें वर्ष तक के मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि हुविष्क ने १०६ से लेकर १३८ ई० तक शासन किया। इसके सिक्कों तथा लेखों के प्राप्ति-स्थानों से पता चलता है कि पश्चिम में कम से कम काबुल से लेकर पूर्व में मथुरा तक हुविष्क का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि वासिष्क के पुत्र कनिष्क द्वितीय के समय कुछ वर्षों के लिए हुविष्क का अधिकार उत्तर-पश्चिमी साम्राज्य पर न रहा हो। परन्तु कनिष्क द्वितीय की मृत्यु के तुरंत बाद वह सारे साम्राज्य का पुन: अधिकारी हुआ।

कनिष्क की तरह यह राजा भी बौद्ध धर्म का संरक्षक था। मथुरा में इसके द्वारा एक विशाल बौद्ध विहार की स्थापना की गई, जिसका नाम 'हुविष्क विहार' था। अन्य कई स्तूप और विहार इसके राज्य-काल में मथुरा में बनाये गये। बौद्ध मूर्तियों का निर्माण भी बहुत बड़ी संख्या में हुआ। मथुरा से प्राप्त एक लेख से पता चलता है कि हुविष्क के पितामह के समय में निर्मित मथुरा के देवकुल की दशा खराब होने पर उसकी मरम्मत हुविष्क के शासन-काल में की गई।

मथुरा नगर के समीप माँट के देवकुल से विम और कनिष्क प्रथम की पाषाण-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा नगर के उत्तर में यमुना-तट पर 'गोकर्णेश्वर महादेव' कही जाने वाली मूर्ति वास्तव में शिव की नहीं है। इस विशाल मूर्ति की बनावट तथा उसकी वेशभूषा से स्पष्ट है कि वह किसी कुषाण राजा की मूर्ति है। इस मूर्ति का सिर भी सुरक्षित है जिस पर ऊँची नोकदार टोपी है। बहुत संभव है कि यह हुविष्क की ही प्रतिमा हो। मथुरा और उसके आस-पास से अन्य अनेक शक-कुषाण राजा-रानियों की प्रतिमाएं मिली हैं। १९६१ में मथुरा जिला से सिंहासन पर बैठी हुई कुषाण-राजा की एक नई प्रतिमा मिली है।

हुविष्क के सोने के और ताँबे के सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं। इन पर एक ओर राजा की मूर्ति तथा दूसरी ओर कनिष्क के सिक्कों की तरह हिन्दू, यूनानी, सुमेरी, ईरानी आदि देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। कनिष्क के सिक्कों की अपेक्षा हुविष्क के सिक्के अधिक भाँति के मिले हैं। इन दोनों के सिक्कों पर राजा की उपाधि, नाम तथा देवता के नाम यूनानी लिपि में लिखे मिलते हैं। कुछ देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—अरडोक्षो, नना, महासेनो, मनाओ, वैगो, माओ, ओएशो, फैरो आदि।

कनिष्क द्वितीय—आरा से प्राप्त सं० ४१ (११९ ई०) के लेख तथा कल्हण-कृत 'राजतरंगिणी' से ज्ञात होता है कि हुविष्क का समकालीन कनिष्क द्वितीय था। विद्वानों के अनुसार यह कनिष्क प्रथम का पौत्र तथा वासिष्क का लड़का था। उसकी उपाधियाँ 'महाराज, राजातिराज, देवपुत्र, कैसर' मिलती हैं। संभवत: हुविष्क के जीवन-काल में कनिष्क द्वितीय काश्मीर और उसके आस-पास के प्रदेश का शासक था। 'राजतरंगिणी' में उल्लिखित काश्मीर में कनिष्कपुर नामक नगर की स्थापना करने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाला शायद यही राजा था। हो सकता है कि वासिष्क के बाद भारत में कुषाण साम्राज्य के दो भाग हो गए हों—पश्चिम वाले का शासक कनिष्क द्वितीय तथा पूर्वी भाग का हुविष्क हुआ हो।

कनिष्क द्वितीय के सिक्के भी मिले हैं, जिन पर सामने की ओर वेदी के पास खड़े हुए राजा की तथा उलटी ओर प्राय: नंदी सहित शिव की प्रतिमा मिलती है। यूनानी लेख के साथ इन सिक्कों पर ब्राह्मी अक्षर भी मिलते हैं।

वासुदेव प्रथम (१४२–१७६ ई०)—हुविष्क के बाद वासुदेव प्रथम शासक हुआ। उसके समय के लेख प्राय: मथुरा और उसके निकट से ही प्राप्त हुए हैं, जिससे अनुमान होता है कि वासुदेव के शासन-काल में कुषाण साम्राज्य का विस्तार बहुत कम हो गया।

वासुदेव के सिक्कों पर पीछे की ओर नंदी बैल सहित शिव की मूर्त्ति मिलती है। इससे इस शासक का झुकाव शैव धर्म की ओर प्रकट होता है। अपने पूर्ववर्ती शासकों, विम तथा कनिष्क द्वितीय, की तरह वासुदेव भी बौद्ध धर्म के स्थान पर शैव मत का पोषक ज्ञात होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वासुदेव को साहित्य से भी रुचि थी। राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' में वासुदेव नामक राजा का उल्लेख किया है और लिखा है कि सातवाहन राजा शूद्रक, साहसांक आदि शासकों की तरह कवियों का आश्रयदाता और 'सभापति' था। वासुदेव के लंबे राज्य-काल में हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ।

वासुदेव के राज्य-काल का अंतिम लेख ९८ वें वर्ष का मिला है, जिससे अनुमान होता है कि इसी समय (१७६ ई०) के लगभग उसका देहांत हो गया होगा। वासुदेव अंतिम प्रसिद्ध कुषाण-शासक था। उसके बाद मध्यदेश तथा पूर्वी पंजाब से कुषाण-शासन की समाप्ति हो गई। कुषाणों को परास्त कर उन्हें उत्तर-पश्चिम की ओर भगाने में जिन भारतीय शक्तियों का हाथ था उनकी चर्चा आगे की जाएगी। कनिष्क तृतीय वासुदेव द्वितीय आदि कई कुषाण राजाओं के नाम मुख्यतया उत्तर-पश्चिम भारत से प्राप्त सिक्कों तथा लेखों द्वारा ज्ञात हुए हैं। काश्मीर और गंधार पर संभवत: कनिष्क-वंशी कुषाण शासकों का राज्य तीसरी-चौथी शती में भी जारी रहा। समुद्रगुप्त के प्रयाग-लेख से ज्ञात होता है कि इन पिछले कुषाण-शासकों की उपाधियाँ 'देवपुत्र शाही शाहानुशाही' थीं और उनका प्रभुत्व भारत के पश्चिमोत्तर में काश्मीर तथा गंधार पर था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ११

शक-कुषाणकालीन संस्कृति-सभ्यता

धर्म तथा दर्शन

हिन्दू-यूनानी, शक, पह्लव तथा कुषाण वंश के अनेक शासकों का बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण था। इसका पता अभिलेखों, मुद्राओं, मूर्तियों तथा कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों से चलता है। शासक-वर्ग के अतिरिक्त जनसाधारण विदेशी भी बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए थे। बौद्ध धर्म के लिए दान देने वालों में इस कोटि के अनेक विदेशियों के नाम अभिलेखों आदि में प्राप्त हुए हैं।

कुषाण-सम्राट् कनिष्क बौद्ध धर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ था। अनुश्रुतियों के अनुसार कनिष्क पाटलिपुत्र में अश्वघोष नामक बौद्ध विद्वान् के सम्पर्क में आया और उसे वह अपने साथ अपनी राजधानी ले गया। कहते हैं कि अश्वघोष के प्रभाव से ही कनिष्क की रुचि बौद्ध धर्म की ओर बढ़ी और बाद में उसने इस धर्म को ग्रहण कर लिया।

देशी और विदेशी बौद्ध साहित्य में कनिष्क के बौद्ध होने की बात मिलती है। कुछ ग्रन्थों में मिलता है कि बौद्ध होने के पूर्व कनिष्क बड़ा निर्दयी और अत्याचारी था। इस प्रकार की कहानियाँ अशोक के विषय में भी मिलती हैं। ये पूर्णरूप से विश्वसनीय नहीं हैं। इनका विशेष प्रयोजन बौद्ध धर्म के आश्चर्यजनक प्रभाव को दिखाना है, जिसकी छत्रछाया में आने पर दुष्ट एवं नृशंस व्यक्ति भी सदाचारी बन गये थे।

परवर्ती लेखकों फाह्यान, हुएन-सांग, तारानाथ, कल्हण आदि के विवरणों में कनिष्क के बौद्ध होने एवं उसके द्वारा धर्म-प्रचार का उल्लेख है। उसके बनवाये हुए अनेक बौद्ध स्तूप और विहार तथा बहुसंख्यक बौद्ध मूर्तियाँ भी इस ओर इंगित करती हैं। वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन आदि विद्वानों के साथ उसका विशेष सम्बन्ध भी उसे बौद्ध धर्मानुयायी प्रकट करता है।

इस विषय में कनिष्क की मुद्रायें भी उल्लेखनीय हैं। कुछ स्वर्णमुद्राओं पर भगवान् बुद्ध का नाम तथा उनकी आकृत्ति का आलेखन मिलता है।

परन्तु बौद्ध धर्मानुयायी होते हुए भी कनिष्क अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था। यही कारण है कि उसने अपने विशाल साम्राज्य में प्रचलित विभिन्न धर्मों के देवताओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(पारसी, यूनानी, रोमन, बौद्ध तथा हिन्दू) की आकृतियों को अपनी मुद्राओं पर अंकित कराया। इनमें महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त अरडोक्षो, नना, अथ्शो (अग्नि), हेलिओ (सूर्य), माओ (चंद्र), ओएशो (शिव), फैरो (जल-देवता) आदि देवी-देवता उल्लेखनीय हैं।

चौथी बौद्ध संगीति—अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि अपने समय में विद्यमान बौद्ध धर्म के विभेदों को निरस्त करने के उद्देश्य से कनिष्क ने चौथी बौद्ध सभा की। इन बौद्ध ग्रन्थों में इस सभा का एक-जैसा ब्यौरा नहीं मिलता।

(१) हुएन-सांग का कथन है कि यह सभा काश्मीर में हुई थी और इसका अध्यक्ष वसुमित्र था। इस सभा ने बौद्ध सूत्र, विनय और अभिधम्म के ऊपर टीकायें लिखने की व्यवस्था की।

(२) तारानाथ का कथन है कि यह सभा जालन्धर में हुई थी। इस सभा ने सूत्र, विनय और अभिधम्म के उन भागों को लिखवाया जो अभी तक अलिखित थे।

(३) मंगोलिया के साक्ष्य भी इस सभा के अधिवेशन का स्थान जालन्धर बताते हैं।

(४) परमार्थ ने चौथी बौद्ध सभा बुलाने का श्रेय कात्यायनीपुत्र को दिया है।

(५) तिब्बती 'बुद्धचरित' का कथन है कि इस सभा ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह कराया।

लंका के ग्रन्थ 'महावंश' और 'दीपवंश' इस सभा का उल्लेख नहीं करते।

उक्त विवरणों को देखते हुए निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं—

(१) चौथी बौद्ध सभा हुई अथवा नहीं ?

(२) यह सभा कहाँ हुई ?

(३) इसका सभापति कौन था ?

(४) इसने क्या कार्य किया ?

(१) इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सभा का उल्लेख उक्त सिंहली ग्रन्थों में नहीं हुआ परन्तु अन्य अनेक भारतीय और विदेशी बौद्ध साक्ष्य इसका उल्लेख करते हैं। इन साक्ष्यों के होते हुए इस सभा की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करना असंगत प्रतीत होता है। महावंश और दीपवंश का अनुल्लेख आकस्मिक प्रतीत होता है।

(२) विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि उक्त संगीति काश्मीर में ही हुई थी, जालन्धर में नहीं। काश्मीर में उस समय हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का काफी जोर था।

(३) अधिकांश विद्वानों के मतानुसार इस सभा का सभापति वसुमित्र था। उसकी अनुपस्थिति में अश्वघोष ने सभापति का कार्य किया।

(४) इस सभा में बौद्ध-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों पर विचार किया गया, उनके ग्रंथों का संग्रह कर उन पर टीकायें लिखी गईं। तिब्बती 'बुद्धचरित' में ग्रन्थों के संग्रह

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का उल्लेख है और हुएन-सांग के विवरण में टीकायें लिखने का। ऐसी अनुश्रुति है कि ये टीकायें ताम्रपत्रों पर लिखवाई गई और पत्थर के बक्सों में बन्द करके एक स्तूप के नीचे गड़वा दी गई।

तारानाथ के कथनानुसार उस समय देश में बौद्ध धर्म के १८ सम्प्रदाय प्रचलित थे। इस संगीति ने सभी को मान्यता प्रदान की।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस संगीति में महायान बौद्ध धर्म को विशेष महत्व दिया गया। महायान बौद्ध धर्म इस समय तक प्रादुर्भूत हो चुका था। कनिष्क का झुकाव उसकी ओर अधिक हो गया था। कनिष्क की मुद्राओं पर महात्मा बुद्ध की मूर्ति अंकित मिलती है। उसकी राज-सभा में आश्रय पाने वाले प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष के ग्रन्थों में महायान धर्म का प्रभाव दिखाई देता है। कनिष्क ने गन्धार और मथुरा की कला को प्रभूत प्रोत्साहन दिया। यह कला मुख्यतः महायानी सिद्धान्त—महात्मा बुद्ध की मूर्ति-पूजा—पर आधारित है। इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि चौथी बौद्ध सभा में महायानी बौद्ध धर्म को विशेष महत्व प्रदान किया गया।

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि चौथी सभा प्रमुखतया हीनयानियों के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की संगीति थी। साम्प्रदायिक संगीति होने के कारण ही संभवतः महावंश और दीपवंश में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

हीनयान मत—

महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् बौद्ध संघ थेर-(स्थविर) वाद और महासांघिक, इन दो सम्प्रदायों में बँट गया। पहला सम्प्रदाय विशुद्ध प्राचीन बौद्ध विचारों का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा प्रगतिशील विचारों का। दूसरे से आगे चलकर बौद्ध मत की महायान शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। पहले सम्प्रदाय की संज्ञा 'हीनयान' रूढ़ हो गई। प्रारम्भ में महायान मत का विकास उत्तर में नहीं हुआ। उसके उद्भव तथा प्रारम्भिक उन्नयन का केन्द्र दक्षिण में आन्ध्र देश में था। कालान्तर में इसके कई केन्द्र काश्मीर, गन्धार और मध्य एशिया में स्थापित हुए। उत्तर भारत में बौद्ध मत की एक अन्य शाखा का विकास अवश्य हुआ, जिसके सिद्धान्त विशुद्ध प्राचीन थेरवाद से किञ्चित् भिन्न थे। दूसरा सिद्धान्त 'सर्वास्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक हीनयानी सम्प्रदाय था, जो पाली के स्थान पर संस्कृत भाषा का व्यवहार करता था। चीनी तथा यूरोपीय विद्वानों ने दूसरे सिद्धान्त को 'यथार्थवाद' कहा है। नागार्जुन, असंग और वसुबंधु-जैसे प्रसिद्ध महायानी पंडितों ने सर्वास्तिवाद की तीव्र आलोचना की। उन्होंने इसे 'अ-यथार्थवाद' (शून्यता) एवं 'आदर्शवाद' (विज्ञप्तिमात्रता) कहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वास्तिवादियों ने आरम्भ में मथुरा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और बाद में वहीं से वे गन्धार, काश्मीर और अंत में मध्य एशिया, चीन आदि अन्य देशों में गए।

ई० दूसरी और चौथी शताब्दी के बीच के कुछ ऐसे शिलालेख उपलब्ध हैं जिनसे पेशावर, काश्मीर, मथुरा, श्रावस्ती, बलोचिस्तान और बनारस (सारनाथ) में सर्वास्तिवादियों का रहना प्रमाणित होता है। इन स्थानों में से तीन उत्तर प्रदेश में हैं। इन स्थानों में पाए गए शिलालेखों में से जो सबसे प्राचीन (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ का) है वह मथुरा में पाया गया था। यह खरोष्ठी-लेख मथुरा से प्राप्त उस सिंहशीर्ष (Lion-capital) पर उत्कीर्ण है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इस लेख से निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है।

(क) अन्य लोगों के साथ महाक्षत्रप राजुवुल की रानी, राजकुमार खरओस्त और शोडास की माता, नद दिअक, के द्वारा मथुरा में भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध की अस्थियाँ स्थापित की गईं, सिंह-शीर्ष वाला एक शिला-स्तम्भ खड़ा किया गया और चारों दिशाओं के (विशेषतः सर्वास्तिवादी) भिक्षुओं के लिए संघाराम बनवाया गया।

(ख) महाक्षत्रप राजुवुल के पुत्र क्षत्रप शोडास के राज्यकाल में आचार्य बुद्धदेव के शिष्य उदय के द्वारा, राजकुमार खलनस्स और मज के अनुमोदन से, नगरक से बुद्धिल को एक गुहाविहार दान किया गया, सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के स्वीकारार्थ।

(ग) क्षत्रप शोडास के राज्य-काल में नगरक के आचार्य बुद्धिल को कुछ भूमि दान की गई। आचार्य ने महासंघिकों के तर्कों को खंडित कर दिया। बुद्ध, धर्म और संघ को तथा शक देश के शकों को नमस्कार।...........

उपर्युक्त शिलालेख स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि प्राचीन शक-शासक बौद्ध धर्म के, विशेषतः सर्वास्तिवादियों के, समर्थक थे। सर्वास्तिवाद का एक केन्द्र उस समय मथुरा में था। बुद्धिल ने, जो एक सर्वास्तिवादी आचार्य थे, दार्शनिक शास्त्रार्थों में महासंघिकों को परास्त कर बड़ा यश कमाया। उन्होंने विशिष्ट व्यक्तियों से बहुत दान प्राप्त किया होगा। बुद्धदेव नाम के एक अन्य आचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है। यशोमित्र ने अपनी कोश-व्याख्या में स्थविर बुद्धदेव को सर्वास्तिवाद के सिद्धान्तों के लिए प्रमाण मानकर उनका उल्लेख किया है और बताया है कि उनके एक पूर्ववर्ती आचार्य स्थविर नागसेन थे, जो राजा मीनांडर के समकालीन थे। बुद्धदेव ने सर्वास्तिवाद के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'सापेक्ष सत्ता के रूप में (अन्यथान्यथात्व) सबका अस्तित्व है (सर्वास्तित्व)।'

मथुरा में एक और शिलालेख हुविष्क के समय ई० १११ का मिला है। इसमें बोधिसत्व की एक मूर्ति को दो भिक्षुणियों द्वारा प्रतिष्ठापित किए जाने का उल्लेख है। ये दोनों भिक्षुणियाँ त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल की शिष्याएँ थीं। इनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से धनवती नामक भिक्षुणी त्रिपिटक के एक दूसरे आचार्य भिक्षु बुद्धमित्र की भानजी थी। इस लेख में स्पष्टतः सिद्धार्थ गौतम की बोधि-प्राप्ति के पहले की मूर्ति का उल्लेख है, न कि महायानी मूर्ति का। भिक्षुणी के गुरु को 'त्रिपिटक' कहा गया है जो केवल हीनयानी उपाधि है। भिक्षु बल सर्वास्तिवादी थे और आचार्य पुष्यबुद्धि के शिष्य थे। श्रावस्ती में पाए गए दो अन्य शिलालेखों में भी बल का नाम है। इनमें से एक लेख पत्थर के छत्र-दंड पर लिखा है और दूसरा 'बोधिसत्व' की प्रतिमा पर। इनसे ज्ञात होता है कि कनिष्क प्रथम के राज्यकाल में पुष्यबुद्धि के शिष्य एवं त्रिपिटक के आचार्य भिक्षु बल के द्वारा बोधिसत्व की मूर्ति तथा एक छत्र एवं दंड का दान किया गया। ये वस्तुएँ 'श्रावस्ती में कोसंब कुटी' की परिक्रमा में प्रतिष्ठित की गईं थीं जो कि जेतवनाराम का एक भाग था और जिसमें संभवतः बुद्ध उस समय रहते थे जब उन्होंने कौशांबी के झगड़ालू भिक्षुओं को चेतावनी दी थी।

ऐसा ही एक दान सारनाथ में भी भिक्षु बल और उसकी शिष्या बुद्धमित्रा द्वारा दिया गया। दान की वस्तुएँ भगवान् बुद्ध के 'चंक्रम' में प्रतिष्ठित की गईं। भिक्षु बल और भिक्षुणी बुद्धमित्रा दोनों सर्वास्तिवादी थे, अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कनिष्क के राज्य-काल में सारनाथ में भी कुछ सर्वास्तिवादी रहते थे। सारनाथ में जगतसिंह-स्तूप के दक्षिण ओर पत्थर के सोपान की सब से ऊपरी सीढ़ी पर एक लेख खुदा मिला था 'आचार्यानां सर्वास्तिवादिनां परिग्रह'। डा० फोगल इस लेख को ई० दूसरी शताब्दी का ठहराते हैं। यही लेख सारनाथ के मुख्य मंदिर की दक्षिण परिक्रमा में पुराने स्तूप के चारों ओर की वेष्टनी पर दोहराया गया है। सारनाथ के अशोक स्तंभ पर का दूसरा लेख, जिसमें राजा अश्वघोष का नाम आया है, संभवतः सर्वास्तिवादियों का उल्लेख करता था। उनका नाम उसमें दुर्भाग्यवश मिट गया है। उसी स्तंभ पर के तीसरे लेख का पाठ इस प्रकार है—'आ (चा) र्यानां स (म्मि) तियानां परिग्रह वात्सीपुत्रि-कानां।'[1] त्रिपिटकाचार्य बल की शिष्या बुद्धमित्रा के दान का उल्लेख हाल में कौशांबी की एक मूर्ति पर मिला है, जो प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा किए जाने वाले कौशांबी-उत्खनन से प्राप्त हुई है।

सर्वास्तिवाद और सम्मितीय, इन दोनों संप्रदायों के उक्त उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० दूसरी शताब्दी तक उत्तर भारत के कई स्थानों में सर्वास्तिवादियों का प्राधान्य था। उसके बाद यहाँ सम्मितीयों का प्रभाव बढ़ गया। दोनों संप्रदायों के लोग कुछ समय तक वहाँ साथ-साथ रहे होंगे परन्तु यह निश्चित है कि हुएन-सांग के समय तक सर्वास्तिवादी कई स्थानों को छोड़ चुके थे और वहाँ केवल सम्मितीय संप्रदाय के भिक्षु रह गए थे।

---

१. साहनी, सारनाथ संग्रहालय की सूची, पृ० ३०-३१।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुद्ध पाली में कुषाण-काल का एक लेख[1] सारनाथ में मिला है। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संभवतः सर्वास्तिवादियों का प्रभाव जमने से पहले सारनाथ में स्थविरवादी भी रहते थे।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के बाद कई शताद्वियों तक हीनयान मत का प्राबल्य रहा। हीनयान के अन्तर्गत महात्मा बुद्ध को महापुरुष माना जाता था, परन्तु अवतार नहीं। बौद्धों के लिये वे अपार आदर और श्रद्धा के पात्र थे, परन्तु उनकी साकार-पूजा न होती थी। निर्वाण-प्राप्ति का एकमात्र उपाय मनुष्य का व्यक्तिगत प्रयत्न था, महात्मा बुद्ध के प्रति भक्ति अथवा आत्म-समर्पण नहीं। हीनयान का सर्वोच्च लक्ष्य अर्हत्-पद की प्राप्ति था। 'अर्हत्' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने अपने प्रधान से सम्बोधि प्राप्त कर ली हो और जो जन्म-मरण के चक्र से छूट गया हो। हीनयान में 'बोधिसत्व' की कल्पना न थी। बोधिसत्व उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया हो, परन्तु जो निर्वाण में उस समय तक प्रवेश का अधिकारी नहीं जब तक वह संसार के अन्य व्यक्तियों को भी ज्ञान प्राप्त न करा दे।

महायान मत

बौद्ध धर्म के इस प्रारम्भिक स्वरूप में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् ही उनका जन्म-स्थान, धर्म-चक्र प्रवर्तन का स्थान, निर्वाण-प्राप्ति का स्थान आदि बौद्धों के लिये मुख्य तीर्थ-स्थान हो गये थे। धीरे-धीरे बौद्धों ने स्तूपों और चैत्यों की पूजा भी प्रारम्भ कर दी थी। महात्मा बुद्ध ने अपनी वैयक्तिक पूजा का विरोध किया था। उनकी मृत्यु के अनंतर कई शताब्दियों तक यह मान्यता चली और उनकी मूर्ति का निर्माण न किया गया। वे कुछ प्रतीकों, जैसे—धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, पादुका, आसन आदि के रूप में ही पूजे जाते रहे।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक आते-आते हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में भक्तिवाद के अनेक तत्व प्रविष्ट हो गये। हिन्दुओं की भाँति बौद्धों ने भी महात्मा बुद्ध को अवतार मान लिया। वे अद्भुत शक्तियों से विभूषित ईश्वर मान लिये गये और उनकी पूजा होने लगी। मानुषी रूप में पूजा के लिये उनकी मूर्तियों का निर्माण होने लगा। अब मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञानाश्रित प्रयत्नों की इतनी आवश्यकता न रही जितनी भक्ति की।

---

१. पाली लेख इस प्रकार है—
"चत्तारिमानि भिक्खवे अरिय सच्चानि
कतमानि चत्तारि दुक्खं भिक्खवे अरियसच्चं ?
दुक्खसमुदयो अरिय सच्चं, दुक्ख निरोहो अरिय सच्चं।
दुक्ख निरोध गामिनि च पटिपदा अरिय सच्चं।"

२. नलिनाक्ष दत्त तथा कृष्णदत्त वाजपेयी, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० २०४-७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महात्मा बुद्ध के प्रति आत्म-समर्पण, उनके प्रति भक्ति-भाव, मोक्ष-प्राप्ति का साधन बन गया। बौद्ध धर्म में प्रज्ञा के स्थान पर करुणा की महत्ता प्रतिष्ठित हुई। इस नवीन विचारधारा के अन्तर्गत 'अर्हत्' के स्थान पर 'बोधिसत्व' की कल्पना प्रतिष्ठापित हुई।

बौद्ध धर्म का यह परिवर्तित रूप ईसा की प्रथम शताब्दी में दिखाई देने लगता है। इस नई विचारधारा के अनुयायियों ने अपने सम्प्रदाय की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये उसे 'महायान' का नाम दिया और प्राचीन सम्प्रदाय को 'हीनयान' कहा।

महायान के उदय के कारण—महायान के उदय के प्राय: निम्नलिखित कारण माने जाते हैं—

(१) संघ की प्रवृत्तियाँ—महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में ही बौद्ध संघ के सदस्य उनके प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् यह श्रद्धा बढ़ती गई और कालान्तर में उसने भक्ति और पूजा का रूप धारण कर लिया।

(२) भागवत धर्म का प्रभाव—अधिकांश विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि हिन्दुओं के भक्तिप्रधान भागवत धर्म का बौद्ध धर्म पर विशेष प्रभाव पड़ा। महायान के उदय के पूर्व हिन्दुओं की भगवद्गीता का प्रणयन हो चुका था। विण्टरनिज, कर्न आदि विद्वानों के अनुसार भगवत्गीता के भक्तिवाद ने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया, जो महायान बौद्ध धर्म के उदय का एक कारण बना। पूसाँ नामक विद्वान् तो महायान को हिन्दू धर्म का ही एक रूप मानते हैं। यह महत्वपूर्ण बात है कि गीता के अनेक श्लोक महायान धर्म के प्रधान ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीकाक्ष' के उल्लेखों से मिलते-जुलते हैं। मथुरा, विदिशा, मध्यमिका आदि स्थानों में भागवत धर्म के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। इन स्थानों में विष्णु, वासुदेव, शिव, सूर्य, लक्ष्मी आदि की प्रतिमाओं का निर्माण भी होने लगा था। मूर्ति-पूजा धार्मिक प्रचार का एक प्रमुख साधन बन गई। इसके महत्व को बौद्धों ने भी स्वीकार किया।

(३) जैन धर्म का प्रभाव—जैन धर्म का उदय बौद्ध धर्म से पहले हुआ। जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पहले से होने लगा था। मथुरा इन प्रतिमाओं के बनने का एक बड़ा केन्द्र था। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म इस दृष्टि से जैन धर्म द्वारा प्रभावित हुआ।

(४) पारसीक प्रभाव—बौद्ध धर्म का प्रचार ईरान तथा मध्य एशिया में भी हुआ। कुछ लोगों की मान्यता है कि वहाँ की कतिपय धार्मिक मान्यताओं ने बौद्ध धर्म को प्रभावित करके उसके मौलिक रूप को परिवर्तित किया, यथा फारस के अग्निदेवता के स्वरूप ने महायान में बोधिसत्वों की कल्पना को प्रभावित किया।

(५) यूनानी प्रभाव—भारतीय और यूनानी सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क ने एक नवीन कला को जन्म दिया, जो गान्धार कला कहलाई। महात्मा बुद्ध की बहु-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संख्यक मूर्तियों का निर्माण इस कला-शैली में हुआ। इनके विषय तो भारतीय हैं, परन्तु निर्माण-शैली (टेकनीक) यूनानी। इस गान्धार-कला के माध्यम से महायान को लोकप्रिय बनने में बड़ी सहायता मिली।

(६) अन्य देशों का प्रभाव—बौद्ध धर्म देश-विदेश में फैला। इसे भारतीयों के अतिरिक्त यूनानियों, शकों, पह्लवों और कुषाणों ने तथा चीन, तिब्बत, जापान और मध्य एशिया की अनेक जातियों ने भी ग्रहण किया। इन विभिन्न जनों एवं प्रदेशों की संस्कृतियों ने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया। इससे उसमें अनेक प्रकार की नवीन मान्यताओं—अन्धविश्वास, पूजा-पाठ, भक्ति आदि—का अन्तर्भाव हुआ।

(७) ईसाई धर्म—महायान और ईसाई धर्म में अनेक समान सिद्धान्त पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, दोनों ही प्रज्ञा के स्थान पर करुणा पर अधिक जोर देते हैं। दोनों में भक्तिवाद के प्रचुर तत्त्व विद्यमान हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह मत प्रतिपादित करते हैं कि महायान के ऊपर ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ा। परन्तु यह मत नितान्त सन्दिग्ध है और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

महायान के सिद्धान्त—हीनयान से अपनी पृथक् सत्ता एवं वरीयता दर्शाने के लिये महायानियों ने अपने स्वतन्त्र दर्शन का विकास किया। उनके ग्रन्थों के आधार पर महायान के सिद्धान्तों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) दो सत्य—महायानी दो सत्यों पर विश्वास करते हैं—व्यवहार-सत्य और परमार्थ-सत्य। प्रथम सत्य के अन्तर्गत यह माना जाता है कि महात्मा बुद्ध उत्पन्न हुए थे। यह उनका मानवी रूप था। दूसरे सत्य (परमार्थ-सत्य) के अन्तर्गत यह माना जाता है कि महात्मा बुद्ध कभी उत्पन्न नहीं हुए—न उन्होंने जन्म लिया और न निर्वाण प्राप्त किया। यही महात्मा बुद्ध का वास्तविक रूप है। दूसरे शब्दों में हीनयानी महात्मा बुद्ध को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं, परन्तु महायानी उन्हें दैवी पुरुष कहते हैं, जो माया रूप में भी अवतीर्ण हो सकते हैं।

(२) दो कोटि के उपदेश—महायानियों के अनुसार महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों की योग्यता के अनुरूप दो कोटियों के उपदेश दिये। जो लोग सामान्य श्रावक अथवा प्रत्येकबुद्ध थे उन्हें साधारण उपदेश दिया गया। इसे 'प्रकट उपदेश' कहा जाता है। दूसरे प्रकार का अधिक गम्भीर और तत्वपूर्ण उपदेश अधिक योग्य अनुयायियों—बोधिसत्वों—को दिया गया। इसे 'गुह्य उपदेश' कहते हैं। इस उपदेश में पूर्ण सत्य निहित था। महायान वस्तुतः इसी उपदेश के ऊपर आधारित है।

(३) बोधिसत्व का सिद्धान्त—हीनयान का आदर्श अर्हत्-पद की प्राप्ति है। अर्हत् अपनी इन्द्रियों का दमन करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है और जन्म-मरण के

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बन्धन से छूट जाता है। परन्तु स्वयं निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् वह अपने ज्ञान का प्रचार जनता में नहीं करता। दूसरे शब्दों में हीनयान के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाण स्वयं के लिये प्राप्त करना है। महायानी इस दृष्टिकोण को स्वार्थपूर्ण बताते हैं। उनके अनुसार ज्ञानी को उस समय तक निर्वाण में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए जब तक वह अपने ज्ञान का प्रचार करते हुए अधिक से अधिक मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त न करा दे। 'बोधिसत्व' ऐसे ही ज्ञानी व्यक्ति को कहते हैं जो निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी उसे ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उसे अन्य व्यक्तियों को भी मार्ग प्रदर्शित करना रहता है। इस प्रकार पर-हित के लिये बोधिसत्व अपने हित को छोड़ देता है।

(४) प्रज्ञा और करुणा—हीनयान में प्रज्ञा (ज्ञान) और करुणा का स्थान बराबर था। परन्तु महायान में प्रज्ञा की अपेक्षा करुणा को अधिक ऊँचा स्थान दिया गया। इसमें महात्मा बुद्ध का स्वरूप परम करुणावान का है। उनके समक्ष भक्तिपूर्ण हृदय से आत्म-समर्पण ही मोक्ष का निश्चित उपाय है। मोक्ष के लिए एक मात्र प्रज्ञा अथवा 'प्रधान' अनिवार्य नहीं है।

(५) मायावाद—कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय दर्शन में मायावाद का सिद्धान्त महायान से आया। कालान्तर में इसी के आधार पर शंकराचार्य ने अपने मायावाद का विकास किया।

महायान 'त्रिकाय-सिद्धान्त' में विश्वास करता है। वह महात्मा बुद्ध के तीन शरीरों में विश्वास करता है—रूपकाय, धर्मकाय और सम्भोग-काय। महात्मा बुद्ध के ऐतिहासिक रूप को 'रूपकाय' कहा गया है। परन्तु यह उनका वास्तविक रूप न था। यह उनका मायावी रूप था। उनका वास्तविक रूप आध्यात्मिक रूप है। इसे महायानी 'धर्मकाय' कहते हैं। इन दो रूपों के अतिरिक्त बुद्ध का एक अन्य रूप भी था। इसे 'सम्भोग-काय' कहा गया है। इस रूप में वे तुषित स्वर्ग में रहते हैं।

(६) शून्यवाद—महायानियों ने शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वास्तिवाद के विरोध में किया। इसके अनुसार संसार शून्य है, मायावी है। इसके समस्त पदार्थ असत्य हैं। इसलिये मनुष्य को किसी भी सांसरिक पदार्थ में अनुरक्ति नहीं रखनी चाहिए।

(७) भक्तिवाद—हीनयान में महात्मा बुद्ध को एकमात्र महापुरुष माना गया है। बौद्ध अनुयायियों की उनमें अपार श्रद्धा थी, परन्तु उनकी शरीर-पूजा न होती थी। महात्मा बुद्ध की कोई मूर्ति न बनती थी। उनका अस्तित्व कतिपय संकेतों के द्वारा व्यक्त किया जाता था। भरहुत, सांची, बोधगया आदि की प्रारम्भिक कला में बुद्ध की एक भी मूर्ति नहीं मिलती। वहाँ उनका अस्तित्व इन्हीं संकेतों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु महायान के अन्तर्गत महात्मा बुद्ध को अवतार माना गया और उनकी मूर्ति-पूजा होने लगी। गीता के कृष्ण की भाँति महात्मा बुद्ध भी अत्यन्त करुणामय एवं आर्तजनों के उद्धारक बन गये। महायानियों ने उन्हें स्वयंभू, जगत्पिता और अनन्त शक्तिवान् माना। इस महायानी विचारधारा के अन्तर्गत प्रज्ञा अथवा प्रधान का महत्व कम हो गया। मोक्ष प्राप्त करने के लिये अष्टांगमार्ग की आवश्यकता न रही। अब मनुष्य एकमात्र करुणामय बुद्ध भगवान् के प्रति भक्ति के द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकता था।

(८) गृहस्थ जीवन—कुछ विद्वानों के मतानुसार महायान ने संन्यास के स्थान पर गृहस्थ जीवन के ऊपर अधिक जोर दिया। इस मत का कारण यह है कि महायान ने हीनयान के कठोर सिद्धान्तों के स्थान पर गृहस्थ-धर्म (दया, दान, शील आदि) का अधिक प्रचार किया। इस मत की पुष्टि में यह भी कहा जाता है कि अनेक महायानी आचार्य विवाहित जीवन व्यतीत करते थे।

परन्तु अनेक विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि बौद्ध धर्म में सदैव गृहस्थों की अपेक्षा भिक्षुओं को अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है।

(९) विस्तारात्मकता—हीनयान ने एकमात्र महात्मा बुद्ध के मूल वचनों को स्वीकार किया। अतः वह इत्यात्मक बन गया। महायान भी महात्मा बुद्ध के वचनों को अपना आधार मानता है। परन्तु उसने अभिरुचि और आवश्यकता के अनुसार उन वचनों की व्यापक व्याख्या भी की और उनके आधार पर नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार वह विस्तारात्मक है।

(१०) दर्शन और धर्म—हीनयान में रुढ़िवादिता और कठोरता का आधिक्य है। उसमें दर्शन पक्ष की मुख्यता है। इसके विरुद्ध महायान के सिद्धान्त सरल, अधिक व्यावहारिक और लोकरंजक हैं। उनमें अवतारवाद, भक्ति, पूजा, समारोह आदि के लिए स्थान है। अपनी इन विशेषताओं के कारण उसमें धार्मिक पक्ष की प्रधानता है।

मूर्ति तथा वास्तुकला

गांधार-कला—प्राचीन काल में गंधार पश्चिमोत्तर भारत का महत्वपूर्ण प्रान्त था। उसकी प्रमुख राजधानी तक्षशिला थी। इस प्रान्त में नीले सिलेटी पत्थर की बनी हुई बहुसंख्यक मूर्तियाँ मिली हैं। इनके विषय तो भारतीय (मुख्यतया बौद्ध) हैं परन्तु निर्माण शैली यूनानी है। इस आधार पर इसे 'गांधार-कला' नाम दिया गया है। यह नाम केवल सुविधा के लिए दिया गया है, क्योंकि इस कला के उदाहरण एक मात्र गंधार में ही नहीं, उसके बाहर भी पाये जाते हैं।

मार्शल आदि विद्वानों का मत है कि गांधार-कला का उदय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ और वह पांचवी शती तक चलती रही। लगभग २०० ई० तक इस कला का विशेष विकास हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गंधार प्रदेश में ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण आदि अनेक जातियों का सम्मिश्रण हुआ। इन सबकी अनेक सांस्कृतिक विशेषतायें हमें गांधार-कला में दिखाई देती हैं। इस कला को न तो हम पूर्णरूप से स्वदेशी, न पूर्णरूप से विदेशी कह सकते हैं। इस कला का मुख्य प्रयोजन धार्मिक है। उसमें उन्मुक्त जीवन और लोकरंजक तत्व का अभाव मिलता है।

फूशे, स्मिथ, मार्शल आदि विद्वानों का मत है कि गांधार-कला के उदय के पूर्व महात्मा बुद्ध की मूर्तियां नहीं बनती थीं। इनके अनुसार मानुषी रूप में भारत में बुद्ध प्रतिमा का निर्माण सर्वप्रथम गांधार-कला में हुआ। परन्तु यह मत ठीक नहीं। हीनयान के प्रभाव में महात्मा बुद्ध की मूर्ति का निर्माण धर्मविरुद्ध समझा जाता था। महायान बौद्ध धर्म के उदय से परिस्थिति बदल गई। महायानियों ने बुद्ध को अवतार माना और गंधार तथा अन्य अनेक प्रदेशों में वे बुद्ध की मूर्तियां बनाकर उनकी पूजा करने लगे। गंधार-कला में महात्मा बुद्ध और उनसे सम्बन्धित सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण किया गया।

गांधार-कला की विशेषताएँ—(१) इस शैली की बनी हुई मूर्तियों का विषय भारतीय (मुख्यतया बौद्ध) है। परन्तु उनकी निर्माण-शैली विदेशी है। बहुधा इन मूर्तियों में महात्मा बुद्ध अपने स्थूल शरीर और मुद्रा के कारण यूनानी देवता अपोलो-जैसे मालूम पड़ते हैं। भारतीय ऋषि-मुनि और पुरोहित दाढ़ी धारण किये हुए यूनानी दार्शनिकों–से लगते हैं। भारतीय यक्ष-नाग यूनानी देवता जिएसु हेरेक्लीज आदि--से दिखाई देते हैं।

(२) इस कला की मूर्तियां गंधार में पाए जाने वाले सिलेटी पत्थर की हैं। बाद में कलाकारों ने स्टुको (Stucco) और लाइम प्लास्टर (Lime plaster) का भी प्रयोग किया। कभी-कभी धातु का भी प्रयोग किया गया।

(३) गांधार कलाकार पारदर्शक वस्त्रों का प्रदर्शन न कर सकते थे। उनकी बनाई मूर्तियाँ मोटे वस्त्रों से ढकी हुई मिलती हैं। गुप्तकालीन गांधार कला में भी, जब कि भारत में अन्यत्र पारदर्शी परिधान बारीकी के साथ दिखाए जाते थे, वस्त्रों का बोझिल अंकन जारी रहा।

(४) इन मूर्तियों में मांसलता अधिक मिलती है। प्रतिमाओं के ओंठ बहुधा मोटे, आँखें भारी और दूर तक खिची हुई हैं। भौंहों के बीच में गोल ऊर्णा चिह्न तथा मस्तक के ऊपर बालों का जूड़ा (उष्णीश) मिलता है। मुख-मुद्रा प्रायः भाव-शून्य मिलती है। महात्मा बुद्ध की गांधार मूर्तियों में आध्यात्मिक भावना का अभाव है। इसका उल्लेख करते हुए एस० के० सरस्वती लिखते हैं—"The reliefs representing scencs from the life of the Master, inspite of their minute details, have the appearance of mechanical

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

reproductions, lacking all the spontaneity and emotional warmth that distinguish the reliefs of early Indian art of Bharhut, Sanchi, Bodhgaya or Amaravati." अपनी भाव-शून्यता के कारण अधिकांश मूर्तियाँ मशीनों से बनी हुई—सी प्रतीत होती हैं।

(५) बहुधा बुद्ध-बोधिसत्व की प्रतिमाओं को सिर पर लहरियादार बाल, मुख पर मूँछें तथा पूरे शरीर को ढके हुए दिखाया जाता है। कभी-कभी वे पैरों में चप्पल पहने हुए तथा सिंहासन के ऊपर बैठे मिलते हैं, जो भारतीय परम्परा के विपरीत है।

(६) अनेक मूर्तियों में सिर के चारों ओर प्रायः सादा प्रभामण्डल मिलता है।

गांधार-कला में पाषाण-प्रतिमाओं के बहुसंख्यक उदाहरण पेशावर, तक्षशिला, लाहौर तथा काबुल के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

गंधार के कलाकारों ने पत्थर के अतिरिक्त काँसे और मिट्टी की मूर्तियों का भी निर्माण किया। ऐसी मूर्तियाँ पश्चिमोत्तर प्रदेश में मिली हैं।

गांधार-कला में बुद्ध-बोधिसत्व की बहुसंख्यक प्रतिमाओं के अतिरिक्त जातक कथाओं, गौतम बुद्ध की जीवनी आदि के विविध दृश्य मिलते हैं।

गांधार-कला भारत में अधिक लोकप्रिय न हो सकी। भारतीय कला के रोचक तत्वों का उसमें अभाव था। यूनानी-कला में शारीरिक सौन्दर्य के प्रदर्शन को विशेषता दी जाती थी, जब कि भारतीय-कला में आध्यात्मिकता को। यूनानी बौद्धिकता पर जोर देते थे, भारतीय लोग भावुकता पर।[1] इन आधारभूत अन्तरों के कारण गांधार-कला ने भारत को उतना प्रभावित न किया जितना कि उसने चीनी तुर्किस्तान, चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान को किया।

मथुरा-कला

शक-कुषाण-काल में कला का दूसरा महत्वपूर्ण केन्द्र मथुरा नगर तथा उसके आस-पास का भू-भाग था। वहाँ एक विशेष प्रकार की मूर्ति कला का उदय हुआ जो 'मथुरा

१. "The Hellenistic art never took the real hold upon India that it took, for example, upon Italy or Western Asia, for the reason that the temperaments of the two people were radically different and dissimilar. To the Greek, man's beauty and intellect were everything and it was the apotheosis of this beauty and this intellect which still remained the key-note of Hellenistic art even in the Orient. But these ideals awakened no response in the Indian mind. The vision of the Indian was bounded by the immortal rather than the mortal, by the Infinite rather than the Finite. While the Greek thought was ethical, his was spiritual when Greek was rational, his was emotional......" —Marshall

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कला' के नाम से विख्यात है। मथुरा भारत के कई प्रमुख व्यापारिक मार्गों पर स्थित थी। राजनीतिक दृष्टि से मथुरा प्रदेश (शूरसेन जनपद) अत्यन्त महत्वपूर्ण था। मथुरा नगरी शकों और कुषाणों की पूर्वी राजधानी थी।

मथुरा के कलाकारों ने शुंग काल में विशाल यक्ष-मूर्तियों का निर्माण किया। मथुरा-कला की प्रारम्भिक बुद्ध-मूर्तियाँ इन मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। उदाहरण के लिए मथुरा, सारनाथ और श्रावस्ती में महात्मा बुद्ध की जो विशाल मूर्तियाँ मिली हैं वे प्रारंभिक यक्ष-मूर्तियों से प्रभावित हैं।

गांधार कला की भाँति मथुरा कला की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं—

(१) इस कला की मूर्तियाँ प्रायः लाल बलुए पत्थर की हैं, जिस पर सफेद चित्तियाँ मिलती हैं। यह पत्थर आगरा, फतहपुर सीकरी, रूपवास आदि स्थानों में प्रचुरता से मिलता है।

(२) बुद्ध की प्रारम्भिक मूर्तियाँ खड़ी हुई अवस्था में बनाई गई हैं।

(३) अनेक मूर्तियों के सिर मुण्डित हैं या नखाकृति केशों वाले हैं।

(४) इस कला के अन्तर्गत प्रायः बुद्ध-बोधिसत्व प्रतिमाओं का आधा शरीर ढका रहता है। वे एकांसिक (जिनका एक कंधा ढका हो) कहलाती हैं।

(५) अधिकांशतः देव तथा साधारण मूर्तियाँ दो वस्त्र धारण किए हुए दिखाई गई हैं—ऊर्ध्व वस्त्र (उत्तरीय) तथा अधो वस्त्र (धोती)। अधोवस्त्र कटिबंध या कमरबन्द के द्वारा कमर पर बँधा रहता है।

(६) वस्त्र प्रायः शरीर से चिपके हुए मिलते हैं। उनकी धारीदार सिलवटें कला-पूर्ण ढंग से दिखाई जाती हैं।

(७) मूर्तियों के अग्र भाग के प्रदर्शन पर अधिक जोर दिया गया है।

(८) शक-कुषाणकालीन मथुरा-कला की मूर्तियों में प्रायः घनगात्रता और भौतिकवादिता मिलती है। उनमें आध्यात्मिक भावना का प्रायः अभाव है।

मथुरा कला में कहीं-कहीं गांधार कला के निम्नलिखित प्रभाव भी दिखाई देते हैं—

(१) कुछ मूर्तियों के दोनों कन्धे ढके हैं। बुद्ध की कुछ प्रतिमाओं में मूँछें हैं और वे चप्पल पहने हैं।

(२) मूर्तियों के बाल कहीं-कहीं लहरदार हैं।

(३) मथुरा की मूर्तियों में कभी-कभी हेरेक्लीज और सिंह, सुरापायी स्त्री-पुरुष, अंगूर की बेल तथा यूनानी पौधों आदि को दिखाया गया है।

हिन्दू मूर्तियाँ—हिन्दू मूर्तिकला के विकास की दृष्टि से मथुरा का स्थान बहुत ऊँचा है। यहीं सर्वप्रथम अनेक देवों की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। पौराणिक देवी-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवताओं के मूर्ति-विज्ञान के अध्ययन के लिए यहाँ की कला में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। मथुरा में पाई गई हिन्दू मूर्तियों में इन देवताओं की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं—ब्रह्मा, शिव, विष्णु, कृष्ण-बलराम, स्वामिकार्तिक, गणेश, इन्द्र, अग्नि, नवग्रह, सूर्य, कामदेव, हनुमान आदि।

देवों के साथ ही या अलग उनकी शक्तिरूपा देवियों की प्रतिमाओं का भी निर्माण मथुरा की मूर्ति-कला में पाया जाता है। लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती महिषमर्दिनी सिंहवाहिनी दुर्गा, सप्तमातृका तथा गंगा-यमुना की अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं।

जैन मूर्तियाँ—मथुरा में जैन मूर्तियों का निर्माण कुषाण-काल के पहले से होने लगा था। इस नगर के पश्चिम में 'कंकालीतीला' नामक स्थान जैन धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। १८८९ से १८९१ तक इस टीले की खुदाई की गई, जिसमें लगभग १५०० कलावशेष प्राप्त हुए। ये सभी लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये ईसवी पूर्व प्रथम शती से लेकर लगभग ११०० ई० तक के हैं। ऐसी बड़ी संख्या में इतनी प्राचीन जैन मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिलीं।

मथुरा-कला में जैन मूर्तियों को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—१. तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ २. देवियों की मूर्तियाँ तथा ३. आयागपट्ट आदि कृतियाँ।

मथुरा में कई कलापूर्ण आयागपट्ट मिले हैं। ये आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिला खंड होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनके ऊपर तीर्थङ्कर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किए जाते थे। मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट (सं० क्यू २) है, जिसे उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक वेश्या की लड़की वसु ने दान में दिया था।

बौद्ध मूर्तियाँ—भारत में भगवान् बुद्ध का पूजन कुषाण-काल के पहले आरम्भ हो चुका था, पर वह उनके चिह्नों की पूजा तक सीमित था। मानव-रूप में बुद्ध की मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। शुंग-काल के अन्त तक हम यही स्थिति पाते हैं। साँची, भरहुत, बोधगया, सारनाथ आदि स्थानों में शुंगकालीन जो बौद्ध कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं उन पर बोधि वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, आसन, भिक्षापात्र आदि का ही पूजन दिखाया गया है, मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध का नहीं। मथुरा से भी जो प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं उन पर इन चिह्नों का पूजन मिलता है। मथुरा में हिन्दुओं के कृष्ण-बलराम आदि देवों तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था। बौद्ध-धर्मानुयायिओं में भी अपने देव को प्रतिमा के रूप में देखने की उमंग का उठना स्वाभाविक था। मथुरा के शक-कुषाण शासक मूर्ति-निर्माण के प्रेमी थे और वहाँ भक्ति की भावना प्रबल हो उठी थी। फलस्वरूप मथुरा के शिल्पियों द्वारा भगवान् बुद्ध की प्रायः विशालकाय मूर्तियों का निर्माण किया गया। कला के प्रख्यात विद्वान् डा० कुमारस्वामी ने अकाट्य-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मानुषी बुद्ध-प्रतिमा का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा में हुआ। मथुरा कला की प्रारम्भिक बुद्ध-मूर्तियों पर पूर्ववर्ती विशाल यक्ष-प्रतिमाओं का प्रभाव स्पष्ट है। गधार प्रदेश में भी बौद्ध मूर्तियाँ बड़ी संख्या में बनाई जाने लगीं।

कला के विकास के साथ-साथ मथुरा की मूर्तियों में अधिक निखार आने लगता है। गुप्त-काल में निर्मित बुद्ध की कुछ प्रतिमाओं में वाह्य सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक गाम्भीर्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित ए० ५ संख्यक बुद्ध मूर्ति इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रतिमाएँ—ज्ञान या सम्बोधि प्राप्त होने के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' थी और उसके बाद बुद्ध हुई। इन दोनों की मूर्तियों में अन्तर यह है कि बोधिसत्व को मुकुट आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राजवेश में दिखाया जाता है, जबकि बुद्ध को इनसे रहित केवल वस्त्र (चीवर) धारण किए हुए। बुद्ध के सिर पर वालों का जटाजूट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व या ज्ञानसम्पन्न होने का सूचक है। दोनों प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा में या तो खड़ी हुई मिलती हैं या पद्मासन पर वैठी हुईं।

बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा कला में गौतम बुद्ध के पूर्व-जन्मों की घटनाएँ भी अनेक शिलापट्टों पर चित्रित मिलती हैं। पूर्वजन्म की इन कथाओं को 'जातक' कहते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्ध होने के पहले भगवान् ने अनेक जीवों के रूप में शरीर धारण किए थे। गौतम बुद्ध के वर्तमान जीवन की मुख्य घटनाओं—जन्म, संबोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन, स्वर्गावतरण एवं परिनिर्वाण के भी चित्रण मथुरा कला में मिलते हैं।

वेदिका-स्तम्भों पर उत्कीर्ण प्रतिमाएँ

बौद्ध तथा जैन स्तूपों के चारों ओर वेदिका बनाने की प्रथा थी। वेदिका के स्तम्भों पर विविध मनोरंजक दृश्य उत्कीर्ण मिलते हैं, विशेषकर आकर्षक मुद्राओं में खड़ी हुई सुन्दरियों के। वे मुक्ताग्रथित केश-पाश, कर्ण-कुंडल, एकावली, गुच्छक हार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि आभूषण धारण किए दिखाई गई हैं। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है तो कोई कंदुक क्रीडा में लग्न है। कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है, या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन ढक रही है। किसी के हाथ में वीणा और किसी के हाथ में वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे खड़ा हंस उन पानी की बूँदों को मोती समझकर अपनी चोंच खोले खड़ा है। किसी स्तम्भ पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर संगीतोत्सव का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और किसी पर मधुपान का। इस प्रकार लोकजीवन के कितने ही दृश्य इन स्तम्भों पर आलेखित हैं। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित विभिन्न जातक कहानियाँ और कुछ पर महाभारत के दृश्य भी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण किए गए हैं। इन वेदिका-स्तम्भों को शृङ्गार और सौन्दर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव-जगत् की सौन्दर्य-राशि बिखेर दी है।

मथुरा कला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि माने जाते हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। इनमें यक्षों की प्रतिमायें मथुरा-कला में सबसे अधिक मिली हैं।

शक-कुषाण राजाओं की प्रतिमाएँ—मथुरा से शक-कुषाण शासकों की कई अत्यन्त महत्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं। राजाओं की इतनी प्राचीन मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र नहीं मिलतीं। मथुरा नगर से ८ मील दूर माँट नामक स्थान के समीप कुषाण राजाओं का एक 'देवकुल' था। इसे अब 'इटोकरी टीला' कहा जाता है। इस टीले की खुदाई से निम्नलिखित शासकों की प्रतिमायें प्राप्त हुई—

विम कैड्फिसेस (मथुरा संग्रहालय संख्या २१५)—इस विशालकाय मूर्ति में, जिसका सिर नहीं है, महाराज विम सिंहासनारूढ़ दिखाये गये हैं। वे लम्बा चोगा, गुलूबन्द, सल्वारनुमा पायजामा तथा चमड़े के तसमों से कसे हुए मोटे जूते पहने हैं। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

कनिष्क (संख्या २१३)—कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट् था। इसकी वेश-भूषा विम से बहुत मिलती-जुलती है। इसके दाएँ हाथ में राजदण्ड तथा बाएँ में तलवार है। पैरों में मोटे जूते, जिन्हें गिलगिटी जूते कहते हैं, दर्शनीय हैं। इस मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

मथुरा संग्रहालय की २१२ संख्यक मूर्ति को कुछ विद्वान् चष्टन की मूर्ति मानते हैं। इस पर 'षस्तन' लेख पढ़ा गया है। निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि यह मूर्ति चष्टन की है या किसी अन्य कुषाण शासक की। इस मूर्ति का चोगा जरीदार है तथा कमरबन्द भी अलंकृत है।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक अन्य शक-कुषाण राजकुमारों तथा सरदारों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। उन्हें लम्बा चोगा और पायजामा पहने हुए दिखाया गया है। हाथ में भारी माला लिए पूजक शकों की कई मूर्तियाँ मिली हैं। उनकी स्त्रियों को लम्बा घाँघरा पहने प्रदर्शित किया गया है। ईरानी राजकुमारों तथा शक लोगों की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिमाओं के अभिलिखित सिर बहुत महत्वपूर्ण हैं। नीले सिलेटी पत्थर की बनी एक कायपरिमाण स्त्री मूर्ति मिली है, जो गांधार कला की कृति है। मथुरा में इसका पाया जाना महत्व की बात है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्टी के सिंहशीर्ष-लेख से ज्ञात हुआ है कि मथुरा के महाक्षत्रप राजुवुल की महारानी नद दिअ्राक ने यहाँ बौद्ध-स्तूप तथा विहार बनवाए। कुछ विद्वान् इस मूर्ति को राजुवुल की उसी रानी की प्रतिमा मानते हैं।

पत्थर की मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा में इस काल में बहुसंख्यक मृण्मूर्तियों का निर्माण हुआ। जनजीवन के विविध पहलुओं पर इन मूर्तियों से प्रकाश पड़ता है। तत्कालीन वेशभूषा, प्रसाधन, आमोद-प्रमोद आदि की जानकारी के लिए ये लघु कलाकृतियाँ बहुत उपयोगी हैं। इनमें केशविन्यास के अनेक रूप मिलते हैं। स्त्री-पुरुषों द्वारा विविध आभूषण पहनने का भी रिवाज था। एक मूर्ति में बच्चे को गोद में लिए हुए माता का चित्रण बहुत सुन्दर है। कई मृण्मूर्तियों में पेड़ की डाल पकड़ कर आकर्षक 'शालभंजिका-मुद्रा' में खड़ी हुई स्त्रियाँ दिखाई गई हैं। कामदेव की एक उल्लेखनीय मूर्ति मिली है, जिस में उन्हें शूर्पक नामक एक मछुए का गर्व खंडित करते हुए दिखाया गया है। एक लोक कथा के अनुसार कुमुद्वती नामक सुंदरी राजकुमारी शूर्पक मछुए पर आसक्त हो गई थी। शूर्पक ने पहले उसके प्रेम को ठुकरा दिया। बाद में राजकन्या ने कामदेव की सहायता से उस पर विजय प्राप्त की। इसी रोचक कथा का आलेखन मिट्टी के उक्त खिलौने पर है।

गंधार और शूरसेन (मथुरा) के अतिरिक्त विवेच्य काल में कौशांबी, सारनाथ, श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर आदि स्थानों में भी पत्थर और मिट्टी की कलापूर्ण मूर्तियों का निर्माण हुआ। कौशांबी से मिट्टी की सैकड़ों मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे तत्कालीन लोक-जीवन की अच्छी जानकारी होती है। मथुरा की बनी हुई बुद्ध-बोधिसत्व की मूर्तियाँ कौशाम्बी, सारनाथ, श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, साँची आदि स्थानों में मिली हैं।

स्थापत्य

शक-कुषाण काल में मूर्तिकला की उन्नति के साथ-साथ नगर-निर्माण तथा अनेक प्रकार की इमारतों के निर्माण में प्रगति हुई। विवेच्य युग में भारत में बौद्ध, जैन, भागवत एवं शैव धर्मों का अच्छा विकास हुआ और इन धर्मों से सम्बन्धित विविध स्तूपों, विहारों, मंदिरों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। शक-कुषाण शासक ललित कलाओं के प्रेमी थे और उनके संरक्षण में देश के विभिन्न भागों में अनेक कलापूर्ण इमारतें बनीं। कालांतर में आए हुए चीनी यात्रियों—फाह्यान तथा हुएन-सांग—ने अपने समय में अवशिष्ट इन इमारतों की प्रशंसा की है। उन्होंने विशेषत: कनिष्क के द्वारा बनवाए हुए कुछ स्तूपों और विहारों का उल्लेख किया है। पुरुषपुर (पेशावर), तक्षशिला तथा

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मथुरा नगरों को कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अनेक विशाल इमारतों से मंडित किया।

अशोक की भाँति कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये अपने साम्राज्य के अनेक स्थानों पर स्तूप और विहार बनवाये। प्रसिद्ध है कि उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर में चार सौ फुट ऊँची मीनार बनवाई। यह १३ मंजिलों की थी। इसके ऊपर एक लोहे का छत्र बनवाया गया था। इसी के समीप उसने एक संघाराम भी बनवाया, जो दसवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म और शिक्षा का केन्द्र रहा। पेशावर के समीप शाहजी की ढेरी में जो ध्वंसावशेष मिले हैं, कुछ विद्वानों के अनुसार, वे कनिष्क के उसी संघाराम के हैं। फाह्यान, सुंग-युन और हुएन-सांग ने कनिष्क के इस स्तूप का उल्लेख किया है। पाल-नरेश देवपाल के समय में कनिष्क का संघाराम विद्यमान था। ११ वीं शताब्दी में अल्बेरूनी ने भी 'कनिष्क-चैत्य' के नाम से इस स्तूप का उल्लेख किया है।

तत्कालीन बौद्ध एवं जैन स्तूप प्रायः ईंट और पत्थर के बनते थे। इनमें सबसे नीचे एक चौकोर आधार बनाया जाता था। उसके ऊपर प्रायः गोलाकार रचना (अंड) होती थी। शीर्ष पर दंड (यष्टि) के सहारे छत्र रहता था। कभी-कभी छत्रों की संख्या कई होती थी। स्तूप का बाहरी भाग विविध भाँति के उत्कीर्ण शिला-पट्टों से सजाया जाता था। स्तूप को वेष्टनी या चार दीवारी से घेरा जाता था, जिसे 'वेदिका' कहते थे। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर खड़े खम्भे आड़े पत्थरों (सूची) द्वारा जोड़े जाते थे। खम्भों के सिरों पर जो पत्थर रखे जाते थे वे 'उष्णीष' या 'मूर्धस्थ पाषाण' कहलाते थे। वेष्टनी या वेदिका के ये सभी पत्थर विविध भाँति की उकेरी हुई मूर्तियों और अलंकरणों से युक्त होते थे। भीतर जाने-आने के लिये वेदिका में प्रायः चारों दिशाओं में एक-एक तोरणद्वार बना रहता था।

स्तूपों में तीर्थंकरों या भगवान् बुद्ध अथवा उनके प्रमुख शिष्यों के पवित्र अवशेष (हड्डी, राख, नख, बाल आदि) रखे जाते थे। जब महात्मा बुद्ध का देहावसान (निर्वाण) हुआ, तब उनके अवशेषों को आठ भागों में विभक्त किया गया और प्रत्येक के ऊपर एक स्तूप की रचना की गई। इसके बाद स्तूप-निर्माण की परम्परा जारी रही। सम्राट् अशोक के संबंध में कहा जाता है कि उसने भारत के विभिन्न स्थानों पर ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। प्रसिद्ध है कि मथुरा में उसने कई स्तूप बनवाये। इनमें से तीन का उल्लेख चीनी यात्री हुएन-सांग ने किया है। इस यात्री ने बुद्ध भगवान् के साथियों के अवशेषों पर निर्मित स्तूपों की भी चर्चा की है। अशोक और उसके बाद निर्मित कुछ भग्नावशिष्ट स्तूप साँची, तक्षशिला, सारनाथ आदि स्थानों में विद्यमान हैं। इनमें से कई तो बहुत विशाल हैं। शक-कुषाण-काल में छोटे-बड़े अनेक स्तूपों की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रचना की गई। उनमें से कई के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इन शासकों द्वारा मथुरा, तक्षशिला आदि स्थानों में बहुसंख्यक विहार बनवाए गए।

विवेच्य काल में हिन्दू मंदिरों का भी निर्माण हुआ। इन मंदिरों की निर्माण-शैली स्तूपों से भिन्न थी। स्तूपों की रचना पवित्र अवशेषों के ऊपर की जाती थी। 'वाल्मीकि-रामायण' में संभवतः इसी कारण उनके लिए 'श्मशान-चैत्य' नाम आया है। परन्तु मंदिर को देवताओं के निवास-स्थान के रूप में माना जाता था। इसीलिये इन्हें 'देवालय' कहा जाता था।

मंदिर के भीतर एक या अनेक देवों की मूर्तियों का होना तथा उनकी पूजा अनिवार्य मानी जाती थी। मंदिर की रचना में शिखर का प्रदर्शन विशिष्टता का द्योतक माना जाने लगा। शिखर का यह भाव सुमेरु, त्रिकूट, कैलास आदि पर्वतों से ग्रहण किया गया। मंदिर के बहिर्भाग को प्रायः विविध अलंकरणों तथा देव, यक्ष, किन्नर, अप्सरादि की प्रतिमाओं से सजाया जाता था।

मथुरा में संभवतः जैनों तथा बौद्धों के स्तूपों का निर्माण मंदिरों के बनने से कुछ पहले प्रारम्भ हुआ। यहाँ हिन्दुओं के सबसे प्राचीन जिस मंदिर का उल्लेख मिला है वह शक राजा शोडास के राज्यकाल में निर्मित हुआ। इसका पता मथुरा से प्राप्त एक सिरदल पर उत्कीर्ण शिलालेख से चला है। इस लेख में लिखा है कि वासुदेव कृष्ण का चतुःशाला मंदिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति के द्वारा महा-क्षत्रप शोडास के शासन-काल में सम्पन्न हुआ। यह मंदिर संभवतः उसी स्थान पर बनवाया गया जहाँ भगवान् कृष्ण का जन्म माना जाता है। हो सकता है कि इसके पहले श्रीकृष्ण का कोई मंदिर मथुरा में रहा हो, पर उसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की अनेक कुषाण-कालीन मूर्तियां ब्रज में मिली हैं। सम्भव है कि उनमें से कुछ के मंदिरों का निर्माण इस समय या इसके कुछ पहले प्रारंभ हो गया था। मथुरा के मोरा नामक गांव से प्राप्त एक लेख में वृष्णियों के पांच महावीरों (कृष्ण, बलराम आदि) की पूजा का उल्लेख मिला है।

विवेच्यकालीन स्थापत्य के समूचे उदाहरण आज दुर्लभ हैं। धार्मिक इमारतों, प्रासादों और साधारण मकानों की निर्माण-शैली की जानकारी के लिए इमारती पत्थरों एवं अन्य अवशेषों के रूप में थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध हुई है। उसके आधार पर हम इन इमारतों की रूपरेखा इस प्रकार दे सकते हैं—प्राचीन प्रासाद या बड़े मकान कई तलों के होते थे, उनमें नीचे के खंड से ऊपर जाने के लिये जीने (सोपान मार्ग) होते थे। मकानों में बैठक का कमरा, स्नानागार, भोजनगृह, शयनगृह, श्रृंगार कक्ष और अन्तःपुर प्रायः अलग-अलग होते थे। यथास्थान खिड़कियां (गवाक्ष) भी होती थीं।

मकानों में जो चौखट, दरवाजे, खम्भे आदि लगाये जाते थे, उन्हें लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, कमल, मंगलघट, कीर्तिमुख, स्वस्तिक आदि अलंकरणों तथा विविध देवी-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवताओं, यक्ष-किन्नरों, सुपर्ण-विद्याधरों आदि की प्रति-कृतियों से अलंकृत किया जाता था। ईंट की बनी इमारतों की बाहरी दीवालों पर अनेक प्रकार की बेल-बूटेदार ईंटें लगाई जाती थीं, जिन पर धार्मिक एवं लौकिक दृश्यों के कलात्मक चित्रण होते थे।

भाषा तथा साहित्य

विवेच्य काल में जन-साधारण की भाषा प्राकृत थी। गन्धार, मथुरा, कौशाम्बी, सारनाथ आदि स्थानों तथा मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र एवं दक्षिण के अनेक भागों से बहुत से अभिलेख और मुद्रालेख मिले हैं, जिनमें अधिकांश की भाषा प्राकृत है। शुद्ध संस्कृत के भी कुछ लेख मथुरा, गिरनार आदि से मिले हैं। बहुसंख्यक लेखों की भाषा प्राकृत और संस्कृत का मिश्रण है। ऐसे लेख मथुरा और गन्धार में अधिक मिले हैं।

भारत में ब्राह्मी और खरोष्ठी, ये दो लिपियाँ इस युग में व्यवहृत होती थीं। शकों और कुषाणों के कुछ मुद्रा-लेखों पर यूनानी-लिपि का भी प्रयोग मिला है। खरोष्ठी का व्यवहार प्रायः पश्चिमोत्तर भारत में होता था। देश के अन्य भागों में ब्राह्मी का प्रयोग जारी था।

इस काल में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हुए। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र, माठर, चरक आदि इसी युग की विभूतियाँ मानी जाती हैं। अश्वघोष का नाम कवि, नाटककार एवं दार्शनिक के रूप में प्रख्यात है। इनके रचित ग्रन्थों में 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' प्रसिद्ध हैं। ये ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। पहले में भगवान् बुद्ध के चरित एवं उनकी शिक्षाओं का रोचक विवरण है। दूसरे ग्रन्थ 'सौन्दरनन्द' के प्रारम्भिक सर्गों में बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द और उसकी रूपगर्विता पत्नी सुन्दरी के सुखद ऐहिक जीवन का वर्णन है। बाद में बुद्ध के द्वारा नन्द को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का मनोरंजक वृत्तान्त है। इस कथानक को प्राचीन मूर्तिकला एवं चित्रकला में भी हम अंकित पाते हैं। अश्वघोष के कई नाटकों की प्रतियां मध्य-एशिया से प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध नाटक 'सारिपुत्र प्रकरण' है। इसमें मौद्गल्यायन और सारिपुत्र का महात्मा बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित होना उल्लिखित है। इनके अतिरिक्त अश्वघोष की कई अन्य रचनाएँ मिली हैं। अश्वघोष तथा अन्य सामयिक विद्वानों के प्रयास के फलस्वरूप मध्य-एशिया में ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा फैली। सिल्वाँ लेवी ने अश्वघोष की प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की है।[1]

---

१. "He stands at the starting point of all the great currents that renewed and transformed India towards the beginning of the Christian era. Poet, musician, preacher, moralist, philosopher, playwright, tale-teller he is an inventor in all these arts, and excels in all. In his richness and variety, he recalls Milton, Goethe, Kant and Valtaire". —Sylvan Levi

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कनिष्ककालीन अन्य विद्वानों में नागार्जुन का नाम भी प्रसिद्ध है। महायान मत के प्रमुख आचार्यों में इनकी गणना है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इनके शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रभाव शंकराचार्य के मायावाद पर पड़ा। इन्होंने अपने 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' में सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया।

वसुमित्र नामक अन्य विद्वान् कनिष्क के समय में हुई चौथी बौद्ध सभा का अध्यक्ष था। उसने बौद्ध ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखवाईं। चरक नामक प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्री को भी कनिष्क का समकालीन माना जाता है। इनका ग्रन्थ 'चरक संहिता' आयुर्वेद का एक प्रमुख ग्रन्थ है।

शक-कुषाण काल में विदेशों से सम्बन्ध

भारतीय इतिहास में विदेशी व्यापार के लिए यह युग बड़े महत्व का है। इस काल में भारत पूर्वी तथा पश्चिमी जगत् का व्यापार-केन्द्र बन गया। पहले पश्चिमी देशों का व्यापारिक सम्बन्ध उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत से अधिक था। इस काल में उत्तर भारत से भी इन देशों का यातायात बढ़ा। पश्चिमी देशों के अतिरिक्त अब पूर्वी देशों, विशेषकर चीन, के साथ भारत के सम्बन्ध दृढ़ हुए। ईसवी दूसरी शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतीय माँझी दक्षिण-पूर्व की ओर बहुत बढ़ गये और उन्होंने बर्मा तथा हिन्द-चीन के अतिरिक्त सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों में भी अपने उपनिवेश स्थापित किए। हिन्दचीन का विशाल प्रायद्वीप, जो अनेक जंगली जातियों से भरा पड़ा था, सभ्य बनाया गया। भारत और चीन के बीच स्थल-मार्ग द्वारा भी सीधा यातायात सम्बन्ध स्थापित हो गया।

व्यापारिक मार्ग - इस काल में भारत से पश्चिमी जगत् का व्यापार स्थल तथा जल दोनों रास्तों से होता था। स्थल-मार्ग खैबर दर्रे से होकर हिन्दूकुश पर्वत पार करता हुआ बल्ख पहुँचता था। फिर आक्सस (वंक्षु) नदी के किनारे-किनारे होता हुआ खीवा पहुँचता और वहाँ से कैस्पियन सागर के तट तक जाता था। वहाँ से व्यापारी लोग स्थल या नदी मार्ग से काले सागर तक पहुँचते और फिर मध्य सागर के किनारे तक जाते थे। जल-मार्ग के द्वारा जहाज पश्चिम के बन्दरगाहों से फरात नदी के मुहाने तक जाते थे। वहां माल को उतार कर उसे स्थल-मार्ग द्वारा पामीरा शहर होकर उत्तर-पश्चिम के देशों को पहुँचाया जाता था। जहाजों का दूसरा मार्ग लोहित सागर या अरुणोदधि (लाल सागर) होकर था जहाँ से वे स्वेज नहर पार कर भूमध्य सागर में पहुँचते थे। स्वेज नहर के खुल जाने से यह मार्ग सुविधाजनक हो गया था और बहुत चालू रहता था। भूमध्य सागर के किनारे इस काल में दो बड़े बंदरगाह गाजा (Ghaza) तथा राइनो कोलुरा (Rhinokolura) थे। 'एक्सोडस' (Exodus) ग्रंथ में एक भारतीय नाविक की चर्चा मिलती है, जो अपने जहाज में कई यूनानियों का अरब सागर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के रास्ते भारत में मालाबार-तट तक लाया था। मिस्र के एक प्राचीन लेख में शोभन नामक एक भारतीय व्यापारी का हाल मिला है[1]।

४७ ई० के लगभग हिप्पलस नामक यूनानी यात्री को हिन्द महासागर में चलने वाली मानसून हवाओं का पता चल गया और तब से पश्चिम की ओर आने-जाने वाले जहाजों को समय की बचत के साथ सहूलियत भी होने लगी।

रोम साम्राज्य—भारत में कुषाणों ने रोम और चीन साम्राज्यों के साथ राजनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाने की सतत चेष्टा की। फलस्वरूप इन तीनों महादेशों—भारत, रोम और चीन—के बीच व्यापारिक यात्राओं और प्रणिधि-वर्ग का आदान-प्रदान इस समय से लगाकर कई शताब्दियों बाद तक जारी रहा। सबसे पहले एक सातवाहन राजा ने पश्चिमी तट के बंदरगाह भरुकच्छ (भड़ौंच) से ई० पू० २५ में शेर, कछुए तथा बाज पक्षी भेंट की तौर पर सम्राट् अगस्टस के यहाँ भेजे। रोम से भारत का सीधा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण दोनों देशों को लाभ हुआ। पहले सोमाली आदि देशों से होकर भारत का माल रोम पहुँचता था, जिससे व्यापारियों को उसकी कीमत अधिक चुकानी पड़ती थी और फलस्वरूप रोम में माल काफी मँहगा पड़ता था। परन्तु अब सीधे सम्पर्क स्थापित हो जाने के कारण इस असुविधा में बहुत कमी हो गई।

इस काल में विशाल रोम साम्राज्य तथा भारत से बीच व्यापारिक धारा अबाध गति से बहती रही। दक्षिण तथा मध्य भारत में पाए गए सैकड़ों रोमन सिक्के इसकी पुष्टि करते हैं। प्रथम पाँच रोमन सम्राटों अगस्टस से लेकर नीरो (ई० पू० २९ से ई० ६८ तक) के सोने के सिक्के विशेष रूप से कोयंबटूर, मदुरा आदि दक्षिण के नगरों में मिले हैं। मैसूर, बम्बई, मध्यप्रदेश तथा सीलोन में भी कई स्थानों से ये सिक्के अच्छी संख्या में प्राप्त हुए हैं। उत्तर में बिहार, उत्तर प्रदेश पंजाब तथा सरहद्दी सूबे से भी रोमन सिक्के पाए गए हैं। इन सिक्कों को रोम साम्राज्य प्रधानतया अपने निवासियों के विविध फैशनों की पूर्ति के लिए बड़ी संख्या में भारत भेजता था। अनेक प्रकार के बारीक और नफीस रेशम तथा मलमल के वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, मोती, वैदूर्य आदि रत्न भारत से रोम साम्राज्य को जाते थे और बदले में वहाँ से अपार धनराशि भारत आती थी। लगभग ७५ ई० में यूनानी लेखक प्लिनी ने लिखा कि "भारतीय माल रोम में आकर सौ गुने मूल्य पर बिकता है और ऐसा कोई भी वर्ष नहीं जाता जिसमें भारतीय व्यापारी रोम से कम से कम साढ़े पाँच करोड़ सेस्तर (लगभग ६ लाख अशर्फियाँ) न खींच ले जाते हों।" प्लिनी ने बड़े दुःख के साथ रोम साम्राज्य की यह

1. रालिसन—इन्टरकोर्स बिटवीन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ९६-९९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बरबादी देखकर अपने देशवासियों की विलास-प्रियता को कोसते हुए लिखा है कि "यह बड़ी धनराशि हमें अपनी शृंगारप्रिय वनिताओं के लिए व्यय करनी पड़ती है।" पेत्रोनि नामक एक दूसरे लेखक ने रोमन महिलाओं की बेपर्दगी की शिकायत करते हुए लिखा है कि "रोम की रमणियां बुनी हवा के जाले (भारत की मलमल) पहन कर अपना सौंदर्य झलकाती हैं"[1]। संगम युग के तमिल साहित्य में ऐसे बारीक कपड़ों की उपमा साँप की केंचुल (अहिनिर्मोक) तथा दूध की भाप से दी गई है। तमिल ग्रंथों में यह भी उल्लेख है कि मुसिर (आधुनिक क्रांगनूर) बंदरगाह पर यवनों (यूनानी लोगों) के जहाज आते थे। वे भारत से मसाला और दूसरी वस्तुएँ ले जाते तथा बदले में सोना दे जाते थे। रोम सम्राट् अर्लियन के राज्य-काल (२७० से २७५ ई०) में भारतीय रेशम का मूल्य उतनी ही तोल के सोने के बराबर था। केवल रोम नगर से प्रति वर्ष शृंगार की वस्तुओं के लिए चालीस लाख रुपये भारत को भेजे जाते थे।

मध्य एशिया—कुषाणों का साम्राज्य मध्य एशिया तक फैला हुआ था। खोतन, यारकंद तथा काशगर के प्रदेश कनिष्क तथा उसके कई उत्तराधिकारियों के अधीन थे। ये शासक प्रधानतया बौद्ध थे, परन्तु साथ ही हिन्दू धर्म के भी पोषक थे। विम कैड्फिसेस, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि के सिक्कों पर शिव, बुद्ध, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, स्कन्द, उमा आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। भारतीय धर्म तथा कला के प्रेमी इन शासकों से भारतीय संस्कृति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने उसका प्रसार न केवल अपने शासित भारतीय प्रदेशों में किया अपितु उसे मध्य एशिया में भी फैलाया। प्रस्तुत काल में बौद्ध स्तूपों, विहारों तथा मंदिरों का निर्माण मध्य एशिया में अनेक स्थानों पर हुआ। खरोष्ठी लिपि में लिखी जाने वाली भारतीय प्राकृत भाषा वहाँ की राष्ट्र भाषा बन गई। लकड़ी की तख्तियों पर इसी लिपि और भाषा में लिखे हुए कीलाक्षरी लेख बड़ी संख्या में मध्य एशिया से प्राप्त हो चुके हैं। खोतन नगर के निकट एक बड़े विहार का निर्माण किया गया था, जिसका नाम 'गोशृंग विहार' था। कुछ वर्ष पहले इस विशाल विहार के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। उपलब्ध वस्तुओं में बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' की एक पुस्तक भी है। यह पुस्तक भोज-पत्रों पर लिखी गई है और प्राकृत भाषा में है। अश्वघोष नामक प्रसिद्ध लेखक कनिष्क का समकालीन माना जाता है। उसने 'बुद्ध चरित' तथा 'सौंदरनंद' नामक दो काव्य ग्रन्थ संस्कृत में लिखे। इसी कवि द्वारा रचित 'शारिपुत्रप्रकरण' नामक नाटक की हस्तलिखित प्रति का कुछ अंश आरेल स्टाइन को मध्य एशिया में उत्तरी तारीम काँठे के तुर्फान नामक नगर से प्राप्त हुआ था। यह ग्रन्थ तथा 'धम्मपद' की प्रति, ये दोनों ई० प्रथम शताब्दी की रचनाएँ हैं।

---

१. दे० जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृ० ६६६।
२. अयंगर, बिगिनिंग्स ऑफ साउथ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३४–५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्य एशिया के खोतन नगर से स्थल मार्ग यारकंद को जाता था। वहाँ से काशगर होकर चीन को रास्ता जाता था। इसी मार्ग से होकर बड़ी संख्या में व्यापारी आते-जाते थे। इस मार्ग से मुख्यतया रेशम का व्यापार होने के कारण उसे 'रेशम-मार्ग' (Silk-route) कहने लगे थे। इस काल में मध्य एशिया में अनेक भारतीय उपनिवेश थे, जिनके नाम शैलदेश (काशगर), कोक्कुक (यारकंद), खोतन्न (खोतन), कलमद (शान-शान), भरुक (तुरफान), कूची (कूचार) तथा अग्निदेश (कराशहर) मिलते हैं। इनमें से दक्षिण में खोतन्न तथा उत्तर में कूची प्रदेश भारतीय संस्कृति के प्रधान केंद्र थे और इन्हीं में से होकर भारतीय सभ्यता मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में तथा चीन में फैली थी। इस काल के अंत तक मध्य एशिया के अनेक भागों में बौद्ध धर्म फैल गया था।

चीन—विवेच्य काल में हिंदचीन तथा हिंदेशिया के कई द्वीपों में भारतीय उपनिवेश स्थापित हो जाने के कारण चीन के साथ संबन्ध बढ़ाने में सुविधा हुई। चीन का रेशम इस काल तक काफी प्रसिद्ध हो चुका था। भारतीय साहित्य में इसके उल्लेख बहुत मिलते हैं। राजवर्ग तथा अन्य संभ्रांत कुलों के स्त्री-पुरुष चीनी कौशेय या रेशमी वस्त्र धारण करना प्रतिष्ठास्पद समझते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में बढ़िया चीनांशुक के प्रचुर वर्णन मिलते हैं। इस काल की अनेक मूर्तियाँ मथुरा, श्रावस्ती, कौशांबी, अमरावती, नागार्जुनीकुण्डा आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। उनमें से अनेक पर कौशेय परिलक्षित होता है। भगवान् बुद्ध के चीवर प्रायः इसी वस्त्र के दिखाए गए हैं। इन चीवरों से बुद्ध के शरीर की दीप्ति प्रस्फुटित होती हुई जान पड़ती है। इन वस्त्रों के अतिशय झीनेपन के कारण स्त्री-पुरुषों की अनेक मूर्तियाँ वस्त्रावृत होते हुए भी नग्न-सी दिखाई पड़ती हैं। कलाकारों ने सौंदर्य के अनिंद्य साधन के रूप में नारी को चित्रत करने के उद्देश्य से सन्नतांगी सुन्दरियों को अहिनिर्मोक सदृश झीने चीनदेशीय दुकूलों से अलंकृत किया है, जिनमें से उनका सुकुमार यौवन तथा सौंदर्य झाँकता-सा दिखाई पड़ता है।

न केवल भारत देश में चीनी रेशम की माँग थी, अपितु तत्कालीन रोम की रमणियाँ भी इसके लिए लालायित रहती थीं। रोम साम्राज्य के लिए चीन का माल अधिकतर भारत होकर जाता था। चीनी व्यापारी प्रायः भारत के दक्षिण-पूर्वी समुद्र-तट तक ही अपना माल लेकर आते थे और फिर यहाँ से भारतीय व्यापारी उस माल को रोम साम्राज्य तक पहुँचाते थे। इस प्रकार इस युग में भारतवर्ष व्यापारिक क्षेत्र में मध्यस्थ का काम करता रहा और पूर्वी तथा पश्चिमी जगत् के व्यापार का केंद्र बना रहा। शक-कुषाण तथा सातवाहन शासक भारतीय व्यापार के संरक्षक थे। उन्होंने विदेशों के साथ भारत के अच्छे राजनैतिक तथा आर्थिक संबन्ध बनाए रखने का

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूरा प्रयत्न किया, जैसा कि इस काल में बड़ी संख्या में विदेशों के प्रणिधि-वर्ग के आवागमन से प्रकट होता है।

पान-काउ नामक लेखक के द्वारा रचित ग्रंथ 'शिन-हान चाउ' से पता चलता है कि दक्षिण भारत का चीन से समुद्र-मार्ग द्वारा व्यापारिक संबंध इस काल में भी जारी रहा। इस पुस्तक में लिखा है कि ई० सन् के प्रारम्भ में वांग-मंग नामक चीन के शासक ने कांची के राजा को अपने यहाँ की अनेक मूल्यवान् वस्तुएँ भेंट भेजीं और उससे प्रार्थना की कि वह अपने देश का एक जीवित गैंडा चीन भेज दे। फलस्वरूप यहाँ से गैंडा चीन को भेज दिया गया।

दक्षिण-पूर्वी देश—पश्चिमी जगत् की अपेक्षा दक्षिण-पूर्व के यात्रा-मार्ग अधिक संकटपूर्ण थे। ये घने जंगलों और दुर्गम पहाड़ों से होकर जाते थे। परन्तु इन कठिनाइयों से प्राचीन भारतीय विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपने जीवट का उपयोग दक्षिण-पूर्व की नई भूमियों के अन्वेषण एवं नवीन बस्तियों के बसाने में किया। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के पूर्व ही इन भू-स्थापकों ने वहाँ कई उपनिवेशों की स्थापना कर ली। तब से लेकर भारतीयों की यह प्रवृत्ति कई शताब्दियों तक बराबर जारी रही। प्रसिद्ध यूनानी भूगोल-लेखक टालमी के वर्णनों से प्रकट होता है कि उसके समय (ई० दूसरी शताब्दी) में ताम्रलिप्ति[1] के पूर्व से लेकर तौंकिन की खाड़ी तक लगातार भारतीय बस्तियाँ बसी हुई थीं। इनमें से अधिकांश के नाम भारतीय प्रान्तों तथा नगरों के ही अनुरूप रखे गए थे। आधुनिक कंबोडिया का प्राचीन नाम 'कंबुज', हिन्द चीन के लाओ प्रांत का नाम 'मालव', उसके पूर्व का 'दशार्ण' तथा हिन्दचीन के पूर्वी छोर की बस्ती का नाम, जिसे अनाम कहते हैं, 'चंपा' रखा गया। इसी प्रकार आधुनिक युइ-नान प्रांत का नाम 'गंधार' रखा गया। ई० तीसरी शताब्दी के अंत में सुमात्रा में 'श्रीविजय' नामक एक महत्वपूर्ण राज्य की स्थापना हुई। इसके कुछ पूर्व हिंदचीन के दक्षिण भाग में 'कौठार' तथा 'पांडुरंग' नाम के दो भारतीय उपनिवेश स्थापित किए गए।

उपर्युक्त नए राज्यों में नगरों के नाम भी भारतीय ही रखे गए—उदाहरणार्थ, अयोध्या, वैशाली, मदुरा (मथुरा), श्रीक्षेत्र, तक्षशिला, कुसुमनगर, रामावती, धान्यवती, द्वारवती, विक्रमपुर आदि। हिन्दचीन तथा हिंदेशिया में बहने वाली नदियों के नाम चंद्रभागा, गोमती आदि मिलते हैं। भारतीय रीति-रिवाज, रहन-सहन, लिपि, भाषा, कला आदि का इन देशों में प्रसार हो गया। वहाँ के आदिम निवासियों के साथ भारत के लोग बहुत घुल-मिल गए। उन पर भारतीयों की इस उदार सामाजिक नीति का

१. वर्तमान तमलुक, जो पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर जिले में है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आशातीत प्रभाव पड़ा। शीघ्र ही ये प्रदेश भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रँग गए और उनकी गणना 'बृहत्तर भारत' के अन्तर्गत की जाने लगी।

इन भागों में अन्वेषण एवं भूस्थापन के लिए जाने वालों में कलिंग (उड़ीसा), बंगाल, मद्रास प्रांत के पूर्वी तट तथा गुजरात के निवासियों का ही प्रमुख योग रहा। इन प्रवासियों में उत्साही वणिकों की संख्या सबसे अधिक थी। हिन्दचीन में तथा हिंदेशिया के अनेक द्वीपों में अब भी कितनी मनोरंजक गाथाएँ स्थानीय भाषाओं के लोक-साहित्य में तथा चीनी साहित्य में जीवित हैं। ये अनुश्रुतियाँ साहसी भारतीयों के द्वारा इन भूभागों में किए गए सांस्कृतिक प्रसार की मधुर कहानियाँ सँजोए हुए हैं।

भारतीय प्रवासियों ने स्थल तथा जल दोनों मार्गों द्वारा हिंदचीन प्रायद्वीप के विभिन्न भागों में तथा उसके आगे चीन तक पहुँचने की राह खोज निकाली। वे हिंदेशिया के द्वीपों में मलाया के जलडमरूमध्य से जहाज द्वारा पहुँचते थे। स्थल वाला मार्ग पूर्वी बंगाल से मणिपुर और आसाम होकर इरावती, सालवीन तथा मेकांग नदियों की उपरली दूनों में से होता हुआ हिंदचीन को जाता था।[1] उत्तरी बर्मा से एक मार्ग सीधे दक्षिण चीन तक जाता था। समुद्रीमार्ग कई थे—कुछ लोग ताम्रलिप्ति से बंगाल के किनारे-किनारे दक्षिण बर्मा पहुँचते। वहाँ से हिन्दचीन और हिंदेशिया के विभिन्न भागों में पहुँचते थे। कुछ जहाज मलाया के तक्कोल बंदरगाह से सीधे पूर्वी द्वीपों को जाते थे। तक्कोल से स्याम और कंबुज को भी व्यापारिक मार्ग जाते थे। कलिंग-तट पर गोपालपुर के पास पालुरा नामक स्थान में तथा आधुनिक मछलीपट्टं के समीप कई बड़े पोताश्रय थे, जिनसे दक्षिण-पूर्वी जगत् को बड़े रूप में यातायात होता था। इसी प्रकार पश्चिमी तट पर स्थिति भरुकच्छ (भड़ौंच) तथा शूर्पारक (सोपारा) बन्दरगाहों से भी जहाज हिन्दचीन तथा हिंदेशिया को जाते थे। ये सभी बड़े व्यापारिक नगर थे। इनके अतिरिक्त पुरुषपुर, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन, प्रतिष्ठान, तगर, कौशांबी आदि नगर अनेक व्यवसायों के केंद्र थे। स्थल मार्ग बीहड़ जंगलों आदि के बीच से गुजरता था, अतः उससे होकर प्रायः बड़े काफले ही जाते थे। इस काल में जल वाला मार्ग अपेक्षाकृत आसान होने के कारण अधिक चालू हो गया था।

दक्षिण-पूर्व के देशों में उक्त उपनिवेशों की स्थापना भारतीय व्यापार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। अब भारत को अपने माल की खपत के लिए अनेक बड़ी बाजारें प्राप्त हो गईं। भारतीय शिल्पी एवं व्यापारी बड़ी संख्या में जाकर इन उपनिवेशों में बस गए और उन्होंने अपने सौहार्दपूर्ण बर्ताव से वहाँ के आदिम

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार, रूपरेखा, पृ० ८०६ तथा रमेशचंद्र मजूमदार, हिन्दू कालोनीज इन द फार ईस्ट (कलकत्ता, १९४४), पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवासियों को प्रभावित कर दिया। उनकी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को पूरा कर भारतीयों ने उन्हें सभ्यता का सच्चा मार्ग बताया। भारत के विभिन्न प्रदेशों से अन्न, वस्त्र तथा धातुओं से निर्मित विविध वस्तुएँ हिंदचीन तथा हिंदेशिया जाने लगीं और बदले में वहाँ से सोना, चाँदी, हाथीदाँत, चंदन, कपूर, मसाले आदि भारत में आने लगे। भारत की तत्कालीन एवं परवर्ती आर्थिक उन्नति में इन उपनिवेशों का बहुत बड़ा योग रहा।

ये उपनिवेश स्वयं तो भारतीय संस्कृति के केंद्र बने ही, साथ ही उनके द्वारा भारत को इतर देशों में भी अपने आर्थिक एवं धार्मिक सम्बन्धों को दृढ़ करने में सहायता मिली। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए धुर पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व के द्वीपों में तथा चीन, कोरिया आदि देशों में भारतीय प्रवासी उक्त उपनिवेश-वासियों के साथ बराबर जाते रहे। वाकाटक-गुप्त काल में दक्षिण-पूर्व में अन्य अनेक शक्तिशाली भारतीय राज्यों की स्थापना हुई और आर्यों की 'बृहत्तर भारत' की कल्पना सर्वांगीण रूप में प्रतिफलित हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १२

कुषाण साम्राज्य का अन्त तथा भारतीय राज्य

परवर्ती कुषाण शासक

कुषाण शासक वासुदेव प्रथम का अन्तिम लेख शक संवत् ९८ (१७६ ई०) का मिला है। उसी वर्ष या उसके शीघ्र बाद वासुदेव की मृत्यु हो गई होगी। उसके लेख तथा सिक्के प्रायः मथुरा और उसके आस-पास से मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि वासुदेव प्रथम का अधिकार उसी क्षेत्र में सीमित रहा। इस समय नाग, यौधेय, मघ, मालव आदि अनेक भारतीय शक्तियाँ प्रबल हो गई थीं और उनके सामने कुषाण लोग ठहर न सके। कुषाणों को उत्तर-पश्चिम की ओर भाग कर शरण लेनी पड़ी। उनका शासन भारत में पश्चिमी पंजाब, काश्मीर तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के कुछ सीमित भागों में ही रह गया।

कनिष्क तृतीय—इसका राज्यारोहण १८० ई० के लगभग हुआ होगा और इसने तीसरी शती के प्रारम्भिक वर्षों तक शासन किया होगा। पंजाब, अफगानिस्तान तथा सीस्तान से इसके सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं। ये दो प्रकार के हैं—पहले तो वासुदेव के सिक्कों–जैसे हैं, जिन पर एक ओर खड़ा हुआ राजा तथा दूसरी ओर नन्दी सहित शिव की मूर्ति है। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर शिव की जगह रोम की देवी अर्दोक्षो दिखाई गई है। उसके सिक्कों की एक विशेषता यह है कि उन पर ब्राह्मी लिपि में क्षत्रपों या प्रान्ताधीशों के नामों के आद्यक्षर दिए हैं, यथा—'वासु' (देव); 'विरू' (पाक्ष), 'मही' (श्वर) आदि। सम्भव है कि इनमें से वासु उसका पुत्र (वासुदेव द्वितीय) रहा हो। कुछ सिक्कों पर केवल एक अक्षर (प, न, ग, चु आदि) मिलता है। ये नाम सम्भवतः उन नगरों आदि के हों जहाँ ये सिक्के निर्मित किए जाते थे। 'वासु' आदि नाम वाले सिक्कों से यह अनुमान किया जा सकता है कि कनिष्क तृतीय अपने क्षत्रपों की सहायता से विभिन्न प्रदेशों का शासन करता रहा होगा। नामों के ये आद्यक्षर उन्हीं क्षत्रपों के सूचक होंगे। मथुरा से प्राप्त एक बुद्ध-मूर्ति की चरण-चौकी पर सं० १४ का एक ब्राह्मी लेख है और उसमें कनिष्क का नाम दिया है। लोहाइज़न का अनुमान है कि यह कनिष्क तृतीय है। उनके अनुसार संवत् १४ में १०० का अंक छोड़ दिया गया है और इसे ११४ (१९२ ई०) समझना चाहिए। लेख की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिपि से यह अनुमान ठीक ज्ञात होता है। वासुदेव प्रथम के बाद अनेक कुषाण लेखों में संवत् देते समय प्रायः १०० का अंक छोड़ दिया गया है।

वासुदेव द्वितीय– यह सम्भवतः कनिष्क तृतीय का पुत्र था। डा० अल्तेकर के अनुसार इसने २१० से २३० ई० तक राज्य किया होगा। उसके समय में कुषाण राज्य क्षत्रपों के अधीन अनेक टुकड़ों में बँट गया, जो अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए आपस में संघर्ष करने लगे।

वासुदेव द्वितीय के सिक्के बहुत कम संख्या में मिले हैं। ये सिक्के शिव-नन्दी प्रकार वाले हैं, जो बक्ट्रिया और अफगानिस्तान में प्रचलित थे। इससे अनुमान होता है कि सम्भवतः इस शासक का आधिपत्य इन्हीं प्रदेशों तक सीमित रह गया और पंजाब तथा सीस्तान में उसके क्षत्रप स्वतन्त्र शासक बन गए। उसके कुछ सिक्कों पर क्षत्रपों के नामों के आद्यक्षर मिले हैं।

वासुदेव द्वितीय के शासन-काल के अन्तिम वर्ष कुषाणों के लिए बहुत प्रतिकूल सिद्ध हुए। उस समय ईरान के सासानी राज्य की सत्ता बढ़ रही थी, जो कुषाण-शासन के लिए घातक हुई। चीनी ग्रन्थों में पो-शिआओ (Po-tiao) नामक राजा का नाम आया है जो सम्भवतः वासुदेव द्वितीय था। चीनी ग्रन्थों के अनुसार उसने २३० ई० में चीनी सम्राट् से सहायता-प्राप्ति के लिए अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल चीन भेजा। परन्तु यह सब व्यर्थ हुआ। कुषाणों के अब बहुत बुरे दिन आ गए थे। २३८ ई० में सासानी शासक आर्देशीर प्रथम ने बैक्ट्रिया पर अपना अधिकार कर लिया और वहां अपने युवराज को शासक-रूप में नियुक्त किया। उसने 'कुषाण-शाह, कुषाणों का राजा' उपाधि ग्रहण की। बाद में यह उपाधि 'कुषाण शाहनशाह, कुषाण राजाओं का राजा' के रूप में परिवर्तित हो गई। इससे कुषाणों की अधीन स्थिति का पूरा पता चलता है।

साँची से सं० २२ का एक लेख मिला है, जिस पर राजा का नाम वस्कुषाण दिया है। लोहाइजन के अनुसार यह राजा वासुदेव द्वितीय है और यह लेख सं० [१] २२ या २०० ई का है।

किदार कुषाण—चीनी इतिहास-विवरण वी-शू (Wei-Shu) से पता चलता है कि कुषाणों की एक शाखा कि-तो-लो (Ki-to-lo) या 'किदार' थी। इसने चौथी शती के मध्य में हिन्दूकुश पार करके गन्धार के उत्तर की पाँच रियासतों पर धावा बोल दिया और उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सम्भवतः ये रियासतें पहले ईरान के सासानी प्रभुत्व में थीं। किदार भी पहले सासानियों का अधीन सामन्त था। उसके कुछ सिक्के ऐसे मिले हैं जिन पर उसका चेहरा सासानी शासकों की तरह दाईं ओर को है। इससे उसकी अधीन स्थिति का पता चलता है। परन्तु स्वतन्त्र होने पर किदार ने बाईं ओर को चेहरे वाले सिक्के जारी किए। कुछ समय तक गन्धार, काश्मीर और मध्य पंजाब में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किदार की शक्ति प्रबल रही। उसने इन प्रदेशों के शासन के लिए क्षत्रप नियुक्त किए। इनमें से कई क्षत्रपों के नाम सिक्कों पर मिले हैं जिन पर 'किदार' नाम भी दिया है।

३६७-८ ई० में कुषाणों ने सासानी सत्ता को चुनौती दी और उन्हें करारी हार दी। सम्भवतः इस समय कुषाणों का नेता किदार का लड़का पीरो था। उसके कुछ सिक्के सासानी ढंग के प्रतिकूल प्रकार के हैं। डा० अल्तेकर का अनुमान है कि पीरो ने समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद पंजाब के पूर्व में अपना अधिकार बढ़ाने की चेष्टा की; उसके उत्तराधिकारी रामगुप्त को परास्त कर पीरो ने उससे गुप्त-वंश की महारानी ध्रुवस्वामिनी की माँग की, जिसे भीरु रामगुप्त ने स्वीकार कर लिया।

परन्तु यह अनुमान युक्तिसंगत नहीं। रामगुप्त से उसकी रानी की माँग करने वाला किदार राजा नहीं अपितु मालवा का शक-क्षत्रप राजा था और यह घटना विदिशा या एरण (जि० सागर) में घटी जान पड़ती है।

पीरो की शक्ति शीघ्र ही सासानियों द्वारा पददलित कर दी गई। पीरो के कई वंशजों के नाम सिक्कों से ज्ञात हुए हैं। किदार वंश का अन्त हूणों द्वारा ई० पाँचवीं शती में किया गया।

कुषाणों के विजेता

ई० दूसरी शती का अन्त होते-होते मथुरा प्रदेश तथा उसके पश्चिम से कुषाणों की सत्ता उखड़ गई थी। मध्य देश तथा पूर्वी पंजाब से कुषाणों को हटाने में कई शक्तियों का हाथ था। कौशाम्बी तथा बघेलखंड के मघ राजाओं एवं पद्मावती, कांतिपुरी, विदिशा और मथुरा के नागवंशी लोगों ने मध्य देश से तथा यौधेयों, मालवों और कुणिंदों ने राजस्थान और पंजाब से कुषाणों को भगाने में प्रमुख भाग लिया। इन सबके प्रयत्नों से कुषाण—जैसी शक्तिशाली सत्ता का, जो लगभग दो सौ वर्ष तक भारत के एक बड़े भाग पर जमी हुई थी, प्रायः अन्त हो गया। ई० तीसरी शती के आरम्भ से पश्चिमी शकों की भी शक्ति का ह्रास शुरू हुआ। कुषाणों के उत्कर्ष के समय में इन शकों का अधिकार उत्तरी महाराष्ट्र, गुजरात और काठियावाड़ के अतिरिक्त मालवा एवं राजस्थान तथा सिंध के एक बड़े भाग पर स्थापित था। रुद्रदामा प्रथम के बाद सातवाहनों द्वारा पराजय के कारण शकों की शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा। सातवाहनों के अतिरिक्त यौधेय, मालव, नाग आदि भारतीय शक्तियों के परवर्ती उत्कर्ष के कारण पश्चिमी शकों की शक्ति बहुत घट गई। ई० चौथी शती के अंत में गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा पश्चिमी शकों की शक्ति का मूलोच्छेद कर दिया गया। इस प्रकार एक लम्बे समय के बाद भारत-भूमि पर से विदेशी शक-कुषाणों के शासन की समाप्ति हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारशिव-नाग—वाकाटक राज-वंश के कई अभिलेखों में भारशिव नागों का नाम मिलता है। ये शिव के विशेष भक्त थे। वाकाटकों के साथ उनके वैवाहिक सम्बन्ध का तथा भारशिवों द्वारा दस अश्वमेध-यज्ञ करने के उल्लेख भी इन लेखों में मिलते हैं।[1]

डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार भारत को विदेशियों से मुक्त करने में भारशिव नागों का प्रमुख हाथ था और उनके ही प्रयत्नों के फलस्वरूप कुषाण–जैसी दुर्दांत शक्ति को मध्य देश तथा पंजाब छोड़ कर भागना पड़ा।[2] जायसवाल पुराणों में उल्लिखित नव नागों को भारशिव वंशी अनुमान करते हैं और उनका केन्द्र कांतिपुरी (कंतित, जि० मिरजापुर) बताते हैं। परन्तु प्रो० अल्तेकर ने हाल की खोजों के आधार पर डा० जायसवाल की उक्त तथा अन्य कतिपय मान्यताओं का खंडन किया है।[3] उनका कहना है कि मिर्जापुर जिले के कंतित में किसी नाग-वंश के शासन के चिह्न नहीं मिलते। वीरसेन नामक राजा के बहुसंख्यक सिक्के मथुरा से प्राप्त हुए हैं। पर उनके आधार पर यह मानना कि वह नागवंशी था और उसने नागवंश की शाखाओं को विभिन्न केन्द्रों में जमाया तथा कुषाणों को उसने तथा उसके वंशजों ने पूर्वी पंजाब से बाहर निकाल दिया, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। पुराणों में उल्लिखित कांतिपुरी की सही पहचान कुतवार (जि० गुना, मध्य प्रदेश) से की गई है। यह स्थान पद्मावती तथा विदिशा से अधिक दूर नहीं है। कुतवार से नाग राजाओं के कई हजार सिक्के मिले हैं। यहाँ के टीले यह सूचित करते हैं कि प्राचीन कांतिपुरी यहीं रही होगी।

मथुरा, पद्मावती और कांतिपुरी के नाग शासक—नाग लोग भारत के प्रमुख आदिम निवासियों में से हैं। प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ये लोग अनार्य थे और साँपों को देवरूप में पूजते थे। महाभारत-युद्ध के पश्चात् उत्तर–पश्चिम भारत में नागों की शक्ति का प्रसार हुआ। उनके सरदार तक्षक ने राजा परीक्षित् को मार डाला था, जिसका बदला परीक्षत् के पुत्र जनमेजय ने नाग-यज्ञ करके लिया। उस समय के बाद से लेकर कुषाण-काल तक मथुरा और कुरु प्रदेश में नागों का जिक्र नहीं मिलता। पुराणों में गुप्त-वंश के अभ्युदय के पहले मथुरा में सात नागवंशी राजाओं के राज्य करने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार कांतिपुरी, विदिशा तथा पद्मावती (वर्तमान पदम पवाया, जि० मुरेना) में भी नागों के शासन का

---

१. "अंसभारसन्निवेशित—शिवलिङ्गोद्वहन—शिवसुपरितुष्ट — समुत्पादित—राजवंशानां पराक्रमाधिगत—भागीरथ्यामलजल— मूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथ स्नातानाम्भारशिवानाम्।" (प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक से प्राप्त ताम्रपत्र से उद्धृत)

२. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (१५०–३५० ई०), पृष्ठ १–३२।

३. न्यू हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन पीपुल, जि० ६, पृ० २५–२८, ३६–४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पता पुराणों से चलता है। पर कुछ नामों के कथन के अतिरिक्त पुराणों में इन राजाओं के कोई अन्य विवरण नहीं मिलते।

पुराणों के अनुसार पद्मावती में नौ नाग राजाओं ने राज्य किया। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा और पद्मावती के नाग शासक एक ही मुख्य शाखा के थे। अभिलेखों के अनुसार भारशिव नामक नाग शाखा के राजा अपने कंधों पर शिवलिंग वहन करते थे। अपने पराक्रम से उन्होंने भागीरथी (गंगा) तक के प्रदेश को जीत कर अपना यश बढ़ाया और दस अश्वमेध यज्ञ पूरे किये।[1] सम्भवत: पद्मावती–मथुरा के नागों के अधिकार में ई० तीसरी शती में कुछ समय तक वर्तमान आगरा कमिश्नरी, झांसी कमिश्नरी का पश्चिमी भाग, धौलपुर तथा ग्वालियर का उत्तरी भाग सम्मिलित था।

सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर अब तक निम्नलिखित नाग राजाओं के नामों का पता चला है। नागसेन को छोड़कर पद्मावती से इन सब के सिक्के मिले हैं—

वृष या वृषनाग, भीमनाग, विभुनाग, प्रभाकरनाग, स्कन्दनाग, बृहस्पति-नाग, रविनाग, वसुनाग, देवनाग, भवनाग, गणपतिनाग, तथा नागसेन।[2] यदि इनमें वीरसेन का नाम और जोड़ दिया जाय तो अब तक ज्ञात नाग राजाओं की संख्या तेरह हो जाती है।

यह कहना कठिन है कि उक्त सूची में से कितने राजाओं ने मथुरा पर शासन किया। इनके पारस्परिक सम्बन्ध का भी ठीक पता नहीं चलता। इन राजाओं में से गणपतिनाग, भवनाग तथा वीरसेन के सिक्के मथुरा से काफी संख्या में मिले हैं, जिससे अनुमान होता है कि उक्त राजाओं ने मथुरा पर शासन किया। वीरसेन के सिक्कों के अतिरिक्त उसका एक लेख भी फर्रुखाबाद जिले के जनखट नामक स्थान से मिला है। यह लेख वीरसेन के १३ वें राज्य वर्ष का है। इससे पता चलता है कि यह राजा एक शक्तिशाली शासक था और उसका आधिपत्य मथुरा के दक्षिण-पूर्व में फर्रुखाबाद जिले तक फैल गया था। बहुत सम्भव है कि वीरसेन के ही समय में नाग-सत्ता गंगा-तट तक पहुँच गई हो। परन्तु इस विषय में अभी निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

पद्मावती के नाग शासकों में भवनाग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसकी लड़की का विवाह वाकाटक-वंशी गौतमीपुत्र के साथ हुआ था। वाकाटक वंश के

---

१. डा० जायसवाल के मतानुसार ये अश्वमेध-यज्ञ काशी के दशाश्वमेध घाट पर किये गये थे, जिसके कारण इस घाट की उक्त संज्ञा हुई।

२. नागसेन का नाम समुद्रगुप्त के प्रयाग-लेख में मिलता है। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में भी नागसेन का उल्लेख किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखों में इस वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख बराबर मिलता है। इससे पता चलता है कि चौथी शती के प्रारम्भ में नागों की शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी और भारत की तत्कालीन बड़ी शक्तियाँ उनके साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना गौरवजनक मानती थीं। गौतमीपुत्र की मृत्यु के बाद उसके पुत्र रुद्रसेन प्रथम को वाकाटक वंश का आधिपत्य कायम करने में अपने नाना भवनाग से बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

ई० चौथी शती के मध्य में जब समुद्रगुप्त के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विस्तार किया जा रहा था, उस समय सम्भवतः मथुरा का राजा गणपति नाग तथा पद्मावती एवं कान्तिपुरी का शासक नागसेन था। डा० दिनेशचन्द्र सरकार का अनुमान है कि गणपति नाग तथा नागसेन दोनों पद्मावती वंश के रहे होंगे और पहले की मृत्यु के बाद दूसरा राज्य का अधिकारी हुआ होगा। परन्तु जान पड़ता है कि ये दोनों समकालीन थे और एक मथुरा में तथा दूसरा पद्मावती में शासन कर रहा होगा। ये दोनों समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित हुए और उनका राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग बना लिया गया। डा० अल्तेकर का अनुमान है कि प्रयाग-लेख में आर्यावर्त के जिस राजा नागदत्त का उल्लेख हुआ है वह सम्भवतः मथुरा के ही राजवंश का था और उसका अधिकार उत्तरी दोआब पर था।[1]

यद्यपि समुद्रगुप्त के द्वारा पद्मावती, कान्तिपुरी तथा मथुरा के मुख्य नागवंश के राज्य का अन्त कर दिया गया तो भी नाग लोगों का गौरव गुप्त-काल तथा उसके बाद तक बना रहा। समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का विवाह नागवंश की कन्या कुबेरनागा के साथ किया। स्कन्दगुप्त के समय (४५५–४६७ ई०) में गंगा-यमुना के बीच अन्तर्वेदी का गोप्ता (प्रांतपाल) शर्वनाग नामक नागवंशी व्यक्ति था। राज्य के अन्य उच्च पदों पर भी नागवंश के लोग नियुक्त रहे होंगे।

नागों के शासन-काल में शैव धर्म की विशेष उन्नति हुई। नाग देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण इस काल में बहुत हुआ। साथ ही अन्य धर्मों का विकास भी होता रहा। ३१३ ई० में जैन श्वेताम्बरों ने स्कन्दिल नामक आचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एक बड़ी सभा का आयोजन किया। इस सभा में कई धार्मिक ग्रन्थों के शुद्ध पाठ स्थिर किये गये। इसी वर्ष दूसरी ऐसी सभा वल भी (सौराष्ट्र) में हुई। नागों के समय में मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, विदिशा, ऐरिकिण आदि नगर समृद्ध थे। उनमें मन्दिरों, महलों, मठों, स्तूपों तथा अन्य इमारतों का निर्माण हुआ। धर्म, कला-कौशल तथा व्यापार के कई प्रधान केन्द्र बने। नाग-शासन का अन्त होने के बाद

---

१. अल्तेकर —वही, पृ० ४०। अच्युत नाम के जिस राजा का नाम प्रयाग लेख में मिलता और जिसके सिक्के अहिच्छत्रा और उसके आस-पास बड़ी संख्या में मिलते हैं, वह भी डा० अल्तेकर के अनुसार मथुरा के नागवंश से ही सम्बन्धित था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मथुरा को राजनैतिक केन्द्र होने का गौरव फिर कभी न प्राप्त हो सका। गुप्त-शासकों के द्वारा पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा उज्जयिनी को राजधानी बनाया गया। गुप्त-काल के बाद कनौज को यह स्थान मिला और कई शताब्दियों तक कनौज उत्तर भारत का प्रधान राजनैतिक केन्द्र बना रहा।

उत्तर भारत पर गुप्त-वंश का आधिपत्य स्थापित होने के पहले विभिन्न भागों में अनेक राज्य थे। इनमें से कई गणराज्य थे। इन गणों ने अन्य राज्यों के साथ मिल कर कुषाणों को बाहर निकाला होगा। दुर्भाग्य से अभी तक ऐसे पुष्ट प्रमाण नहीं मिल सके जिनके आधार पर तत्कालीन भारतीय राज्यों के वास्तविक संगठन तथा उसके द्वारा विदेशियों से भारत को पारतन्त्र्य से मुक्त करने का सच्चा हाल जाना जा सके। वासुदेव प्रथम के बाद कुषाण सत्ता के अवशेष मध्यदेश में नहीं मिलते, जिससे हम कह सकते हैं कि उसके बाद ही वहाँ कुषाण शासन का अन्त हो गया।

यौधेय—भारत से विदेशी सत्ता को हटाने का सबसे अधिक श्रेय यौधेयों को दिया जाना चाहिए। यौधेय यमुना के पश्चिम में एक प्रमुख शक्ति थे। कुषाण-सत्ता के कमजोर पड़ने पर उन्होंने कुणिन्द, मालव और आर्जुनायन लोगों की सहायता ली होगी और कुषाणों को पंजाब के उत्तर की ओर खदेड़ दिया होगा। उनके अतिरिक्त नागों, मघों तथा कौशांबी, अयोध्या, पंचाल, मथुरा के मित्र-वंशी एवं अन्य शासकों ने भी कुषाणों को भगाने में थोड़ा बहुत योग दिया होगा।[1] यमुना और सतलज नदियों के बीच के विस्तृत भू-भाग से यौधेयों के सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर की ब्राह्मी लिपि से पता चलता है कि यौधेयों द्वारा ये सिक्के तीसरी-चौथी शती में जारी किये गये। सिक्कों, अभिलेखों तथा प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि यौधेयों में गणतन्त्र-प्रथा कई शताब्दी पहले से प्रचलित थी। कुषाणों के भगाने के बाद यौधेयों की सत्ता पश्चिम में बहावलपुर से लेकर पूर्व में गुड़गाँव जिला तक स्थापित हो गई होगी। कुषाणों के ऊपर यौधेयों की महान् विजय के उपलक्ष्य में ही सम्भवतः वे बहुसंख्यक सिक्के जारी किये गये जिन पर 'यौधेय गणस्य जयः' लिखा है। इन सिक्कों पर सेनापति कार्तिकेय की मूर्ति है, जो प्राचीन काल से वीरता का वरण करने वाले यौधेयों के इष्टदेव थे। ई० चौथी शती के मध्य में गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने यौधेयों पर विजय प्राप्त की। परन्तु उसने यौधेय गण को निर्मूल नहीं किया। समुद्रगुप्त के बाद भी यौधेयों के अस्तित्व का पता चलता है।

कुणिंद—कुषाणों से लोहा लेने में यौधेयों को पंजाब के कुणिंदों से भी सहायता प्राप्त हुई होगी। कुषाणों के द्वारा कुणिंदों की स्वाधीनता पर आघात पहुँचाया गया

---

१. इन राज्यों तथा उनके शासकों के सम्बन्ध में देखिए परिशिष्ट।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा। कुणिदों का अधिकार सतलज और व्यास नदियों के बीच में था। उनके कुछ सिक्के यौधेय सिक्कों से मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती के मध्य में कुणिद लोग यौधेयों में ही अन्तर्भुक्त हो गये, क्योंकि इसके बाद के कुणिद सिक्के उपलब्ध नहीं हुए। कुणिदों की बहुत सी मुद्राओं पर 'राजा अमोघभूति' नाम मिलता है।

आर्जुनायन—वर्तमान जयपुर और आगरा के क्षेत्र पर आर्जुनायनों का अधिकार था। इनके सिक्के इस भू-भाग से मिले हैं। आर्जुनायनों का गणराज्य ई० चौथी शती के मध्य तक जारी रहा, जबकि समुद्रगुप्त ने उन्हें परास्त कर अपने अधीन कर लिया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कुणिदों की तरह आर्जुनायन लोग भी यौधेयों के साथ मिल गये और गुप्तवंश के अभ्युदय के पूर्व इन तीनों की एक सम्मिलित प्रजातान्त्रिक शक्ति स्थापित हो गई।

मालव—अजमेर-टोंक और मेवाड़ के भू-भाग पर मालव गण का अधिकार था। सिकन्दर के समय मालव-गण का राज्य रावी—सतलज दोआब पर था। ई० पू० ५७ में मालवों ने उज्जयिनी के शकों को परास्त कर एक नया सम्वत् चलाया था। कुषाण-प्रभुता के समय मालवों का स्वामित्व प्रायः समाप्त कर दिया गया और उनका प्रदेश पश्चिमी क्षत्रपों के साम्राज्य में मिला दिया गया। यद्यपि पहली और दूसरी शताब्दी में मालव लोग शकों से बराबर टक्कर लेते रहे, पर वे शकों की प्रबल शक्ति के कारण अपने प्रदेश पर अधिकार जारी न रख सके। कुषाणों की पराजय के बाद पश्चिमी शकों की शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा और स्वातन्त्र्य-प्रेमी मालव लोगों ने पुनः अपना अधिकार प्राप्त किया। २२५ ई० से लेकर समुद्रगुप्त के समय तक मालवों ने अपनी स्वाधीनता कायम रखी। तीसरी और चौथी शती के मालव-गण के ताम्र-सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं, जिनसे उनकी स्वतन्त्र सत्ता का पता चलता है। समुद्रगुप्त ने अपनी विजय द्वारा मालवों को गुप्त शासन के अधीन कर लिया, पर उसने यौधेयों की तरह मालव गण को भी निर्मूल नहीं किया। गुप्त-साम्राज्य के अधीनस्थ इन गणों का अस्तित्व कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल तक जारी रहा। इसके बाद सम्भवतः हूणों द्वारा उनकी समाप्ति कर दी गई।

मघ शासक—कौशांबी तथा बघेलखंड (महाकोशल के उत्तरी भाग) पर मघ राजाओं का शासन था। इस वंश का प्रथम राजा भीमसेन था, जो १२५ ई० के बाद स्वतन्त्र शासक हुआ। उसने अपने सिक्के जारी किए। उसका नाम बांधोगढ़ (जि० शहडोल), गिंजा, भीटा आदि से प्राप्त अभिलेखों पर मिला है। उसके बाद प्रौष्ठश्री, भद्रमघ, शिवमघ, वैश्रवण, भीमवर्मा आदि शासक हुए।[1] इन मघों ने अपने सिक्के

१. पूरी सूची के लिए देखिए परिशिष्ट।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चलाए। उनके समय के अनेक अभिलेख मिले हैं, परन्तु किसी लेख से यह भासित नहीं होता कि मघ लोग कुषाणों के अधीन थे। इन शासकों ने कुषाणों को भारत से हटाने में अवश्य भाग लिया होगा।

अन्य राज्य—इस काल में मद्रों और मौखरी लोगों की भी स्वतन्त्र सत्ता थी। मद्रों का गणराज्य रावी और चिनाव नदियों के बीच में था, जिसकी राजधानी सम्भवतः स्यालकोट थी। मौखरियों का राज्य कोटा के आस-पास था। कोटा के समीप बडवा नामक स्थान से २३९ ई० का एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें मौखरियों के 'महासेनापति' बल का नाम आया है। उक्त राज्यों के अतिरिक्त इस काल में कौशांबी, अयोध्या, पंचाल, मथुरा आदि जनपदों में अनेक स्थानीय शासकों का आधिपत्य था। इनके नाम सिक्कों तथा अभिलेखों से ज्ञात हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ई० तीसरी-चौथी शती में उत्तर भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। इनमें से कुछ प्रजातन्त्र थे और शेष नृपतन्त्र। कुषाणों के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर भारत में कोई ऐसी शक्ति न थी जो एक प्रवल केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करती। तीसरी शती के आरम्भ में सातवाहनों का अन्त होने पर दक्षिण भारत में भी इसी प्रकार की स्थिति विद्यमान थी। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ई० चौथी शती के मध्य में एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर उक्त विशृंखलित स्थिति का अन्त कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट

उत्तर भारत के स्वतन्त्र भारतीय जनपद

(मौर्यकाल के पश्चात् लग० ३५० ई० तक)

मौर्य साम्राज्य के विशृंखलित होने के बाद भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्वतन्त्र राजसत्ता स्थापित होने की चर्चा पीछे की जा चुकी है। शुंगों तथा कण्वों के बाद उत्तर भारत के अनेक जनपदों में स्वतन्त्र भारतीय शासन स्थापित हुए। यूनानियों, शक-पह्लवों और कुषाणों के समय ये स्वतन्त्र भारतीय राज्य न्यूनाधिक प्रभावित होते रहे। पश्चिमी भारत एवं दक्षिण में शकों एवं सातवाहनों के बड़े राज्य स्थापित हुए। उनके समय में तथा उनके पश्चात् कई छोटे-बड़े भारतीय जनपदों की स्वतन्त्र सत्ता मिलती है।

इस ग्रंथ के दूसरे खण्ड के सातवें अध्याय में कतिपय स्वतन्त्र जनपदों की चर्चा की जा चुकी है। यहाँ विभिन्न प्रदेशों के अन्तर्गत प्राचीन जनपदों की सूची उनके भारतीय शासकों के नामों सहित दी जाती है। ये नाम मुख्यतः प्राचीन मुद्राओं से ज्ञात हुए हैं। केवल थोड़े नाम अभिलेखों में मिले हैं।[1]

(क) पंजाब

(१) उदुंबर—शिवदास, रुद्रदास, महादेव, धरघोष, रुद्रवर्मा, आर्यमित्र, महीमित्र, भानुमित्र तथा महाभूतिमित्र।

(२) कुणिंद—अमोघभूति (?)।

(३) कुलूत—राजा वीरयश।

कुछ मुद्राओं, अभिलेखों आदि में शासकों के नाम न होकर उन जनपदों के ही नाम हैं, जिन्होंने उन मुद्राओं आदि को जारी किया। (इनमें से अधिकांश जनपद गणतन्त्रात्मक थे)। इस कोटि में आने वाले जनपदों के नाम इस प्रकार हैं—

(४) तक्षशिला (वटस्वक सहित), (५) वृष्णि, (६) यौधेय, (७) त्रिगर्त, (८) राजन्य, (९) शिवि, (१०) अग्रोदक, (११) काड, (१२) कोत, (१३) मद्र, (१४) उपगोद, (१५) परत (?) तथा (१६) वेमक।

---

१. कुछ नामों की जानकारी हाल में ही हुई है। ये नाम अभी तक प्राचीन भारतीय इतिहास की अन्य पुस्तकों में नहीं आ सके।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ख) राजस्थान

शासकों के नाम सहित—

(१) सेनापति—वत्सघोष (रैढ़, जयपुर, से प्राप्त सिक्के)

(२) मौखरी— महासेनापति बल (बड़वा, कोटा के पास, लेख)

बिना शासक नाम वाली जनपदीय मुद्राएँ—

(३) मालव तथा (४) आर्जुनायन।

मालवों के एक नेता श्री सोम का नाम नाँदसा में प्राप्त एक यूप-अभिलेख (ई० तीसरी श०) में मिला है।

(ग) उत्तरप्रदेश

(१) अलमोड़ा—शिवदत्त, शिवपालित तथा हरिदत्त।

(२) पंचाल— वंगपाल, यज्ञपाल, दामगुप्त, रुद्रगुप्त, जयगुप्त, रुद्रघोष, भद्रघोष, वसुसेन, युगसेन तथा आषाढ़सेन।

सूर्यमित्र, फाल्गुनिमित्र, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, अग्निमित्र, विष्णुमित्र, जयमित्र, इन्द्रमित्र, प्रजापतिमित्र, वरुणमित्र तथा विश्वमित्र।

शिवनन्दी, श्रीनन्दी तथा अच्युत।

(३) कनौज—ब्रह्ममित्र तथा सूर्यमित्र।

(एलन ने अपनी मुद्रा-सूची में तीसरे शासक विष्णुदेव का नाम दिया है। परन्तु यह राजा कौशांबी का प्रतीत होता है, न कि कनौज का।)

(४) उदेहिक—सूर्यमित्र।

कुछ मुद्राओं पर केवल 'उदेहकि' लिखा है, राजा का नाम नहीं।

(५) मथुरा—गोमित्र प्रथम, गोमित्र द्वितीय, ब्रह्ममित्र, दृढ़मित्र, विष्णुमित्र तथा सूर्यमित्र।

शेषदत्त, पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, रामदत्त प्रथम, रामदत्त द्वितीय, कामदत्त, भावदत्त शशचन्द्रदत्त तथा ज्येष्ठदत्त।

बलभूति, मत्स्य गुप्त (कनिष्क के २३ वें राज्य वर्ष के अभिलेख में) तथा वीरसेन।

मथुरा के शक-राजाओं, हगान, हगामश, राजुवुल तथा शोडास का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कुछ भारतीय नामों वाले मथुरा के क्षत्रपों के ये नाम मिले हैं—

शिवदत्त, शिवघोष तथा तोरणदास मथुरा से कई नाग शासकों के भी सिक्के मिले हैं।

(६) अयोध्या—मूलदेव, विशाखदेव, वायुदेव, धनदेव, शिवदत्त, नरदत्त, ज्येष्ठदत्त, पाथदेव (?)

कुमुदसेन, अजवर्मा, संघमित्र, विजयमित्र, सत्यमित्र, आयुमित्र तथा देवमित्र।

(७) कौशांबी—सुंगवर्मा, अग्रराज, पर्वत, सुदेव (?), अश्वघोष; ववघोष, ज्येष्ठगुप्त, विष्णुदेव, इन्द्रदेव तथा धनभूति।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बृहस्पतिमित्र प्रथम, बृहस्पतिमित्र द्वितीय, अग्निमित्र, ज्येष्ठमित्र, जयमित्र, राध (ढ) मित्र, प्रजापति मित्र, राजमित्र, रजनमित्र, सुरमित्र, वरुणमित्र, पोठमित्र, शतमित्र, सर्पमित्र, देवमित्र, ब्रह्ममित्र, सत्यमित्र, वछमित्र, ईश्वरमित्र, राममित्र, प्रियमित्र, शिवमित्र, भूमिमित्र, विजयमित्र तथा सूर्यमित्र।

कौशांबी के मघ शासक—

भीमसेन, प्रौष्ठश्री, भद्रमघ, शिवमघ, रुद्रमघ, वैश्रवण, भीमवर्मा, शतमघ, विजयमघ, जयमघ, पुरमघ, नव (नेव) या नविक, धनदेव, शेषदत्त अभय तथा श्रीरुद्र।

अन्य शासक जिनका सम्बन्ध कौशाम्बी तथा उसके दक्षिण महाकोसल के कुछ भाग से रहा प्रतीत होता है इस प्रकार हैं—

वासिष्ठीपुत्र, विचित्रसेन (सिलहरा-लेख), वासिष्ठीपुत्र शिवघोष (बघोरा-लेख), राजा स्वामिदत्त (सिलहरा लेख) तथा महाराज वृषध्वज गौतमीपुत्र (भीटा की मुहर पर प्राप्त लेख)।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में जिस राजा रुद्रदेव का नामोल्लेख है वह शायद कौशांबी का उक्त श्रीरुद्र था। हाल में प्रयाग के पास झूंसी से मिट्टी की एक मुहर मिली है, जिस पर 'रुद्रदेव' नाम लिखा है। कौशांबी के कुछ शासकों का आधिपत्य मगध में भी रहा प्रतीत होता है। राजा ब्रह्ममित्र तथा अग्निमित्र (संभवतः इन्द्रमित्र का पुत्र) के नाम बोधगया की वेदिका पर उत्कीर्ण मिले हैं। ये कौशांबी के ही राजा रहे होंगे। खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में जिस 'बहसतिमित' का उल्लेख मिलता है वह संभवतः कौशांवी का राजा बृहस्पतिमित्र द्वितीय था। कौशांवी तथा अन्य स्थानों से 'कोत' नाम वाली मुद्राएं मिली हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस कोत-वंश का राज्य पाटलिपुत्र पर था। इस वंश का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी आ है। कोत नाम वाले सिक्के पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में भी मिलते हैं।

ऊपर दी हुई कौशांबी के राजाओं की सूची काफी बड़ी है। सिक्कों के अतिरिक्त अभिलेखों में कई शासकों के नाम आए हैं, यथा—पोठमित्र, वरुणमित्र, शिवमित्र, देवमित्र, ब्रह्ममित्र, अग्निमित्र, बृहस्पतिमित्र, अग्रराज, अश्वघोष, भद्रमघ, वैश्रवण आदि।

कौशांबी की कुछ मुद्राओं पर नगर का नाम (कोसब, कोसंब, कोसबि या कोसवि) मिला है। अन्य कतिपय सिक्के कौशांबी की व्यावसायिक श्रेणियों या निगमों द्वारा जारी किये गये। उन पर निगम-नाम मिलते हैं, यथा—गंधिकों (इतर-फुलेल का काम करने वाले) के निगम द्वारा प्रचारित सिक्कों पर 'गंधिकानां' लिखा है। कुछ पर केवल 'निगम' शब्द लिखा है।

(८) वाराणसी—बनारस से प्राप्त कुछ मुद्राओं पर 'वाराणसी' नाम मिलता है। मिट्टी की अनेक मुहरों पर हरिषेण तथा कृष्णषेण नाम मिले है। संभवतः ये कौशांबी के राजा थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(घ) मध्यप्रदेश

(१) महाकोशल—बांधवगढ़ (जि० शहडोल) तथा उसके आसपास के प्रदेश के मघ एवं अन्य शासक जिनका सम्बन्ध कौशाम्बी से भी रहा प्रतीत होता है।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित नाम—महेन्द्र तथा व्याघ्रराज।

(२) विदिशा—शिवगुप्त, रेवतीमित्र, वेणिमित्र तथा सखदेव (विशाखदेव)।

शिवगुप्त तथा 'सखदेव' नाम सिक्कों पर मिले हैं। रेवतीमित्र तथा वेणिमित्र नाम भरहुत-अभिलेखों से जाने गए हैं। कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुंग का लड़का अग्निमित्र विदिशा का शासक था। उसके कोई सिक्के नहीं मिले।

(३) एरण (जि० सागर)—धर्मपाल तथा इन्द्रगुप्त।

विदिशा और एरण में नागवंशी राजाओं का भी शासन रहा। इन दोनों स्थानों से नाग-सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं।

(४) पद्मावती (पवाया जि० मुरेना)—तथा कांतिपुरी (कुतवार, जि० गुना)

नाग शासक—वृष या वृषभव, भीमनाग, स्कन्दनाग, वसुनाग, वृहस्पतिनाग, विभुनाग, भवनाग; देवनाग, गणपतिनाग, रविनाग, प्रभाकर तथा नागसेन।

नगरों के नाम वाली मुद्राएँ—(४) उज्जयिनी (उज्जैन), (५) माहिष्मती, विदिशा, एरिकिण (एरण) तथा (६) त्रिपुरी।

(ङ) बिहार

मगध से जिन राजाओं के नाम अभिलेखों, मुद्राओं, मुहरों आदि से ज्ञात हुए हैं वे ये हैं—

(१) ब्रह्ममित्र
(२) इन्द्राग्निमित्र
} बोध गया की वेदिका पर के लेखों से ज्ञात

(३) अग्निमित्र—वैशाली-उत्खनन से प्राप्त मिट्टी की मुहर पर नामोल्लेख।

उक्त शासक तथा हाथीगुंफा-लेख का बृहस्पतिमित्र (द्वितीय) मूलतः कौशांबी के प्रतीत होते हैं। सख्या २ तथा ३ वाले नाम एक ही शासक के हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि अग्निमित्र नाम के दो राजा हुए हों। मगध के एक अन्य शासक विसंघमित्र का नाम पटना से प्राप्त एक अभिलेख पर मिला है। यह द्वितीय शती के उत्तरार्ध में हुआ।

(च) पश्चिमी बंगाल

राजा चंद्रवर्मा (सुसुनिया लेख का)। इसका समीकरण प्रयाग-प्रशस्ति में आए हुए शासक चंद्रवर्मा के साथ किया गया है। यह पुष्करण (बाँकुड़ा के समीप, प० बंगाल) का राजा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहायक ग्रंथ–सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, बनारस, १९५७।
अय्यंगर : बिगिनिंग्स आफ साउथ इण्डियन हिस्ट्री।
अलतेकर, अ० स० : स्टेट एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंश्यण्ट इण्डिया (द्वितीय संस्करण), वाराणसी।
: एजूकेशन इन ऐंश्यण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९५१।
अलेन, जान : कैटलाग आफ दि क्वायंस इन ऐंश्यण्ट इण्डिया, लन्दन, १९३६
उपाध्याय, बलदेव : भारतीय दर्शन, वाराणसी।
: बौद्ध-दर्शन मीमांसा, इलाहाबाद।
: भागवत सम्प्रदाय, वाराणसी।
उपाध्याय, भगवतशरण : प्राचीन भारत का इतिहास।
कनिंघम, ए० : ऐंश्यण्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता।
: दि स्तूप आफ भरहुत, लन्दन, १८७९।
कुमार स्वामी, ए० के० : हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, लन्दन, १९२७
कोनो, स्टेन : कार्पस इन्स्क्रिप्शनं इण्डिकेरम, जिल्द २, कलकत्ता, १९२९
घोषाल, यू० एन० : ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल आइडियाज, आक्सफोर्ड, १९५९
जायसवाल, काशीप्रसाद : हिन्दू पॉलिटी (द्वितीय संस्करण), बंगलोर, १९४०।
: हिन्दू राजतन्त्र (अनु० रामचन्द्र वर्मा)
: अन्धकार युगीन भारत का इतिहास।
टार्न, एफ० डब्ल्यू० : ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, केम्ब्रिज।
त्रिपाठी, रमाशंकर : प्राचीन भारत।
दत्त, नलिनाक्ष तथा कृष्णदत्त वाजपेयी : उत्तर-प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, लखनऊ, १९५६।
दास गुप्त, एस० एन० : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी।
नारायण, अवधकिशोर : दि इण्डोग्रीक्स, आक्सफोर्ड।
पाण्डेय, राजबली : हिन्दू संस्कार, वाराणसी, १९४९।
: प्राचीन भारत, वाराणसी, १९६२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाण्डेय, विमलचन्द्र : भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास।
: प्राचीन भारत का इतिहास।
बरुग्रा, बेनीमाधव : भरहुत (३ भाग), कलकत्ता।
बैनर्जी, जे० एन० : डेवलपमेंट ग्रॉफ हिन्दू ग्राइकॉनॉग्राफी।
बैनर्जी, राखालदास : दि सिथियम पीरियड ग्रॉफ इण्डियन हिस्ट्री।
ब्राउन, पर्सी : इण्डियन ग्राकिटेक्चर [बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू] बम्बई, १९४८।
बाशम, ए० एल० : वंडर, दैट वाज इण्डिया।
बोस, पी० : दि हिन्दू कालोनी ग्रॉफ कम्बोडिया।
भण्डारकर, ग्रार० जी० : वैष्ण विज्म, शैविज्य एण्ड ग्रदर माइनर रेलिजिन्स ग्रॉफ इण्डिया, पूना, १९३८।
भण्डारकर, डी० ग्रार० : ग्रशोक
: सम ऐस्पेक्ट्स ग्रॉफ ऐंश्यण्ट इण्डियन पालिटी, वाराणसी।
मजूमदार, ग्रार० सी० : कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्यट इण्डिया, कलकत्ता, १९२८।
: हिन्दू कालोनीज इन दी फार ईस्ट, कलकत्ता, १९४४।
मजूमदार, ग्रार० सी० ग्रौर पुसालकर : दि हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ग्रॉफ दि इण्डियन पीपुल, जिल्द १–२ विद्या भवन, बम्बई।
मजूमदार तथा ग्रलतेकर : न्यू हिस्ट्री ग्राफ इण्डियन पीपुल, जिल्द ६।
मार्शल, जान : तक्षशिला।
मिश्र योगेन्द्र : मेगास्थनीज का भारत-विवरण।
मुकर्जी, ग्रार० के० : हिन्दू सभ्यता, दिल्ली।
: चन्द्रगुप्त मौर्य ऐण्ड हिज टाइम्स, मद्रास।
मेक क्रिंडल : इण्डिया ऐज डिस्क्राइड इन क्लासिकल लिटरेचर।
रायकृष्णदास : भारतीय मूर्ति कला, वाराणसी।
राय चौधरी, एच० सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री ग्रॉफ ऐन्श्मेंट इण्डिया (छठा संस्करण) [पी० एच० ए० ग्राइ]
रालिसन, एच० जी० : इन्टर कोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, केम्ब्रिज, १९१६।
रिज डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, लन्दन, १९०३।
रे, नीहाररंजन : मौर्य एण्ड शुंग ग्रार्ट।
रैप्सन : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया (सी० एच० ग्राइ०) भाग १, कैम्ब्रिज १९२२।
वाजपेयी, कृष्णदत्त : भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा, १९५१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्यालंकार, जयचन्द्र : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १–२, इलाहाबाद ।
: भारत भूमि और उसके निवासी, इलाहाबाद ।
फोगल : बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, सीलोन एण्ड जावा, आक्सफोर्ड, १९१६ ।
लोहाइजन, जे० ई० वान: दि मिथियन पीरियड, लाइडन, १९४९ ।
शास्त्री, के० ए० नीलकान्त : हिस्ट्री ऑफ श्री विजय, मद्रास १९४९ ।
कांप्रेहेंसिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ।
सरस्वती, एस० के० : सर्वे आफ इण्डियन स्कल्प्चर ।
साहनी, दयाराम : कैटलाग आफ सारनाथ म्यूजियम ।
सांकृत्यायन, राहुल : पुरातत्व निबन्धावली ।
स्मिथ, बी० ए० : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (चतुर्थ संस्करण), आक्सफोर्ड, १९२४ ।
: अशोक ।
: हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन ।
हैवेल, इ० बी० : इण्डियन स्कल्प्चर एण्ड पेंटिंग, लन्दन, १९०८ ।
ज्ञानी, शिवदत्त : भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद ।

पत्रिकाएँ —

जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी (जे० आर० ए० एस०)
जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल (जे० ए० एस० बी०)
इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली (आइ० एच० क्यू०)
आर्केलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट (ए० एस० आर०)
जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी ऐन्श्यन्ट, इण्डिया ।
इण्डियन आर्केलॉजी–ए रिव्यू ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

State Museum Library
6792
Lucknow

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh